संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : **12** संयुक्तांक : **25, 26** जुला.-दिसं., 2018–जन.-जून, 2019

संपादक
विनोद तिवारी

अतिथि संपादक
अनुज लुगुन

संपादन सहयोग
अजय आनंद
आशीष मिश्र

रजत जयंती अंक

आदिवासी समाज, विकास के सवाल और सामासिकता की राजनीति

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
आवरण : गोंड चित्रकला : लेनिन कुमार

मूल्य

एक प्रति : ₹ 100 (यह अंक ₹ 150)
सदस्यता
वार्षिक : ₹ 250
संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)
पंचवार्षिक : ₹ 1000
आजीवन : ₹ 5000
विदेश के लिए : 75 $

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डेन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5
वसुंधरा, गाजियाबाद-201012
फ़ोन : 0120-4572303
मो. 09560236569
ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com
वेब पता : www.pakshdhar.com

PAKSHDHAR
A Bi-Annual Literary Magazine
Editor : Vinod Tiwari
Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

प्रस्तावना 7
संपादकीय 11

खंड-एक : आलेख

इतिहास और मिथक

जनजातीय इतिहास लेखन की कठिनाइयाँ और जनजातीय राजवंश / **रणेन्द्र** 17
आदिवासी अलगाव का इतिहास और वर्तमान / **हरिराम मीणा** 37
भारतीय लोकतंत्र में आदिवासी समाज / **रवि श्रीवास्तव** 55
भारतीय लोकतंत्र में आदिवासी स्वायत्तता का प्रश्न / **नीरज कुमार** 65
उपनिवेशवाद के विरुद्ध आदिवासी आंदोलन एवं उनका सांस्कृतिक पक्ष / **आनन्द कुमार पटेल** 69
अश्वेत का यथार्थ / **फ्रैंज फैनन** 90
(अनु. : धर्मराज कुमार)

विकास और संघर्ष

साम्राज्यवादी शोषण का विराट प्रतीक : दामोदर वैली कॉरपोरेशन / **घनश्याम** 110
पत्थलगड़ी आंदोलन : इतिहास के बियावान जंगल में पत्थर के निशान / **विनोद कुमार** 115
टी ट्राइब्स का आदिवासी अस्मिता के लिए संघर्ष / **प्रमोद मीणा** 120
उत्तर बंगाल के आदिवासी : संस्कृति एवं राजनीति / **दीपक कुमार** 125

भाषा, साहित्य और समाज

संताली भाषा और साहित्य की त्रासदी / **वासुदेव बेसरा** 133
आदिवासी साहित्य की वैचारिक दिशा / **महेश कुमार** 139
मराठी साहित्य में आदिवासी लेखन / **वीरा राठोड** 159
नारायन : आदिवासी माटी का कथाकार / **प्रमीला के.पी.** 166
अरुणाचल प्रदेश में आदिवासी लेखन / **जमुना बीनी तादर** 170

मीणा / **एडमंड कैंडलर** 175
(अनु. प्रमोद मीणा)
'बहुरंगी' : राभाओं के सामाजिक जीवन का दिलकश नृत्य / **मुकुल राभा** 181
आजिलामू लोक नाटक और रंगमंच / **तेली मेचा** 188
हिंदी सिनेमा और आदिवासी / **नीरा जलक्षत्रि** 192

खंड-दो : कविताएँ

हिंदी (झारखंड, छत्तीसगढ़)
लीमा टूटी 198
जसिंता केरकेट्टा 204
पूनम विश्वकर्मा 'वासम' 209
धर्मपाल महेंद्र जैन 218
वसीम अकरम 220
जमुना बीनी तादर 224
तुनुङ ताबिङ 233
प्रेमी मोनिका तोपनो 236
आशुतोष कुमार झा 240

संताली (झारखंड)
चन्द्र मोहन किस्कू 248

मुंडारी (झारखंड)
जुनास कन्डुलना 252
लॉरेंस सिलास हेम्ब्रम 257

बंजारा-गोरमाठी (महाराष्ट्र)
वीरा राठोड 260

बंजारा-कन्नड़ (कर्नाटक)
शीरगानहली शांतनायक 267

उड़िया (उड़ीसा)
हेमंत दलपति 272

कार्बी (असम)
अन तेरन 275

लोंग्बिर टेरांग 277
रमेन इंगति 279
वेलसिंग हाँसे 280

बोडो (असम)

रश्मि चौधरी 281

खासी (मेघालय)

मिनिमोन लालू 284

गारो (मेघालय)

कोल्नाट बी. मराक 286

कोकोरबोरोक (त्रिपुरा)

बिकास रॉय देबबर्मा 289

गालो (अरुणाचल प्रदेश)

ताकोप ज़ीर्दो 291

खंड-तीन : कहानी

कहानी (हिंदी)

बदरू हांसदा / **विश्वासी एक्का** 294
मैं हमेशा साथ हूँ / **तेली मेचा** 301
लाशें / **लक्ष्मण प्रसाद** 305

कहानी (मुंडारी)

वापसी / जोवाकिम तोपनो 313

कहानी (मलयालम)

डॉक्टर नकली है / **नारायन** 317

खंड-चार : नाटक

कोड़ा राज्य / **विमल कुमार टोप्पो** 322

खंड-पाँच : आत्मकथ्य और साक्षात्कार

आत्मकथ्य

लिखते, पढ़ते, देखते, सीखते रहने के आदिवासी अनुभव / **महादेव टोप्पो** 352

साक्षात्कार

18वीं सदी के आदिवासी प्रतिरोध की चेतना का नया रूप प्रकट हो रहा है 360
(**रामशरण जोशी** से **अनुज लुगुन** एवं **अजय आनंद** की बातचीत)

आदिवासियों से सीखे बिना मुख्याधारा के लोग सभ्य नहीं हो सकते 364
(**गुंजल इकिर मुंडा** से **मनोज कुमार** की बातचीत)

नए सौंदर्य शास्त्र की जरूरत नहीं, जरूरत है सौंदर्यशास्त्र की परिधि के विस्तार की 372
(**रोज केरकेट्टा** से **सावित्री बड़ाईक** की बातचीत)

खंड-छः : चित्रकला

गोंड चित्रकला / **दीपा दीक्षित** 384

सुमंती ओराँव की ओराँव कला के चित्र / **महादेव टोप्पो** 390

सोहराय और कोहबर जैसी जीवंत लोक चित्रकलाओं
का विकास एवं प्रकटीकरण / **भारती** 392

जनगढ़ सिंह श्याम की आदिवासी कलाकृतियाँ / **दीपा दीक्षित** 398

सी.आर. हेम्ब्रम की आदिवासी पेंटिग शैली / **महादेव टोप्पो** 400

मौलिक आदिवासी चिंतन और बहस को उभारने के प्रयास में

पूँजीवाद ने जब विकास को केवल आर्थिक विकास मानकर पूरी दुनिया में 'विकास का अर्थशास्त्र' और 'वित्तीय पूँजी संस्थानों' की संरचना और स्थापना की तब से ही प्राकृतिक संसाधनों से लेकर मानव संसाधनों और श्रम पर अधिकार और लूट की राजनीति का वैश्विक खेल आरंभ होता है। इस लूट और अधिकार के निर्लज्ज और अमानवीय स्थापत्य में सबसे अधिक प्रभावित समाज, आदिवासी समाज रहा है, और है। तथाकथित विकास के इस औपनिवेशिक स्थापत्य को खड़ा करने के लिए साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा अविकसित, अल्पविकसित, अत्यंत पिछड़े, असभ्य, अयोग्य आदि का जो नैरेटिव बनाया गया, दुर्भाग्य से वही नैरेटिव आज भी काम कर रहा है। पूँजीवादी संरचना और उसके विकास के मॉडल में जनगण की अपनी सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक पहचान और अस्मिता के साथ उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार के सवालों को चालाकियों, धूर्त्तताओं, प्रचार-प्रसार के भ्रामक और झूठे नारों के सहारे हाशिये पर डाल दिया गया। एक बार जब जल, जंगल, जमीन पर कब्जा हो गया फिर क्या? फिर तो वे मालिक बन बैठे और मूलवासी या आदिवासी उनकी रिआया, जो हर तरह से उनका पेट भरने, उन्हें अधिक से अधिक फायदा दिलाने, उनका मनोरंजन करने का साधन मात्र बन कर रह गयी। क्या आज भी साम्राज्यवादी विस्तार की नृशंस क्रूरता और पूँजीवादी लूट की अमानवीयता बदस्तूर जारी नहीं है? इसे जानना हो तो दुनिया भर में रह रहे उन आदिवासी समुदायों के जीवन स्तर और गुणवत्ता को देखा जा सकता है।

मैं आदिवासी नहीं हूँ। पर मेरी धारणा है कि एक आदिवासी को जानना-समझना मनुष्य को और बेहतर समझना और मनुष्यता को एक सार्थक दिशा में आगे बढ़ाना है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विकास का महत्तम लक्ष्य है सहजीविता। इस सहजीविता के जो दो सर्वोच्च गुण हैं मितायी और संतोष, आप किसी भी आदिवासी से मिलकर, उनके बीच रहकर इन गुणों की गरमाहट महसूस कर सकते हैं। उनका भाव और व्यवहार न केवल मनुष्य के

प्रति बल्कि समूची प्रकृति के प्रति भी यही होता है। फिर विकसित कौन है? इसका निपटारा पूँजीवादी अर्थ-संरचना और मानसिकता से संभव नहीं। उस अर्थ-संरचना और मानसिकता में तो वे लोग विकास के रास्ते में बाधा हैं, विकास विरोधी हैं।

दरअसल, पूँजीवादी विकास की जगह स्वायत्त मानव विकास की संरचना और कार्य योजना को राष्ट्रराज्य जब तक समग्र परिप्रेक्ष्य में महत्व नहीं देते तब तक विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों और मानव श्रम के लूट-खसोट का खेल और पूँजी से पूँजी कमाने और बढ़ाने का वित्तीय कुचक्र वैश्विक स्तर से लेकर निजी स्तर तक जारी रहेगा। आदिवासी लोगों के बीच रहकर उनके हित और हक की लड़ाई लड़ते रहने वाले सामाजिक कार्यकर्ता और 'ट्राइबल अफेयर्स इन इंडिया' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक के लेखक ब्रह्मदेव शर्मा ने बाजार संचालित लोभ-लाभ वाले निहायत स्वार्थी समाज और प्राकृतिक मानवीय समाज (आदिवासी समाज) के बीच का अंतर स्पष्ट करते हैं, वह लिखते हैं—"आदिवासी समाज के कुछ बुनियादी गुण होते हैं। जैसे एक तो यही कि यह समाज स्वयंभू होता है, उसको कोई बनाता नहीं। दूसरा यह कि उसमें अपने विवादों के निपटारे की शक्ति होती है। तीसरा यह कि उसके प्राकृतिक संसाधनों से उसका नैसर्गिक संबंध होता है—यानी समाज स्वयं को जीवित रखने के लिए अपने प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर करता है। इसका मतलब हुआ कि आदिवासी समाज की अपनी एक टेरेटरी होती है, जिसमें आने वाले संसाधनों पर उसका अधिकार होता है। यह राज्य द्वारा दिया गया अथवा संवैधानिक अधिकार नहीं, बल्कि नैसर्गिक अधिकार है।" पर इस नैसर्गिक अधिकार को विधान और कानून के सहारे खत्म कर कैसे विकास के नाम पर धीरे-धीरे राष्ट्रराज्य ने मानवीयता वाले प्राकृतिक समाज को बड़े-बड़े धन्ना सेठों, पूँजीपितियों और वैश्विक बाज़ार के हवाले कर, उसे समाप्त करने की पूरी योजना बना ली है।

ऐसा माना जाता है कि आदिवासी अपने भौगोलिक एकांत में कोई बाहरी हस्तक्षेप नहीं चाहते। वे इसका विरोध करते हैं। इस मान्यता के जवाब में एक सवाल उठता है कि ऐसा वे क्यों चाहते हैं? क्या उनके मन में किसी तरह की कोई आशंका है? कोई भय है? ज्यों ही आप इस सवाल के मूल मंतव्य को समझदारी से सोचना शुरू करते हैं त्यों ही 'भौगोलिक एकांत में बाहरी हस्तक्षेप' के प्रतिरोध का जवाब खुद-ब-खुद मिल जाता है। यह भय औपनिवेशिक दौर से लेकर आज तक जारी है। विशुद्ध व्यापारिक लाभ के चलते आदिवासियों के साथ, उनकी जातीय विरासत और पहचान के साथ, उनकी प्राकृतिक संपदा और संसाधन के साथ, उनकी बहन-बेटियों के साथ जो किया गया और किया जा रहा है उसके उदाहरण क्या कम हैं? इसलिए जो लोग यह धारणा विकसित कर चुके हैं कि आदिवासी विकास विरोधी लोग हैं, सबसे पहले उनको अपनी धारणा, मानसिकता और कानून को बदलना होगा जो अधिकार और वर्चस्व की तथाकथित 'सभ्य' औपनिवेशिक सोच और मान्यता से आज भी संचालित और नियंत्रित है।

औपनिवेशिक दौर से लेकर देश के आज़ाद होने के बाद और आज तक आदिवासी प्रदेशों में औद्योगिक विकास के नाम पर जो योजनाएँ लागू हुईं या हो रही हैं उनका लक्ष्य क्या सतत् और स्वायत्त विकास है? इतिहास के अनुभव और वर्तमान के यथार्थ से तो साफ तौर पर यही दिखता है कि यहाँ लागत भी बाहरी, पूँजी भी बाहरी और मुनाफा भी बाहर ही जाता है। बस, संसाधन और श्रम स्थानीय लोगों का है। बदले में इन लोगों को मिला क्या, औद्योगिक कचरा, बीमारियाँ, झूठे मुकदमें, नक्सलवाद के नाम पर पुलिस और सेना की धरपकड़, जुल्म, यातना और विस्थापन। अगर यही विकास है तो इस विकास का मानी बताने वाले किसी नए शब्दकोश की रचना विश्व बैंक या अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के अनुदान से यूनेस्को द्वारा किसी

बड़ी सांस्कृतिक परियोजना के तहत जरूर की जा रही होगी। वस्तुतः, ये वैश्विक वित्तीय संथाएँ ही आज भूमंडलीय पूँजीवाद को एक नए ढंग की इजारेदारी वाली व्यवस्था के तहत संचालित और नियंत्रित करती हैं। समीर अमीन ने अपनी पुस्तक 'कैपिटलिज्म इन दि एज ऑफ ग्लोबलाइजेशन' में इस इजारेदारी की संरचना और व्यवस्था को विस्तार से समझाते हुए इसके पाँच प्रमुख लक्षणों को वर्गीकृत किया है जिनके आधार पर आज पूरी दुनिया में पूँजीवाद का खेल चल रहा है। ये पाँच इजारेदारियाँ हैं : 1. तकनीकी रूप से विकसित प्रौद्योगिकी की इजारेदारी 2. पूरी दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के जरिए पूँजी और बाज़ारों के संचालन और नियंत्रण की इजारेदारी 3. धरती के किसी भी कोने में प्राकृतिक संसाधनों तक पहुँच और उन पर अधिकार की इजारेदारी 4. मीडिया और संचार साधनों की इजारेदारी और 5. व्यापक विनाश करने वाले हथियारों की इजारेदारी। अब राष्ट्रराज्य इन इजारेदारियों को संरक्षित-सुरक्षित ढंग से लागू कराने और हर तरह की अनुकूल सुविधा और संसाधन देने-जुटाने का कानून बनाने वाला एक राजनैतिक और विधायी निकाय भर है जिसकी भूमिका बिचौलिए जैसी है। अतः इस नितांत अमानवीय और अन्यायपूर्ण विश्व व्यवस्था के प्रतिरोध में यदि दुनिया भर में लोग आदिवासियों के लिए और उनके साथ-साथ प्राकृतिक संपदा और संसाधनों को बचाने के लिए नए सिरे से संगठित नहीं हुए तो लेवी स्ट्रास के इस कथन को सत्य प्रमाणित होने से कोई नहीं रोक सकता कि "भूमंडलीकरण और सांस्कृतिक एकरूपीकरण का अजगर जल्द ही आदिवासी और छोटे-छोटे जनजातीय समुदायों को निगल जाएगा।"

इस अंक के लिए अतिशय प्रिय अनुज लुगुन और अजय आनंद ने जी तोड़ मेहनत की है। अनुज लुगुन ने संभावना और उम्मीद से बढ़कर इस अंक को जिस ढंग से तैयार किया है, वह सराहनीय है। जिन रचनाकारों ने इस अंक के लिए हमारी उम्मीद से बढ़कर हमें सहयोग दिया है, उन सबको जोहार और शुक्रिया। कुछ साथियो ने तो रचनात्मक सहयोग के साथ-साथ और भी कई तरह के सहयोग से इस अंक को समृद्ध किया है, उनका यहाँ नाम लिया जाय तो उन्हें बुरा लगेगा। ऐसे मित्रो के लिए आभार शब्द भी छोटा पड़ जाता है। अजय आनंद पिछले 5 सालों से पीर, भिश्ती, बावर्ची, खर बनकर हर तरह से मेरे साथ, मेरा सहयोग करते रहे। नौकरी के चलते इस अंक के बाद उनका साथ छूट रहा है। परंतु **पक्षधर** के साथ वह हमेशा बने रहेंगे। यहाँ से उनका जाना **पक्षधर** का और अधिक विस्तार है।

एकत्र विपुल सामग्री में से बहुत से रचनाकारों की रचनाएँ, कुछ अनुवाद किन्हीं कारणों से हम इस अंक में शामिल नहीं कर पा रहे हैं, इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। इस अंक में हमारी यह कोशिश रही है कि इसे हिंदी की अकादमिक दुनिया में 'आदिवासी विमर्श' के नाम पर यांत्रिक, ठस और उबाऊ ढंग से जो कुछ किया गया है या हो रहा है उससे अलग मूल लेखन तक पहुँचा जाय। एक हद तक हम इस कोशिश में सफल भी हुए हैं। हम देखें, तो इधर दो-तीन दशकों से आदिवासियों में तथाकथित मुख्यधारा के समानान्तर अपनी जातीय विरासत इतिहास, भाषा, भूगोल, समाज, साहित्य आदि को जानने-समझने और उन पर नए सिरे से अध्ययन व शोध से लोगों को रूबरू कराने और बताने का आत्मविश्वास पैदा हुआ है, जो चले आ रहे ऐतिहासिक बोध को बदलने और नए इतिहास निर्माण की दृष्टि से बहुत ही सार्थक है। नयी पीढ़ी ने साहित्य रचना के साथ-साथ उस बने-बनाए इतिहास और मिथक को भी चुनौती दी है जिसके तहत एक खास ढंग की 'आदिवासी छवि' औपनिवेशिक दौर से चली आ रही थी। इसलिए हमने प्रयास किया है कि अखिल भारतीय स्तर पर अधिक से अधिक उन लेखकों और रचनाकारों को जोड़ा जाय जो 'आदिवासी विमर्श' नहीं करते हैं बल्कि आदिवासी

समाज के अभिन्न हिस्से हैं, उस जन-जीवन और उसकी समस्याओं के साथ जीते-मरते हैं, उसको संजीदगी से अपनी रचनाओं में जी रहे हैं, रच रहे हैं। उनकी यह रचनात्मक क्षमता धीरे-धीरे पूरे इतिहास और भूगोल को बदल कर रख देगी। हो सकता है कि इस अंक में कुछ रचनाओं को पढ़ते हुए आपको अनगढ़ता, कच्चापन, भावनाओं और विचारों में अबाधित, अनियंत्रित प्रवाह दिखे, तथाकथित मुख्यधारा के संस्कारित भावबोध का सेंसरशिप उनमें न दिखे, पर यही तो आदिवासियत है। इस आदिवासियत की पहचान और शिनाख़्त आप इन रचनाओं के जरिए कर सकते हैं। हम तथाकथित मुख्यधारा की दृष्टि से अगर साहित्य को देखें तो 'लिखित' और 'प्रकाशित' पर अधिक ज़ोर है, उसे ही महत्व दिया गया है। पर आदिवासियों के लिए यह दृष्टि बहुत दूर तक किसी काम की नहीं। क्योंकि आज भी उनका बहुत कुछ 'वाचिक' और 'अप्रकाशित' है। पर धीरे-धीरे स्थिति बदल रही है। उनके बीच से भी अब लिखने, रचने और कहने, सुनने को लिपिबद्ध करने की चेतना बहुत तेज़ी से विकसित हो रही है। इसलिए आइए 'विमर्श' के अकादमिक बोतल-वृक्षों (पॉम ट्रीज़) वाले राजपथ से अलग ऊबड़-खाबड़ जमीन, पठार, पहाड़ पर बेतरतीब दहकते पलाश वनों वाले जनपथ की ओर चला जाए।

अंत में उन आदिवासी नवयुवकों और नवयुवतियों के लिए, जवान होते किशोरों और कोशोरियों के लिए, उन सभी बच्चों के लिए फ्लोरिडा (अमेरिका) की स्त्रीवादी लेखक और सामाजिक न्याय व अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाली एक्टिविस्ट एल. आर. नॉस्ट की कविता की कुछ पंक्तियाँ, जो इस प्रसंग में अत्यंत ही मौजूँ हैं :

अपनी कहानी कहो/अपनी कहानी सुनाओ/साफ बुलंद आवाज में/असपष्ट बड़बड़ाहटों में/पर लिखो, बताओ, सुनाओ।/कुछ लोग इसे समझ नहीं पाएंगे/कुछ लोग एकबारगी कर देंगे अस्वीकार/लेकिन कुछ लोग/ऐसे भी हैं जो मानेंगे आभार।/और फिर सबसे/जादुई चीज होगी/एक के बाद एक आने लगेंगी/आवाजें/कानाफूसी,/'मुझे भी'/और फिर इकट्ठा होगा/तुम्हारा कुल,/तुम्हारा समाज/तुम्हारे लोग/फिर तुम महसूस करोगे/तुम अकेले नहीं हो।

पक्षधर ने इस 'रजत जयंती अंक' के साथ धीरे-धीरे 25 अंकों की अपनी यात्रा पूरी कर ली। इसे हम अपनी खुशी से ज्यादा अपने पाठकों की रुचि, पक्षधर से उनकी माँग और उनके प्यार के नाते और अधिक इम्तहान देते चले जाने और उत्तीर्ण होते चले जाने के संगर की तरह ले रहे हैं। योजना अनुरूप सामग्री जुटाने में हुई देरी के कारण इस अंक में थोड़ा विलंब हुआ। हम अपने पाठकों और सहयोगी रचनाकारों से क्षमा माँगते हुए उनके धैर्य को अपना प्रोत्साहन मानते हैं। इस अंक को हम संयुक्तांक के रूप में आपके सामने रखते हुए वादा करते हैं कि आगामी अंकों से हमारा प्रयास होगा कि पत्रिका में अकारण देरी न होने पाए वह अपने पाठकों तक नियत समय पर पहुँच सके। **पक्षधर** के प्रति आपका प्यार और सहयोग ही हमारी संपदा है। आपका यह सहयोग और प्यार सदा बना रहे।

इस बीच कृष्णा सोबती, नामवर सिंह, सव्यसाची भट्टाचार्य, मुशीरुल हसन, रमणिका गुप्ता, अर्चना वर्मा, हरिपाल त्यागी, गिरीश कर्नाड, मलखान सिंह, अवधेश कुमार सिंह जैसे कई बड़े साहित्यकार, इतिहासकार, लेखक, सामाजिक कार्यकर्ता और रंगकर्मी हमारा साथ छोड़ हमें अलविदा कह चले। उन सबको पक्षधर की ओर से विनम्र श्रद्धांजलि।

विनोद तिवारी

आदिवासी बहुमत की बजाय सर्वमत की अवधारणा पर यकीन करते हैं

पक्षधर पत्रिका के आदिवासी आदिवासी विशेषांक का प्रारूप तैयार करते हुए हमारे मन में कई तरह के विचार थे और सवाल भी। हम फिर से उसी बिंदु से बात शुरू करते हैं। यह हमारी योजना की पूर्वपीठिका रही है।

आदिवासी समाज के बारे में कई तरह के मिथ प्रचलित हैं—रोमानियत से भरे, उपहास एवं घृणा से भरे। ये कथित सभ्य कहे जाने वाले समाज की ओर से गढ़े गये मिथ हैं। संस्कृत साहित्य में इस तरह के मिथ बहुतायत हैं। ऋग्वेद में अहि या वृत्र आदि जिन असुरों का उल्लेख मिलता है, वे आदिवासी मिथक ही हैं। ये खलनायक के रूप में चित्रित किये गये हैं। आगे चलकर असुर का पर्याय राक्षस या दैत्य बना दिया गया। असुर शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ क्या हो सकता है? आर्य भाषाओं के शब्दकोष के बाहर भी तो असुर शब्द का कोई अर्थ होगा! जिसे असुर कहा गया, वे कोई दैत्य और दानव नहीं थे बल्कि आदिवासी समुदाय के जन थे। ऐसे में उनके भाषा परिवार में असुर शब्द का भी तो कोई अर्थ होगा? यह स्वाभाविक सवाल है। पता नहीं ज्ञान मीमांसा के क्षेत्र में इस सवाल पर विचार किया गया है या नहीं। मैंने एक बार जिज्ञासा वश असुर समुदाय की कवयित्री सुषमा असुर से पूछा था कि उनकी भाषा में 'असुर' शब्द का क्या अर्थ है? उनहोंने बहुत ही सहजता से उत्तर दिया था—आविष्कारक। असुर का अर्थ होता है आविष्कारक। यानी असुर आविष्कारक थे। इतिहास साक्ष्य देता है कि असुरों ने बहुत पहले लोहे की खोज कर ली थी। उन्हें लोहे का ज्ञान था और वे उससे विभिन्न उपकरण बनाते थे। असुर पहले से ही मगध क्षेत्र में निवास करते थे, जो बाद में छोटानागपुर की ओर प्रवेश कर गये। जब मुण्डा समुदाय के लोग छोटानागपुर में आये तो उनका सामना वहाँ पहले से रह रहे असुरों से हुआ था। मुंडारी लोक गाथा 'सोसोबोंगा' में उनके संघर्ष और समन्वय की बृहद कथा मौजूद है। इस गाथा में भी असुर आविष्कारक ही हैं। वे लोहा गलाना जानते हैं और वे मुंडाओं से ज्यादा ताकतवर भी हैं। लेकिन असुरों के आविष्कारक

होने की बात कथित मुख्यधारा की ज्ञान मीमांसा से गायब है। आज भी असुर का पर्याय दैत्य या दानव ही है। साहित्य ने उन्हें यदि विरूपित किया तो इतिहास ने भी उन्हें मुक्त नहीं किया। हमें न केवल मगध के शक्तिशाली होने में असुरों के योगदान पर विचार करना चाहिए बल्कि भारोपीय भाषा परिवारों से बाहर निकलकर शब्दों की व्युत्पत्तिपरक यात्रा करनी चाहिए। जहाँ तक मुझे ध्यान आ रहा है 1912 ई. में प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री शरतचंद्र रॉय ने 'मुंडाज एंड देयर कंट्री' नामक शोधपरक पुस्तक लिखी थी। उसी पुस्तक में उन्होंने लिखा था कि संस्कृत साहित्य में जिन्हें असुर कहा जाता है वे दैत्य या दानव नहीं हैं बल्कि आदिवासी समुदाय के लोग हैं जो अब भी छोटानागपुर की पहाड़ियों में रहते हैं। इस स्थापना को लम्बे समय तक मुख्यधारा की ज्ञान मीमांसा ने स्वीकार नहीं किया। क्या विडम्बना है कि लगभग सौ साल बाद यानी 2009 ई. में जब रणेंद्र ने 'ग्लोबल गाँव का देवता' उपन्यास लिखा, तब हिंदी पट्टी में इस बात पर लोगों ने विमर्श करना शुरू किया कि असुर भी आदमी ही होते हैं, वे भी मनुष्य हैं।

संस्कृति के क्षेत्र में फैले ऐसे कई सवाल हैं जिनका संबंध आज के आदिवासी समाज के उत्पीड़न से जुड़ा हुआ है। भारतीय समाज में आदिवासी समुदायों को उपनिवेश की तरह देखा जाता है। बृहद बहुसंख्यक समाज का आंतरिक उपनिवेश। यह उपनिवेश दो स्तरों पर है—सांस्कृतिक और आर्थिक। सांस्कृतिक क्षेत्र में दैत्य या दानव कहकर आदिवासियों का आसामाजीकरण किया गया। यह भारतीय समाज में मौजूद ब्राह्मणवादी विचारधारा का परिणाम था। जहाँ एक ओर उन्हें प्राचीन संस्कृत साहित्य में विरूपित किया गया वहीं औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों ने उन्हें 'हेड हन्टर्स' या 'नरमुंडों का शिकारी' कहा। 'क्रिमिनल ट्राइब' कहकर उन्हें नागरिकता के दर्जे से नीचे उतार दिया गया। ज्ञान मीमांस के क्षेत्र में ये ऐसी प्रक्रियाएँ रहीं जिनसे आम लोगों के बीच यह धारणा बनी कि आदिवासी जंगली, बर्बर और असभ्य होते हैं। संस्कृतिविहीन होना ही उनका रूढ़ परिचय बना दिया गया। आज भी आदिवासी कौन हैं? यह लोगों के लिए जटिल समस्या है। समाजशास्त्रियों तक के लिए यह समस्या है। जब भी यह सवाल आता है, कहा जाता है कि किसे आदिवासी माना जाए? या किस मानक के आधार पर आदिवासी समाज को परिभाषित किया जाए? पूर्वोत्तर के आदिवासी, या मध्य भारत के, या दक्षिण के या पश्चिमी घाट के? लगभग साढ़े चार सौ प्रकार के आदिवासी समुदाय हैं? उत्तर के लिए ऐसे कई घुमावदार प्रतिप्रश्न आने लगते हैं। संविधान में अनुच्छेद 244 (1) और अनुच्छेद 244 (2) के द्वारा क्रमशः पाँचवीं अनुसूची एवं छठी अनुसूची की व्यवस्था की गया है। इन अनुसूचियों से संबंधित क्षेत्र आदिवासी क्षेत्र हैं, लेकिन इन अनुच्छेदों के द्वारा अनुसूचित क्षेत्रों को परिभाषित किया गया है। ये अनुच्छेद भी आदिवासी समाज को परिभाषित नहीं करते हैं। क्या यह विडम्बना नहीं है कि एक ही देश के आदिवासी समाज को दो अलग-अलग अनुसूचियों में विभाजित कर अलग-अलग संवैधानिक प्रावधान दिए गये हैं? क्या यह दुःखद नहीं है कि देश के संविधान में आदिवासियों को 'आदिवासी' नहीं कहा गया है बल्कि अनुसूचित जनजाति के खाँचे में बंद कर उनकी पहचान ही छुपा ली गयी? संविधान निर्माण के दौरान जयपाल सिंह मुंडा ने यह सवाल उठाया था, लेकिन यह तब भी अनुत्तरित था और अब भी। ऐसे ही अनुत्तरित सवाल आदिवासियों के प्रति हमारी समझ को धुँधला करते हैं। आदिवासी आदिवासी होते हैं। उनकी अपनी जीवन शैली है, उनका अपना दर्शन, इतिहास भाषा, साहित्य और चिंतन है, यह विचार स्वीकृत ही नहीं किया गया। आदिवासियों से जुड़े अनुत्तरित सवालों की वजह से नीति निर्णय की प्रक्रिया में आदिवासी हाशिये में धकेले जाते रहे। उनके लिए कथित विकास की सभी परियोजनाएँ असफल होती गयीं और वे अस्तित्व संकट के शिकार होते गए। आदिवासी

समाज को ज्यादातर आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के रूप में ही चिह्नित किया जाता रहा। आर्थिक पिछड़ेपन के रूप में किये गए अध्ययन ने उनकी अपनी अर्थव्यवस्था और स्वायत्तता को समझने का अवसर नहीं दिया। इससे उस प्रक्रिया का भी अध्ययन नहीं किया गया, जिसके तहत आदिवासी समाज को धीरे-धीरे वर्चस्वकारी समूहों ने संसाधन विहीन किया। औपनिवेशिकरण की उस प्रक्रिया का अध्ययन ही नहीं हुआ जिसके परिणामस्वरूप आदिवासी समाज गरीबी के अँधेरे में धकेले गए। औपनिवेशीकरण की यह प्रक्रिया सदियों से चलती हुई आजादी के बाद भी निरंतर चली आ रही है। आज भी 'विकास' के नाम पर आदिवासियों का विस्थापन इसका उदाहरण है। विस्थापन सिर्फ इस लिए त्रासद नहीं है कि इससे आदिवासी समाज की अपनी संस्कृति नष्ट हो जाती है, बल्कि इसलिए भी भयावह हो जाता है कि क्योंकि यह पहले से मौजूद आदिवासी समाज के उत्पादन के साधनों को और उसकी व्यवस्था को ध्वस्त कर देता है। यह सांस्कृतिक और आर्थिक दोनों तरह से आदिवासी समाज को पंगु बनाता है। आदिवासी समाज की सांस्कृतिक बुनावट की समझ के अभाव के कारण आर्थिक प्रक्रियाओं के नाम पर आदिवासियों का कब्रगाह तैयार हो रहा है। इसी नासमझी के परिणामस्वरूप आदिवासियों को कथित मुख्यधारा में जोड़ने की अवधारणा विकसित हुई है। यह अवधारणा हिंसक और श्रेष्ठता बोध से ग्रसित है। यह साजिश की विचारधारा है आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से बाहर निकाल कर उनपर कब्जा ज़माने की। यह उस विचार का प्रतिपक्ष है जिसके तहत यह कहा जा सकता है कि कथित मुख्यधारा में शामिल हुए बिना भी आदिवासी समाज तक वे सारी बुनियादी सुविधाएँ पहुंचाई जा सकती है, जिसकी माँग मुख्यधारा करता है।

विचार एवं चिंतन की दुनिया में आदिवासी समाज के लिए त्रासद बात तो यह है कि दलित एवं अल्पसंख्यक आदि उत्पीड़ित समुदाय भी आदिवासियों के बारे में उतना ही जानते हैं जितना कि एक सवर्ण या सत्ता समूह का व्यक्ति जानता है। इस तरह की अनभिज्ञता के कारण वर्तमान लोकतंत्र में आदिवासी राजनैतिक संकट के शिकार हुए हैं। सामाजिक न्याय की बात करने वाले भी उनकी राजनैतिक आकाँक्षाओं से जुड़ नहीं पाए हैं। आदिवासी सांस्कृतिक बुनावट और स्वायत्तता की अधूरी समझ की झलकी उनके राजनैतिक एजेंडों में साफ़ दीखती है। लोकतंत्र में बहुमत की अवधारणा में आदिवासी समुदाय बहुत छोटी इकाई हैं, वे कमतर हैं। देश के विभन्न हिस्सों में टुकड़ों में विभाजित आदिवासी समुदाय बहुमत वाली अवधारणा में अपनी भागीदारी कैसे सुनिश्चित कर सकते हैं? आदिवासी बहुमत की बजाय सर्वमत की अवधारणा पर यकीन करते हैं। यह उनकी सामूहिकता और सहजीविता के दर्शन का लक्षण है। इस बात से बाकी दुनिया अनभिज्ञ है। इसी को ध्यान में रखते हए संविधान में पाँचवीं एवं छठी अनुसूची की व्यवस्था की गयी है जो भारतीय लोकतंत्र में आदिवासी भागीदारी को प्रत्यक्ष रूप से सुनिश्चित करती है। 1996 ई. के पेसा (PESA) अधिनयम ने उसे और अधिक विस्तार दिया। लेकिन हम देखते हैं कि आदिवासी समाज के ये मुद्दे मुख्यधारा की राजनीति के एजेंडे में तो शामिल नहीं होते हैं, उसके विचार और चिंतन से भी बाहर होते हैं। जब तक आदिवासियों का नरसंहार न हो या विद्रोह के परिणामस्वरूप आदिवासी प्रतिहिंसा न हो, शायद ही उनकी तरफ लोगों का ध्यान जाता है। यह भारतीय समाज के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है।

सवालों की लम्बी फेहरिस्त है। लेकिन ये न समझा जाए कि आत्ममुग्धता से ये सवाल पैदा हो रहे हैं। आदिवासी समाज के अपने आंतरिक अन्तर्विरोध भी हैं। आंतरिक जटिलताओं की वजह ने भी उसकी गति बाधित की है। यह और भी विद्रूप हो रही है बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप से। नव साम्राज्यवादी शक्तियों ने एक ओर जहाँ उस पर सीधे हमला कर उसके

अस्तित्व को संकटग्रस्त कर दिया है, वहीं दूसरी ओर उनके बीच अपना एजेंट तैयार कर उनकी लड़ाई को कमजोर भी कर रहा है। यह वर्ग न केवल तैयार हो रहा है बल्कि मजबूत भी हो रहा है। यह आदिवासी सामूहिकता और सहजीविता के लिए सबसे बड़ा खतरा है। यह आदिवासी सांस्कृतिक बुनावट को अंदर से तोड़ता है।

सवालों की लम्बी शृंखला से गुजरते हुए ही **पक्षधर** पत्रिका ने 'आदिवासी विशेषांक' का प्रारूप तैयार किया था और उसके अनुसार 'आदिवासी समाज, विकास के सवाल और सामासिकता की राष्ट्रवादी राजनीति' विषय पर लेख एवं रचनाएँ आमंत्रित की गयी थी। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। हमारा मानना भी यही है। आदिवासी विमर्श किसी अस्मितावादी राजनीति की उपज नहीं है और न ही यह उसका लक्ष्य है। हम यह देखेंगे कि कैसे भविष्य की राजनीति सांस्कृतिक क्षेत्र से पैदा हो रहे सवालों से अपनी दिशा तय करेगी। सांस्कृतिक क्षेत्र ही अपना मोर्चा है, लेकिन हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के हिमायती नहीं है। बल्कि हम हर उस कुपाठ के प्रतिपक्ष में हैं जो संस्कृति के नाम पर तैयार किया जाता है। आदिवासी संदर्भ में यह बात कहना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि आज आदिवासी क्षेत्रों में कॉर्पोरेट के बाद कथित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कार्यशालाएँ ही सबसे ज्यादा सक्रिय हैं।

आदिवासी रचनाधर्मिता

पक्षधर पत्रिका के रजत जयंती अंक के लिए बहुत सारे रचनाकारों की रचनाएँ प्राप्त हुईं। हमने कोशिश की थी कि सामग्री संचयन का क्षेत्र सीमित न रखा जाए बल्कि देश भर आदिवासी रचनाकारों को इसमें शामिल किया जाए। हमने विधा की भी सीमा नहीं बाँधी थी। हमने साहित्य से इतर कला के क्षेत्र तक भी पहुँचने की कोशिश की। यह कोशिश इसलिए थी कि हम इसके जरिए आदिवासी चिंतन और रचनात्मकता को एक मंच पर प्रस्तुत कर सकें। यह उस विचार का भी परिणाम था, जिसके तहत बिखरे हुए आदिवासी रचनाकारों को एक साथ लाया जाए। यह हमारे लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। आदिवासी साहित्य लेखन में झारखण्ड, मध्य प्रदेश या राजस्थान का लेखन तो मिल जाता है लेकिन उससे बाहर की रचनाओं से हमारा संपर्क नहीं बन पाता है। हमने सिर्फ हिंदी भाषा में लिखे जा रहे आदिवासी साहित्य को शामिल करने का विचार नहीं बनाया बल्कि आदिवासी मातृभाषाओं में लिखे जा रहे रचनाओं और रचनाकारों को शामिल करने की कोशिश की। इस प्रयास में हम कितने सफल हुए यह तो हम नहीं कह सकते, लेकिन हमने यथासंभव कोशिश की है कि समग्र भारत का आदिवासी लेखन अंक में शामिल हो सके।

इस अंक में हिंदी सहित मातृभाषाओं में लिखे जा रहे आदिवासी साहित्य को भी शामिल किया गया है। विभिन्न भाषाओं में लिखे जा रहे आदिवासी साहित्य को देखने के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि आदिवासी चिंतन धारा की लम्बी परंपरा है। विभिन्न भूगोल में रहकर लिख रहे आदिवासी साहित्य में गहन चिंतन की प्रवृत्ति है। यह महज अपनी अनुभूतियों की सरल अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि जीवन की जटिलताओं से परिचित संवदेनाओं की रचनात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति है। आम तौर पर कहा जाता है कि आदिवासी समाज बाकी दुनिया से कटा रहता है इसलिए उसे दुनिया की खोज खबर नहीं रहती है। आदिवासी रचनाओं को पढ़कर यह भ्रम टूटता है। वे न केवल अपनी दुनिया से परिचित हैं बल्कि दुनिया को देखने समझने की अपनी विश्व-दृष्टि है। यह आदिवासी विश्व-दृष्टि है जो जीव मात्र को मुक्त होते

देखना चाहती है। उनके यहाँ अपनी मुक्ति का सवाल एकांगी नहीं है बल्कि परिवेश एवं प्रकृति जनित है। आदिवासी लेखन की अपनी शैली है। उनके अपने बिंब विधान हैं, प्रतीक योजना हैं और मिथक हैं। रचनाओं को देखते हुए सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके अनुवाद की चुनौती कितनी बड़ी है। हम उन सभी अनुवादकों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस चुनौती को स्वीकार किया। हिंदी में भले ही आदिवासी विमर्श चल रहा है, उसके विमर्शकार हैं। लेकिन समग्र आदिवासी रचनाओं को किसी एक धारा में बाँध कर नहीं देखा जा सकता है। जैसे उनका परिवेश विविधता से पूर्ण है, वैसे ही उनकी रचनाएँ भी। आदिवासी रचनाकार अपनी अस्मिता और अस्तित्व के संकट से परिचित तो है ही। वह नव-साम्राज्यवादी हमलों, वर्चस्वकारी-ब्राह्मणवादी साजिशों और सांप्रदायिकता के खतरों से भी अवगत है। उसके प्रतिरोध के स्वर का दायरा संकीर्ण नहीं है।

आदिवासी रचनाकारों के आलावा आदिवासी चिंता से जुड़े रचनाकारों की रचनाएँ भी शामिल हैं। यह उस विचार का प्रसार है जिसे आदिवासी 'सहियापन' कहते हैं। हम वैसे रचनाकरों के प्रति आभारी हैं जिनकी चिंता ने हमें उनसे जोड़ा। मुक्ति का मार्ग विभाजन से कभी भी तय नहीं किया जा सकता।

हिंदी समाज का अपना सौन्दर्यबोध है। आदिवासी मातृभाषाओं में लिखी गयी रचनाओं से उसका जुड़ाव कैसे हो पायेगा, यह हमारे लिए सवाल है। कई भाषाओं की रचनाएँ परिचयात्मक हैं। कई लेख भी परिचयात्मक हो सकते हैं। परिचय ही ज्ञान का पहला कदम होता है। अगर इन रचनाओं से इतना भी परिचय बन पाए तो हमारे लिए यह सार्थक होगा। यह ज्ञान की धारा के प्रवाह लिए जरुरी होगा।

सहचर एवं सहजीविता

पिछले वर्ष राँची में कोल विद्रोह के 198वें स्मरण समारोह में शहीदों को श्रद्धांजलि देते हुए कार्यक्रम के संयोजक देवकुमार धान जी ने प्रस्ताव रखा कि इन शहीदों के साथ-साथ कुमार सुरेश सिंह, जी.सी. झा, शरतचन्द्र रॉय आदि को भी याद किया जाए। ये आदिवासी नहीं होते हुए भी आदिवासी संघर्ष के बराबर के साथी रहे हैं। उस दौरान इसे सहजता से स्वीकार किया गया और उन्हें भी श्रद्धांजलि दी गयी। यह आदिवासी समाज का सहियापन है। न केवल शत्रु को चिन्हित करना, न केवल संघर्ष करना बल्कि संघर्ष के साथियों को भी पहचानना। कवि मुक्तिबोध भी अपनी कविताओं में बार-बार सहचर और सहधर्मियों के खोज की बात करते हैं। यह आदिवासी दर्शन सहजीविता का सूचक है।

हम **पक्षधर** पत्रिका के संपादक विनोद तिवारी के प्रति आभारी हैं कि उन्होंने आदिवासी विषय पर अंक निकालने की योजना बनायी और मुझे अंक का संपादक बनाने का जोखिम उठाया। मेरे लिए यह खुशी से ज्यादा चुनौती का विषय था। मन में उल्लास तो था लेकिन साथ में कई आशंकाएँ भी थीं। सबसे बड़ी आशंका खुद की अस्त-व्यस्तता को लेकर थी। विनोद जी ने इस बात को महसूस भी किया होगा। उनके साथ काम करते हुए मैंने महसूस किया कि अगर हमारे देश की व्यवस्था भी उनकी ही तरह लोकतांत्रिक, उदार और सहिष्णु होती तो स्वायत्तता से जुड़े तमाम सवाल अब तक हल हो गए होते। उनकी तरफ से मौलिक आदिवासी चिंतन को उभारने का पूरा अवसर दिया गया। उनसे जुड़ी बाकी स्मृतियाँ अब मेरी अपनी पूँजी है। सहचर और सहधर्मी होने का उनका योगदान अब आदिवासी संघर्ष के इतिहास का दस्तावेज है।

जिनकी रचनाएँ हम शामिल नहीं कर पाए उनके लिए हमें खेद है। हम सभी रचनाकारों के प्रति आभारी हैं। कई साथियों ने खुलकर मदद की। हर किसी का उल्लेख संभव नहीं है। यह आदिवासी सामूहिकता के विचार के भी विरुद्ध है। फिर भी कुछ साथियों का स्मरण करना जरूरी समझता हूँ। जमुना बीनी तादर जी ने पूर्वोत्तर से रचनाएँ जुटाने में विशेष मदद की। उनसे पहले से कोई परिचय नहीं था लेकिन उन्होंने न केवल हमारे निवेदन को स्वीकार किया बल्कि बहुत लगन के साथ पूर्वोत्तर की रचनाओं को एकत्रित किया। वरिष्ठ आदिवासी चिन्तक महादेव टोप्पो दा हमेशा साथ रहे। रणेंद्र दादा ने न केवल रचनात्मक सहयोग दिया बल्कि पत्रिका के प्रकाशन में हर संभव मदद की। उड़िया के चित्रकार और संस्कृतिकर्मी श्री लेनिन कुमार ने पत्रिका के आवरण पृष्ठ को गोंड चित्रकला से सुसज्जित किया। जिससे इस अंक में और निखार आ गया। सबके प्रति आभार! अंततः हम सब सहजीवी हैं।

यह अंक आदिवासी साहित्य लेखन या विमर्श का दावा नहीं है। इस संबंध में यह एक प्रयास भर है। इस बात को सहज ही रेखांकित किया जा सकता है कि अंक में अधिकतर रचनाकार और लेखक नए और युवा हैं। यह नामचीन और वरिष्ठता की उपेक्षा नहीं है बल्कि यह संभवनाओं की खोज है। हमसे हुई भूल और चूक को आने वाले अध्ययन और अध्येता दूर करेंगे, ऐसी हमारी कामना है।

सबको हूल जोहार!

अनुज लुगुन

जनजातीय इतिहास लेखन की कठिनाइयाँ और जनजातीय राजवंश

रणेन्द्र

''तटीय महाराष्ट्र के वार्ली जनजातीय समुदाय पर लेखन के क्रम में सबाल्टर्न इतिहासकार डेविड हार्डीमेन सही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि–''यह सत्य है कि वे (वार्ली) कृषि के विविध तरीकों को अपनाते हैं जबकि उन्हें झूम खेती के लिए एक इलाके से दूसरे इलाके तक प्रवास करने वाले के रूप में जाना जाता है। उधर दूसरी ओर वे कुछ इलाकों में प्रभुत्वशाली, प्रधान सत्ता-समूह के रूप में भी विद्यमान हैं। ये सारे तथ्य यह बतलाते हैं कि वार्ली समुदाय का इतिहास हर कदम पर उतना ही जटिल है जितना कि उन शासकों का जिनके कृत्यों से मध्यकाल की गाथाएँ (ballads) और इतिवृत्त (chronicles) भरे पड़े हैं।'' (ट्राइबल हिस्ट्रीः लविंग वर्ड और डेड लेटर्स, रूडोल्फ सी. हेरेडियाः इकॉनोमिक एंड पोलिटकल वीकली, अप्रैल 29, 2000 पृ. 15-23)

किन्तु अकादमिक जगत एवं लोकप्रिय विमर्शों में जनजातीय समुदायों की चर्चा और अध्ययन-लेखन का सामान्य नजरिया मानवशास्त्रीय (Anthropological) रहा है यानी ये विमर्श उनकी भ्रमणशीलता-शिकार-भोजनसंग्रहण से शुरू कर झूम खेती-व्यवस्थित कृषि कर्म तक जा कर थम जाते हैं। उनकी प्रभुत्वशाली शासक, सत्ता-समूह के रूप में चर्चा इन विमर्शों के हर रूप में सिरे से गायब है। वेरियर एल्विन, गुहा, शरतचन्द्र राय, विद्यार्थी आदि मानवशास्त्रियों ने अपने फील्डवर्क और अकादमिक कार्यों से जनजातीय समाज और मानवशास्त्र को पर्यायवाची बना दिया। मानवशास्त्र/नृशास्त्र की पुस्तकों में 1928-32 के जनजातीय युवा-युवतियों के मात्र अधोवस्त्र धारण किए हुए चित्र हमारे अवचेतन में स्थायी रूप से बसा दिए गए। वेरियर एल्विन के 'घोटुल/धुमकुड़िया' जैसी परंपरा के विश्लेषण ने शिक्षण के सामाजिक संस्थानों को मात्र यौन केन्द्रित विवरण और उसके अवचेतन को 'ब्लू' रंग में रंग डाला। मुम्बइया फिल्मों में रंग-बिरंगे, छोटे-छोटे कपड़ों में जनजातीय युवतियों के नाच-गान के निरन्तर चित्रण ने उस यौनिक जुगुप्सा और गहरा किया। पितृसत्तात्मक-सवर्ण समाज में शारीरिक श्रम में आनन्द ग्रहण करने वाले समतावादी जनजातीय समाज के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा-अरुचि सदा से रही है। इन सब तत्त्वों

ने मिल-जुल कर कथित मुख्यधारा के पूर्वग्रह निर्माण में बड़ी भूमिका निभाई है। नतीजन जनजातीय समाज पर 'अन्यत्व' (Otherness) का अधिरोपण इतना जबरदस्त हुआ कि उन्हें संविधान की प्रस्तावना के 'हम भारत के लोग' के 'हम' में शामिल होने के लिए आज भी जद्दोजहद करनी पड़ रही है।

हालाँकि इसका एक पहलू यह भी है कि 'अन्यत्व' की यह अवधारणा औपनिवेशिक काल में साम्राज्यवादियों और आज की 'पहचान की राजनीति' (Identity Politics) को अपने अनुकूल लगती रही है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानवशास्त्र एक अध्ययन अनुशासन की शाखा होने के साथ-साथ साम्राज्यवाद के हाथ का सफल औजार-उपकरण भी था। जिसका एक उद्देश्य उपनिवेश के लोगों की पहचान का खंडन-विखंडन कर उनकी एका को रोकना था। क्या 'पहचान की राजनीति' का भी एक उद्देश्य यह नहीं है?

बहरहाल, जनजातीय समाज को विश्लेषित करने के मानवशास्त्री नजरिये के अलावे एक अन्य नजरिया राष्ट्रवादी इतिहासकारों का भी है। इतिहास लेखन के 'सरकारी दस्तावेज ही सच्चे प्रमाण हैं' वाले वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का अनुकरण करने वाले इतिहासकारों (राष्ट्रवादी-कुछ-कुछ सबाल्टर्न भी) ने जनजातीय इतिहास के लेखन के नाम पर ब्रिटिश काल की क्रान्तियों/उलगुलानों/विद्रोहों की शृंखला परोस दी।

इसकी शुरुआत बिहार-झारखंड के परिप्रेक्ष्य में पटना विश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक डॉ. जगदीश चन्द्र झा के शोध ग्रन्थ 'द ट्राइब्ल अनरेस्ट ऑफ 1831-1832 ऑन द साउथ वेस्ट फ्रान्टियर ऑफ बंगाल' से हुई। जिसे उन्होंने अगस्त 1961 में लन्दन विश्वविद्यालय में अपने डॉक्टरेट की डिग्री के लिए अंजाम दिया था। डिग्री प्राप्ति के बाद डॉ. जे. सी. झा ने अपने शोध ग्रन्थ को दो पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करवाया यथा :

I. द कोल इनसरक्शन ऑफ छोटानागपुर

II. द भूमिज रिवोल्ट (1832-1833) : गंगा नारायण'स हंगामा ऑर टर्मायल

उसके बाद संभवतः सबसे महत्त्वपूर्ण काम बिरसा मुंडा पर सम्पन्न होता है। सबसे पहले 1964 ईस्वी में जनजातीय शोध संस्थान, राँची के उप निदेशक श्री सुरेन्द्र प्रसाद सिन्हा का 'लाइफ एंड टाइम्स ऑफ बिरसा भगवान' प्रकाशित होता है।

उसके बाद कुमार सुरेश सिंह की पुस्तक 'डस्ट-स्टॉर्म एंड हैंगिंग मिस्टः ए स्टडी ऑफ बिरसा मुंडा एंड हिज मुवमेन्ट इन छोटानागपुर, 1874-1901' को 1966 में द यूनिवर्सिटी ऑफ मिशिगन ने प्रकाशित किया। यह भी कुमार सुरेश सिंह का शोध ग्रन्थ था, जिसे पी.एच.डी. की उपाधि के लिए लिखा गया। बाद में कोलकता से फर्मा के. एल. मुखोपाध्याय ने इसे प्रकाशित किया।

उसके बाद मेरी जानकारी में डॉ. पुरुषोत्तम कुमार के प्रकाशन इस सिलसिले को आगे बढ़ाते हैं। 1991 में उनकी पुस्तक 'म्युटिनिज एंड रिबेलियन्स इन छोटानागपुर' (1831-1857) प्रकाशित होती है। आश्चर्यजनक है कि जो 'साबल्टर्न स्टडीज' निम्न जनों के स्वप्नों, आकांक्षाओं, सुख-दुःख, चिन्तन-मनन को इतिहास के पन्नों में उतारने की बात कर रहा था उसके लिए भी जनजातीय इतिहास मुख्य रूप से 'विद्रोहों की शृंखलाओं' का वृतान्त मात्र रह गया। यथा :

सबाल्टर्न स्टडीज I : रिबेलियन्स हिलमेन : द गुडेमा–रम्पा राईजिंग्स 1839-1929 बाय डेविड अर्नाल्ड

सबाल्टर्न स्टडीज III : आदिवासी एसर्शन इन साउथ गुजरात : द देवी मुवमेन्ट ऑफ 1922-23 बाय डेविड हार्डिमेन

सबाल्टर्न स्टडीज IV : जीतू सन्तालूस मुवमेन्ट इन मालदा, 1924-1932 : ए स्टडी ऑफ ट्राइब्ल प्रोटेस्ट बाय तारिका सरकार

फोर रिबेलस ऑफ एटीन फिफ्टी सेवेन : (गोनू हो एंड अदर), बाय गौतम भद्रा।

उसी प्रकार 'बस्तर के विद्रोह का इतिहास', 'गुंडा धुर की तलाश में' आदि आदि अध्ययन-प्रकाशनों ने जनजातीय इतिहास को 'विद्रोहों की शृंखलाओं' की अवधारणा में संकुचित कर दिया है जो एकांगी और दोषपूर्ण दृष्टि है।

नतीजन झारखंड के परिप्रेक्ष्य में आज भी कोई भली मंशा से ही सही जनजातीय समाज पर बात शुरू करता है तो अत्यन्त कमजोर जनजातीय समूह बिरहोर-बिरिजिया से होते हुए संताल हूल और भगवान बिरसा मुंडा तक पहुँचता है। अकादमिक विमर्शों का दायरा भी यही है। हमारी अवधारणा में ही यह नहीं आ सका कि किसी भी समाज की तरह जनजातीय समाज भी भिन्न-भिन्न छोटे-बड़े समुदायों का समुच्चय है। अतएव यहाँ भी स्तरीकरण के विभिन्न रूप हैं। डेविड हार्डिमेन के वार्ली समाज की तरह ही यहाँ भी बिरहोर-परहिया का भ्रमणशील, बिरिजिया-पहाड़िया जैसी झूम खेती वाले समुदायों के साथ अगर संताल-मुंडा-हो-खड़िया-उराँव-बेदिया जैसे व्यवस्थित कृषक समुदाय हैं तो चेरो-खेरवार-भूमिज जैसे शासक-राजवंशीय समुदाय भी हैं। ब्रिटिशों के आगमन के समय भी झारखंड के पलामू में 'चेरो' और बड़भूम में 'भूमिज' शासक के रूप में मौजूद रहे हैं। यह कोई संयोग भी नहीं है। इतिहासकार रामशरण शर्मा अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ' में प्राक् वैदिक काल के 'परिषदों' के जनजातीय स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। देवीप्रसाद चट्टोपध्याय अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लोकायत' में जनजातीय परिप्रेक्ष्य में 'गोत्र', 'गण' और 'गणपति' को व्याख्यायित करते हैं। साथ ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र की व्याख्या करते हुए जनजातीय संघों के विनाश एवं सुनियोजित विघटन को विस्तार से रेखांकित करते हैं।

मध्यकाल में बिहार-बंगाल में पालवंश, उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत में गुर्जर-प्रतिहार एवं मध्य और दक्षिण-मध्य भारत में राष्ट्रकूट के पतन के पश्चात् 'चेरो' और 'राजगोंडों' जैसे जनजातीय राजवंशों का उदय होता है। लगभग इसी समय 12वीं-13वीं सदी में असम में 'अहोम' शासक के रूप में अपने को स्थापित करते हैं। ध्यातव्य है कि चेरो-राजगोंड-अहोम तीनों जनजातीय राजवंश लगभग 400 वर्षों तक इस देश के बड़े हिस्से पर शासन करते हैं किन्तु राष्ट्र के इतिहास में जगह बनाने के लिए आज भी विनीत मुद्रा में पंक्तिबद्ध खड़े हैं।

जनजातीय समुदायों में राज्य निर्माण की प्रक्रिया एवं चेरो-राजगोंड-अहोम जैसे जनजातीय राजवंशों की विस्तृत विवरणी के पूर्व जनजातीय इतिहास लेखन की कठिनाइयों की चर्चा की जाए।

कश्मीर के शासकों के इतिहास के रूप में कल्हण की राजतरंगिणी और अहोमों के पुजारी देवधइयों द्वारा बुरन्जी यानी इतिहास-लेखन तथा उसे नियमित अन्तराल पर अद्यतन करने की प्रक्रिया को अपवाद माने तो अपने देश में तुर्क-अफगानों के आने तक सामान्य तौर पर इतिहास-लेखन की कोई परंपरा नहीं थी। रामायण-महाभारत महाकाव्यों और पुराणों में मिथक और इतिहास कहीं दूर क्षितिज के धुँधलके में गलबहियाँ करते दिखते हैं। पुराणों का अंदाजे-बयाँ तो और भी निराला है जहाँ वर्तमान की कथा भविष्यकाल की शैली में कही जा रही है। सारांशतः सामान्यतया सम्पूर्ण भारतीय समाज और उनमें भी विशिष्ट रूप से जनजातीय और दलित समाज मौखिक परंपरा का समाज रहा है। यहाँ इतिहास गीतों-कथाओं-कहानियों-प्रथाओं-परंपराओं में छुप कर आँख-मिचौली खेल रहा है।

बहरहाल औपनिवेशिक काल में जब पश्चिमी लिखित परंपरा की टकराहट पूर्वी मौखिक परंपरा से होती है तो उसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम होते हैं।

जनजातीय इतिहास लेखन की कठिनाइयाँ और मौखिक इतिहास

समाजशास्त्री रूडोल्फ सी. हेरेडिया अप्रैल 29, 2000 के इकॉनोमिक एंड पोलिटकल वीकली के अपने आलेख 'ट्राइब्ल हिस्ट्री : लिविंग वर्ड ऑर डेड लेटर' में उपर्युक्त टकराव की प्रक्रिया और इतिहास लेखन के प्राथमिक स्रोत के रूप में मौखिक इतिहास की विशेषताओं - सीमाओं को रेखांकित करते हैं। जिसके महत्त्वपूर्ण बिन्दु निम्नवत हैं–

''जब यूरोपीय औपनिवेशिक सत्ता की मौखिक-संस्कृतियों से भेंट हुई तो वे उसे संरक्षण देने या प्रोत्साहन देने के बदले यह अनुमान लगाने लगे कि जिस प्रकार भाषा मानव और पशु में अन्तर करती है उसी प्रकार लेखन क्षमता सभ्यों और असभ्यों के बीच अन्तर करती है। इस प्रकार 'लेखन क्षमता' ने तकनीकी विशिष्टता के रूप में इस मुठभेड़ में औपनिवेशिक सत्ता को बढ़त दिला दी।

जब तक 'वे' कथित अशिक्षित लोग लिखना प्रारम्भ करते उन्हें 'अन्य' (other) मान कर अन्य लोगों ने अपनी भाषा में इतना कुछ लिख दिया कि 'वे' (मौखिक परंपरा के लोग) अपने खुद को सही-सही परिभाषित किए जाने से वंचित कर दिए गए।

स्वजातीय उत्कृष्टता एवं अति श्रेष्ठता बोध से ओत प्रोत औपनिवेशिक सत्ता अपने-अपने उपनिवेशों के कथित अशिक्षित-असभ्य-बर्बर लोगों को अपने 'अन्य' भाव के नजरिये और राजनीतिक उद्देश्य से शिक्षित और सभ्य बनाने के उत्साह से भरी हुई थी।

'अन्यत्व' (otherness) की अवधारणा और औपनिवेशिक नजरिये ने उपनिवेशों की संस्कृति, इतिहास, समाजशास्त्र-मानवशास्त्र आदि को जिस प्रकार अपने हिसाब से गढ़ा थोपा और स्थापित कर दिया कि यह कहना कठिन है कि यथार्थ में कौन बर्बर था–औपनिवेशिक सत्ता या शासित समूह?

लेकिन सबसे ज्यादा विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर 'सभ्यताओं की टकराहट' (clash of Civilization) में लेखन क्षमता वाली सभ्यता को इतनी अभूतपूर्व सफलता क्यों मिली? आखिर क्यों 'मौखिक परंपरा' वाली संस्कृति उनका सामना करने में अक्षम प्रमाणित हुई? 'मौखिक इतिहास' पर विचार करते समय इन प्रश्नों से बचा नहीं जा सकता। 'लेखन' मानव जाति के इतिहास में एक लम्बी छलाँग के रूप में चिन्हित की जाती रही है।

जेवेत्न तोदोरोव (Tzvetan Todorou) अपनी पुस्तक 'द क्लैश ऑफ कल्चर्स इन द न्यू वर्ल्ड' के निष्कर्ष मे यह लिखते हैं कि "The absence of writing is an important element of the situation, perhaps the most important" (1984:80)

चूँकि मौखिक परंपरा की संस्कृतियों में 'स्मृति' को अत्यन्त महत्ता प्राप्त थी अतएव लेखन-क्षमता की अनुपस्थिति से भी अतीत के औपचारिक विमर्श को बहुत फर्क नहीं पड़ता था। जबकि लेखन क्षमता वाली वर्चस्वशाली संस्कृतियों ने लेखन के क्रम में अधीनस्थ संस्कृतियों की व्याख्या को अपने हिसाब से गढ़ा, छलयोजित (manipulate) किया।

मौखिक परंपरा : औपनिवेशिक नजरिया और 'अन्य' की अवधारणा के आलोक में यह माना जाता रहा है कि भारत का जनजातीय समुदाय एक इतिहासविहीन समुदाय है। यह माना जाता रहा है कि उनकी (जनजातियों की) जो अतीत के सन्दर्भ में मौखिक परंपराएँ है वे मिथकों और किंवदन्तियों से इतनी गुत्थम गुत्था हैं, इतनी घुली मिली है कि उनमें इतिहास

खोजना दुरूह है। इसलिए जनजातियों का इतिहास उतना ही भर है जितना कि अन्य समुदाय के 'विद्वतजनों' द्वारा अभिलिखित किया गया जो कि दरअसल उन विद्वतजनों का ही अपने समुदाय का इतिहास की छाया भर था। दरअसल यह 'उत्पाद' एक 'अन्य' द्वारा अपने लिए एक 'अन्य' के अतीत का गढ़न था।

यह एक महान सांस्कृतिक वंचन (A Great Cultural Deprivation) था। जिसमें एक समुदाय की 'साझी स्मृति' की पूर्ण उपेक्षा की गई थी जिसके 'माध्यम से' उस समुदाय विशेष के अस्तित्व और गरिमा को नकारा गया। इतिहास की यह समझ जनजातीय समुदायों को एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक संसाधन (Cultural Resource) से वंचित करती है जिसके माध्यम से वह अपने अतीत की गरिमा के साथ वर्त्तमान की प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करता है।

अतएव जनजातीय समुदायों के मौखिक इतिहास का अभिलेखन एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है जिससे कि अभी तक 'अन्य' भाव से गढ़े गए उनके इतिहास से उत्पन्न अन्याय का थोड़ा प्रतिकार किया जा सके। इन समुदायों की 'साँझी स्मृति' (Collective Memories) एक जीवन्त एवं गतिशील परंपरा है जिसको महत्त्व देने एवं जनजातीय इतिहास-लेखन में उसे अपनाने की महती आवश्यकता है।

हालाँकि, इतिहास लेखन के मानक लिखित दस्तावेजों को प्राथमिकता प्रदान करने को निर्देशित करते हैं और मौखिक इतिहास को खारिज करते रहे हैं जिसके कारण अकादमिक जगत में मौखिक परंपराओं का अवमूल्यन हुआ है। सन्दर्भों (Context) की कसौटी को ही मौखिक परंपरा के स्रोतों की मानकता का निर्धारण करने देना चाहिए।'' वस्तुनिष्ठता(Objectivity) वस्तुनिष्ठ तथ्य (Objective Facts) और इतिहास की प्रत्यक्षवादी अवधारणा (Positivist Understanding of History) 'मौखिक परंपराओं' को मानक नहीं मानती।

इनके अनुसार मौखिक परंपराओं से मात्र 'मिथकीय इतिहास' ही प्राप्त हो सकता है जो वस्तुनिष्ठ तथ्यों के बहुत ही कमजोर आधार होंगे।

हालाँकि, यह सत्य है कि इतिहास-लिखित हो या मौखिक हर पाठ (Text) अपने सन्दर्भों (Context) के आलोक में ही पढ़ा जाता है। अतएव मौखिक इतिहास के पाठों (Texts) को भी उनके सन्दर्भों (Context) से ही विश्वसनीयता प्राप्त हो सकती है।

कुछ इसी तरह के संतुलन के निष्कर्ष पर सबाल्टर्न स्टडीज (निम्नवर्गीय प्रसंग) से जुड़े इतिहासकार शाहिद अमीन और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय भी पहुँचते हैं। इटली के दार्शनिक-चिंतक आंतोनिओ ग्राम्शी ने 'सबाल्टर्न' शब्द-समाज के उपेक्षित, पददलित, उत्पीड़ित व्यक्तियों के लिए किया था।

भारत के सबाल्टर्न स्कूल के इतिहासकारों का यह मानना है कि ''किसी भी समुदाय या समाज के गठन में-और इसमें राष्ट्र की भी गिनती होनी चाहिए—केवल अभिजात वर्ग का ही हाथ नहीं होता।... कोई भी समाज केवल अभिजात वर्ग का समाज नहीं होता और किसी भी समाज का इतिहास सिर्फ उसके अभिजात वर्ग का इतिहास नहीं हो सकता।'' (निम्नवर्गीय प्रसंगः भाग-1 पृ. 8)

इन इतिहासकारों का यह मानना है कि भारतीय इतिहास के पन्नों में शासक वर्ग और अभिजन अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, अपनी आदतों-शौकों, रचनाशीलता-पतनशीलता सबके साथ मौजूद है किन्तु वहाँ आमजन अनुपस्थित हैं न कोई सामान्य किसान है, न दलित, न आदिवासी और न सामान्य गृहिणी या महिला। इन सबाल्टर्न (निम्न जनों) के बारे में हमारी जानकारी सतही और न के बराबर है।''(निम्नवर्गीय प्रसंगः प्रस्तावना पृ. 11)

ऐसी परिस्थिति में सबाल्टर्न धारा के इतिहासकारों ने भी 'लोकगाथा' 'लोकगीत', 'लोकस्मृति' को महत्त्वपूर्ण स्रोत का सम्मान दिया है। साथ ही 'फील्डवर्क', 'साक्षात्कार', 'स्मृति और संस्मरण' जैसी लोक परंपराओं से जुड़ी प्रविधि को निम्नवर्गीय इतिहास लेखन के लिए एक जरूरी उपक्रम माना है। किन्तु ऐतिहासिक स्रोत के रूप में इनकी सीमाओं की ओर भी ध्यान खींचा है, ''ध्यान देने योग्य बात यह है कि लोक साहित्य के अपने ही आयाम हैं। लोकगाथाओं' और लोकगीतों के लेखन का समय, उनका सन्दर्भ, उनकी मंशा जानने की समस्या अपनी जगह रहती ही है और ये स्रोत उतने पारदर्शी भी नहीं जैसा कि कई लोक रचनाकारों की मान्यता है।'' (वही पृ. 12)

शाहीद अमीन और ज्ञानेन्द्र पाण्डेय अपनी इस प्रस्तावना में इस संतुलन पर पहुँचते हैं, ''अगर हम सरकारी और लिखित अभिलेखों से यह कह कर तौबा कर लें कि ये शासक वर्ग और अभिजात जगत के दस्तावेज हैं और इनसे सबाल्टर्न इतिहास का कोई ताल्लुक नहीं, तो यह एक भूल होगी। आवश्यकता है हर नए-पुराने स्रोत को एक नए नजरिए से पढ़ने की।'' (वही पृ. 12)

सरकारी दस्तावेज/अभिलेखागार प्राथमिक स्रोत के रूप में, साथ में मौखिक परंपराएँ यथाः लोक स्मृति, लोक गीत-गाथा अनुष्ठान आदि का योग जनजातीय इतिहास लेखन के लिए आधार हो सकते हैं, किन्तु यह निष्कर्ष भी व्यावहारिक कठिनाईयों से भरा पड़ा है।

'हो' जनजातीय समुदाय के मौखिक इतिहास पर दशकों से काम कर रहे झारखंड के सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. अशोक कुमार सेन, अपनी नई पुस्तक Indigeneity, Landscape and History' (Adivasi Self-fashioning in India) की भूमिका में इन समस्याओं से रूबरू होते हैं, "Furthermore, writing intimate Adivasi history only with the help of archival sources is not possible as these are mostly sketchy. In many cases, these also 'distorted history', as Copper observes in the context of Africa (1994:1528).

Therefore, we have no other way but to invoke oral tradition as a substantive source. This has aptly been remarked that in order to 'expand the idea of historical production well beyond the limits of academic history-writing' we 'must include all the ways in which a sense of the past is constructed in our society. These do not necessarily take a written or literary from' (Johnson and Dawson 1982:207). In the context of the Adivasis, these sources can conveniently be their myth, folklore as well as collective memory, as recorded in the village Papers relating to the Hos of Kolhan.

Conventional historiography, however, cautions us against their deployment by pointing to their achronologicality, instability, narrow spatial coverage, fragmentariness and cultural bias (Vansina 1985: 94-102, 120; Prins 1991: 114-15; Graham 1987: 14-17).

Bengt Karlsson adds two more caveats - it is not very easy to 'locate "authentic" tribal spokesperson' because indigenous discourse does not reach 'us straight from the mud-hut', and having 'emerged and developed in dialogue with various social movements and non-indigenous actors' is not available to us in the exact form (2003:406).

The question is how much of these flaws are relevant when we reconstruct Adivasi history in Bihar and Jharkhand? Later, we discuss that creation myths were internally reconstructed when the like of Lt. S.R. Tickell, W.W. Hunter and Rev. L.O. Skrefsurd recorded them. Similarly, Santal folklore (Bompas 2001; Bodding 1994) and Ho folk tales and stories (Majumdar 1950: 325-59) are available to us only in their recorded forms.

These create two palpable problems: (**a**) the recording of traditions and institutions as we find in Horkoren Mare Hapramko Reak Katha, for instance, lack specified details about space and time; and (**b**) recordings of village memories were officially commissioned and collected through questionnaire. So, these were more or less responses to the questions rather than full and uninhabited flow of data from the native informants.

Keeping in mind the inadequacies of both the genres of historical materials, this study seeks to juxtapose both archival and oral sources. Besides official correspondences and reports, this invokes myths, folklores and colonial recording of memories with the idea that only these are capable of illuminating many grey areas not only of pre-colonial era, but also of the colonial era. The 'hybrid' sources and viewpoints facilitated the making of a more composite history."

निष्कर्षतः 'मौखिक परंपराओं' का उनके सन्दर्भों (Context) के आलोक में पाठ और अभिलेखागारों के सरकारी दस्तावेजों से सतर्कता के साथ उनके मिलान से ही जनजातीय इतिहास का लेखन संभव हो सकेगा।

जनजातीय गण-गणपति, संघ-संगठन एवं उनका विनाश

अब प्राचीन काल के 'प्राक् परिषदों' एवं मौर्य साम्राज्य विस्तार में बाधा बने जनजातीय संघों की विनाश गाथा पर एक नजर डाली जाए।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ' में प्राक् वैदिक जनजातीय परिषदों के अस्तित्व को पूर्णतया स्थापित करते हैं। उनके तर्कों को निम्न उद्धरणों में परख सकते हैं–

''ऋग्वेद' की एक पूर्ववर्ती ऋचा में बाधा पहुँचानेवाली असुर परिषदों को अपने वज्र से नष्ट करने के लिए इंद्र का गुणगान किया गया है। (विवज्रेण परिषदान जघान। ऋग्वेद, III, 33.7) इससे इस बात का संकेत मिलता है कि इंद्र के नेतृत्व में आर्यों ने प्राक् आर्यों की संगठित टोलियों के विरुद्ध युद्ध किया।

एक परवर्ती ब्राह्मण में सभा और समिति के साथ-साथ 'दैवी परिषद' का भी उल्लेख है। (जैमिनी उपनिषद् बृ. II, 11.13-14)

'महाभारत' और पुराणों में उपलब्ध उल्लेखों से परिषद का न केवल जनजातीय बल्कि सैनिक और अंशतः मातृतंत्रात्मक (मैट्रियार्कल) स्वरूप भी परिलक्षित होता है। लेकिन 'महाभारत' में शिव के पुत्र स्कंद को अनेक स्थलों पर पारिषदों से (स्पष्टतः परिषद के सदस्य से) संबद्ध दिखलाया गया है। शिव को, जो गणाध्यक्ष के रूप में वर्णित है, 'पारिषदप्रिय' अर्थात 'परिषद के सदस्यों की संगति का प्रेमी' भी कहा गया है। (महाभारत, X, 7-8. यदि अन्यथा निर्दिष्ट

नहीं हो तो इस अध्याय में व्यवहृत संस्करण से कुंबकोनम संस्करण समझना चाहिए) ऐसे भी कुछ साक्ष्य हैं जिनसे पता चलता है कि पारिषद अपने नेता स्कंद के सगेसंबंधी थे। ये डरावने और विचित्र सखा सहचर, जिन्हें स्कंद की पुरुष संतान बताया गया है, उसके वज्र प्रहार से उत्पन्न हुए थे। (स्कंद के पारिषदान .... वज्र प्रहारात् स्कंदस्य...। महाभारत (चित्रशाला प्रेस), III, 228.1.) इस मिथक का सार या प्रतीत होता है कि स्कंद और उसके अनुयायी एक ही कुल के थे। इस अर्थ में पारिषदों के साथ स्कंद का संबंध वही था जो मरुदगणों का अपने रुद्र से था। उनके जनजातीय स्वरूप का अनुमान इस कथन से भी लगाया जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के चर्मवस्त्रों से आवृत ये पारिषद विभिन्न भाषाएं और विभिन्न क्षेत्रीय बोलियाँ बोलते थे। (महाभारत, (कलकत्ता) IX, 45-102.) इस तरह इनकी तुलना उन आदिम लोगों से की जा सकती है जिनमें से हर जनजाति की अपनी अलग बोली होती है और पारिषदों के जनजातीय स्वरूप की पुष्टि इस बात से भी होती है कि उनकी मुखा तियों की तुलना मुर्गों, कुत्तों, भेड़ियों, खरगोशों, ऊंटों, भेड़ों, शृंगालों आदि विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों के की गई है। (वही, IX, 46. 79-88.) पशु-पक्षियों से उनका ऐसा संबंध शायद उनके बीच टोटमो—अर्थात् आदिम जनजातियों द्वारा प्रयुक्त विशिष्टतासूचक प्रतीकों के चलन की ओर संकेत करता है।

इसलिए पारिषदों के साथ भक्ष्य पशु-पक्षियों के संबंध को इस बात का द्योतक माना जा सकता है कि उनके बीच टोटमों की प्रथा प्रचलित थी और इसलिए वे किसी न किसी रूप में जनजातीय जीवन से भी जुड़े हुए थे। ध्यातव्य है कि पारिषदों से संबंधित पशु-पक्षियों की लंबी सूची में घोड़े का, जो सामान्यतया आर्यों से संबद्ध माना गया है, कहीं कोई उल्लेख नहीं है। ...इन सारी बातों से यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक परिषद अंशतः पितृतंत्री और अंशतः मातृतंत्री जनजातीय सैनिक संस्था थी।" (शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ : पृ. 170-171-172)

गणपतिः जनजातीय विरासत का अध्ययन

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लोकायत' में 'गण' और 'गणपति' के जनजातीय स्वरूप की बहुत विस्तार से व्याख्या करते हैं।

श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार; कम से कम पाँच हजार साल पहले भारत ने सिंधु घाटी में राज्य संस्था का उदय होते देखा। यह निश्चित ही जनजातीय संगठनों के अवशेषों पर आधारित रहा होगा यद्यपि हमारे इतिहासकारों को अभी इस बात पर प्रकाश डालना है कि यह प्रक्रिया किस प्रकार शुरू हुई। साथ ही ये जनजातियां प्रारंभिक राज्यों के समय भी उसी प्रकार बनी रही जिस तरह यह सारे भारतीय इतिहास के दौरान और आज तक बनी हुई हैं। स्पष्ट है कि हम जनजातियों की उपेक्षा करके भारतीयों के इतिहास को समझने की आशा नहीं कर सकते। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हमारे इतिहासकारों ने जनजातियों की ओर आमतौर पर ध्यान नहीं दिया है। (लोकायत : अध्याय 3, पृ. 99-100)

छठी शताब्दी में गणपति को गणनायक और वराहमिहिर भी कहा जाता था (बृ. सं. XV. 15)। जिसका अर्थ था किसी जन समुदाय या पौर संघ का मुखिया। और फिर देवता शब्द का जो अर्थ हम लगाते हैं वैसा कुछ भी, 'वाजसनेयी संहिता' या 'ऋग्वेद' में प्रयुक्त गणपति शब्द में नहीं है। मोनियर विलियम्स ने कहा कि इन ग्रंथों में गणपति का अर्थ केवल किसी वर्ग या सैन्य दल या समुदाय का नायक था (99.343)। महिधर ने मोनियर विलियम्स से बहुत पहले, 'वाजसनेयी संहिता' पर अपने भाष्य में इस नाम की व्याख्या की-'गणनाम गणरूपेण

पालकमृ', अर्थात जो गणों सा सैन्य दलों की रक्षा करता है (ऑन वाज. सं. xxiii. 19), (लोकायत : अध्याय 3, पृ. 102)

श्री चट्टोपाध्याय ने अपनी इसी पुस्तक तीसरे अध्याय में 'गण' शब्द की जनजातीय जड़ों की तलाश की है। श्री चट्टोपाध्याय यह स्पष्ट करते हैं कि— जनजातीय गणों-गणपतियों के विनाश पर ही साम्राज्यों की नीवें पड़ी। मगध ने अजातशत्रु के नेतृत्व में जनजातीय संघों के बड़े संगठन 'वज्जि महासंघ' का विध्वंस कर डाला था। उस संघ की सबसे बड़ा जनजातीय समुदाय लिच्छिवियों को ठेल कर नेपाल तक पहुँचा दिया गया। श्री चट्टोपाध्याय जनजातीय संघों, गणों-समुदायों के प्रति राजतंत्रीय साम्राज्यों की घृणा को कौटिल्य की व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से 'अर्थशास्त्र' के उद्धरणों से समझने-समझाने की कोशिश करते हैं।

ये गण-समुदाय अथवा जनजातीय समुदाय साम्राज्यवादी व्यक्तियों के लिए शुरू से ही समस्या रहे हैं। अर्थशास्त्र में भी इस जटिल समस्या के बारे में विचार किया गया है। इसके अंतर्गत यह विचार रखा गया है कि जनजातीय संगठन तथा उनकी एकता को तोड़ा जाना था और उन्हें अपने अधीन लाया जाना जरूरी था। किंतु यह भी स्पष्ट है कि इन सभी लोगों का पूर्ण रूप से संहार नहीं किया जा सकता था। इसलिए किसी नई व्यवस्था के अधीन इनके पुनर्वास का कोई तरीका खोजने की माँग हुई। वास्तव में किस प्रकार का तरीका अपनाया गया, इस संबंध में हम पूर्ण रूप से स्पष्ट हैं और इसका श्रेय कौटिल्य की स्पष्ट राज्य नीति को है। कौटिल्य ने दो बातें सुझायीं। पहली यह कि जनजातियों के इन लोगों की एकता भंग करने के बाद उन्हें इकट्ठा न रहने दिया जाए। यदि ऐसा होने दिया गया तो युद्ध में पराजय के बावजूद वे फिर जनजातीय एकता की ओर आकृष्ट होंगे जो स्वाभाविक ही है और तब वे अपनी खोई हुई स्वाधीनता को फिर से प्राप्त करने के लिए हथियार उठा लेंगे (377)। इसलिए पहला कार्य, जनजातियों के लोगों को बिखरा देने का था।

यहाँ से हम दूसरी बात पर पहुँचते हैं जो जनजातीय लोगों के संबंध में कौटिल्य की नीति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। कौटिल्य ने वे कौन से तरीके सुनाए जिनसे इन लोगों को पुनर्स्थापित किया जाना था? कौटिल्य ने कहा कि इन लोगों को दस या पाँच परिवारों के छोटे-छोटे गांवों में बसाया जाना चाहिए और उन्हें कृषि कार्यों में लगाना चाहिए (पंचकुलिम दसकुलिम वाष्यायाम् निवेसयेत, वही); ये गाँव अलग-अलग रहने चाहिए और इसलिए इन्हें आत्मनिर्भर होना चाहिए। यह बात प्रथम सिद्धान्त में ही निहित है। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि इन छोटे-छोटे समूहों के बीच रहने वाले लोगों के आपस में संपर्क में आने की कोई संभावना न रहे।

इन सबका सारांश इस प्रकार है—''जनजातीय समाज का विघटन किया जाना था और इन लोगों को छोटे आत्मनिर्भर कृषिप्रधान गाँवों में बसाया जाना था। और यह नीति प्राचीन काल के किसी राजनीतिज्ञ द्वारा दिया गया सुझाव मात्र नहीं थी, हमारे इतिहास में पिछली कई शताब्दियों के दौरान इस नीति का सक्रिय रूप से पालन भी हुआ। इसलिए यह अपेक्षा करना तर्कसंगत ही है कि प्राचीन भारत के विशिष्टतापूर्ण सामाजिक ढाँचे की समस्या पर प्रकाश डालने के लिए इसका अपना ही महत्त्व हो।'' (वही, पृ. 140-141)

जनजातीय समुदायों में राज निर्माण

जनजातीय समुदायों के गोत्र, गण (संगठन), गणपति (सरदारी) एवं राज निर्माण की प्रक्रिया

पर सी. यू. विल्स (1919), सुरजीत सिन्हा (1962), हरमेन कुल्के (1976), सुरंजीत के. साहा (1996) आदि ने सार्थक काम किया है।

उड़ीसा के जनजातीय समुदायों में राज निर्माण की प्रक्रिया के शोध कार्य को बर्नाड कोहन (Bernard Cohn) और निकोलस डिर्क्स (Nicholas Dirks) ने आगे बढ़ाया। मार्ग्रेट फ्रेन्ज एवं जॉर्ज बर्केमर द्वारा सम्पादित, प्राइमास बुक्स प्रकाशन द्वारा 2003 में प्रकाशित पुस्तक 'शेयरिंग सोवेरेइनिटी : द लिटिल किंगडम ऑफ साउथ एशिया' पुनः मुख्यतया उड़ीसा के ही सन्दर्भ में उस कार्य को और विस्तृत रूप देती है।

सुरंजीत के. साहा ने इकॉनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली, मार्च 30, 1996 में प्रकाशित अपने आलेख 'अर्ली स्टेट फॉर्मेशन इन ट्राइब्ल एरियाज ऑफ ईस्ट-सेन्ट्रल इन्डिया' में इस निर्माण की प्रक्रिया को विस्तार से रेखांकित किया है।

श्री साहा ने अपने विशेष शोध आलेख में उस प्रक्रिया को व्याख्यायित करने की कोशिश की है जिसके तहत 450 से 1320 ईस्वी में पूर्वी-मध्य भारत के जंगल-पहाड़ों में जनजातीय समुदायों के बीच से राज्य उभर कर सामने आते हैं। उन्होंने यह रेखांकित किया है कि उत्तर भारत के गुप्त साम्राज्य ने इन क्षेत्रीय और स्थानीय राज्यों के निर्माण में एक मॉडल का काम किया। लेकिन इन इलाकों में जनजातीय नेतृत्व ने नीचे से ऊपर की ओर (from below upwards) की राजनैतिक संरचना खड़ी की। वन-पर्वतों के इन राज्यों ने जनजातीय समुदायों के गोत्र-रक्त संबंध आधारित व्यवस्था को एक उपमहाद्वीपीय सम्पूर्ण भारतीय समाज में धीरे-धीरे परिवर्तित करने में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

श्री साहा ने अपने अध्ययन क्षेत्र के रूप में पूर्वी मध्य भारत के पहाड़ी-पठारी भू-भाग का चयन किया है जो गोदावरी, महानदी, सोन, सुवर्णरेखा और नर्मदा का जलागम क्षेत्र है। इस वृहत क्षेत्र में पूर्वी मध्य प्रदेश का आधा हिस्सा, पूर्वी महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र का एक हिस्सा और महानदी डेल्टा के बाहर का समूचा उड़ीसा समाहित है। यह इलाका लगभग 3,79,000 वर्ग किलोमीटर तक प्रसारित है जो अपने क्षेत्रफल में सम्पूर्ण जर्मनी राष्ट्र से भी बड़ा है। अध्ययन की अवधि 450 से 1320 ईस्वी है। इस अवधि में यह अध्ययन-क्षेत्र चारों ओर से समतल इलाकों के प्रतिष्ठित हिन्दू राजवंशों से घिरा एक मध्यवर्ती क्षेत्र (Buffer Zone) की तरह है। 7वीं सदी के प्रारम्भ में यह क्षेत्र उत्तर में कन्नौज के पुष्यभूति, पूर्व में बंगाल के शशांक और दक्षिण तथा पश्चिम में बादामी के चालुक्यों के बीच वर्चस्व की भीषण संघर्षों का रणक्षेत्र बना रहा।

8वीं सदी के प्रारम्भ से 10वीं सदी के अन्त तक पुनः यह क्षेत्र एक त्रिकोणीय संघर्ष के बीच फँस गया। इस बार पूर्व में बंगाल के पाल, उत्तर और उत्तर-पश्चिम भारत के गुर्जर-प्रतिहार तथा मध्य और दक्षिण-मध्य भारत के राष्ट्रकूट थे। इस प्रकार लगभग तीन सौ वर्षों तक अनवरत चलने वाले वर्चस्व के इस संघर्षों ने इस बफर जोन वाले इलाके में एक राजनैतिक शून्य को जन्म दिया जिसके गर्भ से ही जनजातीय मूल के राजवंशों ने जन्म लिया।

अपने इस आलेख में श्री साहा ने जनजातीय राज्य निर्माण के कई अवधारणाओं की पड़ताल की है, यथा :

(i) प्राक् राज्यों जिनमें आदिम, परवर्ती और खंडित हैसियत के राष्ट्र सम्मिलित हैं, ऐसे प्राक् राज्यों का गठन एवं परिपक्वन (The formation and maturation of early states including nations of primary, secondary and segmentary status)

(ii) उत्पादन की प्राक्-पूँजीवादी पद्धति और विशिष्ट रूप से जनजातीयता से सामन्तवाद में संक्रमण।

(iii) मैदानी इलाकों के प्रतिष्ठित हिन्दू शासकों को रोल मॉडल के रूप में स्वीकारते जनजातीय क्षेत्रों में परवर्त्ती राज्यों का उदय।

(iv) स्थानीय जनजातीय समुदायों और मुख्यधारा के हिन्दू समाज के अन्तर संबंधों की गतिशीलता

आगे अपने इस आलेख में श्री साहा 19वीं सदी के सिद्धान्तकारों के लेखन में राज्य निर्माण के सूत्र तलाशने की कोशिश करते हैं जिनमें प्रमुख हैं मेने (Maine), (1861), मॉर्गन (1877), मार्क्स (1859) और ऐंजल (1884)। मेने राज्य निर्माण के स्रोतों की तलाश करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ''क्षेत्र विस्तार राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षा के लिए हमेशा प्रेरक रहा है यही सारतत्व है इसके लिए कोई फर्क नहीं पड़ता कि सम्पत्ति पर अधिग्रहण का तरीका क्या रहा है। जब 'जनजातीय समुदाय की सार्वभौमिकता' (Tribal Sovereignty) की अवधारणा 'भूभागीय सार्वभौमिकता' (Territorial Sovereignty) का रूप ग्रहण करने लगती है तो जनजातीय समाज से राज्य का उदय होता है।''

जनजातीय राज्यों के उदय में गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र के प्रतिष्ठित राजवंशों ने रोल मॉडल की भूमिका निभाई। श्री सुरंजीत के साहा ने इस कारक का अध्ययन गुप्त काल 320 ईस्वी से 5वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में किया है। गुप्तों के साम्राज्य विस्तार का दक्षिणी छोर इन वन पर्वतों के भू-भाग तक जा पहुँचा था। गुप्तवंश का स्वयं का रोल मॉडल दूसरी सदी की मनुस्मृति एवं तृतीय सदी का कौटिल्य का अर्थशास्त्र था।

श्री साहा के अनुसार, ''गुप्तवंश के राज्य-मॉडल की धूरी एक आदर्शी त राज्य की सप्तांग संरचना थी जिसमें (i) राजा (स्वामिन्) (ii) नौकरशाही (आमात्य) (iii) भू-भाग (जनपद) (iv) किले (दुर्ग) (v) कोषागार (कोष) (vi) सेना पर आधारित बल प्रयोग करने की शक्ति (दंड) (vii) राज्य के बाहर सहयोगी (मित्र)।

ब्राह्मणों को भूमिदान : यह प्रतिष्ठित राजाओं और उन्हें रोल मॉडल मानने वाले परवर्ती राजाओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण औजार था जिसके माध्यम से बराबरी की हैसियत पर आधारित जनजातीय समाज में वे अपनी कुलीनता स्थापित कर पाते थे। राजाओं से राजकीय शासनपत्र के माध्यम से ग्रामदान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण समूहों ने जनजातीय समुदायों को वर्ण और जाति विभाजित अखिल भारतीय मुख्य धारा के समाज में समाहित करने की प्रक्रिया में महती भूमिका रही। इन दान प्राप्त कर्त्ता ब्राह्मणों ने परवर्ती राज्यों (Secondary States) के दृढ़ीकरण में निर्णायक भूमिका निम्नवत निभाई, (i) नव उदित राजवंश की प्रतिष्ठा और वैधानिकता को सशक्त करने के लिए उन्होंने संस्कृत में काल्पनिक और शानदार वंशावलियाँ गढ़ीं, मंगलस्रोत रचे, प्रशास्तिगान लिखे और अत्यन्त आडम्बरपूर्ण धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन किया।

(ii) जनजातीय तत्त्वों को समाहित करते हुए परमसत्ता के प्रति हिन्दू धर्म के भक्ति भाव को प्रसारित-प्रचारित किया ताकि समतावादी जनजातीय समुदायों में अभिजनों के प्रति भी स्वामी भक्ति अपना स्थान बना सके।

(iii) जनजातीय समाज में फसलों के उत्पादन एवम् पशुधन प्रबन्धन से संबंधित ज्ञान को प्रसारित किया ताकि कृषि हल-जोत पर आधारित हो सके और अर्थव्यवस्था स्वपोषक से अधिशेष उत्पादन की ओर बढ़े। जिसके आधार पर अभिजन का उभार संभव हुआ और इसी से जनजातीय समुदायों में जनजातीय राज्यों का सुपरस्ट्रक्चर खड़ा हो सका।'' (वही, पृ. 826)

अकबरनामा, न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल एण्ड द जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी, पाँचवीं सीरीज, जिल्द 17 (1937), के.एस. लाल के 'द ट्वाइलाइट ऑफ द सल्तनत, 1962 के आधार

पर डॉ. सुरेश मिश्र अपनी पुस्तक 'गढ़ा का गोंड राज्य' में अधिशेष उत्पादन की नींव पर जनजातीय राज्यों के उदय के सिद्धान्त को कुछ यूँ स्पष्ट करते हैं, ''एक सुगठित और स्तरीकृत जनजातीय समुदाय के रूप में गोंडों के उभरने के पीछे केवल स्थायी खेती ही नहीं थी बल्कि एक विकसित व्यापार तंत्र भी होगा। इस बात का अंदाज हमें कई साक्ष्यों से मिलता है। पहला तो यह है कि गोंड राजा अपने संचयित धन के लिए काफी प्रसिद्ध थे। अबुल फज़ल बताता है कि सामाजिक तौर पर संग्रामशाह निम्न श्रेणी का होते हुए भी चंदेल राजपूतों ने उससे वैवाहिक संबंध स्वीकार इसलिए किया क्योंकि वह बहुत धनी था। बाद में अबुल फज़ल ही बताता है कि चौरागढ़ से कल्पनातीत धन हासिल हुआ जिसमें उल्लेखनीय था अलाउद्दीन ख़िलजी के सोने के सिक्के से भरे कई घड़े। यह एक स्वाभाविक सवाल है कि जहाँ एक तरफ अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों के संचयित धन को लूटकर सिक्के ढलवाया, वे ही सिक्के बिना किसी बड़े राज्य को हराकर या लूटकर चौरागढ़ में कैसे पहुँचे। संग्रामशाह ने कम से कम तीन बार सोने के सिक्के जारी किए। यह ध्यान देने योग्य है कि मेवाड़ जैसे समकालीन राजपूत राज्यों के सिक्के नहीं मिलते हैं जबकि सुदूर वनांचल के गोंड राजाओं के सिक्के मिलते हैं। तो सवाल फिर उठता है कि यह सारा धन कहाँ से व कैसे आया। इस सवाल का कुछ हद तक जवाब के. एस. लाल देते हैं। वे हमारा ध्यान 1903 में मदन महल के पास मिले सिक्कों के एक ज़खीरे की ओर आकर्षित करते हैं। संभवतः यह दलपति शाह या रानी दुर्गावती के समय में छिपाया गया था क्योंकि इसमें जो सबसे बाद का सिक्का मिला है वह 1533 का है। इस ज़खीरे में दिल्ली, कश्मीर, गुजरात, मालवा, बहमनी राज्य व जौनपुर के मुसलमान शासकों के सिक्के मिले हैं जिनकी तारीखें 1311 से लेकर 1533 तक की हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि इस क्षेत्र का पूरे भारत के साथ व्यापारिक रिश्ता रहा होगा, और यहाँ से निर्यात अधिक और आयात कम होता होगा। अब सवाल है कि इस अंचल से व्यापार किन चीज़ों का होता होगा। जैसा हमने शुरू में देखा था इस अंचल के दो प्रमुख संसाधन थे, जंगल और उपजाऊ घाटियाँ। अबुल फज़ल के अनुसार यहाँ से हाथी पकड़कर काफी बड़ी तादाद में बाहरी राज्यों को भेजे जाते थे। हमें याद रखना होगा कि प्रशिक्षित युद्ध हाथी उस जमाने में उतना ही महत्त्व रखता था जितना आजकल के लड़ाकू विमान या टैंक। अबुल फज़ल यह भी बताता है कि यहाँ का कृषि उत्पादन दक्कन और गुजरात की जरूरतों को पूरा कर सकता था। इसके अलावा हम अन्य वनोपज को जोड़ें तो देखेंगे कि यहाँ का निर्यात व्यापार काफी सशक्त रहा होगा। इन सब बातों का यह मतलब निकलता है कि जनजातीय समुदायों के आम सदस्य तक इस व्यापार में किसी न किसी रूप में शामिल रहे होंगे, और उसका असर पूरे जनजातीय समाज की संरचना पर पड़ा होगा। इसकी पुष्टि कुछ हद तक इस बात से होती है कि संग्रामशाह ने इस क्षेत्र में पहली बार त्रिधातु आधारित मुद्रा व्यवस्था कायम करने का प्रयास किया। इसके तहत राज्य में समानान्तर सोना, चाँदी और ताँबे के सिक्के चलन में थे। हालाँकि यह व्यवस्था दिल्ली सल्तनत में स्थापित हुई थी, पर यह बीच में सोना व चाँदी की कमी के कारण शिथिल पड़ गयी थी। इसे फिर से 16वीं सदी में शेरशाह ने लगभग संग्राम शाह के ही समय में पुनःस्थापित किया। संग्रामशाह द्वारा शेरशाह के समय या उससे भी पहले त्रिधातु मुद्रा व्यवस्था स्थापित करना दो महत्त्वपूर्ण बातों की ओर इशारा करता है- पहला यह कि उसके राज्य में सोना व चाँदी का पर्याप्त आगमन था। दूसरा मुद्रा आधारित लेन-देन जन सामान्य तक पहुँच गया था जिसके कारण तांबे का सिक्का भी सोना व चाँदी के सिक्के के साथ चलने लगा।'' (मिश्र, डॉ. सुरेश, गढ़ा का गोंड राज्य पृ. 225-226)

सुमित गुहा अपनी पुस्तक 'इन्वायरनमेन्ट एंड एथ्निसीटी इन इंडिया, 1200-1991' में पश्चिमी भारत के खम्भात की खाड़ी के पास के तटीय समतल इलाके, सूरत और भरूच जैसे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह और उक्त खाड़ी के दक्षिण में त्रिभुजाकार ऊँचे पर्वत, घने वनों का विस्तृत क्षेत्र जिसमें जनजातीय समुदायों की महत्त्वपूर्ण अवस्थिति, नर्मदा और ताप्ती नदियाँ जो यहीं से गुजरती खाड़ी में गिरती हैं। उन पर्वत शृंखलाओं के पूर्व में विस्तृत मैदानी राज्य, उनकी उन्नत कृषि और उन उत्पादों को बन्दरगाह तक पहुँचाने के लिए पर्वतों-जंगलों में सुरक्षित पारगमन की अपरिहार्यता को रेखांकित करते हुए जनजातीय राज्य निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार की है। एक ओर ये ऊँची पर्वत शृंखलाएँ अबाध व्यापार मार्ग के लिए बड़ी बाधाएँ थीं तो दूसरी ओर वे अहमदनगर-खानदेश सल्तनतों के लिए मजबूत किलों, व्यापारियों से कर वसूली के चेक-पोस्टों के सुरक्षित ठिकाने एवं जहाज-बन्दरगाहों के निर्माण के लिए इमारती लकड़ियों के स्रोत भी थे। अतएव वहाँ की गुफाओं में धार्मिक स्थलों की तलाश हुई, ब्राह्मणों को ग्राम दान में मिले, सुस्थापित शासकों के बीच सत्ता संघर्ष हुए जिसे तेरहवीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी के हस्तक्षेप ने और तीव्र किया। ऐसी परिस्थितियों में बर्गी-हतकर, कोली और भील जैसे जनजातीय राज्यों का उदय होता है। नर्मदा और ताप्ती नदियों ने उस त्रिभुजाकार पर्वत शृंखला-वनों के भू-भाग में सर्वोच्च कोटि के चावल और अंगूर के उत्पादन के लिए संसाधन उपलब्ध करवाये। केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होते इस इलाके में जनजातीय समुदायों ने बर्गी-हतकर और कोलियाँ ने बगलान, रामनगर और जवार जैसे राज्यों का निर्माण किया।

(Guha, Sumit : Environment & Ethnicity in India, 1200-1991 : State Formation, Highland Forests 1350-1800 p. 63)

डी. डी. कोसाम्बी अपनी पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, 1956 में भारत में प्राक् राज्यों में सामन्तवाद के विकास के एक जुड़वा सिद्धान्त (twin theory) प्रतिपादित करते हैं यथा, एक ऊपर से स्थापित, दूसरी निम्न स्तर से विकसित।

ऊपर से स्थापित सामन्तवाद का अर्थ यह है कि एक सम्राट या शक्तिशाली राजा जो अधीनस्थ क्षेत्रों के कर/शुल्क भर लेता हो और उन क्षेत्रों पर पूर्ववत् शासन व्यवस्था चलती रहे जैसा कि उस क्षेत्र के लोगों के अनुरूप चलती आ रही थी, जब तक कि उस सर्वोच्च शासक (सम्राट/राजा) को कर/शुल्क मिलता रहे।

निम्न स्तर से सामन्तवाद के विकास का अर्थ भू-पतियों के, एक ऐसे वर्ग का विकास जो राजा तथा किसानों के बीच मध्यवर्ती सत्ता के रूप में उभरा हो जो धीरे-धीरे स्थानीय जनसमुदाय पर शस्त्र-शक्ति का भी उपयोग करने लगा हो। (कोसाम्बीः 1956ः 295-96)

रामशरण शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सामन्तवाद' में भी डी. डी. कोसाम्बी के उपर्युक्त युग्म सिद्धान्त (twin theory) की पुष्टि की है। इस प्रकार कोसाम्बी यह स्थापित करते हैं कि भारतीय इतिहास में जनजातीय व्यवस्था से राज्य व्यवस्था का संक्रमण एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया थी।

किन्तु राजस्थान में एक अलग ही प्रक्रिया दिखती है जहाँ शक्तिशाली राजपूत घराने जनजातीय समुदायों को पीछे ठेल कर उनके क्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं। कहीं-कहीं जनजातीय समुदायों के साथ समझौता करते हुए उन्हें प्रतीकात्मक सम्मान प्रदान करते हैं और राज्याभिषेक के समय राजा को तिलक लगाने का अधिकार प्रदान करते हैं। (बी.डी. चट्टोपाध्याय, द मेकिंग ऑफ अर्ली मेडीवल इंडिया)। रीमा हूजा, कान्टेक्ट्स एंड कोएग्जिस्टेन्स : भील्स एंड नान भील्स इन साउथ राजस्थान पृ. 131-133)

नाग कन्या मॉडल : इतिहासकार सी. मीनाक्षी एक 'नाग कन्या मॉडल' की चर्चा करती हैं। इस मॉडल के अनुसार कोई जनजातीय समाज के बाहर का युवा (ब्राह्मण, ऋषि, राजा/राजकुमार) किसी स्थानीय जनजातीय कन्या (जिसे अक्सर नाग कन्या कहा जाता है) से प्रेम विवाह कर लेता है और उनकी संतान नया राज्य स्थापित करती है। इस प्रकार के मिथक पल्लव राजवंश के सन्दर्भ में मिलते हैं और समूचे दक्षिण पूर्व एशिया के राजघरानों के सन्दर्भ में भी मिलते हैं। (सी. मीनाक्षी, एडमिनिस्ट्रेशन एंड सोशल लाइफ अन्डर द पल्लवाज पृ. 41-42, 363-373)

गढ़ा के गोंड राज्य की स्थापना के मिथक के रूप में भी यह मॉडल दिखता है जिसमें एक गोंड कन्या एक चमत्कारी नाग युवक से शादी करती है। इसी गोंड-नाग युगल का प्रपौत्र यादवराय गढ़ा का प्रथम गोंड राजा बनता है। (मिश्र, डॉ सुरेश : गढ़ा का गोंड राज्य पृ. 228)

झारखंड के नागवंशी शासकों की कथा थोड़ा ज्यादा रहस्यपूर्ण है। इस मिथक में स्वयं पुण्डरिक नाग ब्राह्मण वेश में वाराणसी में एक ब्राह्मण कन्या से शादी करता है। इस युगल से उत्पन्न पुत्र फणिमुकुट राय का अन्तिम मुंडा राजा मदरा मुंडा लालन-पोषण करते हैं। वे योग्यता के आधार पर अपने पुत्र की जगह फणिमुकुट राय का राज्याभिषेक करते हैं।

इस 'नागकन्या मॉडल' के मिथकों के विश्लेषण से निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है—

(i) ब्राह्मणवादी मानस यह मानने के लिए तैयार नहीं कि गण-गणपति (सरदारी) से धीरे-धीरे विकसित होकर जनजातीय समाज का एक अभिजन वर्ग शासक वर्ग में परिणत हो गया। वह विश्वास ही नहीं कर रहा कि जनजातीय समुदाय स्वयं राजवंशों की स्थापना कर सकते हैं। अतः वह पूर्वाग्रही मानस एक बाहरी तत्त्व के हस्तक्षेप को गढ़ता है। यह एक छल योजना है जो एक 'अन्य' अपने श्रेष्ठताभाव के अहंकार में दूसरे 'अन्य' के ऊपर थोप रहा है।

(ii) आर. एस. शर्मा और के. एम. श्रीमाली के अनुसार ''वास्तव में ये मिथक जनजातीय समाज में बाहरी तत्त्वों के मेल-जोल से आन्तरिक परिवर्तनों की ओर इशारा करते हैं जिनके फलस्वरूप जनजातीय परंपराओं की जगह नई राज्य व्यवस्था ने ले ली।'' (कंप्रीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जिल्द धर पृ. 435-37)

(iii) किसी जनजातीय व्यवस्था में समुदाय का प्रधान या अन्य सदस्य उस समुदाय की परंपरा और रीति-रिवाजों से बंधे होते हैं। उन्हें तोड़ कर नई परंपराएँ (जो राज्य स्थापित करने के लिए जरूरी है) स्थापित करना उनके लिए खासा मुश्किल है। अतः जहाँ भी राज्य जैसी नई परंपराओं को स्थापित करने की बात आती है तो किसी बाहरी व्यक्ति की (वास्तविक या काल्पनिक) जो समुदाय के नियमों से बंधा नहीं है, आवश्यकता पड़ती है। (मिश्र, डॉ॰ सुरेश : गढ़ा का गोंड राज्य पृ. 218)

(iv) एक तथ्य यह भी है कि जनजातीय समुदायों के एक वर्ग का जब राजवंशों में संक्रमण हो गया तो कालान्तर में वह अपने जनजातीय पृष्ठभूमि को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। उनसे ग्रामदान प्राप्त करने वाले ब्राह्मणों ने उनके लिए काल्पनिक, कथित सूर्यवंशी-चंद्रवंशी जैसी शानदार वंशावली गढ़ी। तदालोक में ऐसे मिथकों/कथाओं को गढ़ना जरूरी हो गया अतः आज उनके मूल की तलाश के लिए शोध की आवश्यकता पड़ती है।

इतिहासकार आर. के. शर्मा और जनजातीय अध्ययन के प्राध्यापक एस. के. तिवारी अपनी पुस्तक 'ट्राइबल हिस्ट्री ऑफ सेन्ट्रल इंडिया' के खंड II के अध्याय 'ट्राइबल ओरिजिन ऑफ द मेडिवेल राजपूत डाइनस्टिज ऑफ सेन्ट्रल इंडिया' में इसी मूल की तलाश करते हैं।

ब्राह्मणीकरण-संस्कृतिकरण-राजपूतीकरण-क्षत्रीयकरण : निर्मल कु. बोस अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'द स्ट्रक्चर ऑफ हिन्दू सोसाइटी' में विस्तार से यह स्थापित करते हैं कि कैसे शताब्दियों में देश के जनजातीय समुदायों ने धीरे-धीरे ब्राह्मणवादी तत्त्वों को अंगीकार कर बड़े समाज का हिस्सा बनते चले गए। ब्राह्मणवादी शासन व्यवस्था की बेहतर आर्थिकी-राजनैतिक व्यवस्था के साथ-साथ जनजातीय परंपराओं-प्रथाओं में छेड़छाड़ न करने के आश्वासनों-उदाहरणों ने इस संलयन में प्रेरक भूमिका निभाई। कालान्तर वर्णवादी व्यवस्था में उच्चतर स्थान प्राप्त करने का समुदायों ने संघर्ष प्रारम्भ किया। कहीं-कहीं इस संघर्ष के बाद उच्चतर स्थान प्राप्त भी किया। निर्मल बोस इस धीमी किंतु युगों तक चलने वाली प्रक्रिया को 'ब्राह्मणीकरण' कहते हैं तो श्रीनिवास वर्ण व्यवस्था में उच्चतर स्थान प्राप्त करने की संघर्ष प्रक्रिया को 'संस्कृतिकरण' के रूप में परिभाषित करते हैं।

सुरजीत सिन्हा विशिष्ट रूप से जनजातीय समुदायों के राज्य निर्माण की प्रक्रिया में ऐसे संक्रमण-प्रक्रिया के लिए 'राजपूतीकरण' की पारिभाषिक शब्दावली गढ़ते हैं।

बी. डी. चट्टोपाध्याय (1976) अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ द राजपूत्स : द पोलिटकल, इकॉनोमिक एंड सोशल प्रोसेस इन अर्ली मेडिवेल राजस्थान' में यह स्थापित करते हैं कि ''13वीं सदी के अन्त तक मूलवासी-जनजातीय समुदायों की अपनी पृष्ठभूमि के बावजूद राजस्थान के राजपूत राजवंशों शुद्ध से शुद्धतम क्षत्रिय कुल के रूप में मान्यता प्राप्त करने सफल रहे।''

झारखंड से जुड़े वर्तमान में बंगाल के पुरूलिया जिले के बड़भूमि के भूमिजों के राज्य निर्माण के अध्ययन के क्रम में सुरजीत सिन्हा 'राजपूतीकरण' के निष्कर्ष पर पहँचते हैं, ''प्रथमतः भूमिज प्रधान/सरदार अपने आसपास के हिन्दू राजवंशों के उच्च जीवन स्तर की ओर आकर्षित होते हैं और उनकी नकल करते हुए अपनी जीवन शैली परिवर्तित कर लेते हैं और उन राजवंशों के अनुरूप प्रतिष्ठा के सारे चिह्न धारण करने लगते हैं।''

इसके कारण बराबरी की हैसियत वाली जनजातीय समुदाय में स्तरीकरण का विभाजन प्रारम्भ होता है और धीरे-धीरे मध्यवर्ती सामन्तवर्ग भी उभरता है। किन्तु जहाँ एक ओर भूमिजों के वर्ग विभाजन से उत्पन्न अभिजन अपने को राजपूत कहना प्रारम्भ करते हैं वहीं दूसरी ओर भूमिजों के ही सामान्य वर्ग को इस प्रक्रिया में सम्मिलित होने से रोकता है। (सिन्हा, 1962 : 42, 74, 77)

एच. कुल्के, सुरजीत सिन्हा के इसी मॉडल को स्वीकार करते हैं लेकिन इस प्रक्रिया को 'क्षत्रीयकरण' का नाम देते हैं।

'सर्व अटाविक राज्यस्य', 'व्याघ्रराज', 'नल वंश', 'तुंग-भंज' आदि : सुरंजित के. साहा, ई. पी. डब्लू के अपने शोध आलेख में जनजातीय राज्य निर्माण की सैद्धान्तिकी और विभिन्न प्रक्रिया-मॉडल की चर्चा करने के पश्चात इन जनजातीय राज्यों की अवस्थिति को प्रमाणित करने वाले प्राथमिक स्रोतों का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत करते हैं। इन प्रमाणिक प्राथमिक स्रोतों की विवरणी निम्नवत है-

(i) समुद्रगुप्त की विजय गाथाओं को याद करता 380 ईस्वी का चन्द्रगुप्त II द्वारा निर्मित इलाहाबाद का 35 फीट ऊँचा प्रस्तर स्तम्भ के अभिलेख जिसकी 19वीं एवं 20वीं पंक्तियों में वर्तमान पूर्वी मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ के सतना से बस्तर तक के क्षेत्र के ऐसे प्रधानों-राजाओं की एक सूची उत्कीर्ण है जिन्हें विजित कर मुक्त कर दिया गया। (ग्रहण-मोक्षअनुग्रह-जनिताः)

(ii) उसी स्तम्भ अभिलेख की 21वीं पंक्ति में वन क्षेत्रों के सारे राजाओं का उल्लेख है (सर्व अटाविक राजस्य)। जिन्हें विजित कर परिचारक की हैसियत दी गई. (परिचारकीकृता)।

(iii) सतना और बस्तर के उत्तरी क्षेत्र से पाये गए बारह (12) पुरालेख जिनमें से आठ ताम्रपत्रों और चार शिलालेखों पर उत्कीर्ण हैं जिनमें महान वन क्षेत्र के राजा 'व्याघ्रराज' (महाकान्तरः व्याघ्रराजः) का उल्लेख है।

(iv) उत्तरी तमिलनाडु के उदयेनदिग्राम का एक ताम्रपत्र 8वीं सदी में बस्तर क्षेत्र के एक पुरुषव्याघ्रः (व्याघ्रराज) शासक की चर्चा करता है।

(v) कांकेर जिले (छत्तीसगढ़) के दो ताम्रपत्र एवं एक शिला अभिलेख तथा सिहवा के शिला अभिलेख 1093 ईस्वी में कांकेर-रायपुर के सिहवा वनक्षेत्र तथा दुर्ग जिले के सटे बलोद क्षेत्र पर शासन करने वाले व्याघ्रराज की चर्चा करता है।

(vi) पाँचवीं से छठी सदी के पोडागढ़, कोरापुट जिला, (उड़ीसा), एडेंगा, बस्तर जिला, (छत्तीसगढ़) और रिथापुर, अमरावती जिला, (महाराष्ट्र) में ताम्रपत्र, स्वर्ण मुद्राएँ और शिलालेख निषाद कुल के नल वंश के राजाओं का उल्लेख करता है जिनका शासन पश्चिम-उत्तर में नागपुर-जबलपुर से रायपुर, बस्तर, कोरापुट, गंजम और ढ़ेनकनाल जिलों तक पूर्व-दक्षिण तक प्रसारित था। महाभारत के वनपर्व एवं पद्मपुराण वर्णित निषादराज नल एवं विदर्भ के क्षत्रीय राजा भीम की पुत्री दमयन्ती के विवाह की चर्चा करते हैं। इस मिथकीय कथा से इस नलवंश का अद्भुत साम्य है क्योंकि इस वन पर्वत क्षेत्र के इस जनजातीय नलवंश का भी गंगा-यमुना दोआब क्षेत्र के उच्च कुलों से वैवाहिक संबंध स्थापित होने के प्रमाण हैं। दरअसल यह जनजातीय शासकों की मुख्यधारा के समाज में प्राप्त हो रही स्वीकृति को भी इंगित करता है।

(vii) तुंग राजपरिवार से सम्बद्ध छह ताम्रपत्रों के अभिलेख उड़ीसा के ढ़ेनकनाल जिले के मोतुंगा-तलचर-पाल लहरा और अठमल्लिक सुन्दरगढ़ जिले के बोनाईगढ़ एवं मयूरभंज के किचिंग क्षेत्रों से मिले हैं। ये ताम्रपत्र अभिलेख 924 से 992 ईस्वी अवधि के हैं। इन अभिलेखों का उद्देश्य तुंग राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को दान दिए गए भूमि-विवरणों की उद्घोषणा करना है।

इनमें से एक अभिलेख जो खड़गाप्रसाद में ब्राह्मणी नदी के किनारे प्राप्त हुआ था वह 992 ईस्वी का है जिसे विनीततुंग II ने जारी किया था। इस अभिलेख में भूमिदान से सम्बद्ध इक्कतालिस (41) पंक्तियाँ है जिनसे यह स्पष्ट होता है कि इस जनजातीय राजवंश ने ब्राह्मणवादी परंपराओं को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था। वेद-वैदिक ऋचाओं-परम महेश्वर (शिव) के प्रति श्रद्धा भी इन पंक्तियों में अभिव्यक्त है किन्तु विनीततुंग II अपने को क्षत्रिय/राजपूत घोषित नहीं करता है बल्कि अपने जनजातीय पृष्ठभूमि पर गर्व करता दिखता है।

(viii) उड़ीसा, मयूरभंज जिले के किचिंग क्षेत्र में 1019 से 1070 ईस्वी के नौ ताम्रपत्र अभिलेख इस इलाके भंज राजवंश की सूचनाएँ देते हैं। इनमें से एक ठकुरानी मन्दिर किचिंग से प्राप्त 1050 ई॰ के ताम्र अभिलेख से भंज राजवंश की जनजातीय पृष्ठभूमि स्पष्ट होती है। इस राजवंश की ज्ञात सात पीढ़ियों में से प्रथम दिगभंज और उसके पौत्र शत्रुभंज अपनी राजशाही के रूप में 'विभ्रमतुंग' की पदवी धारण करते हैं जिसका अर्थ हुआ 'तुंग' जिसे गलत समझा गया। (साहा, सुरंजीत के. : ई. पी. डब्लू. मार्च 30, 1996, पृ. 827-832)

सुरंजीत के. साहा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तुंग और भंज भी नल जनजातीय राजवंश से जुड़े थे। तीनों इन ऊँचे वन-पर्वतों के जनजातीय समुदायों से विकसित राजवंश थे।

श्री साहा के अनुसार ये नल-तुंग-भंज के ये उदाहरण समुदाय (गोत्र) से राज्य निर्माण की विकास प्रक्रिया को दर्शाते हैं। स्थानीय राज्य शनै-शनै क्षेत्रीय राज्यों का रूप ग्रहण करते हैं या उनमें संलयित हो जाते है। इस प्रकार अखिल भारतीयता अपना स्वरूप ग्रहण करती

है। साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि समुदायों से विकसित इन जनजातीय राज्यों ने भारत राष्ट्र की साझी संस्कृति को गढ़ने में कितनी ठोस भूमिका निभाई। (वही, पृ. 833)

चेरो-राजगोंड-अहोम

चेरो : सैयद हसन अस्करी और क्यू. अहमद द्वारा सम्पादित पुस्तक 'द कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार', खंड II में कुमार सुरेश सिंह का एक आलेख 'द चेरो' प्रकाशित है। श्री सिंह की लेखनी चेरों एवं अन्य जनजातीय वंशों का परिचय कुछ यूँ देती है, ''पालवंश के पतन के पश्चात् कई जनजातीय शक्तियों का उदय हुआ। जिनमें सर्वप्रमुख थे, 'भर' (पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं मध्य बिहार का सर्वशक्तिशाली जनजातीय समुदाय), खेरवार (सोन नदी घाटी में) तथा दक्षिणी बिहार के चेरों। लेकिन चेरों ने इस क्षेत्र सबसे शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। उन्होंने शाहाबाद, सारण, चम्पारण, मुजफ्फरपुर और पलामू में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की और लगभग तीन सौ वर्षों (1150 से 1450 ई.) तक एक महत्त्वपूर्ण शक्ति समझे जाते रहे।'' (द कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ बिहार II पृ. 259)

चेरों वंशी शासकों ने 12वीं सदी में पश्चिमी बिहार में अपनी शासन व्यवस्था कायम की। उनके राज्य की सीमाएँ पूर्व में बनारस, पश्चिम में पटना-बिहार शरीफ, दक्षिण में गंगातट और उत्तर में विंध्य पर्वत श्रृंखला (कैमूर) तक प्रसारित थीं। वे गंगा दोआब क्षेत्र के स्वामी कहे जाते थे। (वही, पृ. 260)

12वीं सदी में द्रविड़ मूल के इस जनजातीय राजवंश का शासन तो पूरे कीकट प्रदेश (मगध) तक प्रसारित था किन्तु भोजपुर उनकी राज्य व्यवस्था के केन्द्र में था। (तवारिख-ए-उज्जैनिया)

भोजपुर के लोकगीतों में चिरस्मरणीय चेरों शासक घुघुलिया की राजधानी 'बिहिया' थी। चेरों के ही दूसरे वंश की राजधानी भोजपुर की हृदय स्थली डूमराँव से 12 मील दूर 'तिरवान' में थी। राजा रामचन्द्र राय के पुत्र राजा सीता राय इस अवधि (12वीं सदी) में यहाँ के शासक थे।

चेरो समुदाय के ही तीसरे राजवंश की राजधानी चैनपुर में थी जहाँ इस अवधि में राजा सालबहीम शासक थे। सासाराम के दिनारा परगना के देव मार्कन्डे में चौथे चेरो राजवंश का शासन था। राजा फूलचन्द के राज्य में चकई, तुलसीपुर, रामगड़वा, पीरी, बीरी, जोगीबार, भौरिया और घोसिया के क्षेत्र सम्मिलित थे।

हालाँकि भोजपुर में उज्जैनिया राजपूतों के प्रवेश होने पर चेरो शासकों को कई क्षेत्रों से वंचित होना पड़ा किन्तु चेरो और उज्जैनिया राजपूतों के मध्य यह सत्ता संघर्ष 14वीं से 16वीं सदी तक चलता रहा। (तवारिख-ए-उज्जैनिया II पृ. 32-33)

एल.एस.ओ. मैली का गजेटियर, तारीख-ए-शेरशाही, ख्वाजा नियामतुल्लाह की तारीख-ए-खान-ए-जहानी लोदी-ओ मखजानी अफगानी, अहमद यादगार खान की तारीख-ए-शाही आदि शेरशाह के शासन अवधि में शाहाबाद के शक्तिशाली चेरो शासक राजा महारथ चेरो का उल्लेख करते हैं जिससे शेरशाह के सिपाहसलार खवास खान की टकराहट हुई। कई युद्धों के बाद राजा महारथ चेरो का शासन कैमूर के पहाड़ी-वन क्षेत्रों तक सिमट गया।

मुगलकालीन दस्तावेज पलामू के चेरो शासकों की चर्चा करते हैं। अबुल फज़्ल पलामू पटना से 71 मील दक्षिण था जिसके चेरो शासकों का राज्य उत्तर में दाउदनगर-अरवल तक फैला था जहाँ उनके किले हुआ करते थे। अबुल फज़्ल ने उत्तर-पूर्व के चई चम्पा (रामगढ़) और पुनदाग (पलामू) के प्रमुख जमीन्दारों में चेरों शासकों की चर्चा की है। (आईन-ए-अकबरी : सम्पा. सैयद अहमद खान, दिल्ली, 1856 पृ. 418)

मुगलकालीन दस्तावेजों में पलामू के रक्सेल राजपूत शासक मानसिंह से सत्ता छिनने वाले शाहाबाद के चेरो शासक भागवत राय का उल्लेख मिलता है जिसने 1572 ईस्वी में चेरो शासन की स्थापना की। दूसरे अकबरकालीन चेरो शासक अनंत चेरो का उल्लेख मिलता है जिसका मुगलों के बिहार के सुबेदार अफजल खान से युद्ध हुआ। जिसमें अनंत चेरो की हार हुई और चेरो राजवंश ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली।

पलामू क्षेत्र की लोककथाओं में जहाँगीर कालीन चेरो राजा मेदिनीराय के सुशासन का वर्णन मिलता है। ब्रिटिशों के आगमन तक पलामू चेरों शासकों का गवाह रहा। किन्तु अन्य जनजातीय शासक समूह यथाः 'राजभर' (पूर्वी उत्तर प्रदेश-मध्य बिहार), खेरवार (सोन नदी घाटी) आदि के शासन काल पर अभी शोध की प्रतीक्षा है। उसी प्रकार सारण, चम्पारण, मुजफ्फरपुर में चेरों शासन काल पर कोई शोध सामाग्री नहीं मिलती।

लोक इतिहास में रोहतास में उराँवों के शासन की चर्चा बार-बार आती है किन्तु इस शासन व्यवस्था से जुड़े प्राथमिक-द्वितीय स्रोतों की तलाश नहीं हुई है।

राजगोंड : दिल्ली सल्तनत के खिलजी और तुगलक शासकों की प्रसार नीति से जब मध्य और दक्षिण भारत के स्थापित राजवंश बिखर रहे थे तब इस शून्य को भरने के लिए जनजातीय मूल गोंड राजवंश उभरा। गोंड राजवंशों ने उत्तर, मध्य और दक्षिण भारत के बड़े क्षेत्र पर शासन किया। अकबर कालीन इतिहासकार अबुल फज़ल इस क्षेत्र को गोंडवाना की संज्ञा देता है।

विद्वान इतिहासकारों ने चन्दा, गढ़/मांडला की राजधानियों से गोंड शासकों उत्तर एवं दक्षिण भू-भाग पर शासन किया तो मध्य भारतीय गोंड राज्य व्यवस्थाएँ दो राजधानियों देवगढ़ और खेरला राजधानियाँ से नियंत्रित हो रही थीं। इन राजधानियों में से केवल गोंड राज की राजधानी चन्दा समतल इलाके में थी जहाँ की किलेबन्दी इस क्षेत्र के प्रथम गोंड शासक खंडकिया बलाल शाह ने 1450 ई. में की थी।

सामान्यतौर पर ये गोंड राज आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और उड़ीसा (आदिलाबाद, चन्द्रपुर, बस्तर और कोरापुट जिलों) के बड़े हिस्से तक फैला था।

इन गोंड राजवंशों में से सबसे महत्त्वपूर्ण गढ़/मांडला में गोंड शासन की नींव राजा जदूराय द्वारा डाली गई जो 1480 ई. में संग्रामशाह के शासनकाल में अपने चरम पर पहुँच गया। इसी वंश में चन्देल राजाओं की राजकुमारी रानी दुर्गावती का ब्याह राजा दलपत शाह के साथ हुआ।

मध्यवर्ती गोंड राजा जिसकी राजधानी देवगढ़ में थी, इसकी स्थापना राजा जटबा या कोकशाह द्वारा की गई थी। दूसरा, मध्य भारतीय गोंड राज्य राजा नरसिंह राय द्वारा स्थापित की गई जिसकी राजधानी खेरला थी। हालाँकि खेरला राज उत्तर और दक्षिण भारत को जोड़ने वाले पथ के नजदीक था अतः मुगल मनसबदारों विशेषकर बेरार और माण्डू (मालवा) से उनका निरन्तर संघर्ष चलता रहा। (थुसु, केदारनाथः गोंड किंगडम ऑफ चन्दा पृ. 215-221)

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि मध्य और दक्षिण भारत के बड़े हिस्से पर लगभग मुगलों के आगमन के पूर्व से शासन करने वाले जनजातीय राजवंशी गोंडों से सम्बद्ध प्राथमिक-द्वितीयक स्रोतों की कमी नहीं है। बस मुख्यधारा के इतिहासकारों की इन जनजातीय शासकों में अभिरुचि नहीं रहने के कारण ये भारतीय इतिहास के पन्नों में अंकित होने से वंचित हो गए।

अहोम : ब्रिटिश काल में असम में विभिन्न पदों पर सेवा करने वाले इंडियन सिविल सर्विस के पदाधिकारी श्री ई. ए. गैत द्वारा लिखित और 1906 में प्रकाशित 'ए हिस्ट्री ऑफ असम' के पन्नों से गुजरने पर सहज ही यह रेखांकित होता है कि अहोम शासकों के पुजारी

देवधइयों द्वारा इतिहास (बुरंजी) लेखन की परंपरा और लेखन और पांडुलिपियों वंशानुगत उत्तराधिकार होने के कारण तुलनात्मक रूप से अहोम जनजातीय राजवंश पर कार्य करना आसान हैं। देवधई न केवल अहोम शासकों के राजकाज का अभिलेखन करते थे बल्कि एक निश्चित अन्तराल पर उसे अधतन भी करते थे। पेड़ों के आयताकार छालों (वल्कल) पर लिखे गए इस इतिहास (बुरंजी) को बहुत सावधानी पूर्वक पिता द्वारा पुत्र को सौंपा जाता।

श्री ई. ए. गैत अपनी पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट करते हैं कि देवधइयों द्वारा लिखित अहोम शासकों की ऐतिहासिकता एवं वर्णित घटनाओं के कालक्रमों का क्रमवार मिलान उस काल के अन्य स्रोतों से करके उसे सम्पुष्ट किया गया। उस काल के अन्य स्रोतों में मुस्लिम लेखकों की विवरणियाँ तो महत्त्वपूर्ण हैं ही; लेकिन इनके अतिरिक्त प्राथमिक स्रोत के रूप में सत्तर (70) अहोम राजाओं के सिक्के, अड़तालिस (48) ताम्र-पत्र, नौ (9) शिला अभिलेख और अट्ठाईस (28) मन्दिर अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। श्री गैत इसी क्रम में छह (6) तोप के गोलों पर उकेरे गए अभिलेखों का उल्लेख करते हैं।

श्री गैत के अनुसार कुछ बुरंजी 568 ईस्वी का भी विवरण देते हैं जिनके अनुसार अहोम स्वर्ग के राजा लेंग्डेन की सन्तान हैं। इसीलिए अहोम अपने राजा को स्वर्गदेव कहते हैं। ये काल्पनिक विवरण हैं। प्रथम अहोम शासक सुकफा 1228 ई. में राजा बनता है उसके बाद के ही अभिलेख ऐतिहासिक हैं। ('ए हिस्ट्री ऑफ असमः इन्ट्रोडक्शन पृ. I से VII)

तेरहवीं शताब्दी में कामरूप प्रदेश की केन्द्रीय शक्ति छोटे-छोटे राज्य में बँट जाने से दुर्बल हो गई थी। सन् 1206 में मुहम्मद बिन बख्तियार और सन् 1226 में गियासुद्दीन द्वारा असम पर हुए आक्रमण को राजा पृथु ने उन्हें हरा कर नाकाम किया। किन्तु 1228 ई. अल्तमश से युद्ध करते राजा पृथु की मृत्यु हो गई।

बर्मा (म्याँमार) के श्यान प्रदेश में टाइ जनजाति के शासक माओलुंग का राज्य था। अहोम इसी श्यान प्रदेश के टाइ जनजाति के थे। असम में अहोम शासन की नींव डालने वाले सुकाफा उसी राजा माओलुग की संतान था। सुकाफा ने खेती के लिए उपयोगी भू-भाग और ब्रह्मपुत्र के बाढ़ से मुक्त क्षेत्र चराइडय (चे=नगर, राइ=जगमगाता, डय=पहाड़) को 1253 ईस्वी में अपनी राजधानी बनाया और ब्रह्मपुत्र घाटी में छह सौ वर्षों तक शासन करने वाले अहोम जनजातीय राजवंश की नींव पड़ी। (सांगानेरिया सांवरमलः ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे, पृ. 196-197)

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि मगध के चेरों, मध्य-दक्षिण भारत के राजगोंड एवं उत्तर-पूर्व के अहोम, खासी, जयन्तिया आदि से सम्बद्ध ऐतिहासिक स्रोतों (प्राथमिक एवं द्वितीयक) की कोई कमी नहीं है। उसी प्रकार खानदेश-अहमदनगर शासन काल में खम्भात की खाड़ी और सूरत-भड़ोच बन्दरगाह के दक्षिण त्रिभुजाकार पहाड़-वनों से उभरी बर्गी-हतकर, कोली-भील जनजातीय शासकों से सम्बद्ध ऐतिहासिक स्रोतों की उपलब्धता पर भी कोई शंका नहीं है। उराँव, राजभर, खेरवार आदि जनजातीय राजवंशों के स्रोतों पर अभी शोध ही नहीं हुआ है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यह मुख्यरूप से स्रोतों के अभाव का नहीं बल्कि अकादमिक जगत की अभिरुचि, प्राथमिकता और अवधारणा से सम्बद्ध मामला है। जनजातीय समुदायों के प्रति सामान्य पूर्वाग्रहों के कारण इन जनजातीय राजवंशों पर नहीं के बराबर शोध हुए। जो शोध हुए भी वे भी भारतीय इतिहास के पाठ्य पुस्तकों में अपना स्थान बनाने में सफल नहीं हो सके। अब इस अभिरुचि, प्राथमिकता, अवधारणा और पूर्वग्रहों को तोड़ने-उलटने की आवश्यकता है।

संदर्भ स्रोत :

1. चटोपाध्याय, देवाप्रसाद : लोकायत : प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का अध्ययन, 1982, राजकमल प्रकाशन
2. शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, 1968, राजकमल प्रकाशन
3. शर्मा, रामशरण : भारतीय सामंतवाद, 1973, राजकमल प्रकाशन
4. थापर, रोमिला : वंश से राज्य तक, प्रथम हिन्दी संस्करण, 1977, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया प्राइवेट लिमिटेड)
5. मिश्र, डॉ. सुरेश : गढ़ा का गोंड राज्य, 2008, राजकमल प्रकाशन
6. पाण्डेय, ब्रज कुमार, राय, दीपक कु. : शाहाबाद का तुर्क अफगान काल और उज्जैनिया, 2006, अमिधा प्रकाशन
7. शुक्ल, हीरालाल : आदिवासी सामन्तवाद, 1987, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
8. सांगानेरिया, सांवरमल : ब्रह्मपुत्र के किनारे, 2006, भारतीय ज्ञानपीठ
9. Thusu, Kidar Nath : Gond Kindom of Chanda, 1980] Anthropoligical Survey of India.
10. Gait, E.A. I.C.S. : A History of Assam, 1906 Calcutta, Thacker, Spink & Co.
11. Chaudhary, P.C. Roy : Bihar Distric Gazetters, Sahabad, 1966
12. Mally, L.S.S.O. : Bihar Distric Gazetters, Palamu, 1901
13. Guha, Sumit : Environment & Ethnicity in India (1200-1991) : 1999 Cambridge University Press
14. Heredia, Rudolf C. : Tribal History : Living word or Dead letter? : Economic and Political weekly, April 29, 2000 P.P. 1522-1525
15. Heredia, Rudolf C. (1997) : Ethinicity, Class and Nation : Inter relationship in Multi-Cultural State, Economic and Political weekly, Vol 31, No 19, May 10, PP 1010-18
16. Heredia, Rudolf C., Dandekar Ajay : Warli Social History : An Introduction : Economic and Political weekly, December 09, 2000 P.P. 4428-4436
17. Saha, Suranjit K. : Early State formation in Tribal Areas of East-Central India, Economic and Political weekly, March 30, 1996
18. Chattopadhyaya, B.D. (1976) : Origin of the Rajputs : The Political, Economic and Social Processes in Early Medieval Rajasthan's Indian Historical Review, Vol III
19. Gupte, YR (1928) : Rithapur Plates of Bhavatta-varmman: Epigraphia India Vol XIV no. 17
20. Hira Lal (1908) : 'Sihawa stone Inscription of Kamaraja' Epigraphia India Vol IX no. 24 (1916) : Descriptive lists of Inscription of The Central Province and Berar Government Press Nagpur
21. Kulke, H (1976) : Kshatriyaisation and Social Change : A study in Orissa setting, Popular Prakashan, Bombay.
22. Sudhir, H. (2014) : Tribal History of North-East India, Concept Publishiy Company, New Delhi
23. Sharma, R.K. & Tiwary, S.K. (2002) : Tribal History of Central India, Vol II, Aryan book International, New Delhi
24. Frenz, Margret & Berkemer, Georg (2003): Sharing Sovereignty (The Little kingdom in South Asia, Primus Books
25. Kynta, Hamlet Bareh N gap : The History and Culture of Khasi People, Spectrum Publication, Guwahati, Delhi
26. Lamare, Shobhan N. (2013) : The Jaintias : Studies in Society Change : regency Publication, New Delhi
27. बोस, निर्मल कुमार (1976) : भारतीय आदिवासी जीवन नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

संपर्क : नारायण एन्क्लेव, ब्लॉक-ए, 2 सी, घरौंदा, हरिहर सिंह रोड, मोरहाबादी राँची, झारखण्ड, मो. 9431114935

आदिवासी अलगाव का इतिहास और वर्तमान

हरिराम मीणा

भारत का आदिवासी समाज तथाकथित मुख्यधारा के समाज से स्वयं को पृथक् समझता है और इसी प्रकार शेष समाज आदिवासी समुदायों को जंगल-पर्वतों में अलग-थलग रहने वाला मानकर चलता है। आदिवासी समाज के इस अलगाव की मानसिकता, पृष्ठभूमि, इतिहास तथा उसके कारणों को जानने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है। किसी भी विमर्श में हमें इस ऐतिहासिक सिद्धांत को ध्यान में रखना चाहिए कि बहुसंख्यक मानवता से किसी भी सामाजिक घटक का अलगाव उसके भीतर एक विशिष्ट प्रकार की अलगाववादी मानसिकता उत्पन्न करता है जो विचार के स्तर पर मानसिक अकुलाहट व बेचैनी की कंदराओं में घनीभूत घुटन बनकर प्रतिरोध के ताप से पिघल कर असंतोष के मुहाने से अंततः विद्रोह के ज्वालामुखी के रूप में प्रस्फुटित होती है। इस परिघटना के नेपथ्य में कहीं न कहीं वंचना, वर्जना, नकार, ह्रास, दमन, शोषण, अन्याय का संचयन होता है। इसीलिए पृथक्ता प्रतिरोध की जननी बनकर सामने आती रही है।

जब हम आज के भारतीय समाज का अध्ययन करते हैं तो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से संपूर्ण राष्ट्र-समाज दो भागों में विभक्त दिखाई पड़ता है। जिसे हम तथाकथित मुख्य धारा का समाज कहते हैं वह वर्णावतरित जाति प्रणाली पर आधारित रहा है। जो इससे बाहर रहता आया वह आदिम समुदायों से निर्मित होने वाला आदिवासी भारत है जो भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक व जीवन के अन्य क्षेत्रों में सर्वथा पृथक् व विशिष्ट रहता आया। भारत की शेष किन्तु बहुसंख्यक जनसंख्या से अलगाव की दशा में यह आदिम समाज क्यों रहा, इस विषय पर गहराई के साथ सोचना इसलिए आवश्यक है कि जब संसार की सम्पूर्ण मानवता ठेठ आदिम युग के अपने आखेट व वनोपज पर निर्भर आदिम जीवन शैली को त्यागकर निरंतर विकसित होते रहे ज्ञान-विज्ञान के आधार पर भौतिक स्तर पर सभ्यता की यात्रा के पथ पर अग्रसर होती गयी तो भारत ही नहीं, प्रत्युत दुनिया भर के तमाम आदिम समुदाय अभी भी उसी ठेठ आदिमता के खोल से बाहर क्यों नहीं निकल पा रहे हैं? इस सवाल के

ज़वाब के लिए हमें मानव जीवन की ठेठ आदिकाल से वर्तमान तक की कहानी को समझना होगा। इस संबंध में आदिवासियों पर किए जाते रहे अध्ययन शोध की परंपरा का तनिक विश्लेषण करें, तो यह तथ्य सामने आता है कि भारतीय आदिवासी समुदायों पर लेखन की व्यवस्थित शुरुआत औपनिवेशिक दौर में आरम्भ हुई। आरियंटलिस्ट इतिहासकारों ने आदिम समाज को कौतूहल व हिकारत भरी नजरों से देखा, नृतत्वशास्त्रियों ने उनके प्रति सामान्यीकृत औपचारिकता का दृष्टिकोण अपनाया, भाषाई अध्येता सतह से नीचे नहीं उतर पाये। जहाँ तक प्रगतिशील नजरिये का सवाल है, तो डी. डी. कौसाम्बी, डी. पी. चट्टोपाध्याय, भगवती शरण उपाध्याय एवं राहुल सांकृत्यायन जैसी विभूतियों ने आदिवासियों को समझने में गहरी दिलचस्पी ली, लेकिन कुल मिलाकर उनमें भी एक सतही व रोमानी नजरिया ही हावी होता जान पड़ता है। वर्तमान में आदिवासियों को लेकर बड़े-बड़े विद्वान चिंतित और चिंतनशील दिखायी देते हैं, जिनमें डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा, कुमार सुरेश सिंह (दोनों अब स्वर्गीय), रामशरण जोशी, जी.एन. देवी और भी कई नाम लिए जा सकते हैं, फिर भी किसी ठोस वजह से एक बेचैनी वहीं की वहीं उसी मात्रा में बनी रहती है।

मिथकों में आदिवासी अलगाव

'मिथक' यूनानी शब्द 'मिथ' का हिंदीकरण है। दन्तकथा, पुराख्यान आदि के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। मिथक परिवर्तनशील नहीं होता। यह अतर्क्य रीति से ज्यों का त्यों स्वीकृत किया जाता है। अज्ञेय के अनुसार मिथक किसी भी जाति की सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा का महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं। 'मिथक' देश कालातीत होते हैं। किसी विशेष देशकाल में केवल ऐसे ही मिथक स्वीकृत होते हैं जो जनमानस में रचे बसे हों। जिसकी प्रासंगिकता लोगों के बीच जानी और पहचानी जाती हो, अन्यथा प्रयुक्त मिथक अर्थ की जगह अनर्थ की जड़ बन जा सकते हैं। इसलिए एक अध्येता से अपेक्षा की जाती है कि वह प्रयुक्त मिथक की प्रासंगिकता पर अच्छी तरह सोच-विचार करले कि मिथकों की प्रासंगिकता युग का यथार्थ बोध करा रही है या नहीं। जो इतिहास हमें पढाया-सुनाया जाता रहा है, उसमें आदिवासी किस रूप में है, इसे समझने के लिए हमें भारतीय मिथक परंपरा में जाना होगा, चूँकि सारी गड़बड़ी वहीं से शुरू हुई है। मिथक एवं इतिहास के साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह रही है कि हारी हुई कौमों को विकृत करके चित्रित किया जाता है और वर्चस्वकारी वर्ग के पक्ष में सब कुछ रचा-सजाकर प्रस्तुत कर दिया जाता रहा है। प्रायः इतिहासकार स्वयं की वर्ग परंपरा के पक्ष में तथा विपक्ष (जिस भी स्वरूप और मात्रा में) के विरोध में कुछ न कुछ पूर्वाग्रहों से ग्रसित होता है। ऐतिहासिक प्रमाण तो निरपेक्ष होते हैं, समस्या यह है कि वे सब मूक होते हैं। जब उनके अधिकांश की व्याख्या-विश्लेषण-निष्कर्ष का मौका इतिहासकार को मिलता है तो प्रामाणिक सामग्री के अनुरूप उसका तटस्थ और निष्पक्ष हो पाना बहुत मुश्किल होता है। इतिहासकार के संस्कार, सोच, दृष्टि और विचारधारा प्रत्यक्ष-परोक्ष या जाने-अनजाने समाविष्ट होकर रचे जा रहे इतिहास को प्रभावित करने लगते हैं। यह किसी के साथ भी हो सकता है। इस उलझन से बचने के लिए हमें 'वाद-विवाद-संवाद' की प्रविधि को अपनाना चाहिए जिसके माध्यम से विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे और अनलिखे इतिहास का विश्लेषण करके उस निष्कर्ष तक पहुँचना चाहिए जो बौद्धिक-तार्किक व तथ्यात्मक-वैज्ञानिक तुला पर खरा उतरे। पढ़ सुन कर लगे कि 'हाँ, यह प्रामाणिक है, यह सच है, इसे स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं.' इतिहास की ऐसी प्रामाणिकता के सामने तथ्यात्मक यथार्थ बनाम मूल्यात्मक आग्रह की असुविधाजनक स्थिति भी पैदा नहीं

होनी चाहिए। इतिहास को 'क्या है' के रूप में ही देखना चाहिए, न कि 'क्या होना चाहिए' के रूप में। भारत जैसे प्राचीन देश के संदर्भ में हम देखते हैं कि विशेषकर प्राचीन इतिहास पर स्थापित-प्रचलित मिथकों का प्रभाव अधिक रहा है जिसके कारण ऐतिहासिक तथ्यों को मिथकों के साथ मिश्रित कर 'सत्य' के रूप में प्रस्तुत करने का सायास अथवा अनायास प्रयत्न होता रहा। इस प्रक्रिया में आदिवासियों की विकृत प्रस्तुति का विवेचन करने के लिए हमें रामायण व महाभारत जैसे प्रसिद्ध महाकाव्यों सहित समस्त पौराणिक वांग्मय को टटोलना होगा। इस परंपरा में पुराणों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही जो मुख्य रूप से ई. पू. की दूसरी सदी से ई. पू. की सातवीं सदी के कालखंड में लिखे गये। इनके माध्यम से बुद्ध और महावीर द्वारा आरंभ किए ब्राह्मण विरोधी आंदोलन से ध्वस्त पुरोहित वर्चस्व को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया गया। ध्यातव्य है कि सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

यहाँ हमें यह देखना आवश्यक है कि कुल मिलाकर समग्र समाज के मानस पटल पर जिन मिथकों का प्रभाव अधिक रहता है उनके अधिकांश की रचना वर्चस्ववादी वर्ग द्वारा की जाती रही है। इन मिथकों को पौराणिक वाङ्मय के माध्यम से स्थापित किया गया। इस वाङ्मय के अधिकांश ग्रंथों के सृजन की पृष्ठभूमि में ब्राह्मण मानसिकता रही चाहे वह जन्मना ब्रह्मण रचयिताओं के स्तर पर हो अथवा उस मानसिकता के प्रभाव में कतिपय ग़ैर-ब्राह्मण पुराणकारों द्वारा रचित हों। ब्राह्मण वर्ण के वर्चस्व के कारण रचयिता के स्थान पर रचना महत्त्वपूर्ण होती गयी। तभी तो सारा का सारा पौराणिक साहित्य वर्ण व्यवस्था का पोषक बना जिसमें ब्राह्मण वर्ण को सर्वोच्च स्थान दिया जाता रहा। ब्राह्मणवादी मिथकों के प्रभाव के सामानांतर हमें ग़ैर-ब्राह्मणवादी मिथकों की परंपरा को भी समझना होगा जिनकी पृष्ठभूमि आदिम मानसिकता रही है। जिस तरह आज भारत के गैर-आदिवासी अपने को आदिवासी समाजों से सभ्य और आगे बढ़ा हुआ मानते हैं, वैसे ही पश्चिम कभी सारे गैर-पश्चिमी समाजों के बारे में मानता था। एक वक्त तक मानव-विज्ञान आदिवासियों की मानसिक अवस्था की तुलना बच्चों से करता था। लेवी स्ट्रॉस ने सभ्यता के अहंकार को बेनकाब कर दिया। उत्तरी और दक्षिण अमेरिका के आदिवासी मिथकों के अध्ययन के जरिए उन्होंने बताया कि आदिवासी भी औपचारिक और अमूर्त चिंतन करते हैं। उनका अपना ज्ञान-शास्त्र है। वे धरती या चाँद के बारे में उतनी ही जटिलता के साथ सोच सकते हैं जितनी जटिलता भौतिकी या बीज-गणित की प्रणाली में होती है। वे तार्किक मानस के विभाजन को चुनौती देते हैं। उनके इस काम के बाद से यह माना जाने लगा कि कथित सभ्यताएँ अपने उत्पादन, मशीनों और ताकत पर तो ऐंठ सकती हैं लेकिन तार्किक क्षमता पर नहीं। स्ट्रॉस ने बताया कि किसी भी मिथक में एक प्रणाली होती है, जो चीजों, सामाजिक रिश्तों और विचारों का वर्गीकरण करती है। बहुत से लोग अब तक विज्ञान की समझ को ही चीजों का व्यवस्थित अध्ययन मानते थे। लेवी स्ट्रॉस और रोलां बॉर्थ दोनों ने ही मिथकों और विचारधारा की तार्किक बनावट के एक जैसा होने की तरफ इशारा किया। मिथक मुख्यतः मनुष्य और प्रकृति के बीच के टकरावों और विरोधाभासों को कल्पना के स्तर पर हल करता है तो विचारधारा यही सामाजिक अंतर्विरोधों और टकरावों को लेकर करती है। फर्क यही है कि मिथक इतिहास की गति से अछूते से रह कर एक शाश्वत वर्तमान रच सकते हैं, जो अनंत काल तक अपने को दोहरा सकता है। वहीं विचारधारा सामाजिक टकरावों का स्वरूप बदलने पर रूपांतरित हो जाती है या कई बार उसका असर कम-ज्यादा हो जाता है।

कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज के वर्चस्ववादी वर्ग के पक्ष

में रचे गए मिथकों में आदिवासी समुदायों के नायकों सहित उनकी छवि, संस्कृति, परंपराओं, जीवन शैली वगैरा को हेय व मनुष्य विरोधी सिद्ध करने का प्रयास किया जाता रहा। इस जनसमुदाय को राक्षस, दानव, दैत्य, असुर इत्यादि की संज्ञा दी जाती रही। आर्य-अनार्य संग्राम शृंखला से लेकर विजेताओं के वर्चस्व की स्थापना तक की प्रक्रिया में जो दृश्य उभर कर सामने आता है उसका चित्रण कुछ निम्न प्रकार से किया जाना उचित होगा।

ठेठ आदिम अवस्था से समाज बनने तक जानवरनुमा समूहों ने मनुष्यों की तरह रहना आरम्भ किया। समुद्रों, नदियों, झीलों के आस पास अपने ड़ेरे डाले। समतलीय उपजाऊ जमीन पर कुछ पैदा करने लगे। निकटवर्ती जंगलों से कुछ प्राणियों का शिकार भी करना जारी रखा। झोंपड़ियाँ और कच्चे घर बनाये। उनकी बस्तियाँ यहाँ वहाँ नजर आने लगीं। वे सब मिल जुल कर खूब मेहनत करते थे। पालतू पशु भी वे लोग रखा करते थे। छुट-पुट विवादों को निपटाने के लिए उन्होंने पंचायतों जैसी तदर्थ संस्थाएँ विकसित कीं। फसलों को समेट लेने के बाद जो संतोष मिलता उसकी अभिव्यक्ति के रूप में, मेहनत से थक जाने पर मनोरंजन के लिए, ऋतुओं की भंगिमाओं के साथ या अन्य सुखद अवसरों पर वे नाचते गाते थे। इस तरह उनकी संस्कृति निर्मित होती गयी। सम्पूर्ण समाज के हित में है, ऐसे आचरण व्यवहार व गतिविधियों को बढावा मिले और जो अहित में है, उन्हें रोका जाय—इस प्रक्रिया में उनके कानून-कायदे, रीति-नीति, नियम-उपनियम आकार लेते गये। घर सुविधाजनक और बस्तियाँ सुरक्षित रहें, इसके लिए वे निर्माण करते गये और इस तरह उन्होंने सभ्यता की नींव रखी और उस नींव पर सभ्यता की इमारत। लोगों ने प्रकृति और मनुष्येतर प्राणी जगत के साथ सह-अस्तित्व के संबंध स्थापित कर लिए। वे लोग स्वावलंबी थे और स्वायत। यदाकदा भटके हुओं को सही रास्ता दिखाने वाले बुजुर्ग पंच-पटेलों व आत्मीय मुखियओं के अलावा उन्होंने किसी शक्तिशाली राज्य, सेनापति या सेना की आवश्यकता नहीं समझी। वे लोग परस्पर मिलजुल कर चलने वाले, भोले भाले, मेहनतकस, ईमानदार इंसान थे। उनका मस्तिष्क निर्ग्रंथ और मन निर्मल था।

उस समाज के पास बहुत कुछ था। आसमान में धुँधलका नहीं था। अंतरिक्ष में स्थिर दिखने वाले नक्षत्रों के रंग से अनुमान लगाया जा सकता था कि लाल रंग का तारा बहुत दूर है पृथ्वी से और नीले रंग का निकट। वायुमंडल में ऋतु अनुकूल पवन संयमित गति से बहा करता था। आँधी भी आती तो पूर्व संदेश भेजा करती थी। पहाड़ों के साथ छेड़खानी नहीं की जाती थी। वे अपनी आकृति भी बदलते थे तो किसी को पता नहीं लगता था। साधारण आदमी डरता नहीं था अपितु उन्हें देखकर उसके शरीर में अतिरिक्त बल भर आया करता था। नदियाँ बहा करती थीं रक्त-वाहिकाओं की तरह। आषाढ़ लगता था आषाढ़ जैसा। उत्सव की तरह नियत समय पर आती थीं सज-धजकर घटाएँ। बादल अठखेलियाँ करते थे अम्बर के आँगन में। मेह ऐसे बरसता था जैसे उसे बरसना चाहिए। जंगल हरे-भरे थे और फल-फूलों से लदे हुए। उपजाऊ माटी के अधिकांश में कुँवारी गंध हुआ करती थी। खूँखार शेर भी सूरज के उगने और डूबने के पलों में शांत भाव से आँखें मूँद लिया करते थे जैसे प्रकृति की वंदना कर रहे हों। और लोग! नाटे कद वाले लेकिन अकूत जीवट से भरे हुए, सफेद खरगोश जैसे मुलायम दिल रखनेवाले साँवले रंग के, बाहर से अधनंगे लेकिन भीतर से पूरी तरह समृद्ध। इस लम्बी-चौड़ी धरती पर उनकी छोटी सी अपनी दुनिया हुआ करती थी प्रकृति की लय-ताल में नाचती-गाती श्रमलीन सृजन करती हुई। अमलिन आदिम परंपरा को आगे बढाते हुए चिड़िया के घोंसले की तरह तिनका-तिनका सभ्यता को साधे और संस्कृति को सिरजे जा रहे थे वे लोग। दुःख था उनके दुःख जैसा और सुख भी उनके सुख जैसा। कोई पराया नहीं था। सब

अपना था; सभ्यता व संस्कृति, समाज व प्रकृति। उनके पैरों में नृत्य था, वाणी में संगीत और हाथों में सृजन।

और फिर समय ने करवट बदली। पर्वत-शृंखला के श्रीफली कवच में सुरक्षित वनांचल की यवनिका के पीछे संवेदनाओं की दुनिया में किसी ने हलचल मचायी। आकाश कुपित हुआ, धरती काँपी, पहाड़ खिसकने लगे, नदियाँ बाधित हुई। कुँआरी माटी की छाती को चीरा जाने लगा। विदेशी घुसपैठियों के कदमों की आहट ने प्रकृति के परिन्दों की कलरव में खलल डाला, तब लगा कि शीतल मंद पवन में भी गर्म झकोरे थे, आँधियाँ बिनकहे हमलावर थीं, आसमान गँदलाया हुआ था, मौसम बेपरवाह हो रहा था। नक्षत्र धुँधले दिख रहे थे और भैमाता अपनी पहली संतान को भूल गयी थी। जिन परायों को अपना भाग्य विधाता मानने की अनायास भूल कर बैठा प्राकृत मानव-समाज, अपने मन के तहखानों में झटपटाने और कुलबुलाने लगा था इसलिए कि जो बहुत कुछ दीर्धकाल से सृजित कर सँजोया हुआ था उसका बहुत कुछ को पुनः पाने के लिए, जिसका बहुत कुछ नहीं बचा था अब।

यकायक विभिन्न जत्थों में आक्रांत बाहर से आये थे। वे हिमालय के दर्रे पार कर आते थे। उनके पास तेज रफ्तार से भाग सकने वाले घोड़े होते थे। उनके पास नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र होते थे। वे एक संगठित सेना की तरह होते थे। वे चतुर, चालाक, कुटिल बुद्धि के लोग थे। वे आते और बस्तियों पर धावा बोलते। वे स्थपित सभ्यता व संस्कृति को तहस नहस करते। वे औरत, मर्दों, बुजुर्गों, जवानों व बच्चों को दबोचने लगते, मारने-पीटने लगते, पकड़ने लगते। शांत मानवता पर बाहरी घुसपैठियों के हमले एक के बाद एक फिर बारबार लगातार। यह सिलसिला युग-युगों तक चलता रहा। मूलवासियों में से जो पकड़े जाते गये उन्हें दास बनाया जाता रहा। जो भाग गये वे दुर्गम पहाड़ी अँचलों व बियाबान जंगलों में धँसते गये। संभावित दास थे मगर दास बनने से बचते रहे, वे सब के सब दस्यु माने जाते रहे। मानव-समाज के एक पेड़ की दो फलवती शाखाओं को दास और दस्यु बना दिया गया। उन्हें अलग कर दिया।

वैसे तो आक्रांताओं का प्रतिरोध-विरोध होता रहा। संघर्ष भी चलते रहे। लंबा दौर रहा इसलिए हार-जीत का सिलसिला भी कायम रहा, मगर इस सब के रहते, यूँ मान लें कि अंततः आक्रमणकारी लोग जीत गये। कालांतर में विस्थापितों की भूमि पर वे लोग स्थापित हो गये। उन्होंने अपनी बस्तियों की सुरक्षा के लिए अपने दुर्ग बनाये। सेना को और अधिक सुगठित व सुसज्जित किया। उस नयी जमीन पर अनंतकाल तक कैसे टिका जाय, यह सबसे बड़ा प्रश्न उनके सामने था। इसके लिए उन्होंने उन लोगों के साथ मंत्रणा की जो उनमें सर्वाधिक ज्ञानी-ध्यानी थे। ज्ञानी-ध्यानियों के उस बुद्धिजीवी वर्ग ने कुछ शर्तों के साथ अपना नुस्खा तैयार करने के लिए प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव पर सब सहमत थे। फिर उन विद्वानों ने आपस में अलग से विचार-विमर्श किया। उन्होंने एक 'प्रोजेक्ट' तैयार करना आरम्भ किया जो प्रथम चरण में मोटा-झोटा था। बाद में महीन दर महीन होता चला गया। यह क्रम लंबा था और अर्से तक चला। उस प्रोजेक्ट में भूगोल था जिसमें स्वर्ग था, पृथ्वी थी, पाताल था। उस प्रोजेक्ट में खगोल था जिसमें ब्रह्मांड, अनगिनत नक्षत्र और नक्षत्र-समूह थे। उस प्रोजेक्ट में दर्शन, धर्म, संस्कृति, संविधान, विधान, नियम, उपनियम, दिनचर्या आदि थे। उस प्रोजेक्ट में सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ थीं। कुल मिलाकर उस प्रोजेक्ट के पीछे एक सोचा-समझा विचार था, विचार पर आधारित संस्थाएँ और उनके सहारे चलने वाला समाज उस प्रोजेक्ट के बारे में सबसे बड़ी बात यह थी कि वह प्रोजेक्ट तर्कातीत व अनिंद्य था। ऐसा इसलिए

कि उस प्रोजेक्ट के पीछे सृष्टि संचालक परम ब्रह्म की मनसा बतायी गई जो सर्वोपरि थी। उस ब्रह्म और उसकी योजना की जानकारी केवल प्रोजेक्ट निर्मातओं को थी क्योंकि वे पहुँचे हुए ज्ञानी-ध्यानी थे। उस ब्रह्म की एक वाणी थी जिसे केवल वही विद्वान वर्ग समझ सकता था। उस वाणी में कहा गया संदेश भी उस वर्ग तक ही संप्रेषित हो सकता था। इस तरह उस वर्ग ने अपने द्वारा सृजित (कल्पित) अमूर्त विचार से मूर्त व्यवस्था निर्मित करने का वह प्रोजेक्ट तैयार किया और उसे क्रियान्वित कर दिया।

उस प्रोजेक्ट में समाज व्यवस्था के पिरामिडनुमा ढाँचा के शीर्ष पर वही कथित बुद्धिजीवी आसीन हुआ जो ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के मुख से पैदा हुआ था। उसके नीचे राजसत्ताधारी वर्ग और फिर व्यापार-व्यवसाय से धन अर्जित करने वाला और उस अर्जन में से राजकोष में सहायता करने वाला वर्ग। ये दोनों वर्ण क्रमशः ईश्वर की छाती और पेट से उत्पन्न हुए थे। सबसे नीचे जो वर्ण रहा वह दास वर्ग था। उसका काम था तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना। वह निम्न वर्ग श्रम सम्मत सारे कार्य करने के लिए मजबूर था यथा कृषि कार्य, शिल्पकर्म और सेवाकर्म। कालांतर में उस निम्न वर्ग की भी उपश्रेणियाँ बना दी गई। सबसे नीचे रही बस्तियों, रास्तों व घरों की सब प्रकार की गंदगी तो साफ करने वाली श्रेणी। यूँ कर उस प्रोजेक्ट में निम्न वर्ग को शूद्र की संज्ञा दी गई। इस प्रोजेक्ट के साथ एक दिक्कत थी। वह यह कि उन दस्युओं को क्या कहा जाय, जो भाग गये थे? दूरदराज जंगल-पहाड़ों में रहने लग गये, यदा-कदा मौका देखकर प्रोजेक्ट के तहत बने तीन उच्च वर्ण के लोगों पर, उनके खजानों पर, उनकी वस्तुओं पर, उनकी गतिविधियों यथा पर्वोत्सवों, कार्यक्रमों आदि पर धावा बोल देते थे। यह सब वे विरोध स्वरूप करते थे, चूँकि उनके समूह उस नये समाज का अंग नहीं थे, इसलिए प्रोजेक्ट में एक परिशिष्ट जोड़ा गया जिसके अंतर्गत उन लोगों को मानवता से निरस्त कर दिया। जरूरी था कि उन्हें मनुष्य जैसा नहीं होना सिद्ध किया जाय। बताया कि दस्यु वर्ग के सदस्य ऐसे हैं जिनके माथे पर सींग उग गये, जंगल में रहने से इनके बदन पर लंबे-लंबे बाल हैं, इनका शरीर भयावह है। फिर आचरण व दैनिक जीवन के बारे में प्रस्थापनाएँ गढी गयीं, जैसे ये नरभक्षी, निशाचर, अधर्मी, अधिकांश पाताल में छिप जाने वाले, मायावी, कुल मिलाकर अत्याचारी प्रजाति के हैं, उनका नाम रख दिया दानव, दैत्य, राक्षस, असुर आदि-आदि।

बस इतनी सी कहानी है इस महादेश के मनवंतरों पसरे युग-युगों की। बहुप्रचारित तथाकथित सतयुग से लेकर कलियुग तक आसानी से समझ में आ सकने वाली इस कहानी को एक साजिश के तहत जटिल व दुरूह गाथा के रूप में कहा जाता रहा। इस महागाथा को इसी साजिश के तहत सृजित ग्रंथों के माध्यम से परोसा जाता रहा जो उस चालाक बृद्धिजीवी वर्ग ने रचे जो स्वयं को संज्ञा देता रहा। उन दास व दश्युओं की तो बात अलग, इस वर्ण ने स्वयं के समर्थक क्षत्रिय व वैश्य वर्णों को भी नहीं बख्शा। फलतः ब्राह्मण व क्षत्रियों के मध्य विवाद-संघर्ष-संग्राम भी हुए लेकिन परस्पर हितबद्ध दुरभिसंधि के अन्तर्गत ये तीनों वर्ण अंततः एक जुट रहे। सामान्यकृत करें तो तीनों वर्णों का अधिकार रहा—क्रमशः धर्म, राज व अर्थ की सत्ताओं पर। इनके माध्यम से एकजुट वर्चस्व रहा समग्र व्यवस्था पर। यही सूत्र उनके पास था जिसके कारण बिना मेहनत मजे मारे जा सकते थे। यही उनकी महान सभ्यता, यही उनकी महान संस्कृति, यही उनका महान इतिहास और उस महान इतिहास की जड़ में प्रेरक, सृजक व संचालक शक्ति के रूप में उनके मिथक।

मशहूर इतिहासकार रोमिला थापर और अर्थशास्त्री अमित भादुड़ी के एक संयुक्त लेख की इन पंक्तियों पर गौर कीजिए—''अतीत के ग्रंथों में जंगल के लोगों, वनवासियों को आमतौर

पर 'अन्य' के रूप में पेश किया गया है; राक्षस के रूप में; ऐसे लोग जो काले बादलों की तरह और खूनी आँखों के साथ जंगल में विचरण करते थे, जो हर गलत चीज खाते और पीते थे, जिनके यौन संबंधों के गलत नियम थे, जो एक विचित्र प्राणी थे, जो 'हमसे' बहुत अलग थे।'' रोमिला थापर ने अपनी पुस्तक 'आदिकालीन भारत की व्याख्या' में आर्य-अनार्य संग्राम-क्रम से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण व रोचक मिथक का जिक्र किया है जो इस प्रकार है–

''पृथु की कथा से स्पष्ट होगा कि कुछ मिथक बदलती सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं को वैधता प्रदान करते हैं। इस कथा के अनेक संस्करण हैं। सबका प्रारम्भ एक जैसा है। वेन बड़ा दुष्ट राजा था। ऋषियों ने उसकी हत्या कर दी क्योंकि वह धर्म से च्युत होकर शासन कर रहा था। उन्होंने उसके बाएँ जंघे को मथकर उसका एक उत्तराधिकारी प्रकट किया जो निषाद था। वह शासन के योग्य न था। इसलिए उसे वन में निर्वासित कर दिया, जहाँ वह आखेटजीवी हो गया। वेन के दाहिने बाहु को मथकर ऋषियों ने दूसरे उत्तराधिकारी को प्रकट किया। वह धर्मात्मा पृथु था। उसने गौ-पालन और कृषि का प्रारम्भ किया और पृथ्वी को अनेक वरदान दिए। पृथु से प्रसन्न होकर उसने अपना नाम पृथ्वी रखा। वेन दुष्ट था क्योंकि वह यज्ञ नहीं करता था। इसलिए ऋषियों ने उसका वध कर दिया। प्रजाजन ने उसे निर्वासित नहीं किया, जिन्हें राजा को पदच्युत करने का अधिकार था। काला, नाटा, कुरूप निषाद सभी वनवासियों का आद्य रूप हुआ। इस मिथक में भूमि को साफ कर कृषि प्रारम्भ करने पर सभी ऐसे समूहों को वनवास देने को वैधता प्रदान की गई है.'' इस मिथकीय प्रसंग से स्पष्ट है कि जो भी आर्यों की योजना में बाधक बना उसे आर्यों ने या तो नष्ट कर दिया या मनुष्य से दर्जे से खारिज कर दिया। इन्हीं मिथकों की पृष्ठभूमि और माध्यम से भारत का आदिवासी समाज तथाकथित मुख्य समाज से अलग-थलग होता गया।

प्राचीन युग

भारत के प्राचीन इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि सैंधव, गांगेय, सारस्वत के सरसब्ज़ मैदानों में अनेक आदिम समुदाय बसते थे, कालांतर में जिन्हें बाहर से आये आक्रान्ताओं ने जंगल-पहाड़ों में धकेल दिया। सिंधु घाटी की महान सभ्यता के तार मुंडा व मीणा जैसे आदिवासियों से जुड़ते हैं। प्राचीन भारत के महाभारत कालीन 16 जनपदों में जिस मत्स्य गणराज्य का सन्दर्भ मिलता है उसका संबंध मीणा आदिवासियों से स्थापित होता है। नदीम हसनैन ने 'जनजातीय भारत' में लिखा है कि पश्चिमोत्तर भारत के आदिवासी समुदायों को सिकंदर ने पराजित कर उच्च पहाड़ी क्षेत्रों की तरफ विस्थापित होने के लिए विवश किया था। मौर्यकालीन दशा का उल्लेख देवीप्रसाद चटोपाध्याय ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लोकायत' में किया है। उन्होंने कौटिल्य द्वारा जनजातियों के लिए प्रस्तावित तत्कालीन व्यवस्था का वर्णन करते हुए आदिवासियों के विषय में लिखा है कि ''इन लोगों को दस या पाँच परिवारों के छोटे-छोटे गाँवों में बसाया जाना चाहिए और उन्हें कृषि कार्यों में लगाना चाहिए। ये गाँव अलग-अलग रहने चाहिए और इसलिए इन्हें आत्मनिर्भर होना चाहिए। यह बात प्रथम सिद्धांत में ही निहित है। इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए कि इन छोटे-छोटे समूहों के बीच रहने वाले लोगों के आपस में संपर्क में आने की कोई संभावना नहीं रहे।'' उन्होंने आगे लिखा है कि ''कौटिल्य के अनुयायियों ने ग्रामवासियों (आदिम समुदायों) को अपने गाँवों में अपने ढंग का जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया। स्वाभाविक ही है कि उनमें अपने जनजातीय विश्वासों और विचारों के तत्त्व बने रहे हों। अन्य शब्दों में ग्रामीण समाज में परिवर्तित

इन जनजातीय लोगों ने अपने अतीत की विशेषताओं को जीवित रखा।'' सम्राट अशोक ने उत्तर भारत के आदिवासियों को विजित करने के पश्चात् विद्रोहों की संभावना को देखते हुए धमकी दी थी कि ''यदि उन्होंने विद्रोह किये तो भयानक परिणाम भुगतने होंगे।''

थापर व भादुड़ी के जिस लेख का जिक्र पूर्व में किया गया है उसी लेख में यह भी लिखा है कि 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' में आदिवासियों को उपद्रवी बता कर उनकी निंदा की गई है, जबकि सम्राट अशोक ने उन लोगों को धमकी दी थी। लेख में आगे कहा गया है—''विभिन्न राजवंशों के जंगलों में विस्तार से जो हित जुड़े थे, उसके स्पष्ट कारण हैं। जंगलों से सेना के लिए हाथी मिलते थे, लोहा समेत दूसरी खनिज संपदा वहाँ थी, मकान के लिए लकड़ी मिलती थी, जंगलों की सफाई से खेती की जमीन में इजाफा होता था और इसके परिणास्वरूप ज्यादा जमीन पर खेती से राजस्व में बढ़ोतरी होती थी। बाद के युगों में, उन स्थितियों में भी जब वनवासियों पर निर्भरता रहती थी, उनके प्रति परंपरागत नजरिया यही था कि ये लोग सामाजिक दायरे से बाहर हैं और उनसे दूर ही रहना है।''

'साउथ एशियन हिस्ट्री' के संपादक शिशिर थडानी ने अपने लेख 'भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के लिए आदिवासी योगदान' में वर्णन किया है कि 'भारत के प्राचीन आदिवासी समुदायों को गौतम बुद्ध बतौर नमूने के समाज के सामने पेश करते हुए, उनकी पक्षधरता रखते थे। निजी संपत्ति की लालसा, गरीबी, सामाजिक शोषण और अंतहीन युद्धों के कारणों से दुःखी हो, गौतम बुद्ध ने आदिवासी गणतंत्रों में समाज के लिए आशा देखी जो अभी तक जाति-भेदभाव और बलशाली कानून के प्रभाव में नहीं आये थे। प्रारंभ के बौद्ध संघ भी आदिवासी सामाजिक पारस्परिकता के नमूने थे। वे लैंगिक समानता और सभी के लिए आदर पर जोर देते थे। बौद्ध संघ के लोग भी अपने समानता के दृष्टिकोण और प्रजातंत्रात्मक कार्य प्रणाली के लिए प्रचार-प्रसार करते थे।

उस समय आदिवासी गणतंत्रों ने सामाजिक समता के अनेक स्वरूपों को बचा रखा था जो शोषण और व्यवसायिक गिरावट के बुरे प्रभावों से मुक्त थे। आदिवासी समाज का गठन जीव के सभी रूपों, पौधों तथा वृक्षों के लिए आदर और समानता के आधार पर होता था। उनमें मानव समाज एवं प्रकृति की पारस्परिकता की गहरी समझ थी। विशेष कार्यक्रमों में सामाजिक जरूरतों के योगदान के अनुसार लोगों को सम्मान और पद दिया जाता था। धार्मिक अनुष्ठान में गुरु या वैद्यराज को बहुत आदर दिया जाता था परंतु जैसे ही यह कार्य संपन्न हुआ कि वह धर्मगुरु या वैद्य हर एक के लिए सामान्य हो जाता था। उच्च कौशल या ज्ञान, ऊँचें पद को प्राप्त नहीं कर पाता था। इसका अर्थ है कि कोई व्यक्ति या छोटा-समूह किसी प्रकार की प्रभुसत्ता या वंशानुगत स्वामित्व को हासिल नहीं कर पाता था। यह मूल्य-पद्धति उस समय तक बनी रही जब तक कि आदिवासी समुदाय धन-अलोलुपी रहा और समुदाय के समस्त उत्पादनों का आपस में हिस्सा-बाँट होता रहा। श्रम विभाजन था। सामाजिक कार्य बिना किसी भेदभाव या पक्षपात के सहकारिता और सहसमानता के आधार पर किया जाता था। गौतमबुद्ध को सहजता, प्रकृति-प्रेम और वस्तुओं या धन के प्रति निग्रह तथा सामुदायिक जाति समन्वय ने आकर्षित किया और इन्हीं सबने उनकी शिक्षाओं पर बड़ा प्रभाव डाला। तब भी, ज्यों ज्यों आर्थिक संपदा बढ़ी जनजाति समुदाय लगातार दवाब में बने रहे और वस्तु-विनिमय को अधिकाधिक आसान बनाते रहे। व्यापार के मामले में, आदिवासियों ने उच्चकोटि के सम्मान का तरीका अपनाया। सभी समझौतों का वे सम्मान करते थे। जाति के एक व्यक्ति के द्वारा भी किए गए अनुबंध का सम्मान संपूर्ण जाति के लोग करते थे। बेईमान

या धोखेबाज व्यक्ति को जनजाति द्वारा गंभीर सजा दी जाती थी। जनजाति के सम्मान के उल्लंघन की दशा में व्यक्ति को निर्वासन भुगतना पड़ता और उसके परिवार के सदस्यों को सजा के दौरान सामुदायिक कार्यकलापों में भाग लेने के अधिकार से वंचित होना पड़ता था। परंतु प्रायः जनजाति की सत्यनिष्ठा को क्षति पहुँचाई जाती थी। आदिवासियों से व्यापार करने वाले गैर-आदिवासी उनके वादों से विश्वासघात करते और जनजाति के अधिकांश लोगों की ईमानदारी एवं सच्चाई का अनुचित लाभ उठाते थे।'

यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत में संस्कृत, पालि, प्राकृत व अपभ्रंश जैसी भाषाओं के साथ आदिवासी भाषाओं के मिश्रण के फलस्वरूप भारत की क्षेत्रीय भाषाएँ पैदा हुईं जैसे उड़िया, मराठी या बंगाली और भारत की इन सभी भाषाओं ने आदिवासी भाषाओं के शब्दों को स्वीकार किया। आयुर्वेद विज्ञान पर आदिवासियों की परंपरागत ज्ञानपद्यति का व्यापक प्रभाव पड़ा। आदिम समुदायों ने प्राचीन काल में ही विभिन्न पौधों और उनके औषधिक उपयोगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और आयुर्वेदिक दवाइयों की उत्पत्ति में बहुमूल्य योगदान दिया। 'ऑल इंडिया कोऑरडिनेटेड रिसर्च प्रोजेक्ट' ने एक अध्ययन में बताया है कि मनुष्य एवं पशुओं के रोगों के उपचार हेतु वनस्पतियों की करीब 9,000 में से 7,500 प्रजातियों का ज्ञान पहले से ही आदिवासी समाज में उपलब्ध पाया गया है। दाँतों की सुरक्षा के लिए दातुन के अलावा अनेक किस्म की जड़ी-बूटियों, लताओं, फल सहित हल्दी जैसे मसलों के उपयोग और विभिन्न प्रकार के मलहमों की खोज आदिवासियों द्वारा की गयी बताई है। कृषि क्षेत्र में भी आदिवासियों ने महत्त्वपूर्ण काम किये हैं यथा अदल-बदल फसलें उगाना, उर्वरकता बनाये रखने के लिए वैकल्पिक फसलें और जमीन परती छोड़ना या उसका चारागाही उपयोग इत्यादि।

मध्यकाल

अरबों के आक्रमणों विशेषकर 11वीं व 12वीं शताब्दियों में तुर्क, अफगान एवं मुग़ल शासकों ने मध्यभारत, बिहार, छोटानागपुर एवं असम क्षेत्रों में हजारों सालों से रह रहे आदिम समुदायों को परास्त कर उन्हें बेदख़ल करने का काम किया।

वर्तमान झारखंड का प्रसिद्ध 'सिनगी दई संग्राम' इसी कालखंड में हुआ था। यह तेरहवीं या चौदहवीं सदी की बात है जब तुर्की फ़ौज ने उराँव आदिवासियों के रोहितासगढ़ दुर्ग पर हमला कर दिया। उराँव लोग सरहुल त्यौहार मनाने में व्यस्त थे। जब फ़ौज ने उन पर हमला बोला तो लगभग सभी पुरुषों को नशे में धुत्त व शत्रु दल का मुकाबला करने में असमर्थ देखकर वहाँ की स्त्रियाँ सिनगी दई नामक स्त्री के नेतृत्व में किले पर मोर्चा सँभालकर ऊपर की ओर आती फ़ौज पर बड़े बड़े पत्थरों की वर्षा करने लगी। वे सभी स्त्रियाँ पुरुषों का भेस धरकर तीर धनुष भाले बरछा सरीखे अपने पारंपरिक अस्त्र और शस्त्र लेकर परकोटे के बीचोंबीच बने मुख्य दरवाजे से निकलकर टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियों से नीचे उतरने लगी और वापस भागती फ़ौज पर आगे बढ़कर तीरों की वर्षा करने लगी। तुर्की फ़ौज को खदेड़ देने के उल्लास में डूबी वे स्त्रियाँ नदी में चेहरा, हाथ, पाँव धो रही थी तब किसी कहारिन ने ईनाम के लालच में यह खबर तुर्कों के खेमे में पहुँचा दी। तुर्की फ़ौज ने पुनः आक्रमण कर दिया। हमले में परस्त होकर उराँव लोग रोहतासगढ़ के इलाके से निकल कर छत्तीसगढ़ के सरगुजा व जसपुर, उड़ीसा के राजगंगपुर और सुंदरगढ़ और झारखंड के पलामू व अन्य स्थानों पर बस गए। आदिवासियों का सबसे बड़ा राज्य 10 वीं सदी में गोंड समुदाय द्वारा स्थापित किया गया। गढ़ मंडला राज्य ने उत्तर में ऊपरी नर्मदा-घाटी के अधिकांश तथा आसपास के जंगली भूभागों

पर नियंत्रण फैला लिया था। इसकी सीमाएँ देवगढ़-नागपुर सहित दक्षिण में वर्धा की सीमा के चारों ओर एवं बैनगंगा तथा पेनगंगा के संगम पर चाँदा-सिरपुर तक प्रसरित थीं। गढ़ मंडला राज्य के बड़े केन्द्रों में जबलपुर एक था। जबलपुर की रानी दुर्गावती ने मुगल आक्रमणों के विरुद्ध लड़ाई में रक्षा करते हुए वीरगति पाई थी। यह राज्य 18 वीं शताब्दी के पश्चात् भी अस्तित्व में रहता गया। जिस मध्य काल की हम बात कर रहे हैं, यही वह दौर है जब उत्तर भारत के अनेक राजपूत वंश इन बाहरी आक्रान्ताओं से त्रस्त होकर अपने राज्यों से भागकर आदिवासी इलाकों में गए और वहाँ अपने राज्य स्थापित किये। परिणामतः शाहाबाद के चेर आदिवासी विस्थापित हो गए। बिहार के मुंगेर जनपद के भूमिया आदिवासियों को चंदेलों ने हराया।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अरबी आक्रमणों से लेकर विशेष रूप से पूर्व मध्यकाल अर्थात 11-12 वीं शताब्दी के दौरान हुई राजनैतिक उथल पुथलों के कारण मीणा आदिम समुदाय के लोगों का विस्थापन। शासक कौम के रूप में मीणा राज्यों में वर्तमान राजस्थान के खोहगोंग (चाँदा गोत्र), ढूँढाड़ (सूसावत गोत्र), माची, न्हाण, क्यारा-थानागाज़ी (नरेठ-झरी) (झरवाल गोत्र), बूँदी (ऊषरा गोत्र), मेवात (मेव मीणा), करौली-रणथम्भोर (टाटू गोत्र) तथा मध्यप्रदेश के जवाहरगढ़ व शिवपुरी (बमणावत गोत्र) मुख्य थे। राजनैतिक सत्ता के इतिहास की दृष्टि से मीणा जनजाति के लिए 10वीं व 11वीं शताब्दी की अवधि महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब इस जनजाति का राजनैतिक वर्चस्व समाप्त होने लगता है। इस क्रम की शुरुआत जयपुर के दक्षिण-पूर्वी दिशा में अवस्थित खोहगंग जिसे वर्तमान में खोह नागौरियान कहते हैं, के चाँदा वंशीय मीणा राज्य के पतन से होती है। इस स्थल पर प्राचीन दुर्ग, महलों व अन्य भवनों के खंडहर अभी देखे जा सकते हैं। खोहगंग राज्य की स्थापना चांदावंशी मीणा राजा गंग के द्वारा किये जाने के उल्लेख मुनि मगनसागर रचित ग्रंथ 'मीणा राजवंश', कर्नल टॉड के 'एनाल्स एंड एंटीक्वीटीज ऑफ़ राजस्थान' एवं अन्य ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलते हैं। सन 1090 से 1147 की अवधि में यहाँ मीणा राजा आलनसिंह ने राज किया। उसके शासनकाल में कच्छवाहा युवराज दुल्हेराय शिशु अवस्था में अपनी विधवा माँ के साथ खोहगंग राज्य सीमा में प्रवेश करता है। इसकी पृष्ठभूमि यह रही कि वर्तमान मध्यप्रदेश के तत्कालीन नरवर राज्य में उत्तराधिकार को लेकर संघर्ष हुआ था जिसमें दुल्हेराय के पिता सोढाराय की मृत्यु के बाद उसके भाई ने शासन हड़प लिया था तब जान बचाकर सोढ़ाराय की विधवा अपने एक मात्र पुत्र दुल्हेराय को शिशु अवस्था में लेकर वहाँ से निकल गयी थी और खोहगंग के मीणा राजा आलनसिंह के यहाँ शरण ली थी। राजस्थान के करीब करीब सभी इतिहास ग्रंथों में यह सन्दर्भ निर्बाध रूप से मिलता है। कर्नल टॉड ने इस घटना का विस्तार से वर्णन किया है। शरणार्थी विधवा को मीणा राजा ने धर्म बहन बनाया और दुल्हेराय को धर्म भानजा। इसी दुल्हेराय ने आगे चलकर खोहगंग पर धोखा से आक्रमण किया तथा मीणा राज्य को हस्तगत कर लिया। कर्नल टॉड के इतिहास ग्रंथ के गुजराती संस्करण में यह घटना सन् 1128 की बताई है। जयपुर से करीब तीस किलोमीटर दूर जमवारामगढ़ क़स्बा है जिसका प्राचीन नाम माची या माच था। वहाँ का शासक मीणा राजा राव नाथू था। दुल्हेराय ने अगले चरण में माच के राज्य पर आक्रमण किया और उसे विजित कर उसका नाम रामगढ़ रखा जो सूर्यवंशी भगवान राम के नाम से संबंधित है। राव नाथू सीहरा गोत्र का मीणा था। डॉ. वी. एस. भार्गव के अनुसार माची के मीणा राजा का नाम मेहवास था। युद्ध के प्रथम चरण में मीणा आदिवासियों ने दुल्हेराय की सेना को पराजित कर दिया था लेकिन विजयोल्लास के मद में जश्न मनाते हुए मीणा सरदारों

व सैनिकों पर दुल्हेराय ने अचानक हमला किया और अंततः विजय प्राप्त की। राव नाथू इस युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके बाद मीणा सरदारों ने राव मेदा को अपना मुखिया चुना। राव मेदा के नेतृत्व में मीणा सेना ने दुल्हेराय से युद्ध किया जिसमें दुल्हेराय के दल की हार हुई और स्वयं दुल्हेराय रणक्षेत्र में मारा गया। यहाँ एक लोक किंवदंती चली आ रही है कि जमवाय माता के आशीर्वाद से अपनी सेना सहित पुनर्जीवित हुआ और उसने फिर मीणों को हराया लेकिन ऐतिहासिक प्रमाण यही मिलते हैं कि दुल्हेराय का अंत हो गया था। उसकी पत्नी ने अजमेर जाकर शरण ली। उसका बेटा काँकिल जब बड़ा हुआ तब उसने पुनः माची पर अधिकार कर लिया। जयपुर रियासत की पूर्व राजधानी आमेर थी जिसे कछवाहा राजाओं ने स्थापित किया था। कछवाहा राजवंश से पहले वहाँ सूसावत गोत्र का मीणा राजवंश था। काँकिल के पुत्र मेकुलराव के समय महाराज सूरसिंह नामक मीणा राजा था। उसकी शासनावधि सन 1135-1145 बताई जाती है। वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। प्रौढ़ावस्था में ही उसे वैराग्य उत्पन्न हो गया और राज्य व्यवस्था अपने पुत्र भानोराव को सौंपकर वह हरिद्वार चला गया। कर्नल टॉड के अनुसार काँकिल के पुत्र मेदल (मेकुलराव) ने सूसावत राव भत्तो (भानोराव) से आमेर का राज छीना। इतिहासकार कनिंघम ने भी 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया' में इस तथ्य की पुष्टि की और लिखा कि 'मेकुलराव कछवाहा ने सूसावत वंश के राव भानो से आमेर छीन लिया' रावल नरेन्द्रसिंह कृत 'ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ़ जयपुर' में यह उल्लेख किया है कि काँकिल देव ने आमेर पर विजय प्राप्त की।

10वीं से 18वीं सदी तक भारतीय इतिहास के इसी मध्यकाल में भारत में इस्लाम से जुड़ी राजसत्ताओं के आक्रमण हुए जिनमें से कतिपय के अलावा सभी शासकों ने यहाँ अपनी सत्ता स्थापित की। इस प्रक्रिया के दौरान जिन देशी राजवंशों का पतन हुआ उनमें से सैकड़ों की संख्या में आदिवासी राज्य थे। प्राचीनकालीन एकछत्रीय सम्राटी प्रणाली के विखंडन के पश्चात् इनमें से अधिकांश ने अपनी स्वायत्त सत्ताएँ स्थापित की। इस अवधि से पूर्व भारत के दुर्गम अँचलों में अक्षुण्ण रहते आये परंपरागत क्षेत्रों सहित उत्तर-प्राचीनकाल में पुनर्स्थापित हुई आदिवासी राजसत्ताओं के प्रभुत्व को पश्चिमोत्तर, पूर्वोत्तर, पूर्वी, मध्य एवं दक्षिण भारत में देखा जा सकता है। उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार पूर्वोत्तर भारत एवं गोंडवाना के आदिवासी राज्यों के अतिरिक्त करीब सभी आदिवासी राजनैतिक सत्ताओं का पतन मध्यकाल में हो गया था। इसी के साथ संबंधित आदिम समुदायों में से अधिसंख्यक मानवता का विस्थापन अपने मूल स्थानों से होता गया। जो अपने पुराने ठिकानों पर रहे उनमें से कुछ आदिवासी लड़ाका समूहों ने प्रतिरोध जारी रखा और काफ़ी कुछ ने नये शासकों की पराधीनता स्वीकार कर ली।

ब्रिटिश काल

ब्रितानी हुकूमत के आते आते पूर्वोत्तर के अतिरिक्त बृहद् मध्यभारत का आदिवासी गोंडवाना राज्य अस्तित्व में रहा था जिसपर अंग्रेजों की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई थी। कोमलसिंग मरावी द्वारा किये शोध के अनुसार वहाँ के 'राजा शंकर शाह और पुत्र रघुनाथ शाह जब अपने निष्ठावान सहयोगियों को लेकर अपने मंत्रणा-गृह में अंग्रेजों के विरुद्ध सारे देश में एक साथ हमला बोलने के लिए एकत्रित होकर मंत्रणा कर रहे थे, तब अंग्रेजों के गुप्तचर राजा के सिपाही का वेश रख दूसरा गुप्तचर मुस्लमान फ़क़ीर का वेश रख उस मंत्रणा गृह में घुसने का मौका पा गए और राजा के सारे मंत्रणा साजिश का भेद लेकर अंग्रेज शासकों को तुरंत बता दिया तब अंग्रेज शासक अपने सैनिकों को लेकर उस मंत्रणा गृह को घेर कर पिता-पुत्र को बंदी बना लिया,

राजा के राज महल में तलाशी ली गई, जहाँ पर राजा के राज खाने में राजा द्वारा स्वयं हस्त लिखित अपनी अराध्या देवी माता कंकाली की स्तुति का एक कागज का टुकड़ा मिला, जिस पर राजा अपनी अराध्या देवी से प्रार्थना की थी के माँ अंग्रेजों को बाल-बच्चों समेत मार कर खा जाओ, ये बैरी व चुगल खैरों तथा पापी पाखंडियों को मुँह में बंद कर सर्वनाश करो तथा हे माँ मेरी व मेरे देश के लाज रखो, जिसका मूल रूप इस प्रकार से है–

'मूँद मुख डंडिन को
चुगलों को चबाये खाए
खूंद डारि दुश्मन को शत्रु सहारिका
मार अंग्रेज रेज कर देई
मात चंडी बचे नहि बाल बच्चे खाय जाय हालिका
शंकर की लाज रख
दास प्रति पालकर, करो नहि देर मात
भक्ष्य तर भक्षण कर, खाय जाय कालिका।'

इस प्रकार राजा शंकर शाह द्वारा स्वयं रचित कविता स्तुति को अंग्रेजों के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर पंडित हीरालाल ने अंग्रेजी में अनुवाद कर अंग्रेज शासक को इस कविता का अभिप्राय समझाया। तब अंग्रेज शासक, पिता-पुत्र के विरुद्ध राष्ट्र द्रोह का मामला कायम कर उन दोनों पिता-पुत्र को मौत की सजा सुनायी। शंकरशाह व रघुनाथ शाह को 18 सितम्बर 1857 को क पेड़ के नीचे तोप से बाँध कर सरेआम उड़ाने का फैसला दिया गया, आम जनता के बीच इस फैसले की डोंडी पिटवा कर जनता के बीच सुनाया गया ताकि लोग विद्रोह के लिए दुबारा सर उठाने की हिम्मत न कर सके। इस प्रकार अपनी मातृभूमि के लिए राजा शंकर शाह व रघुनाथ शाह शहीद हो गए।

जब हम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो वह इतिहास आरंभ होता है सन 1857 की क्रांति अथवा विद्रोह से। आज़ादी की लड़ाई का यह प्रयास खासकर रियासती इलाकों में हुआ। यहाँ प्रमुख विषय है कि जिसे स्वतंत्रता संग्राम माना गया है, क्या वह अंग्रेजों के विरुद्ध भारत के स्तर पर लड़ी गई एक मात्र लड़ाई थी? क्या इससे इतर विभिन्न अंचलों में अपने अपने स्तर पर जन समुदायों द्वारा लड़ी गई वे लड़ाइयाँ भी शामिल नहीं थी जो सन् 1885 से बहुत पहले अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ़ लड़ी गई थी? भारत के आदिवासी अंचलों में जिस दिन अंग्रेजों ने इस धरती पर पैर रखे तभी से प्रतिरोध, संघर्ष व बलिदान की जो घटनाएँ सामने आयी हैं, चाहे वो स्वतंत्रता संग्राम की मुख्य धारा की लड़ाई में किसी कारणवश शामिल हुई या नहीं हो पायी, क्या वे भी स्वतंत्रता संग्राम की श्रेणी में नहीं आती? अंग्रेजों और उनके अधीनस्थ सामंती व्यवस्था के विरुद्ध आदिवासियों ने जो लड़ाई लड़ी, प्रथम तो वे भारत के करीब-करीब सभी भू-क्षेत्रों में लड़ी गई थी। द्वितीय, वे लड़ाइयाँ अंग्रेजों के आगमन के साथ ही अर्थात् सन् 1770-71 (पलामू विद्रोह) से शुरू हो गई थी। तृतीय, वे विशुद्ध रूप से आदिवासी नेतृत्व और आदिवासी जनता द्वारा लड़ी गई लड़ाइयाँ थी।

आजादी की लड़ाई में आदिवासियों के योगदान से संबंधित इन समस्त घटनाओं के विश्लेषण पर जो निष्कर्ष निकलते हैं उनपर बात किया जाना आवश्यक है। ब्रिटिश व देसी सामन्तों के गठजोड़ के विरुद्ध आदिवासियों ने जो लड़ाई लड़ी उन सभी की पृष्ठभूमि में एक जैसे भौतिक व सांस्कृतिक कारण थे। इन कारणों में प्रमुख रूप से आदिवासी अंचलों में अवस्थित अकूत प्राकृतिक सम्पदा पर अंग्रेजों व सामंती सत्ता की गिद्ध दृष्टि थी जिसके कारण इन क्षेत्रों

में सत्ता की ओर से घुसपैठ की गई ताकि इन संसाधनों का दोहन किया जा सके, चाहे वे खनिज उत्पाद थे या वनोपज। प्रमुख रूप से आदिवासियों का जीवन परंपरागत रूप से वनोपज और उन अंचलों में यहाँ वहाँ उपलब्ध कृषि योग्य भूमि पर आधारित था। अंग्रेजों के आने से पहले इन अंचलों में इस कदर व्यवस्थित घुसपैठ कभी नहीं हुई, चाहे राजसत्ता किन्हीं भी लोगों के हाथ में रही हो। घुसपैठ की यह दशा आदिवासियों के प्रतिरोध व संघर्ष का बड़ा कारण बनी। खनिज संपदा का दोहन के साथ वनोपज पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकारों का हनन, बिना मजदूरी के बेगार करवाना, सरकारी सत्ता के हाकिमों व अन्य मुलाजिमान द्वारा आये दिन किये जाने वाले दुर्व्यवहार, अत्याचार व शोषण, ठेकेदारी पर आधारित नई आबकारी नीति, कृषि भूमि पर लगान और कुल मिलाकर उनके सांस्कृतिक व मानसिक परिवेश में खलल आदि कदमों से सभी अंचलों की आदिवासी स्वायत्तता व स्वतंत्रता प्रभावित हुई। दूसरी यह बात सामने आई कि जिन अंचलों में आदिवासियों ने सत्ता के विरूद्ध संघर्ष किया, वहाँ-वहाँ संघर्ष की रणनीति एक जैसी दिखाई पड़ी, चाहे पूर्वोत्तर के खासी या नागा क्रांतिकारी हों या मध्य भारत के बिरसा मुंडा, ताना भगत, गोविन्द गुरु, टंट्या मामा या दक्षिण के पझसी राजा, वीर राघोजी या अन्य क्षेत्र के अन्य आदिवासी क्रांतिचेता। सभी लड़ाकों ने अपने परंपरागत हथियारों यथा धनुष-बाण, कुल्हाड़ी, तलवार, भाला, गोफन आदि को ही प्रमुख रूप से इस्तेमाल किया। संघर्ष के लिये जागृति व संगठन पैदा करने के लिये कोई न कोई प्रतीक का इस्तेमाल किया गया जो मुख्यतः प्रकृति तत्त्व था चाहे वह सकुआ पेड़ की टहनी हो या कोई गणचिन्ह या कोई निशान उदाहरणार्थ कई जगह सफेद व लाल कपड़े का झण्डा इस्तेमाल किया गया जो क्रमशरू चाँद व सूरज के रूप में प्रकृति तत्त्व थे। संघर्ष के लिये आम आदिवासी को एकत्रित करने के लिये ढोल की आवाज को विशेषकर माध्यम बनाया गया। संदेश पहुँचाने के लिये किसी पशु-पक्षी की आवाज की भाषा का प्रयोग किया गया। जहाँ सीधी लड़ाई लड़ना मुश्किल था वहाँ छापामार युद्ध प्रणाली को काम में लिया गया। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह सामने आई कि फ़िरंगियों या उनके सहयोगी देसी सामंतों की फौज या उनके सेनापतियों ने कितने भी धोखे या विश्वासघात किये, लेकिन आदिवासी लड़ाकों ने कभी भी इन छल छद्मों से भरी रणनीति को अपनी लड़ाई का हिस्सा नहीं बनने दिया। उनकी लड़ाई केवल अपने अंचलों में होने वाली घुसपैठ, उनके सहज जीवन में पड़ने वाली बाधाओं और अनेक प्रकार से किये जाने वाले शोषण के विरुद्ध थी। विदेशी हुकूमत व देशी सामंती सत्ता के गठजोड़ के खिलाफ़ हुए इन संघर्षो को कुचलने के लिए अंग्रेजों ने कई हथकंडे अपनाये जिनमें सबसे ख़तरनाक था 'आपराधिक जनजातीय अधिनियम' जिसे सर्वप्रथम सन 1871 में बॉम्बे प्रेसीडेंसी में और तत्पश्चात विभिन्न चरणों में सम्पूर्ण भारत में लागू कर दिया गया। इस दमनकारी कदम को काला कानून अथवा कानून दादरसी की संज्ञा दी। देश की आज़ादी की लड़ाई में शामिल सभी आदिवासी समुदायों को इसके अंतर्गत सूचीबद्ध कर दिया गया और उन पर अनेक किस्म की पाबंदियाँ लगा दी गयीं, यथा एक स्थान से दूसरी जगह आने जाने से पहले पुलिस थानों में रिपोर्ट, पुलिस की निगरानी, कहीं भी किसी तरह का जुर्म होने पर इनकी पकड़ धकड़, कबून में रखने के वास्ते पृथक् बस्तियों की स्थापना, अकारण अवैध हिरासत, महिलाओं के साथ अभद्र व्यवहार इत्यादि। अस्मिता हरण के विरुद्ध आदिम समुदायों का प्रतिरोध और बढ़ता गया। इसी क्रम में नितांत शांत स्वभाव के आदिवासियों को विवश होकर पलायन, विस्थापन, घुमक्कड़ी व छापामार हमलावरी का जीवन अपनाना पड़ा। हार थककर उन्हें पुराने अथवा नए दुर्गम जंगली इलाकों में सिमट जाना पड़ा। आदिवासी अलगाव का यह एक नया युग था जिसने आदिम समाज को शेष समाज से और दूर कर दिया।

वर्तमान दौर

अन्याय की धरती पर असंतोष के बीज से बेचैनी और अशांति पैदा होती है। प्रतिरोध का तात्पर्य हमेशा वर्चस्ववाद व तज्जन्य शोषण के विरुद्ध अलगाववादी मानसिकता की मोर्चाबंदी से होता है। सामंतवाद और विदेशी सत्ता से स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् नए संविधान के अंतर्गत नए भारत के निर्माण का योजनाबद्ध जनतांत्रिक एवं शांतिपूर्ण परिवर्तन व विकास की यात्रा आरंभ होती है। आंबेडकर का समतावादी समाज, महात्मा गाँधी का स्वदेशी स्वराज, पंडित जवाहरलाल नेहरू का वैज्ञानिक विकासवाद, राममनोहर लोहिया का मानववाद और किसान-मजदूरों के आर्थिक शोषण के खिलाफ़ वामपंथ किसी न किसी रूप में संस्थागत रूप लेता हुआ अग्रसर होता है। आदिवासी अलगाव के वर्तमान परिदृश्य में हम देखते हैं कि राजनैतिक सत्ता की साम-दाम-दंड-भेदी-रणनीति, पूँजी के वर्चस्व, बिका हुआ मीडिया, राष्ट्रवाद की नयी बहस, राजनीति में धर्म की दखल, वैकल्पिक मीडिया व सोशल मीडिया की भूमिका, किसानों की आत्महत्याएँ, महँगाई, बेरोजगारी, दलित चेतना के उभार, स्त्री स्वर, जल-जंगल-जमीन के लिए आदिवासी आक्रोश, अन्य पिछड़ा वर्ग एवं अल्पसंख्यकों के मोर्चे और आरक्षण बनाम अनारक्षण की नयी मोर्चाबंदी ने एक प्रकार के अभिनव प्रतिरोध का शंखनाद किया है। इसकी पृष्ठभूमि में अमीरी-गरीबी का बढ़ता फ़ासला, प्राकृतिक संसाधनों के लूट की होड़, उत्पादन व वितरण के मध्य असंतुलन, आधारभूत सुविधाओं की बढ़ती माँग और विकास के वादों-घोषणाओं, प्रायोजित-प्रयोजित आँकड़ों एवं जमीनी हकीकत के के बीच उत्पन्न होते जा रहे अंतर के कारण एक विशेष प्रकार का सामाजिक तनाव सामने आ रहा है जिसके कतिपय तार प्रत्यक्ष व परोक्ष से सांप्रदायिकता एवं आतंकवाद से जुड़ते भी प्रतीत हो रहे हैं। इस समस्त परिदृश्य में विशेषकर प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन को लेकर जो आदिवासी बेचैनी, आक्रोश, प्रतिरोध, संघर्ष और आंदोलन सामने आते जा रहे हैं जिनका गहराई के साथ विश्लेषण करने की आवश्यकता है। इस प्रतिरोध की जड़ों में एक किस्म की आदिम वैचारिकी है जो अंततः हमें सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति पक्षधरता का संकेत देती है।

भारतीय संविधान का एक मात्र मंदिर छत्तीसगढ़ के एक आदिवासी गाँव में है। इसका सीधा सा अर्थ है कि आदिवासी लोग संविधान में अटूट श्रद्धा रखते हैं। आदिवासी उत्थान के जो भी प्रावधान हमारे संविधान में समाविष्ट हैं यदि उन्हें ईमानदारी के साथ लागू किया जाये तो किसी भी आदिवासी को कोई शिकायत नहीं होगी। संविधान की यह व्यवस्था केवल आदिवासी समाज ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण भारत के विकास के लिए पर्याप्त हैं। भारतीय संविधान में समाविष्ट विकास की अवधारणा समग्र व बहुआयामी है जिसमें समाज के सभी वर्गों के हितों का ध्यान रखा गया है। संविधान में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक न्याय, विचाराभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म व उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा व अवसर की समानता और व्यक्ति-गरिमा, राष्ट्रीय एकता व अखंडता सुनिश्चित करने हेतु बंधुत्व पर जोर दिया है। न्याय, स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व के इन बहुआयामी पक्षों की बात करने के पीछे भारतीय समाज की परंपरा में रही असमतामूलक वर्ण-व्यवस्था की कठोरता को तरलीकृत करने के लिए आर्थिक असमानता की समाप्ति हेतु समाजवादी, धर्म के नाम पर सांप्रदायिक राजनीति पर अंकुश लगाने हेतु पंथनिरपेक्ष एवं राजसत्ता पर किसी वर्ग विशेष के वर्चस्व से मुक्ति प्राप्त करने के लिए लोकतंत्रात्मक गणराज्य की भावना को अंगीकृत किया गया। संविधान निर्मात्री सभा का यह सर्वमत निर्णय था कि इसके बिना भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र नहीं बनाया जा सकेगा।

आदिवासी समाज के लिए वर्तमान के इस दौर का सीधा सा अर्थ है राष्ट्रीय विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन। विकास के इस ढाँचा के केंद्र में प्रमुखतः

आर्थिक गतिविधियाँ हैं। कोई यह नहीं देख रहा है कि इस तथाकथित विकास की कीमत कौन चुकाता जा रहा है? आदिवासी समाज ने प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण हजारों सालों से कस्टोडियन व ट्रस्टी की हैसियत से किया है। जंगल-पर्वतों के किसी हिस्सा पर अपने निजी स्वामित्व की दावेदारी कभी नहीं की। इस समाज ने कभी निजी संपत्ति की अवधारणा को आत्मसात ही नहीं किया। इस समाज के लिए जो कुछ भी है वह सब कुछ सामूहिक है। वैश्वीकरण के इस युग नया सिद्धांत है कि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विकास के लिए निर्णायक भूमिका बाजार को सौंप देनी चाहिए, सरकार को नहीं। वनों में उपलब्ध पारंपरिक और प्राकृतिक संसाधनों में छिपी हुई अकूत संभावनाओं को ध्यान में रख कर वैश्वीकरण ने आदिवासी जीवन और वनों को अपना शिकार बनाया। उद्योगों के नाम पर इन स्रोतों पर कब्जा कर लेने का अंतरराष्ट्रीय व्यापारिक षड्यंत्र रचा गया। निजी उद्योगपति बाजार की सत्ता के केंद्र में हैं, आदिवासी, दलित, गरीब और मध्यवर्ग की बहुल मानवता परिधि पर धकेली जा रही है। लोकतान्त्रिक सरकारें, नौकरशाही और तथाकथित विशेषज्ञ पूँजीपतियों के मध्यस्तों की भूमिका निभाते दिख रहे हैं। ज्यों ज्यों बहुराष्ट्रिक निगम प्राकृतिक संसाधनों पर अपनी गिद्ध दृष्टि गड़ाते हुए आगे बढ़ते जा रहे हैं त्यों त्यों आदिवासी समाज को इतिहास की स्मृति बनाने के प्रयास आरम्भ हो गए हैं। खनिज, वनोपज, जल, भूमि आदि के साथ-साथ आदिवासी संस्कृति को भी उत्पाद समझ कर व्यापार की वस्तु बना दिया गया है। ईश्वर दिसत ने एक लेख में बहुत पहले लिख दिया था कि ''तर्क यह है कि आदिवासियों के रहन-सहन, बोलियों, जीवनयापन, संगीत, कलाओं आदि की समुच्चय-संस्कृति विश्व-बाजार की नई उपभोक्ता वस्तु बना दिए जाने से आदिवासी-संस्कृति तालाब के बदले समुद्र के विस्तार का पर्याय समझी जाएगी। वह एक तरह से विश्व की सार्वजनिक संपत्ति बनती जाएगी। अपनी धरती से आदिवासी की जबरिया बेदखली जमीन के एक टुकड़े से एक परिवार के विस्थापन का पर्याय भर नहीं है। यह समस्या पूरी दुनिया में आदिवासी झेल रहे हैं। एक ओर तो कल्याणकारी सरकारें बीच सड़क में बना दिए गए किसी धर्म-स्थान से घबरा कर राष्ट्रीय राजमार्ग तक को मोड़ देती हैं। दूसरी ओर वही सरकारें बड़ी आसानी से विकास का मुखोटा ओढ़ कर अंग्रेजी राज के भूअर्जन अधिनियम 1894 के हथियार से हजारों आदिवासियों को उनकी जमीनों से बेदखल कर देती है। यह प्रक्रिया लंबे समय से चल रही है। पहले जमींदारों, औपनिवेशिक ताकतों और बड़े भूस्वामियों की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण, अब खनिज ठेकेदारों, वन-शोषकों और बड़े कारखानों वाले उद्योगपतियों के कारण। वैसे भी आदिवासियों के भूमि संबंधी पुश्तैनी अधिकारों का लेखा-जोखा सरकारों के पास नहीं रहा है।'' अन्तराष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों के पक्षधर प्रख्यात विद्वान एवं चिन्तक लेवी स्ट्रास ने दुनिया से विदा (28 नवम्बर, 2009) होने से एन वक्त पहले यह दुःसंभावना व्यक्त कर दी थी कि 'भूमंडलीकरण और सांस्कृतिक एकरूपीकरण का अजगर जल्द ही जनजातियों के छोटे-छोटे समुदायों को निगल जाएगा।'

परंपरागत रूप से आदिवासी जीवन जंगलों पर आधारित रहता आया है। जंगल और आदिवासी सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर फलते-फूलते रहते आये हैं। आजादी के बाद के इन 70 वर्षों में विकास के नाम पर जिन परियोजनाओं की वजह से करोड़ों लोग विस्थापित हुए उनमें से अधिकांश आदिवासीजन हैं। इस विस्थापित विराट मानवता में से करीब 90 फीसदी लोगों का बाकायदा पुनर्वास नहीं हुआ। अनुसूचित जाति व जनजाति के हितों के लिए जो संसदीय स्थायी समिति गठित की हुई है उसने अपने प्रतिवेदन में यह स्वीकार किया है कि 'आदिवासियों की जमीन की रक्षार्थ जितने भी कानून कायदे बनाये हुए हैं उनके बावजूद विकास के नाम पर उनकी जमीन छीनी जा रही है। अपर्याप्त मुआवजा के कारण उन्हें जीवनयापन

की तलाश में अपने स्थानों से अन्य इलाकों में पलायन करना पड़ रहा है.' हम देख रहे हैं कि भूमि अधिग्रहण अधिनियम को लचीला बनाने के लिए बार बार अध्यादेश लाये गए। उचित मुआवजा, पारदर्शिता व पुनर्वास से संबंधित नया अधिनियम वर्ष 2014 में लाया गया। पेसा व वनाधिकार अधिनियम में प्रदत्त ग्रामसभा के अधिकारों पर अप्रत्यक्ष रूप से अंकुश लगाया जा रहा है। आदिवासी अधिकारों के लिए जो भी आंदोलन किये जा रहे हैं उन्हें 'विकास विरोधी' बताया जाकर उन्हें कुचला जा रहा है। यू.पी.ए. सरकार के वक्त आदिवासियों के वनाधिकारों की प्राप्ति में वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने बार बार बाधाएँ डालीं और अब आदिवासियों के दावों को कोई न कोई कारण बताकर निरस्त किया जा रहा है। एक अनुमान के अनुसार वर्तमान में 61 प्रतिशत व्यक्तिगत और 63 फीसदी सामुदायिक दावों को ख़ारिज किया गया है। मई 2015 से अप्रैल 2016 की अवधि में प्रत्येक दस दावों में से आठ को खारिज किया गया। इन मामलों में ग्राम-सभाओं की भूमिका कानूनन अहम् स्थान रखती है किन्तु उनके द्वारा किये गए अनुमोदनों की अनदेखी की जा रही है। इस तरह के सरकारी रवैये के खिलाफ़ जगह जगह आदिवासी प्रतिरोध जारी है। संविधान की आत्मा के विरुद्ध विकास के नाम पर आदिवासियों की भूमि को हड़पने के अध्यादेशों जैसे इन परोक्ष तौर-तरीकों से विकास के नाम पर विस्थापन और अपर्याप्त पुनर्वास कई तरह की नई समस्याएँ पैदा हो रही है जिनमें वन केन्द्रित आदिवासियों के जीविकोपार्जन के परंपरागत संसाधनों का छिन जाना, आदिवासी सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर को खतरा, उनकी सदियों पुरानी स्वयत्तता को ठेस, पहचान का संकट और अंततः अस्तित्व पर आफत इतादी को देखा जा सकता है। इन सब की वजह प्रभावी कानूनी प्रणाली की कमी, परियोजनाओं के पीछे विकास के साथ-साथ व्यावसायिक निहित स्वार्थ और विकास के नाम पर अनुचित हस्तक्षेप रहे। अतिशयोक्ति नहीं होगी यदि इस आदिवासी विरोधी वर्तमान समय में कोई आदिवासी यह सवाल उठाने के लिए विवश हो जाये कि 'हमारी लोकतान्त्रिक सरकार ही हमारे खिलाफ़ भूमिका निभाने को उतरी हुई है तो फिर हम इस राष्ट्र का हिस्सा किस सीमा तक हैं?' इन्हीं हालात ने आदिवासी समाज को पहले से अधिक अलगाव की दशा में पटक दिया है। आदिवासी अंचलों में हो रहा यह अमानवीय हस्तक्षेप अलगाव का मुख्य कारण बनता जा रहा है। तकनीकी विकास के कारण विकास के नाम पर यह हस्तक्षेप वर्तमान समय में और अधिक आसान और तेज हो गया है। इसके पीछे वैश्विक पूँजी, इस पूँजी पर सवार नव साम्राज्यवाद और अन्तराष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक, आई.बी.आर.डी जैसी एजेंसियाँ हैं जिन्होंने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को तेज कर दिया। तथाकथित विकास के इस क्रम में आदिवासी समाज ने अपनी सामूहिक पहचान तथा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत खोयी है एवं उनके बाँटे में और कुछ नहीं आकर गरीबी, कुपोषण, मृत्यु दर में वृद्धि, अशिक्षा, बेरोजगारी, ऋण एवं खेतीहर मजदूरी आयी। वैश्वीकरण के विस्तार के साथ-साथ निजीकरण की प्रक्रिया तेज होने के कारण आदिवासियों को दिये जाने वाले संवैधानिक आरक्षण के लाभ भी मिलने में बाधा आने लगी।

नियमित रूप से आदिवासी-जन भारतीय समाज का हिस्सा है, लेकिन परंपरा एवं संस्कृति की दृष्टि से वे भारतीय समाज से पृथक हैं। उनके लिए नीति निर्धारण पृथक से होना जरूरी है तभी उनका विकास सम्भव हो सकेगा, अन्यथा वे लुप्त होती मानव प्रजाति की श्रेणी में ही स्थान पा सकेंगे और भविष्य में 'म्यूजियम' की वस्तु के रूप में स्मृति के स्तर पर शेष रह जावेंगे। वैश्वीकरण से लाभान्वित होने वाली श्रेणियों में आदिवासी समाज कहीं नहीं टिकता। वह कहीं है तो नुकसान के खाते में ही शामिल दिखायी देता है। परंपरागत बस्तियों से किसी का भी विस्थापन भारी त्रासदी का कारण बनता है और आदिवासी तो अपना परिवेश किसी

भी दृष्टि से नहीं छोड़ना चाहता, चाहे उसे कितने भी प्रलोभन दिये जाएँ। वह परंपरा व प्रकृति से बँधा हुआ रहता आया है। बाँध परियोजना, राष्ट्रीय उच्च मार्ग, रेलवे लाईन, खनन-व्यवसाय, औद्योगीकरण, अभयारण्य एवं अन्य कारणों से आदिवासियों का अनिवार्य विस्थापन होता है तो एक तरह से उन्हें अपनी पारंपरिक जमीन व परिवेश से खदेड़ने को विवश किया जाता है। इसकी वजह से उनकी जीविका के आधार भी समाप्त होते हैं। प्रश्न उठता है उनके जीविकोपार्जन के विकल्प तलाश किये जाने का।

आदिवासियों का विस्थापन भारतीय संविधान की पाँचवीं सूची के प्रावधानों का खुल्लमखुल्ला उल्लघंन है, जिसके तहत आदिवासियों को उनकी पुश्तैनी जमीन और प्राकृतिक संसाधनों पर मालिकाना अधिकारों की गारंटी दी गयी है। यह उनके मूलभूत मानवाधिकारों का मुद्दा है जिसपर गहराई से हम सब को सोचना होगा। यही वजह रही कि आदिवासियों के लिए बनायी गयी राष्ट्रीय नीति में स्पष्ट प्रावधान रखे गये कि विकास की प्रक्रिया में आदिवासियों का विस्थापन कम से कम किया जावे और अगर विस्थापन अति अनिवार्य है तो पुनर्वास के रूप में जीवन का बेहतर स्तर सुनिश्चित किया जावे। निम्न प्रावधानों पर गौर किया जाना चाहिए–

1. भूमि के एवज में कम से कम दो हेक्टर उपजाऊ जमीन जिसमें एक परिवार आसानी से गुजारा कर सके।
2. मछली उत्पादन की जगह मछली उत्पादन हेतु सुविधा।
3. नये स्थान पर आरक्षण के लाभ।
4. वनोपज पर अधिकारों की समाप्ति के बदले अतिरिक्त वित्तीय सहायता जो छः माह से एक वर्ष तक की न्यूनतम कृषि-मजदूरी के समान हो।
5. एक जैसे आदिवासी लोगों को (एक स्थान से विस्थापित) पुनर्वास स्थल एक ही दिया जाये और वह भी जहाँ तक सम्भव हो प्राकृतिक परिवेश में, ताकि उनकी वंश परंपरा एवं सामाजिक-सांस्कृतिक-भाषाई संबंध अन्यथा प्रभावित नहीं हों।
6. सामाजिक-धार्मिक आयोजनों के लिए भूमि मुफ्त में उपलब्ध करायी जाये।
7. यदि विस्थापन मूल जिला या तहसील से बाहर होता है तो आर्थिक दृष्टि से अधिक मुआवजा दिया जाये।
8. सामूहिक विस्थापन की दशा में नये स्थान पर पानी, बिजली, सड़क, स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, उचित मूल्य की दुकान, सामुदायिक केन्द्र, पंचायत कार्यालय आदि सभी सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायें।

भारत की वन नीति में स्पष्ट रूप से जंगलों में रहने वाले आदिवासियों के गाँवों को बाकायदा 'वन्य-ग्राम' की संज्ञा दी गई है और यह भी प्रावधान रखे गये हैं कि राजस्व गाँवों की तरह सारी सुविधाएँ वन्य गाँवों को उपलब्ध करायी जावे जिनमें शिक्षा, चिकित्सा, विद्युत, संचार, सड़क, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, अनाज भण्डार, विकसित कृषि की सुविधाएँ, पशु-चिकित्सालय, बैंक, सहकारी संस्थाएँ, छुटपुट वनोत्पाद का उपभोग, बिचौलियों के शोषण से मुक्ति की व्यवस्था आदि-आदि शामिल हो।

आदिवासी मुद्दों के विशेषज्ञ स्वयं वेरियर एलविन ने भी इस बात पर जोर दिया कि भारतीय समाज के लिए आदिवासियों का जो परंपरागत अवदान है उसका सम्मान किया जाना चाहिये एवं इस अवदान को भारतीय समाज में उत्थान के सहायक के रूप में देखना चाहिए न कि आदिवासी समाज को भारतीय समाज से पृथक? आदिवासी कल्याण एवं विकास के लिए निर्मित राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के सदस्य डॉ. डी. स्वामीनाथन द्वारा तैयार किये गये प्रारूप पत्र के आरम्भ में उन्होंने स्वीकार किया है कि ''निश्चित रूप से विगत अर्से में आदिवासियों

की स्थिति में सुधार हुआ है लेकिन गैर आदिवासियों की तुलना में इनकी हालात हर क्षेत्र में खराब हुई।'' केवल विस्थापन के कारण आदिवासी उत्थान की अन्य सारी गतिविधियाँ बाधित हो जाती हैं चाहे वह शिक्षा, स्वास्थ्य, पेय-जल, सड़क, संचार, आवास और जीविकोपार्जन आदि किसी भी अहम् मसले से जुड़ी हुई क्यों न हो।

डॉ. स्वामीनाथन द्वारा तैयार किये गये प्रारूप पत्र में बड़े चौंकाने वाले तथ्य सामने आये हैं। औद्योगीकरण और विकास से संबंधित विभिन्न परियोजनाओं के कारण आजादी से वर्ष 1990 तक की अवधि में जो आदिवासी विस्थापित हुए उनका पूरी तरह पुनर्वास नहीं हुआ। विस्थापित आदिवासियों की कुल संख्या 85.39 लाख रही जो कुल विस्थापितों का 55.16 प्रतिशत थी। विस्थापित आदिवासियों में 64.23 प्रतिशत अब भी पुनर्वास से वंचित हैं। निश्चित रूप से अपनी जड़ व जमीन से उखड़ी यह अपुनर्वासित मानवता झोंपड़-पट्टियों व फुटपाथों के सहारे रहती है या फिर शरणार्थियों अथवा डेराबन्द घुमक्कड़ी जीवन जीने को विवश है।

ऐसी बड़ी संख्या के मनुष्यों के दिलो-दिमाग में उनकी लम्बी परंपरा, संस्कृति, मूल्य-व्यवस्था, कला, प्रकृति प्रेम, श्रम की महत्ता, सामूहिकता, वन्य जीवों का परिवेश, सुरक्षित परिवेश, निश्चिन्तता, अल्हड़पन, मस्ती एवं सबसे ऊपर उनकी स्मृतियाँ और स्वप्न आदि को लेकर क्या कुछ घटित हो रहा होगा-इस सबका अंदाज हर कोई कैसे लगा पायेगा।

पूर्वोत्तर भारत में विस्थापन की समस्या को लेकर प्रो. मोनीरूल हुसैन द्वारा लिखित शोधपरक महत्त्वपूर्ण पुस्तक में उस क्षेत्र के विस्थापन को लेकर विस्तार से लिखा है। भू-अव्याप्ति अधिनियम के तहत विकास के नाम पर विस्थापितों की भूमि अधिग्रहित की जाती है। इस कानून को प्रो. हुसैन ने सामन्तवादी कानून कहा है। उनका प्रश्न है कि भूमि अधिग्रहण संबंधी कानून जितना ताकतवर है उतना जिम्मेदार कानून पुनर्वास संबंधी क्यों नहीं है? इनकी इस बात में दम है। अब तक देश में किसी भी बड़ी परियोजना के एवज में विस्थापितों का पूरा एवं संतोषप्रद पुनर्वास नहीं हुआ है। उनका यह भी तर्क है कि जिस मकसद से विशाल परियोजनाएँ लागू की जाती हैं, वह मकसद इन परियोजनाओं के लागू करने से पूरा नहीं होता। दूसरे, विस्थापन का मुद्दा भूमि अधिग्रहण तक ही सीमित नहीं रहकर विस्थापितों की जीविका, संस्कृति व समुदाय तक को तहस-नहस कर देता है। पूर्वोत्तर के विशेष संदर्भ में प्रो. हुसैन का यह भी कहना है कि बड़ी परियोजनाओं को लागू करने की बजाय उन्हें भंग कर भूमि को पुनः संबंधित विस्थापितों को देने से राज्य व विस्थापित दोनों को लाभ मिलता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दुम्बर परियोजना को भंग करने का दृष्टांत सामने रखा। त्रिपुरा की जल ऊर्जा परियोजना द्वारा आशा से कम विद्युत उत्पादन के कारण उसे बन्द कर अवाप्त भूमि को विस्थापित आदिवासियों को वापस देना कुल मिलाकर लाभदायक रहा न कि परियोजना को चालू रखना।

आदिवासी समाज के लिए कुलमिलाकर वर्तमान समय विकास-विस्थापन-पलायन-अलगाव-अस्तित्व का संकट और प्रतिरोध की त्रासदी बनता जा रहा है। एक तरफ सरकार इस समाज के संवैधानिक प्रतिरोध को विकास विरोधी गतिविधि की संज्ञा देती है और दूसरी ओर बढ़ते अलगाव के कारण आदिवासी अंचल नक्सलवाद के ठिकाने बनते जा रहे हैं। ऐसी दशा में इस सवाल का ज़वाब तलाशना बेहद ज़रूरी है कि आदिवासी लोगों को भारत राष्ट्र, राष्ट्रीय विकास, राष्ट्रीय अस्मिता के साथ आदिवासी समाज का सामंजस्य कैसे बिठाया जाये?

संपर्क : 31 शिवशक्तिनगर, किंग्स रोड, अजमेर हाई-वे, जयपुर-302019, मो. : 94141 24101, hrmbms@yahoo.co.in

भारतीय लोकतंत्र में आदिवासी समाज

रवि श्रीवास्तव

कपट कुरंग से था जो जितना सुसज्जित
वह उतना ही था जन मन फल से मज्जित
हालाँकि राज्य था, सरकार थी, लोक था, लोकाभियुक्त था
जन था, जन आदालतें थीं
किन्तु यह अजब समाज था
जहाँ काव्य पद पर आसीन थे
कामी, क्रूर, हत्यारे
और नरमेध जहाँ राज्य की कविता का सबसे लोकप्रिय छन्द था
उसी अनुत्तरदायी अगंभीर, आततायी व्यवहार में
खड़े हुए थे कई गणराज्य
जिन समाजों का खात्मा जिनका आखिरी छंद था
छंद! छंद! छंद!
सब कुछ छंद था
जो छंद नहीं था
वह अघोषित रूप से सैंसर में बंद था
आप उसे चिट्ठी न लिखें श्रीमंत
पता नहीं आप की चिट्ठी उस तक पहुँच पाएगी या नहीं!

(बद्रीनारायण, 'खुदाई में हिंसा' से)

13 दिसंबर 1946 का दिन भारत की संविधान-सभा में पंडित नेहरू द्वारा रखा गया प्रस्ताव। इस प्रस्ताव में आजादी के बाद भारत को सर्वप्रभुतासम्पन्न स्वतंत्र गणराज्य' की मान्यता देने का स्पष्ट उल्लेख। उस पर आम सहमति बनी कि भारत का संविधान अपने राज्य के

नागरिकों को जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग, भाषायी एवं क्षेत्रीय संकीर्णताओं से ऊपर उठकर सभी के प्रति समान बर्ताव करेगा। राज्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में बिना किसी भेदभाव के कानून के सामने नागरिक समानता, अवसर की समानता, कानून एवं जन-नैतिकता के दायरे में सभी नागरिकों को आत्मप्रकाशन तथा इच्छानुसार धर्म अपनाने की स्वतंत्रता के अधिकार को सुनिश्चित करेगा। उस प्रस्ताव में आगे कहा गया है कि अल्पसंख्यकों, आदिवासियों एवं पिछड़े समुदायों तथा अन्य दलित वर्गों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान की जाएगी। आदिवासियों की ओर से बोलते हुए जयपाल सिंह मुंडा ने कहा था कि ''भारतीय जनसमुदाय में सर्वाधिक उपेक्षा के शिकार आदिवासी हुए हैं। उनके साथ दुर्व्यवहार की कहानी छः हजार साल पुरानी है। मैं सिंधु घाटी सभ्यता की संतान हूँ। आप लोगों ने वहाँ अनाधिकृत प्रवेश किया है। जो हमारा था वहीं से हमें खदेड़ कर जंगलों में भगा दिया। हमारे लोगों का अब तक का सारा इतिहास गैर आदिवासियों द्वारा सतत शोषण, विस्थापन एवं अव्यवस्था का इतिहास है। फिर भी मैं पं. नेहरू का सम्मान करता हूँ और आप सबके शब्दों पर विश्वास करता हूँ कि हम सब स्वतंत्र भारत में सामाजिक समरसता और अवसर की समानता का एक नया अध्याय जोड़ने जा रहे हैं, जहाँ किसी की उपेक्षा नहीं की जाएगी, क्योंकि संघर्षों के बीच से ही स्वतंत्रता का रास्ता निकलेगा और हम सभी को उस पर साथ चलना होगा।'' (उद्धृत, रामचन्द्र गुहा, आदिवासी, नक्सलाइट्स एंड इंडियन डेमोक्रेसी, इकोनॉमिक एंड पोलटिकल वीकली, 11 अगस्त, 2007, पृ. 3305)

वैसे यह प्रश्न आज पूछा जा सकता है कि इस घटना के बाद आम आदिवासी और संथालों का कितना भाग्योदय हुआ जिसमें संविधान-सभा के माननीय सदस्यों की श्री पुरुषोत्तम दास टंडन, श्री श्यामाप्रसाद मुखर्जी, श्री एम. आर. जयकार, श्री बी. आर. अम्बेडकर, श्री एम. आर. मसानी, हँसा मेहता, श्री सोमनाथ लाहिड़ी के अलावा पं. नेहरू एवं उस हॉकी खिलाड़ी श्री जयपाल सिंह ने साठ साल पहले विश्वास प्रकट किया था? क्या यह सच नहीं है कि पिछले छः दशकों के 'जनतान्त्रिक विकास' में घोर उपेक्षा के शिकार भारतीय प्रायद्वीप में आदिवासी ही रहे हैं? विकास के हर पैमाने से अनभिज्ञ देश की आर्थिक एवं राजनीतिक नीतियों ने उन्हें बराबर उपेक्षा एवं सामाजिक विस्थापन की स्थिति में रखा है और जल जंगल और जमीन पर उनके नैसर्गिक जुड़ाव को अनदेखा भी किया है। अगर उनकी तुलना विकास की प्रक्रिया में दलित और मुसलमानों जैसे अन्य अल्पसंख्यक तबकों की भागीदारी और उससे उन्हें मिलने वाले लाभ से करें तो आदिवासियों की स्थिति और भी खराब मिलेगी। दलित और मुस्लिम फिर भी भारतीय राजनीति में सरकार और लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को प्रभावित करने की स्थिति में रहे हैं, किन्तु आदिवासियों की आवाज शायद ही कभी हाशिए पर भी सुनाई पड़े।

भारत के उत्तर-पूर्वी इलाकों में रहने वाले आदिवासी मध्य एवं उत्तर भारत के आदिवासियों से कुछ भिन्नता और असमानताओं के बावजूद दोनों कतिपय सामान्य विशिष्टताओं के भागीदार होने के परिणामस्वरूप एक सामुदायिक इकाई के ही हिस्से हैं जिन्हें 'आदिवासी' कहते हैं। वे केवल नागा या मिजो ही नहीं हैं, वे गोंड, कोरकू, भील, ओरान या संथाल भी हैं। 'आदिवासी' कहने से पहाड़ों एवं जंगलों में रहने वाले, खास तरह के पहनावे, रंग-ढंग, संगीत-नृत्य की विशिष्ट शैली, स्थानीय देवों-आत्माओं के पूजकों का बिम्ब मानस में उभरता है। हिंदी फिल्मों ने आदिवासियों का कमोबेश यही रूप सिने-दर्शकों को परोसा है। आदिवासियों के बीच समानता का कारण सिर्फ उनके सांस्कृतिक या पर्यावरणीय विशिष्टता ही नहीं है बल्कि उनका हाशिए

का जीवन भी है जो विकास और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की मुख्यधारा से कटा रहा है। अतः प्रायः उपेक्षित एवं अवांछित भी रहा है। श्री अनुप महारत्न ने हाल के अपने एक अध्ययन में आँकड़ों की परिगणना के आधार पर यह बताया है कि विकास के परंपरागत मानदण्डों से भी आदिवासियों का जीवन दलितों की अपेक्षा कहीं अधिक निराशाजनक रहा है। उदाहरण के लिए दलितों में शिक्षा 31.1 प्रतिशत है, जबकि आदिवासियों में 23.8 प्रतिशत। इसी तरह 62.5 प्रतिशत आदिवासी बच्चे जो प्रारम्भिक एवं माध्यमिक शिक्षा में प्रवेश पाते हैं। मैट्रिकुलेशन के बिना ही पढ़ाई छोड़ देते हैं, जो 49.4 प्रतिशत दलित बच्चों के ड्रापआउट से बहुत अधिक है।

जनस्वास्थ्य सेवा और सुविधाओं की उपलब्धता के संदर्भ में भी आदिवासी दलितों की तुलना में काफी पीछे रहे हैं। उनमें 28.9 प्रतिशत आबादी को न तो समुचित चिकित्सा और न चिकित्सालय सुविधा ही प्राप्त है। दलितों में यह आँकड़ा 15.6 प्रतिशत है। आदिवासी शिशुओं में रोग प्रतिरोधक दर 42.2 प्रतिशत की तुलना में दलित बच्चों में यह दर 57.6 प्रतिशत है। इसी तरह 63.6 प्रतिशत दलितों को पीने का साफ पानी उपलब्ध है जबकि आदिवासियों के 43.2 को ही। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारत सरकार आदिवासियों के सामाजिक एवं आर्थिक उन्नयन के लिए संविधान द्वारा प्रदत्त समान अवसर उन्हें उपलब्ध कराने में असफल रही है। सरकारी नीतियों ने संविधिक गैरंटी के बावजूद आदिवासियों के परंपरागत जीवन एवं रोजगार के साधनों से उन्हें वंचित कर समस्या को और जटिल बना दिया है।

आजादी के बाद आर्थिक एवं औद्योगिक विकास, बढ़ती हुई व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप जंगलों की अनियंत्रित कटाई, बाँध एवं खान उत्खनन आदि ने आदिवासियों के नैसर्गिक प्राकृतिक जीवन को तहस-नहस किया है। विकास, आधुनिकीकरण और शहरीकरण की तेज प्रक्रियाओं ने आदिवासियों को जड़ों से उखाड़कर विस्थापन की स्थिति में ला खड़ा किया। आर्थिक विकास एवं औद्योगिक प्रगति के लिए सम्भव है यह अपरिहार्य हो किन्तु अनिच्छापूर्वक विस्थापित हुए इन आदिवासियों के संरक्षण एवं पुनर्भरण के लिए भारत सरकार की नीतियों में कितनी जगह है? वाल्टर फर्नांडिस का अनुमान है कि भारत सरकार की परियोजनाओं से सबसे अधिक प्रभावित आदिवासी हुए हैं। जिनके विस्थापन की दर 40% रही है। उनका तर्क है कि मौटे तौर पर भारत की कुल आबादी का 8 प्रतिशत आदिवासी है। अतः एक आदिवासी पाँच गुना अधिक गैर आदिवासी जैसा है, जिन्हें विकास और प्रगति के नाम पर अपने घरों से विस्थापित किया गया। विस्थापन की यह प्रक्रिया उदारीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में और तीव्र हुई हैं। उड़ीसा के आदिवासी बहुत जिलों में ऐसा देखने को मिलता है जहाँ गैर आदिवासी नेतृत्ववाली सरकार ने कच्चा लोहा और बॉक्साइट के खानों के उत्खनन के देशी-विदेशी कम्पनियों से करार पर हस्ताक्षर किया है। ये कम्पनियाँ आदिवासियों को उनके निवास और कृषि-भूमि से तो बेदखल करती ही हैं, बड़े पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन भी करती हैं।

उल्लेखनीय है कि भारत सरकार की नीति-निर्धारक एजेंसियों की वरीयता सूची में आदिवासी जीवन के संरक्षण और उत्थान की परिकल्पना सिरे से गायब है। दूसरों की तुलना में स्वयं को श्रेष्ठ समझने की पदाधिकारियों की मानसिकता भी इसके लिए समान रूप से जिम्मेदार है। अक्सर यह मान लिया जाता है कि आदिवासी जीवन के पिछड़ेपन का कारण स्वयं आदिवासी समाज में व्याप्त रूढ़ि, अंधविश्वास, शराबखोरी, कामचोरी जैसे दुर्गुण हैं जबकि हकीकत यह है कि सामाजिक सुरक्षा और भूविस्थापन आदिवासी समाज की मूल समस्या है। सरकारी उपक्रमों में नगरीय क्षेत्रों में निवासियों को उनके निवास का कानूनी संरक्षण प्राप्त

होता है किन्तु आदिवासियों के जमीन के अधिकार एवं सूदखोर महाजनों से उनकी सुरक्षा का प्रबंध नहीं होता। पंचवर्षीय योजनाओं के तहत विकास की जो योजनाएँ बनाई जाती हैं, सरकार जो जमीन भवन निर्माताओं को बेचती है, व्यावसायिक केन्द्रों के जो ठेकेदार होते हैं, राजनेताओं और नौकरशहों द्वारा संरक्षित जो भू-माफिया है, वे सब मिलकर आदिवासियों को उनकी परंपरागत आजीविका के साधनों से वंचित करते हैं। बदले में उन्हें जो मुआवजा या क्षतिपूर्ति दी जाती है वह इतनी कम होती है कि शहरी जीवन के रहन सहन में कुछ ही समय में समाप्त हो जाती है। तब उनके पास आजीविका के लिए न तो पैसे होते हैं, न जमीन होती है, न रोजगार ही। उनकी स्थिति भूमिहीन मजदूरों जैसी होती है जिनके पास रोजगार के लिए न तो कोई औजार या साधन होता है और न कोई तकनीकीपूर्ण प्रशिक्षण ही। भारत सरकार द्वारा जब-तब आदिवासियों की समस्याओं की समीक्षा के लिए जो आयोग गठित किए गए उनके सुझावों को लालफीताशाही ने दबा दिया। आदिवासियों का दुःख-संताप भी उसके साथ दब गया। मुश्किलें तब और बढ़ जाती हैं जब राज्य इस मामले में स्वयं पक्षधर हो जाता है, क्योंकि मामला बड़े उद्योगपतियों-उद्यमियों का न होकर छोटे और मूक समुदायों का होता है।

इस जोर-जुल्म की टक्कर में आदिवासी विद्रोह भी हुए हैं। 19वीं सदी के आरम्भिक दशक में भारत में औपनिवेशिक शासन की दमन नीति के खिलाफ कोलोंभूमजों का विद्रोह हुआ। सन् 1855 में संथालों का हूल विद्रोह हुआ। सन् 1890 में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में 'उलुगुलान' विद्रोह हुआ। सन् 1911 में बस्तर में आदिवासी विद्रोह हुए। वर्ष 1945-46 में वर्ली में आदिवासी विद्रोह हुआ। इनमें से अधिकांश विद्रोह औपनिवेशिक सत्ता द्वार वनसंपदा पर आदिवासियों के नैसर्गिक अधिकार के खात्मे और उसे सीधे ब्रिटिश सत्ता के अधीन कर लेने के विरोध में हुआ। वे स्प्रिट से बनी शराब खरीद सकते थे। किन्तु परंपरागत तरीके से शराब बनाने के उनके अधिकार पर पाबन्दी लगा दी गई। लकड़ियों और पत्तों से वे घर नहीं बना सकते थे। भोजन हेतु तथा वर्षा एवं शीत से बचाव के लिए आग जलाकर सेंकने में लकड़ी का उपयोग नहीं कर सकते थे। अब सकल भूमि और वन-सम्पदा पर नए ब्रिटिश कानूनों की पाबंदियाँ थीं। जंगल में रहने के उनके अधिकार भी छीन लिए गए। करारोहण, मालगुजारी आदि के प्रावधान किए गए जो स्वाधीन भारत में भी बदस्तूर लागू हैं।

स्वाधीनता के बाद दो दशकों तक आदिवासी क्षेत्रों में शान्ति रही। सम्भवतः भारत सरकार के कायदे पर उन्हें भरोसा हो कि आबादी के बाद उनके दुःखों का अन्त होगा, देश के इतिहास में नया अध्याय जुड़ेगा, अवसर की समानता होगी और किसी को भी अनदेखा नहीं किया जायेगा। किन्तु नेहरू-युग की समाप्ति के बाद वे वायदे भी समाप्त हो गए और विकास का फायदा शहरों तक सिमट गया। असमान पूँजीवादी विकास से इस प्रक्रिया को और गति मिली। आदिवासियों के विस्थापन की कीमत पर हुई प्रगति और विकास के फायदों में असमानता ने आदिवासी बहुल जिलों से स्थानीय सूदखोर महाजनों-साहूकारों और जंगल महकमा के पदाधिकारियों के मनमानेपन के विरुद्ध आवाज उठी जिसकी परिणति एक स्वतंत्र आदिवासी राज्य झारखंड की माँग में हुई। इसी समय महाराष्ट्र के आदिवासियों ने जंगल पर अपने दावे एवं जमीन की रक्षा के लिए भूमि सेना एवं काश्तकारी संगठन बनाए। झारखंड की माँग से लेकर नर्मदा बचाओ आंदोलन तक तथा निकट अतीत में उड़ीसा के खानों को देशी-विदेशी माइनिंग कम्पनियों के हाथ में देने के विरोध में जुलूस, प्रदर्शन, धरना, बहिष्कार के रूप में आदिवासियों का विरोध एवं असन्तोष उभर कर सामने आता रहा है।

ऐसी ही अनुकूल परिस्थितियों में नक्सलियों ने आदिवासियों के बीच अपनी जगह बनायीं

एक और राज्य प्रायोजित शोषण था दूसरी ओर हथियारबंद क्रान्ति से उसे उखाड़ फेंकने का वायदा था। एसे में यह स्वाभाविक ही था कि नक्सलियों की ओर आदिवासी आकर्षित हों, उन्हें अपनों में जगह दें ओर उनमें से कुछ स्वयं हथियार उठा लें।

पं. बंगाल का नक्सलवाड़ी आदिवासी बहुल क्षेत्र है। पिछली सदी के छठे दशक में नक्सलवादी गतिविधियों का दूसरा प्रमुख केन्द्र आन्ध्र प्रदेश के आदिवासी बहुल इलाके रहे हैं। माओवादियों ने दो इलाकों में अपने पाँव फैलाए। एक तो मध्य बिहार के उन इलाकों में जहाँ सामंतवाद और जातिवाद की जड़ें काफी गहरी और मजबूत हैं तथा जमींदारों और अछूतों-हरिजनों जो अधिकांशतः भूमिहीन बंधुआ मजदूर हैं, के बीच भयानक जातिगत उत्पीड़न एवं विद्वेष है। दूसरा, दक्षिण बिहार के आदिवासी बहुल जिले हैं। पिछले कुछ दशकों में महाराष्ट्र, उड़ीसा, झारखंड एवं छत्तीसगढ़ के आदिवासी बहुल इलाकों में भी माओवादिओं ने पाँव जमाया है। राज्य की नीतियों एवं कार्यक्रमों से असहमति एवं असन्तोष से भी नक्सलियों की हिंसा को हवा मिली है। माओवादी एवं नक्सली स्वयंभू क्रान्तिकारी हैं। वे भय, आतंक, और हिंसा से व्यवस्था परिवर्तन चाहते हैं। वे इसे जनयुद्ध कहते हैं। किन्तु जनता का युद्ध, हावर्ड फास्ट ने 'समरगाथा' में लिखा है, ''फौजों और अशर्फियों से नहीं, जनता की ताकत से लड़ा जाता है।'' कहने की जरूरत नहीं कि जनयुद्ध की माओवादियों की परिकल्पना का जनता की ताकत से कोई रिश्ता नहीं है। संभवतः उसी के मद्देनज़र लेनिन ने वामपंथी उग्रवाद को बचकाना मर्ज़ कहा था। इस पर आगे विचार करेंगे।

लेख के आरंभ में मैंने दलितों की तुलना में आदिवासियों के पिछड़े जीवन स्तर एवं निम्न विकास दर की चर्चा की है। अगर आदिवासियों की तुलना तीसरे अल्पसंख्यक समूह-मुसलमानों से करें तो नतीजे और भी निराशाजनक प्रतीत होंगे। सन् 1947 से अब तक दिल्ली के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में दलितों और मुसलमानों ने गृहमंत्री, रक्षामंत्री, कृषिमंत्री, विदेशमंत्री, राष्ट्रपति जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर भारत सरकार का प्रतिनिधित्व किया हैं इसके विपरीत आदिवासी सांसद को किसी महत्त्वपूर्ण मंत्रालय का मुखिया नहीं बनाया गया। भारत के सर्वोच्च सांविधिक पद राष्ट्रपति-उपराष्ट्रपति पद पर भी दलित और मुस्लिम रह चुके हैं। यहाँ तक कि सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीश पद पर एक दलित और तीन मुसलमान अपनी सेवा दे चुके हैं। लेकिन आदिवासियों में से कोई भी आज तक भारत का राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति अथवा मुख्य न्यायध ीश नहीं बन पाया है। राज्यपाल भी आदिवासी समूहों से कम ही बने हैं।

राजनीतिक प्रक्रियाओं से आदिवासियों की दूरी का यह प्रमाण है। दलितों मुसलमानों ने भारतीय राजनीति में दबाव समूह बनाकर अपनी पहचान को अखिल भारतीय स्तर पर स्वीकृति दिला दी है जबकि आदिवासी उन्हीं क्षेत्रों या जिलों तक सीमित रहे हैं, जहाँ के वे निवासी हैं। उनकी पहचान और नेतृत्व स्थानीय स्तर तक सीमित रही है। किसी प्रभावी संगठन एवं कुशल नेतृत्व के अभाव में दलितों-मुसलमानों के विपरीत आदिवासी अलग-थलग रहे।

दलितों ने अपने सामाजिक अलगाव को दूर करने के लिए लोकतांत्रिक तरीका अपनाया। उन्होंने अपने आक्रोश-असन्तोष को प्रभावशाली तरीके से संगठित किया। कानून एवं अन्य सांविधिक प्रावधानों के अंतर्गत वे संगठित होकर राजनीति में उतरे। बहुजन समाज पार्टी उसी का नतीजा है। अपनी सरकार बनाई। अपना जनाधार विकसित किया। उनके पास कांशीराम और मायावती जैसे राष्ट्रीय स्तर के नेता रहे हैं। आदिवासियों को न तो कांशीराम जैसा संगठनकर्ता मिला और न मायावती जैसी संसदीय राजनीति की खिलाड़ी नेत्री। झारखंड पार्टी का गठन सन् 1940 में जरूर हुआ। किन्तु क्षेत्रीय दल से ऊपर उसकी पहचान नहीं बन पाई। आज

बहुत कम लोग उसके संस्थापक जयपाल सिंह का नाम भी जानते होंगे। उन्होंने बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और आन्ध्र प्रदेश के आदिवासी बहुल जिलों को जोड़कर व्यापक आदिवासी राज्य झारखंड के निर्माण की परिकल्पना जरूर रखी थी, किन्तु कुछ तो पार्टी के आंतरिक कलह एवं फूट तथा कुछ आदिवासी नेताओं के थोड़े में संतोष तथा जल्दी से जल्दी सत्तारूढ़ होने की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा ने झारखंड को त्रिशंकु बना दिया। आज यह बिहार का एक टुकड़ा लेकर सन्तुष्ट है।

दलित और आदिवासी दोनों भारतीय समाज में उपेक्षित ही रहे हैं। फिर क्या कारण है कि भारतीय राजनीति में दलित आवाज आदिवासियों की तुलना में अधिक जोरदार ढंग से सुनानी पड़ी? क्या दलितों को सिर्फ जाति के आधार पर संगठित किया जाता रहा है, जिसके अभाव में आदिवासियों का संगठित जनाधार नहीं बन पाता? उस स्थिति में भी दलितों-मुसलमानों का नेतृत्व किसी एक, राजनीतिक दल के पास नहीं है। वह कांग्रेस, बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी और एक हद तक भारतीय जनता दल (बीजेपी) के बीच बँटा हुआ है। फिर दोनों की राजनीतिक चेतना में असमानता क्यों है?

क्या सही है कि दलित भी आदिवासियों की तरह उत्पीड़ित ही हैं। लेकिन आदिवासियों के विपरीत वे अलग-अलग जाति एवं धार्मिक समूहों और समुदायों की मिली-जुली आबादी के बीच रहते हैं, जबकि आदिवासी बहुल क्षेत्रों में गैर-आदिवासियों की संख्या न्यूनतम है। इसीलिए बृहत् जनसंख्या से उनका वैसा तादात्म्य हो नहीं पाता। परिणाम है, अलगाव। चुनाव के मौके पर उन चुनाव क्षेत्रों में भी दलित चुनाव नतीजों को प्रभावित करने की स्थिति में होते हैं जो न तो उनके लिए आरक्षित होता है और न जहाँ वे बहुसंख्यक होते हैं। भारत की पूरी जनसंख्या को ध्यान में रखें तो अलग-अलग राज्यों एवं राज्यों में दलित दस से बीस प्रतिशत के बीच होंगे, जो चुनावी राजनीति की दृष्टि से दलितों का मजबूत जनाधार बनाता है। संसदीय राजनीति के मँजे हुए खिलाड़ी दलित वोटों को अनदेखा कर अपना सर्वनाश करने का खतरा मोल नहीं ले सकते भले ही इससे संविधान की प्रतिबद्धताओं का सर्वनाश हो जाए। बुर्जुआ राजनीति की यह अपरिहार्य विवशता है। उधर आदिवासी इलाकों में चुनाव को प्रभावित कर पाते हैं। वह भी दूसरे दलों से राजनीतिक तालमेल बनाकर न कि अकेले बूते पर। उदाहरण के लिए झारखंड में झारखंड मुक्ति मोर्चा और भारतीय जनता पार्टी की मिली-जुली सरकार रही है (2012)। चुनावी रणनीति की दृष्टि से अलग-अलग राज्यों में आदिवासियों की प्रतिशत आबादी भी अहम मायने रखती है। मसलन, आन्ध्र प्रदेश में कुल आबादी का छः प्रतिशत, महाराष्ट्र में नौ प्रतिशत, राजस्थान में बारह प्रतिशत आदिवासी हैं। झारखंड एवं छत्तीसगढ़ जैसे प्रदेश जिनका निर्माण आदिवासी हितों के संरक्षण एवं उनके विकास के नाम पर हुआ, वहाँ भी कुल जनसंख्या की दो तिहाई आबादी गैर आदिवासियों की है। ऐसी दशा में आदिवासी वोट मुश्किल से पचास से साठ संसदीय चुनाव के नतीजों को प्रभावित करने की स्थिति में होते हैं। जबकि दलित तीन सौ से अधिक चुनाव नतीजों को प्रभावित कर सकते हैं।

दलित उभार एवं एकजुटता का एक मुख्य कारण भारत की जाति-व्यवस्था के भीतर उनकी सामाजिक उपेक्षा, सांस्कृतिक अलगाव और सवर्णों द्वारा उनका परंपरागत अनादर भी रहा है, जो पूरे भारत में प्रायः एक जैसा ही है। दूसरे, उनके पास ज्योतिबा फुले एवं डॉ. भीमराव अम्बेडकर, रामास्वामी नायकर 'पेरियार' जैसे प्रखर एवं यशस्वी बौद्धिक नेता हुए हैं जो आज भी अपने विचारों से दलितों को बाँधने और उन्हें अपनाने में उत्प्रेरक की भूमिका निभाते हैं। निस्सन्देह आदिवासियों में भी बिरसा मुंडा, टांट्या मामा, जोरजी भगत, गोविन्द गुरु, और दल्ला

रावत जैसे महान देशभक्त हुए जो विदेशी सत्ता से टक्कर लेते हुए शहीद हुए। सन् 1914 में मानगढ़ जिला बाँसवाड़ा राजस्थान में गोविन्द गुरु की शहादत अविस्मरणीय है। लेकिन उनकी तुलना फुले और अम्बेडकर से नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके पास आदिवसियों के उत्थान की कोई सुचिंत्य योजना नहीं थी। वे न केवल आधुनिक संस्थाओं के निर्माता थे बल्कि प्रतिबद्ध राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। इसलिए प्रदेशों की भौगोलिक सीमाओं को अतिक्रांत भी करते थे। दलित उत्थान के दूसरे पायदान पर ई. रामस्वामी नायकर थे। इधर पी. ए. संगमा एवं शिबू सोरेन जैसे नेता हुए। किन्तु उनकी प्रबल राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा ही उन्हें ले डूबी और वे कभी राष्ट्रीय स्तर के नेता के रूप में लोकप्रिय नहीं हुए।

उल्लेखनीय है कि दलितों के उत्पीड़न का सामाजिक स्रोत एक है, जाति व्यवस्था। आदिवासी शोषण अनेक क्षेत्रों में होता है। कभी उनका शोषण जंगल महकमात के अधिकारी करते हैं तो कहीं स्थानीय साहूकार, कभी राज्य की एजेंसियों की विकास परियोजनाएँ उन्हें विस्थापित करती हैं तो कहीं निजी व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्विता। ऐसी स्थिति में एक सामान्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए आदिवासियों को एक झण्डे के नीचे गोलबंद करना बहुत मुश्किल होता है, वह भी उस स्थिति में जब उनके पास आधुनिक लोकतांत्रिक विमर्श की भाषा बोलने और समझने वाला राष्ट्रीय स्तर का कोई बड़ा बौद्धिक जननायक न हो। इसके विपरीत, दलित-उभार के वर्तमान दौर में कांशीराम और मायावती जैसे जुझारु नेता हुए।

इस मामले में दलित और मुसलमान एक पायदान पर हैं। दलितों की तरह मुसलमान भी गाँवों-शहरों में विभिन्न विश्वास एवं मतावलम्बियों वाले समुदायों के साथ मिलजुलकर रहते हैं और प्रायः सामाजिक जीवन के समवेत भागीदार होते हैं। दलितों की तरह मुसलमानों के वोट बैंक के प्रति भी चतुर राजनीतिज्ञ काफी सचेत होते हैं। हर सेकुलर पार्टी चुनाव में मुस्लिम मतदाओं को खुश करने के लिए चुने जाने पर मुस्लिम मुख्यमंत्री एवं कैबिनेट मंत्री बनाए जाने की चतुराई पूर्ण घोषणा करती है। आदिवासियों के बीच में ऐसे लुभावने वायदे भी नहीं होते, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ एवं झारखंड जैसे राज्यों में भी नहीं जहाँ आदिवासी प्रभावी भूमिका निभा सकते हैं।

भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की लगाम कांग्रेस के हाथों में थी। जिन्ना कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था मानते थे। दूसरी ओर अम्बेडकर थे जो कांगेस को उच्च जाति हिन्दुओं की संस्था मानते थे। दोनों से मुकाबले के लिए कांग्रेस को मुसलमानों और दलितों के बीच लोकप्रिय होना उतना ही जरूरी था। जितना दोनों के हितों का संरक्षक प्रमाणित करना। स्वाधीनता के पूर्व और पश्चात् कांग्रेस छाप धर्मनिरपेक्षता एवं राष्ट्रवाद के अलंकार शास्त्र के सम्मोहन से दलितों-मुसलमानों का बाँधे रखने की नीति पर कांग्रेस आज भी चल रही है। मैंने 'अलंकारशास्त्र का सम्मोहन' कहा है। व्यावहारिक राजनीति में आज कांग्रेस दलित-मुस्लिम हितों का कितना प्रतिनिधित्व करती है, यह अलग से विचार का विषय है। कांग्रेस या अन्य राजनीतिक दलों की चुनावी विवशताएँ जो हों, कम-से-कम दलित और मुस्लिम उनके एजेंडे पर अवश्य है। किन्तु आदिवासियों की पूरी तरह से छँटनी हो गई। इलेक्ट्रॉनिक एवं प्रिंट मीडिया ने भी इसी तरह का सौतेला व्यवहार आदिवासियों के साथ किया है। दलित उत्पीड़न तथा मुसलमानों के हाशियाकरण अथवा उनके अल्पसंख्यक होने के विशेषाधिकारों को जितनी अहमियत 'कवरेज' मिलती है, उसका शतांश भी आदिवासियों को नहीं मिलता जबकि आदिवासी तो उत्पीड़न और हाशियाकरण दोनों के शिकार हैं।

इस पृष्ठभूमि में नक्सलवादी गतिविधियों का अध्ययन करना उचित होगा। नक्सलवाद

के पनपने का कारण यह है कि आजादी के साठ सालों में आदिवासियों ने पाया कम है, खोया अधिक है। राज्य की उपेक्षा और घने जंगल और पहाड़ी इलाके हैं। इन निर्जन क्षेत्रों में सरकारी अमला अनिच्छापूर्वक काम करता है। स्वास्थ्य केन्द्रों में चिकित्सक और विद्यालयों में शिक्षक जाने से परहेज करते हैं। मजिस्ट्रेट आदि प्रशासनिक अधिकारी जो वहाँ नियुक्त किए जाते हैं वे 'आई बला को टाल तू' की फिराक में होते हैं। इसके विपरीत नक्सली माओवादी आदिवासियों के साथ घुल-मिलकर अपने पक्ष में हवा बनाते हैं। उनके दैनंदिन जीवन में सहयोग और जंगल महकमा के ठेकेदारों से उनका बचाव करते हैं।

पीपुल्स वार ग्रुप (पी. डब्ल्यू. जी.) और माओवादी कम्युनिस्ट सेंटर (एमसीसी) दो ऐसे गुरिल्ला ग्रुप हैं जिनके पास अपना संगठन ओर कटिबद्ध कार्यकर्ता हैं। पहला आन्ध्र प्रदेश और दूसरा बिहार में सक्रिय रहा है। 2004 में दोनों के एकीकरण से नक्सलवाद को नई ताकत मिली है। उनके नए दल का नाम है, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी)। उनकी दृष्टि में पश्चिमी बंगाल, केरल, त्रिपुरा में पूँजीवादी लोकतांत्रिक तरीके से चुनकर सत्ता में आयी कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी परंपराओं का सच्चा उत्तराधिकारी नहीं है। वह महज पूँजीवादी सुधारवादी है। नक्सलवादी-माओवादी हथियारबंद क्रान्ति से दिल्ली तक पहुँचने का रास्ता बताते हैं। उनका भी फौरी मकसद आदिवासियों की समस्याओं का समाधान नहीं है, क्योंकि उन्हें लगता है कि हथियारबंद क्रान्ति ही सभी समस्याओं का एकमुश्त समाधान है। आदिवासी तो उनके लिए खुला चारागाह हैं।

उनका पहला निशाना सरकारी अमला, सरकारी सम्पत्ति और संस्थाएँ-पुलिस स्टेशन, ट्रांसमिशन टावर, जेल, रेलवे स्टेशन, सैनिक एवं अर्द्ध सैनिक बल, जिला अदालतें आदि होते हैं। उन्हें लगता है कि यह सब उत्पीड़नकारी पूँजीवादी राज्य सत्ता के प्रतीक चिह्न हैं, इसलिए उन पर किया गया हर प्रहार उसे कमजोर करेगा। अपनी इसी समझ से पिछले वर्ष छत्तीसगढ़ के दाँतवाड़ा जिले के पीपुल्स वार ग्रुप के कार्यकर्ताओं ने सीमा सुरक्षा बल के सत्तर जवानों की हत्या कर दी। माओवादियों का संगठनात्मक नेटवर्क बड़ी चुस्ती से काम करता है। कस्बा, गाँव से लेकर जिला सतर तक उनका खुफिया विभाग हर प्रशासनिक हलचल, गतिविधियों पर पैनी दृष्टि रखता है। उसकी सूचना डिविजनल एवं रेज कमीटियों को तुरंत पहुँचाई जाती है। गद्दारी की सजा मौत है। योजनाबद्ध तरीके से पुलिस स्टेशन को उड़ाकर हथियारों को लूटना, उनकी कार्यशैली है। इस तरह वे मुक्त क्षेत्र—लिबरेटेड जोन की घोषणा करते हैं। जहाँ उनकी सत्ता और नियम के साथ कराधान आदि का स्वतंत्र और समानान्तरण शासन चाहता है। उसका सपना है कि इसी तरह एक दिन दिल्ली की सत्ता को भी पाया जा सकता है।

भारत में प्रतिबद्ध माओवादी मुट्ठी भर हैं जो हैंडग्रेनैड, एके 746, एके—47, रॉकेट लांचर की बारुदी सुरंग जैसे आधुनिकतम हथियारों का उपयोग करना चाहते हैं। दक्षिण एशिया के अन्य गुरिल्ला लड़ाकों तथा नेपाल के माओवादियों का उन्हें सहयोग प्राप्त है। एलटीटीई के तमिल लड़ाकों में भी उन्हें मदद मिलने की सूचना है। मजे की बात यह है कि नक्सलियों-माओवादियों के अधिकांश प्रशिक्षित सिद्धान्तकारों, कार्यकर्ताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि न आदिवासी जीवन है, न मजदूर वर्ग और न किसान वर्ग। वे पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के हैं। कानू सान्याल, चारु मजूमदार, टी. नागा रेड्डी एवं विनोद मिश्र सभी मध्यवर्ग के थेरिटीशियन हैं। स्वयं एमसीसी और पीडब्ल्यूजी के दलीय पदसोपान क्रम में आदिवासी कहीं नहीं हैं।

आदिवासियों के बीच नक्सली फैलाव के सिर्फ कानून और व्यवस्था को चाक-चौबंद करके नहीं रोका जा सकता है। विकास के लाभों को उन तक पहुँचाए बिना, असमान पूँजीवादी

विकास पर लगाम लगाए बिना, ठेकेदारी-प्रथा को खत्म किए बिना नक्सली हिंसा शायद ही रुके। किन्तु इस मामले में भारत सरकार की नीतियाँ (?) सिर-दर्द से मुक्ति पाने के लिए सिर कटवा लेने जैसी हैं।

मुख्य सवाल है आदिवासियों को आर्थिक विकास की मुख्य धारा में कैसे लाया जाए? उससे जुड़े बिना आदिवासी हमेशा की तरह अलग-थलग ही रहेंगे। आदिवासी बहुल इलाकों के प्राकृतिक संसाधनों का गैर-आदिवासी समूहों द्वारा अपरिमित दोहन पर अंकुश जरूरी है ताकि एक ओर न केवल असमान औद्योगिक विकास को रोका जा सके बल्कि ऐसी नीतियों के द्वारा उनके मन में यह विश्वास भी पैदा हो सके कि सरकारी एजेंसियाँ सिर्फ दिखावे के लिए ही नहीं बल्कि वास्तव में उनके उत्थान के लिए चिन्तित हैं। व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि आदिवासी इलाकों की खनिज-संपदा के लाभांशों को स्थानीय पूँजीपति, बिचौलिए, ठेकेदार, स्थानीय नेता और नौकरशाह मिल बाँटकर खा जाते हैं और आदिवासियों को उनमें से न्यूनतम मिलता है। पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गाँधी ने स्वयं स्वीकार किया था कि रुपये के पन्द्रह पैसे का लाभ ही जनता तक पहुँच पाता है। आदिवासी तो 'जनता' कहे जाने वाले शब्द के दायरे में भी नहीं आते। वहाँ विकास का लाभ कितना पहुँचा यह सहज कल्पनीय है। छत्तीसगढ़ में आदिवासियों के अधिकार और सम्मान के लिए संघर्ष करने वाले शंकर गुहा नियोगी की हत्या वहाँ के पूँजीपतियों ने भाड़े के गुंडों द्वारा करवा दी। सरकारी सुरक्षा का अभाव और नक्सली हिंसा दोनों के बीच आदिवासी जीते हैं।

नक्सलियों से निपटने के लिए सरकार ने आदिवासी युवाओं के बीच हथियार बाँटने की भी नीति अपनायी। यह भी उसी तरह का कृत्य है जैसा कि माओवादियों ने आदिवासियों को हथियारबंद करके सत्ता हासिल करना सिखाया। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है जब राज्य अपनी कर्तव्यनिष्ठा की अवमानना और उपेक्षापूर्ण व्यवहार से अपने दायित्वों के प्रति जिम्मेदार होने की बजाय तटस्थ होने लगता है। नक्सली हिंसा को प्रतिहिंसा से रोकने का यह अनोखा ढंग है। 'शक्ति हमेशा बंदूक की नली से जन्म लेती है' —माओ के इस कथन की सबसे कुत्सित अभिव्यक्ति है दोनों तरफ का आचरण। इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि राज्य अपने ही नागरिकों की सुरक्षा के काबिल नहीं मानता और उनके तथा कथित पक्षधर संरक्षक नक्सलवादियों के पास उनकी समस्याओं के दीर्घकालीन समाधान की कोई समझ नहीं है।

गुलामी मनुष्य की मजबूरी है, अधिकारों का दावा उसकी फितरत। मनुष्य का स्वभाव अलग हो सकता है, उसकी नियति नहीं। आदमी को केन्द्र में लाए बिना उसकी मुक्ति का दंभ भरना झूठे मसीहा का लक्षण है। 'नक्सली हिंसा एक आत्ममुग्ध फैंटेसी है। जिसे वे शहादत कहते हैं वह एक दुःस्वप्न है।' 'लालकिले पर लाल निशान माँग रहा है हिन्दुस्तान' कोरा तुकबंदी है। यह सोचना भी हास्यास्पद है कि कुछ सिरफिरे बन्दूक के बल पर लालकिले पर लाल झण्डा फहरा देंगे। सन् 2012 का भारत सन् 1940 का चीन नहीं है। इसलिए यहाँ क्रान्ति का चीनी तरीका भी असफल होने के लिए अभिशप्त है। यह मार्क्सवाद नहीं, रूपवाद है। वर्ग-शत्रु की ताकत का अनुमान किए बगैर उससे आर-पार की लड़ाई पर उतरना रोमेंटिक क्रान्तिकारियों का लक्षण है। ऐसे क्रान्तिकारियों के लिए ही लेनिन ने उग्रवादी वामपंथ को एक बचकाना मर्ज—'लेफ्ट विंग कम्युनिज्म एन इनफेंटाइल डिजार्डर' कहा था। दरअसल आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में एक दलीय प्रणाली कभी भी मानवीय गरिमा और लोक कल्याण के आदर्शों के अनुकूल नहीं रही है। पिछले सदी का अभिशाप, हिटलर ने कम हत्याएँ नहीं की और न स्टालिन और माओ ही इस मामले में पीछे रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि 'क्रान्तिकारी वामपंथ'

द्वारा नरसंहार का अनुपात दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावाद के चरम रूप फासीवाद और उस जैसी अन्य घोर प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं के समर्थकों द्वारा किए गए नरसंहार कहीं अधिक रहा है। दरअसल माओवादियों में जन संवाद की न तो हिम्मत है और न उनमें आस्था ही। यह स्वयं में 'हजारों फूल खिलने दो—लेट थाउजेंड फ्लावर्स ब्लूम' के माओवादी सिद्धान्त के विपरीत है।

हावर्ड फास्ट ने 'समरगथा' में लिखा है : ''जीवन के तीन आधार हैं—अधिकार, जिसके साक्षी धर्मशास्त्र हैं, सत्य, जिसका साक्षी यह संसार है, और मनुष्य के प्रति मनुष्य का प्रेम, जिसका साक्षी तुम्हारा अपना हृदय है।'' अगर बंदूक की ताकत ही धर्म है, सत्य है और उसी से प्रेम ही प्रेम है तो मैं कहूँगा, 'दे और दिल उनको जो न दे मुझको जुबाँ और।'

नोट : इस लेख में उल्लेखित आँकड़े श्री रामचंद्र गुहा के उद्धृत आलेख से लिए गए हैं।

संपर्क : 62, वन विहार कॉलोनी, टोंक रोड, जयपुर-302018, मो. : 9829059126

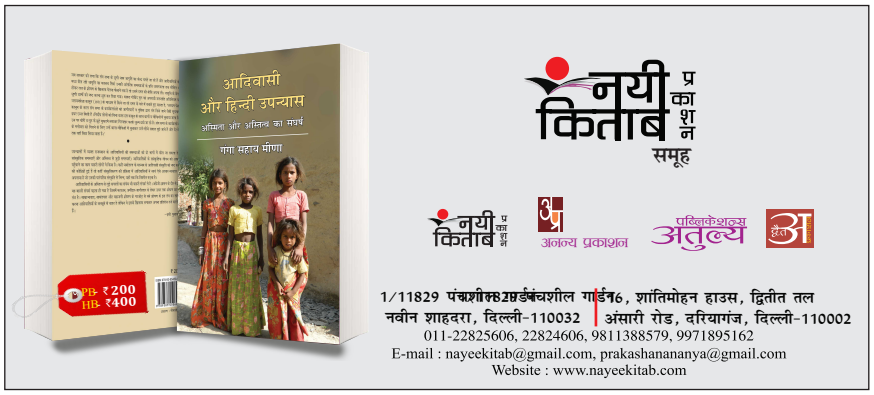

भारतीय लोकतंत्र में आदिवासी स्वायत्तता का प्रश्न

नीरज कुमार

आदिवासी समाज की मूल विडंबना रही है कि आज़ादी के सत्तर वर्षों के बाद भी उनके मूल विचार को भारत के नीति निर्माण में वो स्थान नहीं मिल पाया जिसके वो हकदार हैं। जबकि यह सर्वविदित है कि भारतीय सभ्यता के मूल का प्रतिनिधित्व आदिवासी समुदाय ही कर रहा है। फिर भी आदिवासी समाज प्रायः अदृश्य है आधुनिक राज्य के अभिलेखों, इतिहास और सामाजिक विज्ञान के अकादमिक विमर्शों में। अगर आदिवासी समुदाय है भी तो उस पर नक्सली का तमगा भारतीय लोकतंत्र के नीति निर्माताओं की ओर से लगा हुआ है जिसे एक बीमारी के रूप में भारतीय गणराज्य समझती है। ऐसा नहीं है कि आदिवासी समुदाय के पास अपनी ऐतिहासिक पहचान नहीं है। सांस्कृतिक नहीं बल्कि नृ-विज्ञान शास्त्रीय अध्ययन ने इस बात को साबित कर दिया है कि किस प्रकार आदिवासी समुदाय भारतीय लोकतंत्र में अपनी एक अलग पहचान रखता है जो कि समावेशी प्रकृति का है। लेकिन आदिवासी लेखन कि यह दुविधा रही है कि वह सक्षम हो सके और अपने स्वयं के अभिलेख और इतिहास लेखन का दावा प्रस्तुत कर सके जैसे दलित और नारीवादी विमर्शों ने खुद को सामाजिक विज्ञान के विमर्शों में खुद को स्थापित किया है। फलतः आदिवासी इतिहास लेखन ब्रिटिश, राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन के विचार धारा का शिकार रही है जिसने आधुनिकता और तकनीकी उत्पाद को केंद्र में रखते हुए जनजाति शब्द को गढ़ा है। आदिवासी विमर्शवादियों को यह समझना होगा कि विमर्श कि राजनीति का एक छोड़ सत्ता से जा के जुड़ता है जिसका मकसद होता है शासकों और शासितों में विभेद को दिखाना और यह विभेद गढ़ा जाता है स्वकेंद्रित श्रेष्ठता को आधार बना के जिसके केंद्र में शासकों कि भाषा, इतिहास, उत्पाद के माध्यम, संस्कृति और राजनीतिक आयाम होते हैं। शासितों को यह समझाया जाता है कि यह वैज्ञानिक चेतना से निर्मित एक सर्वव्यापी सत्य है जबकि इसके पीछे एक उद्देश्य छिपा होता है कि शासितों के मूल स्वरूप को कैसे निकृष्ट और अनुपयोगी साबित किया जाय?

आधुनिक भारत के निर्माण को लेकर तीन बड़े विचारों को प्रमुखता से स्थान मिला जिसके प्रवक्ता नेहरू, आंबेडकर और पटेल थे। नेहरू का विचार था कि एक ऐसे भारत का निर्माण किया जाय जो बहुसांस्कृतिक एवं बहुधार्मिक विचारों का सम्मिश्रण हो। जबकि पटेल भारत को ब्रिटिश द्वारा निर्मित जटिल प्रशासनिक व्यवस्था के अंतर्गत एक केंद्रीकृत सत्ता के माध्यम से शासन व्यवस्था चलाना चाहते थे। वहीं आंबेडकर भारतीय सत्ता में दलितों की संपूर्ण भागीदारी के पक्षधर थे। अब प्रश्न उठता है कि आदिवासी के संदर्भ में उस समय क्या विचार थे? आदिवासियों को लेकर दो अवधारणाएँ थीं, पहला था अहस्तक्षेप कि नीति यानी आदिवासियों को उनके मूल विचार के साथ जीने दिया जाय। दूसरा, आदिवासियों को राज्य की ओर से कुछ सुविधाएँ प्रदान कि जाय बदले में उससे ये अपेक्षाएँ की गयी कि वे आधुनिकता के दायरे में अपनी मूल पहचान को छोड़ कर बँध जाय। इस तरह से देखा जाय तो आधुनिक भारत के निर्माण में 'आदिवासियत' की संकल्पना को पूरी तरह से नकार दिया गया। यही 'आदिवासियत' का प्रश्न जो पहली अवधारणा थी उससे जुड़ा हुआ था। अतः स्वायत्तता महज एक विनय पत्र नहीं था बल्कि ये आदिवासियों के संपूर्ण राजनीतिक एवं आर्थिक दर्शन से जुड़ा हुआ था। क्योंकि उन्हें प्रारंभ से ही राज्य की आधुनिक अवधारणा का एहसास था कि कैसे यह एक बिचौलिया वर्ग का निर्माण करके उनके जीवन के हर एक पहलुओं में हस्तक्षेप करेगा। इसलिए बाबा तिलका माँझी ने ब्रिटिश साम्राज्य का विरोध यह कहते हुए कहा कि "जमीन हमें भगवान ने उपहार में दिया है तो सरकार बीच में कहाँ से आई।" आदिवासियों के बीच आधुनिक राज्य व्यवस्था के उद्देश्य मालूम थे कि आदिवासी आधुनिकता के नाम पर अपनी लोक भूमि, भूभाग और प्राकृतिक संसाधनों पर अपना मालिकाना हक का दावा छोड़ कर इन्हें उस शासन व्यवस्था को सौंप दे और तथाकथित मुख्यधारा में शामिल होने के नाम पर विभिन्न स्तरों में बँटकर अपनी पहचान खो दें। इसलिए जयपाल सिंह मुंडा संविधान सभा के संकल्प प्रस्ताव में बोले कि "एक जंगली और आदिवासी के तौर पर मुझसे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि मैं इस प्रस्ताव की सूक्ष्म और कानूनी जटिलताओं को समझूँगा, लेकिन मान्यवर अगर पिछले 6000 हजार वर्षों से किसी की उपेक्षा की जा रही है तो वह आदिवासी है।" जयपाल सिंह ने इसलिए संविधान में आदिवासियों के लिए किए गए प्रावधान पाँचवीं-छठी अनुसूची एवं आरक्षण की व्यवस्था का विरोध किया था क्योंकि उन्हें पता था कि ये सारे प्रावधान 'बाँटो और राज्य करो' की नीति से अलग नहीं है। क्या इस बात से इंकार किया जा सकता है की आदिवासी समाज आज क्षेत्र और वर्गों में बँट चुका है। आज आदिवासी समाज पूँजीपतियों के चुंगुल में इसलिए भी फँस चुका है। उसके अंदर एक ऐसा मध्य वर्ग बन गया है जो सत्ता और पूँजीपतियों के लिए बिचौलियों का काम करता है। क्या भारत की आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था के नाम पर उसके जल, जंगल और जमीन को नहीं लूटा जा रहा है? भारत के प्रशासनिक अधिकारी ही लोकतंत्र के नाम पर उसका सबसे ज्यादा शोषण करते हैं इस ओर ध्यान वेरियर एल्विन ने दिलाया है कि "भारत के प्रशासनिक अधिकारी जो भी आदिवासी क्षेत्रों में हैं। उनके पास आदिवासियों कि जीवन शैली के बारे में ज्ञान का अभाव है। वे उनके साथ उच्च श्रेष्ठता कि भावना से ग्रसित होते हैं। वे आम आदिवासियों के ऊपर अपने को बॉस समझते हैं तथा उनके अधीनस्थ अक्सर उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार करते हैं।" आज आधुनिकता और मुख्य धारा में शामिल होने के नाम पर उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। उनकी संस्कृतियों में डाके डाले जा रहें हैं। उनके भोजन को छिन लिया गया है शिकार के अधिकार में हस्तक्षेप करते हुए। ये सारे काम आधुनिक सभ्यता के नाम पर ही किए जा रहें हैं मानो कि यह आधुनिक सभ्यता उनके घर में उनके द्वारा बनाए गए शराब से ज्यादा विषाक्त है। सबसे हैरानी की

बात है आदिवासी प्रकृति की आपदाओं से संघर्ष करते हुए भी अपनी जड़, जंगल और जमीन से जुड़े रहे लेकिन विकास के नाम पर बनाये जा रहे बड़े-बड़े बाँध, कारखाने और खनन के बाद क्यों विस्थापित होने पर मजबूर हुए। इसलिए की यह उनके कल्याण के नाम पर किया जाने वाला गोरख धंधा है जिसका फायदा व्यापारी, बड़े भूस्वामी, पूँजीपति और ड्रग्स माफिया उठा रहे हैं। उनके जीवन शैली में हस्तक्षेप करते हुए इन्होंने उनकी कला, उनके नृत्य और उनकी संपूर्ण संस्कृति को नष्ट करने का ही काम किया है। समाजशास्त्री वाल्टर फर्नान्डिस ने पाया कि विकास प्रोजेक्ट के नाम पर अभी तक सरकारी आँकड़ों के अनुसार 40 प्रतिशत आदिवासी विस्थापित हुए हैं जबकि वह भारत कि कुल जनसंख्या का मात्र 8 प्रतिशत हैं।

आदिवासी स्वायत्तता के प्रश्न को वैश्विक स्तर पर ही एक सांस्कृतिक ढाँचे में ढँक दिया गया जिसका नाम आधुनिक और गैर आधुनिक दिया गया। उसके बाद से ही हर जगह और देश में भी उसे इसी खाके में बैठाने की राजनीति शुरू हुई। भारत ने भी उसी प्रचलन को अपनाया। आदिवासियत को पिछड़ा और गैर राजनीतिक समुदाय का ठप्पा लगा दिया गया। यहाँ तक की आज़ादी के समय जब आंबेडकर अपने लिए एक अलग निर्वाचन क्षेत्र को उठा रहे थे तब उन्होंने भी आदिवासी स्वायतता वाले प्रश्न को नजरअंदाज कर दिया। उनकी भी सोच आदिवासियों के प्रति वही थी जो अन्य लोगों की थी। उस समय आंबेडकर ने कहा कि "आदिवासियों ने अब तक ना तो किसी भी प्रकार की राजनीतिक समझ विकसित की है और न ही उनके पास वो संख्या बल है जिसके आधार पर उनके लिए किसी विशेष प्रकार का निर्वाचन क्षेत्र अलग से विकसित किया जाय।" जबकि आज़ादी के बाद भी भारतीय राजनीति में दलित और आदिवासी को एक ही खाँके में देखने की कोशिश की जाती रही है। यह भी सत्य है की भारतीय गणराज्य के प्रति दोनों के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अंतर था। दलित जहाँ अपने लिए प्रतिनिधित्व की माँग कर रहे थे तो दूसरी ओर आदिवासी स्वायत्तता की। यह विमर्श आज भी देखने को मिल रहा है क्योंकि भारत में आज भी आदिवासी अध्ययन को दलित अध्ययन के अधीनस्थ ही रखा जाता है जिसका उदाहरण है कि 'इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च' (ICSSR) के सर्वे भारतीय राजनीति चिंतन में मात्र एक अध्याय 'दलित और जनजाति' चिंतन पर है। वहीं दूसरी ओर विश्व विद्यालय अनुदान आयोग के दिशा निर्देश के तहत जो भी विषमता और विभेद से जुड़े सेंटर खोले जा रहें हैं उसमें भी दलित और जनजाति को एक ही पैटर्न पर रखा गया है। जबकि अगर विकास की पहुँच पर प्रकाश डाला जाय तो दलित और आदिवासी में एक असमान अंतर को आसानी से परिलक्षित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए दलितों में जहाँ साक्षरता दर 30.1 प्रतिशत है वहीं आदिवासियों में 23.8 प्रतिशत है। दलितों में जहाँ प्राथमिक शिक्षा के बाद ड्रॉप आउट दर 49.5 प्रतिशत है वहीं आदिवासियों के बीच 62.5 है। दलितों में गरीबी रेखा से नीचे रह रहे लोग 41.4 प्रतिशत है तो आदिवासियों में यह 49.5 है। दलितों में 15.6 प्रतिशत लोगों के पास डॉक्टर और प्राथमिक उपचार केंद्र तक पहुँच नहीं है तो आदिवासियों के बीच यह 28.9 प्रतिशत है। दलितों के बीच 63.6 प्रतिशत लोगों को स्वच्छ जल तक पहुँच है तो आदिवासियों के पास मात्र 43.2 प्रतिशत है। दलित बच्चों में 57.2 प्रतिशत टीकाकरण लगवाए जाते हैं तो आदिवासी बच्चों में 42.2 प्रतिशत। इस प्रकार देखा जाय तो आदिवासी और दलितों की समस्या तो एक ही है लेकिन उनके समाधान के रास्ते अलग हैं। क्योंकि आंबेडकर ने दलितों को भारतीय लोकतंत्र में राजनीतिक रूप से सशक्त किया जिसका फल आज उन्हें मिल रहा लेकिन वे आदिवासियत के सवाल पर मौन रहे।

अब अगर आदिवासी स्वायत्तता पर विचार किया जाय तो उनकी स्वायत्तता की माँग राज्य से और राज्य के साथ ही थी न कि राज्य से अलग स्वायत्तता की माँग कर रहे थे। अगर भारत

ने संघ के निर्माण के आधार पर अपने राज्य निर्माण की प्रक्रिया को आधार बनाया तो फिर क्यों आदिवासियों के मूल स्वरूप को अंगीकार करने में विफल रहे। जयपाल सिंह मुंडा का मानना था कि उन्होनें केवल "स्वशासित इकाइयों के आधार पर शक्तियों के बँटवारे की माँग की थी न की धर्म या भाषा के आधार पे'' उन्होनें यह स्वीकार किया की भारतीय लोकतंत्र में अगर लोकतांत्रिक नागरिक होने की शर्त को रखा जाय तो आदिवासी अपनी प्रकृति में पूरी तरह से लोकतांत्रिक हैं जिससे जातियों में बँटा हिंदू समाज बहुत कुछ सीख सकता है। आधुनिक समाज ने जिस तरह अपने को सभ्य और आदिवासियों को असभ्य की श्रेणी में बाँट कर के उसपर वैधता हासिल किया वह एक छल के सिवाय कुछ नहीं था। क्योंकि आदिवासी राज्य का स्वरूप आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों से कहीं आगे और प्रगतिशील था। वह अपनी सोच और शासन पद्धति में लोकतंत्र के मूल उद्देश्य को समाहित किए हुए था। जिसका आधार एक वर्गरहित समाज था जहाँ एक मानव का दूसरे मानव से न कोई भेद था और न ही कोई विद्वेष। यहाँ के समाज में पूँजी के संकेंद्रण और उपभोक्ता वादी संस्कृति का कोई स्थान नहीं था। वह प्रकृति के साहचर्य में रहता था और उसे अपने उपयोग में जरूरत के हिसाब से लाता था। सामूहिकता उसके मूल जीवन का आधार था जिसके बल पर वह एक समतामूलक समाज का निर्माण किए हुए था जहाँ आर्थिक आधार अलग-अलग वर्ग नहीं था। वहाँ ना तो वर्णाश्रम धर्म था और ना ही स्त्री-पुरुष में कोई भेद-भाव। वे पुलिस के बगैर अपने-अपने इलाक़े में शासन व्यवस्था चलाते थे और न्याय व्यवस्था भी मौजूद था। इस प्रकार कोई कानूनी जटिलताएँ नहीं थी। निर्णय प्रक्रिया में हर सदस्यों की भागीदारी थी। सच्चे अर्थों में गाँधी जी के सपनों का ग्राम समाज उसी आदिवासियत का एक रूप था। जिसे पाने में आज भारत का लोकतंत्र असफल रहा है। उदयचन्द्र भास्कर ने लिखा है की पहाड़ों और जंगल में रहने वाले भारतीय जो आदिवासी के रूप में जाने जाते हैं, "ना ही राज्य विहीन, ना इतिहास के बाहर, ना साधारण और ना ही पिछड़ा समाज था।'' अगर नेहरू के शब्दों में उसे देखा जाय तो सभ्य जगत को आदिवासियों से काफी कुछ सीखने की जरूरत है जो काफी अनुशासन प्रिय हैं। यह समाज भारत के बहुत सारे लोगों की तुलना में लोकतांत्रिक भी है। सबसे बड़ी बात है कि ये ऐसे लोग हैं जो गीत गाते हैं, नृत्य करते हैं और ज़िंदगी का आनंद उठाते हैं। ये वैसे लोग नहीं हैं जो शेयर बाजार में बैठकर एक दूसरे पर चिल्लाते हैं और सोचते हैं की सभ्य हैं।

अंत में यह मानना की उनके द्वारा स्वायत्तता की माँग किसी अलगाववादी राजनीति का षड्यंत्र है, यह बेमानी है। इसलिए जरूरत है कि उनको अपनी ज़िंदगी अपने हिसाब से जीने के अधिकार को सुनीश्चित किया जाय। जिससे उनकी कला और संस्कृति सुरक्षित रहे। उनके जंगल और जमीन के अधिकार और संरक्षण के तरीके का सम्मान होना चाहिए। उनको अपने तरीके से प्रशासन चलाने की व्यवस्था हो जिसके सदस्य उन्हीं आदिवासी समूहों से हों। इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए की बाहरी व्यक्ति उसे सिर्फ सलाह दें जो कि उस क्षेत्र के बारे में विशेषज्ञ हों न कि वैसे लोग जो उनके शोषण की मनसा से वहाँ नियुक्त होते हैं। भारतीय गणराज्य को अपने द्वारा चलाए जाने वाले आदिवासी कल्याण के स्कीमों की सफलता का मूल्यांकन करना चाहिए न की आँकड़ों में उलझकर की कितना पैसा वह उन योजनाओं पर खर्च कर रही है। इस प्रकार हम आदिवासियत की उस परंपरा को सुरक्षित रख सकते हैं जो मानवीय गुणों का मुख्य आधार है। साथ ही साथ यह जरूरत है कि आदिवासियों का अध्ययन उनके क्षेत्रीय विभिन्नता एवं उनमें पायी जाने वाली समानताओं के आधार पर स्वतंत्र रूप से किया जाय।

संपर्क : शोध छात्र, राजनीति विज्ञान अध्ययन केंद्र, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया-824236, मो. 8825237705

उपनिवेशवाद के विरुद्ध आदिवासी आंदोलन एवं उनका सांस्कृतिक पक्ष

आनन्द कुमार पटेल

भारतीय इतिहास के अध्ययन में जब भी आंदोलन की बात होती है तो सबसे पहले 1857 की क्रान्ति की अनुगूँज सुनायी देती है। ऐसा इसलिए है कि इतिहासकारों ने इसे भारत का 'प्रथम स्वाधीनता आंदोलन' की संज्ञा देकर इतिहास में स्थापित किया। कुछ ने इसे मात्र एक 'सैनिक विद्रोह' माना और इसे राजसत्ता–प्राप्ति के स्वार्थ से परिचालित कहा; तो कुछ इतिहासकारों ने इसे सामंतवाद पर पूँजीवाद के विजय का उत्सव कहा और देश में आधुनिक युग की शुरुआत का समय माना है। सर्वविदित है कि इस स्वाधीनता आंदोलन की ज्वाला मंगल पांडेय के रूप में मेरठ (उत्तर प्रदेश) की पुलिस छावनी में भड़की थी। किन्तु, इस ऐतिहासिक तथ्य के पीछे एक सच्चाई गुम है; और वो, ये कि स्वाधीनता की लड़ाई शुरू करने वाले मेरठ के संग्राम से भी लगभग 90 साल पहले 1766 ई. में ही झारखंड के आदिवासियों ने क्रान्ति की शुरुआत कर दी थी। झारखंड में ब्रिटिश कंपनी के विरुद्ध असंतोष उसी दिन शुरू हो गया था जब अंग्रेजों ने प्लासी की लड़ाई (1757) के बाद इस क्षेत्र में प्रवेश किया था। किन्तु, आदिवासियों द्वारा किये गए आंदोलन की चर्चा पर भारतीय इतिहास का बृहद् अध्याय मौन है। भूमि-व्यवस्था के बिखराव एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की दोहरी चुनौतियों की प्रतिक्रियास्वरूप 1766 ई. से लेकर मौजूदा समय तक अनेक आदिवासी आंदोलन हुए। राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो स्वाधीनता आंदोलन की चर्चा में न केवल आदिवासियों का संघर्ष बल्कि उनके नायक भी गुमनाम हैं, किन्तु आदिवासी गीतों एवं लोकगाथाओं में उनकी मौजूदगी सहज रूप से देखने को मिलती है। इस संदर्भ में राजस्थान के भील आदिवासियों के यहाँ गाया जाने वाला गीत देख सकते हैं–

ऐला टोपियो आयो रे
ऐला बंदूक लायो रे
मरद लुगायाँ टाबरा घेरया रे

डरज्यो मती, मोतीरो आयो रे
लाडूरो आयो रे.....।

अर्थात् सिर पर टोपी पहने हुए फिरंगी आ रहे हैं। वे बंदूकों से लैस हैं। औरत-मरद-बालकों को घेर लिया है। इस सबसे मोर्चा लेने के लिए मोतीरा और लाडूरा आ रहे हैं। इसलिए कोई **MjukerA** यह गीत भील आंदोलन से संबंधित है।

आदिवासियों का ज्ञात इतिहास रहा है कि उन्होंने किसी का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया और जब कभी ऐसा किया भी तो बेहद मजबूरी में, वह भी बहुत कम समय के लिए और जैसे ही मौका मिलता, वे पुनः आंदोलन पर उतारू हो जाते। प्लासी की लड़ाई के बाद से लेकर सन् 1947 के पूर्व तक अंग्रेज, आदिवासी इलाकों में अपनी शासन–व्यवस्था पूर्णरूप से कभी स्थापित नहीं कर पाए, जबकि आदिवासी इलाकों से इतर गैर-आदिवासी क्षेत्रों में अंग्रेजों को अपनी शासन व्यवस्था स्थापित करने में कोई ज्यादा कठिनाई नहीं हुई। इसका मूल कारण है–आदिवासी और गैर-आदिवासी समाज की सामाजिक व्यवस्था। भारतीय गैर-आदिवासी समाज की संरचना मनुवादी वर्ण-व्यवस्था पर आधारित है; जिस कारण समाज जात-पात, ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना में विभाजित है। यह स्थिति तत्कालीन समय में भी थी। समाज में सामंती-व्यवस्था काफी सुदृढ़ थी। इस सामाजिक व्यवस्था में कुछ ऐसी दलित जातियाँ थीं, जिनका अपना घर-बार नहीं था, खेत नहीं थे। प्रायः वे जीविका के लिए ऊँची जातियों के गुलाम थे। यहाँ तक की सार्वजनिक तालाबों तक में उन्हें पानी पीने की मनाही थी। उनके स्वतंत्र जीवन जीने तक के अधिकार खत्म हो गए थे। इस व्यवस्था को लेकर दलित जातियों में आंतरिक असंतोष व्याप्त था। इस वजह से यहाँ 1857 ई. से पहले व्यापक जन-आंदोलन का इतिहास नहीं है। यहाँ अंग्रेजों को जनता के सामूहिक विद्रोह के एक स्वर का सामना कभी नहीं करना पड़ा। यहाँ समाज में एका की कमी थी। इस तरह गैर-आदिवासी क्षेत्र अंग्रेजों की शासन व्यवस्था के अनुकूल रहा।

किन्तु, आदिवासी समाज सहजीविता और सामूहिकता के रिश्ते में बँधा एक समतामूलक समाज है। इसलिए यहाँ शासक और शोषित की वर्गीय अवधारणा कभी नहीं पनप सकी। उदाहरण के लिए झारखंड के आदिवासी समाज की प्रशासनिक व्यवस्था में 'पड़हा राजा' और 'राजा' का पद होता है। किन्तु आदिवासी 'राजा' गैर-आदिवासी समाज के परंपरागत राजाओं से इस अर्थ में भिन्न होते थे कि उनके पास कोई स्थायी सेना नहीं होती थी और न ही वे उसी तरह के सामंती अधिकारों और व्यवहारों से युक्त थे। आदिवासी राजा भी जनता की तरह खुद भी श्रम में शामिल होता था और युद्ध में भी। श्रमिक जनता ही उसकी सेना हुआ करती थी। स्त्री-पुरुष सभी मिलकर लड़ाई लड़ते थे। यह खुद के अस्तित्व को बचाने की लड़ाई थी, इसलिए उनके लड़ने में उत्साह होता था। आदिवासी राजा का निवास गैर-आदिवासी राजाओं की तरह कोई महल नहीं था, बल्कि राजा अपनी प्रजा के साथ ही झुग्गी-झोपड़ियों में रहता था। इसकी पुष्टि राजा दुर्जन साल के जीवन से जुड़े ऐतिहासिक तथ्यों से भी होती है। दुर्जन साल, जो जहाँगीर द्वारा ग्वालियर के किले में बंदी बनाया गया था, को शुद्ध हीरे की पहचान के बाद छोड़ दिया गया था। शर्त के अनुसार जो "राजागण दुर्जन साल के साथ मुक्त किये गये थे, उसके साथ कोकरा (छोटा नागपुर) आये थे। उन्हें हीरे के राजा के सामान्य घर को देखकर बड़ी हैरानी हुई,[2] कि एक राजा का आवास झोपड़ी का है। दरअसल दुर्जन साल के साथ रिहा हुए राजा उस समाज से आते थे जहाँ प्रजा और राजा के रहन-सहन के बीच पर्याप्त असमानता थी। इसलिए आमजन की संवेदना से गैर-आदिवासी राजा प्रायः कटे हुए थे।

इसके साथ ही आदिवासी समाज में गैर-आदिवासी समाज की तरह जीविका की भी व्यवस्था असमान नहीं थी। जंगल काटकर खेत बनाना और सामूहिक कृषि करना तथा वनोपज उनके जीवन का आधार रहे हैं। वनोपज पर पूरे समूह का अधिकार होता था। इस स्वायत्त और स्वच्छंद व्यवस्था पर जब भी किसी बाहरी शक्ति ने हमला किया, तो आदिवासियों का सामूहिक प्रतिरोध खुलकर सामने आया। इतिहास साक्षी है कि अपनी स्वाधीनता और स्वच्छंदता की रक्षा के लिए आदिवासियों ने आजादी के पूर्व भी साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आंदोलन किया था और आजादी के बाद भी वे ठीक उसी तरह से आंदोलनरत हैं। इस लेख में उनके शृंखलाबद्ध आंदोलनों का संक्षिप्त विवरण देते हुए, उन्हें सांस्कृतिक रूप से दो हिस्सों में अध्ययन की सुविधा के लिए विभाजित किया जा रहा है।

स्वतंत्रता पूर्व आंदोलन

पहाड़िया आंदोलन (1766 ई.-1785 ई.)—झारखंड के पाकुड़, गोड्डा, दुमका क्षेत्र में फैली राजमहल की पहाड़ियों पर 'पहाड़िया' आदिवासियों का निवास स्थान है। ये प्राचीन काल से ही राजमहल पहाड़ी की तराई क्षेत्र में खेतीबारी करते आ रहे हैं। यह क्षेत्र औपनिवेशिक समय में 'दामिन-ए-कोह' (वर्तमान का संताल परगना)[3] के नाम से जाना जाता था। अंग्रेजों के आगमन से जंगलों का तेजी के साथ कटाई तथा विस्थापन और कृषि पर लगान से स्वच्छंद जीवन जीने वाले पहाड़िया लोग तिलमिला गए। उन्हें अपने क्षेत्र में अंग्रेजों की यह हिंसक उपस्थिति पसंद नहीं आयी और उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ 1766 ई. में 'रमना अल्हाड़ी' के नेतृत्व में आंदोलन शुरू कर दिया। पहाड़िया आंदोलन को दबाने के लिए "सन् 1772 ई. में बंगाल के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने कप्तान ब्रुक के नेतृत्व में 800 सैनिकों की टुकड़ी इस क्षेत्र में भेजी, इस निर्देश के साथ कि पहाड़िया को काबू में कर उनसे इस क्षेत्र में व्यवस्थित ढंग से खेतीबारी करानी है।"[4] लेकिन अपने तमाम युद्धक साधनों के बावजूद अंग्रेज पहाड़िया लोगों को हरा नहीं पाए। इसका मूल कारण था—पहाड़िया लोगों की युद्ध शैली और सांगठनिक सामाजिक व्यवस्था। ब्रुक ने अनुभव किया कि पहाड़िया समाज को हराना या नियंत्रण में लाना अत्यंत मुश्किल। इसी सोच के तहत उसने अपनी कठोर दमनात्मक नीति में परिवर्तन करते हुए पहाड़िया आदिवासियों को प्रेम से समझा—बुझाकर शांत करने की कोशिश की और उनकी स्त्रियों बच्चों के साथ अच्छा सलूक किया तथा उन्हें विश्वास में लेकर पहाड़ों के नीचे समतल भूमि पर खेतीबारी के साथ बसने के लिए प्रेरित किया। "मात्र दो वर्षों के भीतर दो सौ तिरासी पहाड़िया गाँव बसाए गए।"[5] बाद में नये कलेक्टर आगस्टस क्लीवलैंड ने ब्रुक की नीतियों पर अमल करते हुए आदिवासियों की ग्रामसभा को मान्यता दी और उनकी न्यायिक—प्रशासनिक व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया। क्लीवलैंड का व्यवहार पहाड़िया लोगों को पसंद आया। लेकिन बाद में क्लीवलैंड की औपनिवेशिक नीतियों से पहाड़िया जब परिचित हुए तो क्लीवलैंड को मारने के लिए वे उतावले हो गए। ब्रिटिश हुकुमत के विरुद्ध पुनः लड़ाई शुरू हो गई। इस बार आंदोलन का नेतृत्व तिलका माँझी ने किया। "सन् 1784 ई. में जनवरी के प्रथम सप्ताह में भागलपुर पर आक्रमण करके उन्होंने कई इलाकों पर कब्जा करते हुए मुंगेर और संताल परगना को भी जीत लिया। भागलपुर के अंग्रेज अधिकारी आगस्टस क्लीवलैंड को एक संताली लड़की का बलात्कार करते हुए देखने पर तिलका ने उसे तीर से मार कर खत्म कर दिया। बाद में तिलका माझी को धोखे से गिरफ्तार किया गया। बदले की भावना से ग्रस्त अंग्रेज आयरकूट चार घोड़ों से उनके हाथ—पैर बाँधकर उन्हें सुल्तानपुर से भागलपुर तक सैकड़ों मील घसीटकर ले गया।

वहाँ भागलपुर चौक स्थित वर्तमान तिलका मांझी चौक पर बरगद के पेड़ पर लटका कर फाँसी दे दी गयी।"[6] तिलका मांझी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में फाँसी की बेदी पर चढ़ने वाले पहले क्रांतिकारी थे, लेकिन भारतीय इतिहासकारों ने 1857 की क्रांति में शहीद हुए मंगल पांडेय को स्वतंत्रता आंदोलन का प्रथम शहीद घोषित कर दिया। जबकि सच्चाई यह है कि मंगल पाण्डेय से 70 वर्ष पहले स्वाधीनता आंदोलन में तिलका माँझी शहीद हुए। तिलका माँझी की निर्मम हत्या से पता चलता है कि अंग्रेजों ने कितनी क्रूरता से पहाड़िया आंदोलन का दमन किया। लार्ड क्लाइव ने ब्रिटिश कंपनी के डायरेक्टर के नाम लिखे पत्र में स्वीकार किया कि "निर्दयता और अत्याचारों का जो सिलसिला कंपनी के कर्मचारियों और उनकी आड़ में यूरोपीय एजेंटों तथा भारतीय उपएजेंटों ने शुरू किया है, वह इस देश में अंग्रेजों के नाम पर स्थायी कलंक रहेगा।"[7] आश्चर्य कि जब इस क्रान्ति के बारे में स्वयं अंग्रेजों ने लिखा है तो फिर भारतीय इतिहासकारों ने इसे इतिहास के पन्नों में स्थान क्यों नहीं दिया? क्या इसलिए कि कथित मुख्यधारा की नजर में आदिवासी वन में रहने वाले असभ्य, पिछड़े और बर्बर लोग हैं? उनके आंदोलनों को लूटपाट और सीमित क्षेत्र में उभरे विद्रोह के रूप देखा गया। मुख्यधारा के इतिहासकारों की नजर आदिवासियों की सहजीवी सामाजिक-प्रशासनिक व्यवस्था पर कभी नहीं गई, जो उनकी इंसानियत को बिम्बित करती है। सच पूछा जाय तो यह एक वास्तविक जन-आंदोलन था जिसका उद्देश्य 1857 की तरह न तो धार्मिक था और न ही राजसत्ता प्राप्त करना; बल्कि यह आदिवासी जनता द्वारा किया गया स्वतःस्फूर्त आंदोलन था, जिसका उद्देश्य अपनी सामाजिक, प्रशासनिक व्यवस्था, फसलों पर परम्परागत अधिकार और जंगल–जमीन को बचाने का था। इसके बाद तो देशभर में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ आंदोलन शुरू हो गया, जो 1857 के बाद भी सरदारी आंदोलन, उलगुलान, भील आंदोलन, टाना भगत आंदोलन के रूप में जारी रहा।

मुंडा आंदोलन (1795-1820 ई.)–पहाड़िया आंदोलन के दमन के बाद ब्रिटिश शासन ने चैन की साँस ली। लेकिन, यह स्थिति अधिक दिनों तक बरकरार नहीं रह सकी। लार्ड कार्नवालिस द्वारा 1793 ई. में भूमि की 'स्थायी बंदोबस्ती' की व्यवस्था ने एक नये शोषक वर्ग के रूप में जमींदार को जन्म दिया। इस स्थायी बंदोबस्ती के कई नतीजे निकले; जैसे-

1. कृषक अब जमीन के मालिक नहीं थें। वे अब जमींदार की दया पर निर्भर किराए के कृषक थे।
2. जमींदार अपनी मर्जी से बेदखल करते थे। किराया भी अपनी मर्जी से वसूलते रहते थे।
3. वसूली के तरीके अमानवीय थे।
4. जमींदारी खरीद-बेच गिरवी विभाजन की वस्तु बन गई थी।
5. जमींदार गाँव से शहर आ गए थे। उनके स्थान पर कारिंदे काम करते थे जो पूरी तरह से लालची थे और किसानों का अधिकतम शोषण करते थे।
6. कृषक की आमदनी तो भू-राजस्व चुकाने में चली जाती थी और उसके सर पर कर्ज रहने लगा। गाँवों में गरीबी बढ़ गयी। कृषि-उत्पादन भी गिर गए क्योंकि किसान के लिए कुछ भी प्रेरक कारण था ही नहीं। जो उपज होती वो जमींदार की होती थी, सो वे मन से खेती करते ही नहीं थे।"[8]

यही कारण है कि कंपनी की मनमानी, जमींदारों-ठेकेदारों के अत्याचार से एक बार फिर आदिवासियों ने आंदोलन का बिगुल बजा दिया। इस बार आंदोलन का केंद्र 'तमाड़' (जिला

राँची) था। यह इलाका मुंडाओं का है। इसलिए इसे 'मुंडा आंदोलन' कहा जाता है। इस आंदोलन का नेतृत्व विष्णु मानकी, दुखन मानकी, दौलत राय मुंडा, शंकर मानकी, भद्रा मुंडा, टेपा मानकी ने किया। मुंडाओं के इस आंदोलन को दबाने के लिए तत्कालीन कैप्टन "रफसेज, तमाड़ पहुँचा और विद्रोह के दमन में लग गया। ...जनवरी 1820 ई. के प्रथम सप्ताह के अंत तक विद्रोही खुले इलाकों से भगाए जा चुके थे। उनके खिलाफ दमन की कार्रवाई मार्च तक चलती रही है।"[9] कई प्रमुख आंदोलनकारी पकड़े गए और आंदोलन लगभग समाप्त हो गया।

'हो' आंदोलन (1820-1821 ई.)—मुंडा आंदोलन की शृंखला में ही उसी साल (1820 ई.) 'हो' आंदोलन शुरू हो गया। छोटानागपुर और सिंहभूम क्षेत्र में ही 'हो' आदिवासी समाज अपने स्वतंत्र शासन का उपभोग कर रहा था। किन्तु, तत्कालीन नागवंशी राजा जगन्नाथ सिंह को 'हो' आदिवासियों की यह स्वतंत्रता रास नहीं आयी और उन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए वह आदिवासियों पर सैनिक कार्यवाही करता था। इसी बीच इस सिंहभूम क्षेत्र पर अंग्रेजों की नजर पड़ी। अंग्रेजों ने जगन्नाथ सिंह को अपने अधीन कर लिया और पूरे क्षेत्र में ब्रिटिश कानून लागू कर दिया गया। अंग्रेजों से संपर्क बन जाने के बाद जगन्नाथ सिंह की सैन्य ताकत और बढ़ गई। इसी के साथ हो लोगों पर शोषण और अत्याचार भी बढ़ गया। जगन्नाथ सिंह के व्यवहार से 'हो' लोगों उत्तेजित हो गए और उन्होंने विद्रोह कर दिया। विद्रोह का रूप बड़ा होता देख अंग्रेजों ने जगन्नाथ सिंह की सहायता के लिए मेजर रफसेज के नेतृत्व में एक बड़ी सेना भेजी। 'हो' लोग जबरदस्त लड़ाका थे। उनकी छापामार युद्ध की प्रणाली ने अंग्रेजी हुकूमत की नींव हिला दी। यह लड़ाई एक महीने तक लगातार चलती रही। बाद में फिर से ब्रिटिश सेना के एक बड़े दस्ते को मेजर रफसेज की सहायता के लिए भेजा गया और आंदोलन को दबा दिया।

खासी आंदोलन (1829 ई.)—पूर्वोत्तर भारत की जयंतिया और गारो पहाड़ियों के बीच सिलहट के आस-पास की पहाड़ी पर लगभग 3500 वर्गमील में फैला विस्तृत पहाड़ी भाग खासी आदिवासियों का इलाका है। इस प्रदेश में ब्रिटिश हुकूमत स्थापित होने से पूर्व (1765 ई.) खासी आदिवासी समाज के 30 राज्य थे जो पूरी तरह से लोकतांत्रिक पद्धति पर शाषित थे। सभी राज्यों की अपनी-अपनी एक परिषद् थी और परिषद् की अनुमति के बिना राजा कोई भी निर्णय स्वयं नहीं ले सकता था। जिन्हें गणराज्य की संज्ञा दी गई। इसी तरह की प्रशासनिक व्यवस्था मुंडाओं की भी है, जो 22 पड़हा में संयोजित है। आदिवासियों की इस लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में सभी नागरिकों को स्वतंत्रता थी और इस स्वतंत्र कौम को अंग्रेजी साम्राज्यवादी शक्तियों ने गुलाम बनाने की कोशिश की, तब निश्चित था आदिवासियों के विद्रोह का प्रस्फुटित होना। इस इलाके में बर्मा से सिलहट को जोड़ने के लिए एक सड़क तैयार करने की योजना बनी, ताकि अंग्रेजी फौज को यातायात की सुविधा मिल सकेगी, साथ ही साथ खासी लोगों पर नियंत्रण भी रखा जाएगा। अंग्रेजों द्वारा सड़क बनाने की योजना का तिरोत सिंह ने विरोध किया। उसने ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध एकजुट होने के लिए अन्य गणराज्यों के राजाओं को संदेश भेजा। इसका प्रभाव खासियों के साथ-साथ गारो आदिवासियों पर भी पड़ा। 5 मई 1829 ई. को आंदोलन की शुरुआत गारो युवकों द्वारा अंग्रेज लेफ्टिनेंट बेडिग फील्ड की हत्या से हो गई। आंदोलन चार वर्षों तक चला।

कोल आंदोलन (1831-1832 ई.)—'हो' आंदोलन को भले ही सैन्य कार्यवाही के द्वारा दबा दिया गया, किन्तु असंतोष की चिंगारी आदिवासियों में अंदर-अंदर ही कुलबुला रही थी और इस चिंगारी का विस्फोट होना लाजमी था। 1831 ई. तक आते-आते पुनः आदिवासियों

का आंदोलन पश्चिमी तथा पूर्वी सिंहभूम, पलामू, हजारीबाग आदि क्षेत्रों में व्यापक रूप से फैला गया। यह आंदोलन उस समय हुआ जब आदिवासियों की जमीन अंग्रेजों द्वारा मुस्लिम और सिख किसानों व ठेकेदारों को दी गई। इस आंदोलन के नायक थें—सिन्दराय और बिन्दराय मानकी। कैप्टन विल्किंसन के नेतृत्व में 1832 ई. तक इस आंदोलन को बर्बरतापूर्वक कुचल दिया गया। पिठौरिया के नागवंशी राजा जगत् पाल सिंह ने विल्किंसन का सहयोग किया था। आदिवासी किसानों का असंतोष इस आंदोलन का मूल कारण था। विल्किंसन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "पिछले कुछ वर्षों के भीतर पूरे नागपुर भर के कोलों पर वहाँ के इलाकादारों, जमींदारों और ठेकेदारों ने 35 प्रतिशत लगान बढ़ा दिए हैं। परगने भर की सड़कें उन्हें बिना किसी मजदूरी के बेगारी द्वारा बनानी पड़ी थी। महाजन लोग, जो उन्हें रुपये या अनाज उधार दिया करते थे, 12 महीने के भीतर ही उनसे 70 प्रतिशत और कभी-कभी उससे भी ज्यादा वसूल कर लेते थे। उन्हें शराब पर लगाए गए कर, जिसकी दर तो चार आना प्रति घर के हिसाब से निश्चित थी लेकिन वसूली आमतौर इससे कहीं अधिक की जाती थी और उसके अलावे सलामी के रूप में प्रति गाँव एक रुपया और एक बकरी भी ली जाती थी, से सख्त नफरत थी।...कोलों को अफीम की खेती नापसंद थी।"[10] अंग्रेज अधिकारी विल्किंसन द्वारा तैयार इस रिपोर्ट में यह तो परिलक्षित होता है कि देशी लोगों ने ही अपने देशवासी आदिवासियों का शोषण किया, किन्तु यह आशय कतई नहीं लगाया जा सकता कि अंग्रेजों ने आदिवासियों का भला किया। साम्राज्यवादी ब्रिटिश हुकूमत ने आदिवासियों की 'पड़हा पंचायत' स्वशासन व्यवस्था को खत्म करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और जल-जंगल-जमीन पर आदिवासियों को उनके पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिया।

सेरेंगसिया घाटी की लड़ाई (1837 ई.)—सेरेंगसिया घाटी झारखंड के पश्चिमी सिंहभूम जिले में पड़ता है। यह क्षेत्र 'हो' आदिवासियों का है। लगान और महाजनी शोषण के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिए पोटो सरदार, बेरायी डेबाय, नारा हो, जोटो हो, पांडवा जोंको, कोचे सुदरन और बड़पीढ़ के 21 गाँवों के सरदारों ने सभा किया। सभा में यह निर्णय लिया गया कि मर जाना पसंद करेंगे किन्तु अंग्रेजों के अधीन कभी नहीं रहेंगे। जानकारी मिलते ही विल्किंसन ने आदिवासियों को सबक सिखाने के लिए 17 नवम्बर 1837 को अंग्रेजी सेना को हमला करने का आदेश दिया। आदिवासियों की बस्तियों को आग लगा दी गई। बूढ़े-बच्चे-महिलाएँ किसी को नहीं छोड़ा गया। अगुआ लड़ाकुओं को पकड़कर जनता को आतंकित करने के लिए जगन्नाथपुर स्थित डाक बंगला के बरगद के पेड़ में फाँसी दे दी गई।

संताल हुल (1855-1856 ई.)—स्थायी बंदोबस्ती में इस क्षेत्र को शामिल कर लेने के बाद पुलिस, जमींदार एवं महाजनों की भीड़ द्वारा अभूतपूर्व शोषण व अत्याचार करने से पीड़ित संताली समाज, न्याय के लिए प्रतिरोध में खड़ा हुआ। आदिवासियों की एकता का प्रतीक साल वृक्ष की टहनी सभी गाँवों में घुमायी गयी। 30 जून, 1855 ई. को भोगनाडीह गाँव में सिदो-कानू-चाँद-भैरव तथा फूलो-झानो के नेतृत्व में दस हजार आदिवासियों ने जमा होकर हर जुल्म के खिलाफ लड़ने की कसमें खायीं। ग्रामसभा के नेतृत्व में अंग्रेज सरकार, भागलपुर के कमिश्नर, कलक्टर तथा मजिस्ट्रेट के पास पत्र लिखकर घोषणा की गई कि दिकुओं को निकाल बाहर किया जाए तथा हमारी मुंडा-मानकी शासन व्यवस्था चलायी जाय। इसके बावजूद स्थिति नहीं सुधरी। अंग्रेज लेखक मैक्डगाल लिखते हैं कि "विद्रोहियों की मुख्य शिकायत महाजनों और छोटे अधिकारियों द्वारा मनमाने पैसे की उगाही थी, लेकिन जमींदारों—हिन्दू, मुस्लिम और यूरोपीय—द्वारा उन पर होने वाला अत्याचार भी कारण बना। रेलवे के कुछ कर्मचारियों पर

संथाल महिलाओं के साथ बलात्कार का भी आरोप था।[11]" प्रशासकीय उपेक्षा, महाजनी शोषण, सरकारी भ्रष्टाचार और पुलिसिया उत्पीड़न ने उन्हें आंदोलन के लिए बाध्य किया। संताली आंदोलनकारियों ने पूरे संताल परगना में घूम-घूम कर संघर्ष छेड़ा। यह देश की पहली जनक्रांति थी जो बड़े पैमाने पर लड़ी गई। इसमें 30, 000 हजार आदिवासियों ने भाग लिया। यह आंदोलन किसी रियासत, राजा या किराए के सैनिकों द्वारा किया गया नहीं था बल्कि यह आदिवासी जनता का स्वतःस्फूर्त आंदोलन था, जिसमें हर संताल उसका सिपाही था। कार्ल मार्क्स ने इसे भारत का 'प्रथम स्वाधीनता आंदोलन' कहा। संताल आंदोलनकारी तीर-धनुष, कुल्हाड़ी, फरसा जैसे परंपरागत हथियारों से लड़ रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने इस क्षेत्र में मार्शल लॉ लागू कर एक बड़ी सैन्य कार्यवाही के बाद 1856 ई. में इस आंदोलन को दबाने में सफलता पायी। इस लड़ाई में लगभग 10 हजार आदिवासी मारे गए।[12]

1837 से 1855 तक संताल परगना से वसूला गया राजस्व[13]

वर्ष	राशि (रु.)	वर्ष	राशि (रु.)
1837-38	6682	1846-47	36407
1838-39	7738	1847-48	39305
1839-40	10644	1848-49	40947
1840-41	20074	1849-50	43724
1841-42	20997	1850-51	47665
1842-43	22372	1851-52	50160
1843-44	25450	1852-53	51825
1844-45	28002	1853-54	53455
1845-46	32430	1854-55	58033

उपर्युक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि किस तरह से अंग्रेजों द्वारा आदिवासियों से लगान के नाम पर जबरन धन उगाही की गयी। आदिवासियों के असंतोष का यह भी एक बड़ा कारण था। आदिवासियों का मानना था कि वर्षों की मेहनत से जंगल-झाड़ को साफकर, पहाड़ों को काटकर खेत हम बनाएँ तो फिर लगान क्यों दें? यह असंतोष आंदोलन में बदल गया।

सरदारी आंदोलन (1858 ई.) 1766 ई. के पहाड़िया आंदोलन से लेकर संतालों (1855) तक के आंदोलन जिन समस्याओं को लेकर हुए थे, उनका निवारण इन आंदोलनों के बाद भी नहीं हो पाया था। आदिवासियों के शोषण की प्रक्रिया पहले की ही तरह चलती रही। उनकी जमीनें छीनी जाती रही। जल-जंगल और जमीन से वंचित आदिवासी गाँव को छोड़ने के लिए विवश हुए। उनके द्वारा छोड़ी गई जमीनों को बाहरी लोगों ने हथिया लिया। कुछ समय बाद जब आदिवासी अपने गाँव वापस लौटें तो जमीनों के नए मालिकों ने जमीन देने से इनकार कर दिया। अपनी जमीन से बेदखल किये गए छोटानागपुर के इन्हीं आदिवासियों ने सरदारी आंदोलन की नींव डाली।

इसी समय आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार जोरों पर था। कुछ आदिवासियों ने धार्मिक उद्देश्य से ईसाई धर्म को अपनाया तो कुछ ने इस उम्मीद के साथ ईसाई धर्म को अपनाया ताकि ईसाई हो जाने के बाद उन्हें जंगल-जमीन पर पारंपरिक अधिकारों से वंचित न किया जा सकेगा। फिर भी स्थिति सामान्य नहीं रही। झारखंड के आदिवासी समाज पर

शोध करने वाले सामाजिक कार्यकर्त्ता हेमंत लिखते हैं कि "मुंडा आदिवासी समाज में से कई लोगों ने अपने अस्तित्त्व और अधिकारों की सुरक्षा की उम्मीद से ईसाई धर्म स्वीकार किया। करीब 50 सालों से लड़ते–लड़ते थकी मुंडा जनजाति को ईसाई धर्म में मुक्ति का रास्ता भी दिखा, लेकिन वहाँ से भूमि-व्यवस्था नई उलझनों में फँस गई।"[14] चूँकि मुंडा समाज के संचालन में प्रधान माने जाने वाले किसान जो सरदार कहलाते थे, उन्हें यह लगने लगा कि पादरी गण अपने ईसाई आदिवासियों को लाभ पहुँचाने के लिए राजस्व व भूमि-व्यवस्था में हस्तक्षेप कर रहे हैं। फलतः सरदारों का यह असंतोष जन-आंदोलन का रूप ले लिया। ब्रिटिश शासन के साथ-साथ पादरियों के खिलाफ आंदोलन शुरू हो गया। ईसाई मिशनरियों व गिरजाघरों पर हमले भी हुए। "1858 से भूमि आंदोलन के रूप मे विकसित यह आंदोलन 1890 में आकर राजनीतिक आंदोलन में तब्दील हुआ।"[15] यही आंदोलन बाद में बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' का आधार बना।

नागा आंदोलन (रानी गाइदिल्ल्यू की गुरिल्ला लड़ाई)-भारत का उत्तर-पूर्वी राज्य नागालैंड, नागा आदिवासियों का प्रमुख निवास स्थान है। अंग्रेजों ने नागा-प्रदेश पर भी अधिकार स्थापित करने के लिए 1835 ई. से 1851 ई. के मध्य दस बार चढ़ाई किया।"[16] इस ब्रिटिश आक्रमण के प्रतिक्रियास्वरूप खोनोमा और मेजुमा के नागाओं ने दीमापुर के दक्षिण समगुतिंग की पुलिस चौकी के दरोगा को मार दिया। इसके बाद अंग्रेजों और नागाओं के बीच पाँच माह तक भीषण संघर्ष हुआ। "22 नवम्बर 1879 ई. के दिन लड़े गये इस युद्ध को 'आंग्लो-खोनामा' युद्ध के नाम से जाना जाता है।"[17] अत्याधुनिक हथियारों से लैस ब्रिटिश फौज से सीधी लड़ाई में नागाओं को पीछे हटना पड़ा। बाद में नागाओं ने खोनामा के दुर्ग पर कब्जा कर लिया और यहीं से युद्ध का मोर्चा सँभाला। इस लड़ाई में 50 अंग्रेज सैनिकों के साथ उनका सेनापति दामंट भी मारा गया। अपनी इस जीत से उत्साहित नागाओं ने कोहिमा की अंग्रेजी छावनी पर हमला कर दिया। अंग्रेजी फौज को हार माननी पड़ी। बाद में "अंग्रेजों ने योजनाबद्ध तरीके से 22 मार्च 1879 ई. को खोनामा पर पुनः आक्रमण कर दिया। इस लड़ाई में सेमोपा और ओनोमा समुदाय के आदिवासी भी शामिल थे।...इस युद्ध में ब्रिटिश सेना के करीब 500 अधिकारी व सैनिक मारे गए जबकि नागा योद्धाओं के 19 ही शहीद हुए थे। धीरे-धीरे अंग्रेजी सेना ने शिकंजा कसना चालू किया। अतिरिक्त फौजी दस्ते बुलाए गये और 27 मार्च 1880 को बेजोमा में अंग्रेज अधिकारी और नागा मुखियाओं के बीच शान्ति संधि पर हस्ताक्षर हुए।"[18] कुछ समय के लिए शान्ति बनी रही, किन्तु बाद में ब्रिटिश सेना ने संधि की शर्तों को तोड़ दिया और नागाओं के गाँवो पर आधिपत्य कर लिया। अंग्रेजों की इस साम्राज्यवादी नीति के खिलाफ सन् 1932 ई. में नागा युवती 'गाइदिल्ल्यू' के नेतृत्व में आंदोलन फिर से शुरू हो गया। 'गाइदिल्ल्यू' ने लगभग चार हजार गुरिल्ला लड़ाकों का 'जिलियांगरांग हेराका' नामक एक संगठन बनाया। बाद में 'गाइदिल्ल्यू' को गिरफ्तार कर लिया गया और आजीवन कारावास की सजा हुई। अपनी गिरफ्तारी के संदर्भ में गाइदिल्ल्यू का कहना था कि "मैं उनके लिए जंगली जानवर के समान थी। इसलिए एक मजबूत रस्सी मेरे कमर में बाँधी गई। दूसरे दिन कोहिमा में मेरी व मेरे दूसरे भाई ख्युसिनांग की क्रूरता से पिटाई की गई। कड़कती ठंड में हमारे कपड़े छीन हमें रात भर ठिठुरने के लिए छोड़ दिया गया। अन्य अनेक यातनाएँ भी दी गयीं पर मैंने धीरज नहीं खोया।"[19]

उलगुलान (1895-1900 ई.)–'उलगुलान' मुंडारी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ आंदोलन होता है। यह शब्द मूलतः बिरसा मुंडा के नेतृत्व में हुए आंदोलन से जुड़ा हुआ है। 'वन नीति

1894' में जंगलों के वाणिज्यिक उपयोग पर विशेष कानून बनने से जंगलों पर आदिवासियों को उनके परंपरागत अधिकारों से वंचित कर दिया गया। इससे उनकी अर्थव्यवस्था टूट गई और प्रकृति को ही 'सिंगबोंगा' मानने वाले उनकी सांस्कृतिक व्यवस्था पर आघात पहुँचा। साथ ही 'भूमि अधिग्रहण कानून 1894' के लागू होने से आदिवासियों की जमीन जबरदस्ती ले ली जाती थी। इस कानून के अनुसार "सार्वजनिक उद्देश्य के तहत किसी भी जमीन को बगैर बाजार मूल्य के मुआवजा चुकाए सरकार अधिग्रहण कर सकती है।"[20] इन कानूनों के प्रतिक्रियास्वरूप सरदारी आंदोलन को आगे बढ़ाते हुए बिरसा मुंडा ने अंग्रेजों का कड़ा विरोध किया। 'अबुआ दिशुम, अबुआ राज' का नारा देकर बिरसा ने उलगुलान का नेतृत्व किया। सभी मुंडा-मानकियों को एकत्रित कर उन्होंने अंग्रेजों से लगान-माफी के लिए आंदोलन किया। जिस समय भारतीय राजनीति की अगुआ काँग्रेस पार्टी अंग्रेजों से आंशिक स्वशासन और सुविधा की माँग कर रही थी, उससे कई वर्ष पूर्व बिरसा मुंडा ने अंग्रेजों के खिलाफ आदिवासी स्वशासन के लिए निर्णायक संघर्ष का बिगुल बजा दिया था। ध्यान देने की बात है कि काँग्रेस पार्टी की लड़ाई सिर्फ ब्रिटिश हुकूमत से थी जबकि बिरसा का आंदोलन न सिर्फ अंग्रेजों से था, बल्कि देशी शोषकों (जमींदार, महाजन) से भी था जो आदिवासियों की अस्मिता, सहजीवी सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था को खत्म करने पर तुले हुए थे। 1897 में झारखंड में भीषण अकाल पड़ा था। बिरसा मुंडा अकाल तथा महामारी से पीड़ित लोगों की सेवा में लग गए। इस दरम्यान वह एक स्थान से दूसरे स्थान घूमने लगे तथा ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ एवं जमींदारों व ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध लोगों को जागरूक भी करते रहे। गुप्त सभाएँ होती थीं। आक्रमण करने की नीतियाँ बनाई जाती थीं। अंततः 25 दिसम्बर 1899 ई. के दिन विद्रोह की चिंगारी फूट गई। "विद्रोहियों ने सरवादा मिशन, मुर्हू मिशन एवं बोरजो मिशन पर आक्रमण किये। बोरजो में एक सिपाही, 4 चौकीदार मारे गए।....6 जनवरी 1900 ई. को एक पुलिस दल पर आक्रमण कर बिरसा के अनुयायियों ने एक सिपाही को मार डाला। 7 जनवरी को राँची में सूचना मिली कि बिरसा के तीन-चार सौ अनुयायी खूंटी पर हमला करने वाले हैं। खूंटी में आतंक फैल गया।...बिरसा के अनुयायी नाचते-गाते आए और उन्होंने थाना परिसर में एक झोपड़ी में आग लगा दी। थाना खाली पड़ा था किन्तु एक सिपाही ने बन्दूक दिखाकर जब भीड़ को डराना चाहा तो उसके टुकडे-टुकड़े कर दिए गए।"[21] आंदोलनकारी ढोल-मांदल के साथ नाचते-गाते हुए डोम्बारी बुरु पहाड़ी पर इकट्ठा हुए। 9 जनवरी 1900 ई. को अंग्रेज अधिकारी स्ट्रीटफिल्ड ने पूरी पहाड़ी की नाकेबंदी कर दी और आंदोलनकारियों को समर्पण करने का हुक्म दिया, किंतु अंग्रेजों की बात को अनसुना कर दिया गया। इससे नाराज होकर स्ट्रीट फील्ड ने गोली चलाने का आदेश दे दिया। इस लड़ाई में बहुत से आदिवासी पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे मारे गए। अपनी रिपोर्ट में ज्योत्स्ना शिला डांगइस लड़ाई का जिक्र करती हुई लिखती हैं कि "जब कई राउंड गोलियाँ चलीं तो सईलरकबबुरु के दूसरे छोर पर महिलाओं की लाशें बिछ गईं। दूधमुँहे बच्चों एवं महिलाओं की लाशें देखकर ब्रिटिश महारानी ने युद्ध-विराम का आदेश दिया। उन्होंने देखा एक महिला पीठ पर बच्चा बाँधकर लड़ने के क्रम में धरती पर मृत पड़ी है, किन्तु उसका बेटा मृत माता के स्तन चूस रहा था।"[22] युद्ध के इस वीभत्स दृश्य ने अंग्रेजों को स्तब्ध कर दिया और युद्ध विराम की घोषणा कर दी गई। बाद में बिरसा मुंडा को गिरफ्तार कर लिया गया और राँची जेल में बंद कर दिया गया। जेल में कई प्रकार की यातनाएँ दी गईं, जिससे उनका स्वास्थ्य कमजोर पड़ गया। मुकदमे के दौरान ही जेल में बिरसा मुंडा की 9 जून 1900 ई. को मृत्यु हो गई। सरकार की इस दमन-नीति के कारण 'उलगुलान' को कुचल दिया गया; किन्तु 19वीं

सदी के अंत में शुरू बिरसा मुंडा के 'उलगुलान' का प्रभाव एक लम्बे समय तक आदिवासी समाज पर रहा। बिरसा का यह 'उलगुलान' अंग्रेजों के खिलाफ था, महाजनी सभ्यता के खिलाफ था, साथ ही इसके माध्यम से आदिवासियों की परंपरागत पड़हा पंचायत का राज कायम करना था। 'उलगुलान', औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ आदिवासियों के संघर्ष का प्रतीक बन गया।

भूमकाल आंदोलन (1910 ई.)—इधर 'उलगुलान' को अंग्रेजों द्वारा क्रूरतापूर्वक दबा दिया गया। वहीं दूसरी तरफ बस्तर (छत्तीसगढ़) का आदिवासी समाज, अंग्रेजों के विरुद्ध आंदोलन की तैयारी कर रहा था। यहाँ का भूगोल वन और खनिज बाहुल्य है। यह क्षेत्र वनोपज के साथ-साथ धान की खेती के लिए भी अति महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए अंग्रेजों की नजर इस प्रदेश पड़ी। वे यहाँ आधिपत्य जमाने के लिए लगातार प्रयासरत रहे। 1891 ई. में ब्रिटिश शासन ने बस्तर का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया और वहाँ के नये दीवान पंड्या बैजनाथ के द्वारा बस्तर रियासत की राजधानी जगदलपुर के विकास के लिए बनाई गई योजनाओं के द्वारा अंग्रेजों ने आदिवासियों पर खूब जुल्म ढाए। ब्रिटिश नीतियों का विरोध करने पर बेदम पिटाई व छोटी-छोटी बातों पर जेल की सजा, हड़िया पर पाबंदी तथा वन-नीति के द्वारा जंगल के उपज से वंचित करना आदिवासियों को नागवार गुजरी। चूँकि 'हड़िया' को अंग्रेज लोग नशाखोरी के रूप में देखते थे। किन्तु, यह 'हड़िया' महुए की चुलाई दारू या शराब की तरह नहीं होता है, बल्कि यह चावल के साथ अन्य औषधीय तत्त्वों को मिलाकर बनाया जाता है। यह आदिवासियों की संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है। जन्म-मरण, उत्सव-त्यौहार तथा पुरखों की याद में किये जाने वाले पूजा-पाठ में 'हड़िया' का प्रयोग किया जाता है और 'हड़िया' पर अंग्रेजों द्वारा प्रतिबंध, आदिवासियों की सांस्कृतिक व्यवस्था में बाहरी हस्तक्षेप था, जो आदिवासियों को रास नहीं आया। अंग्रेजों के प्रति आदिवासियों का असंतोष बढ़ता गया। मुरिया और धुरवा आदिवासी समाज ने 'गुंडाधुर' को सर्वसम्मति से अपना प्रतिनिधि चुनकर आंदोलन का नेतृत्त्व उन्हें सौंप दिया। यही आंदोलन इतिहास में 'महान भूमकाल' के नाम से जाना जाता है।

मानगढ़ की लड़ाई (1913 ई.)—राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र में भील समाज का बाहुल्य है। आजादी के पूर्व यह समाज ब्रिटिश हुकूमत और देशी रजवाड़ों के शोषण का शिकार था। बंधुआ मजदूरी की प्रथा, भारी लगान व बेगारी से भील त्रस्त थे। यह वह दौर था जब राजस्थान में गोविन्द गुरु के नेतृत्व में सामाजिक कुरीतियों को खत्म करने के लिए 'भगत आंदोलन' जोरों पर था। इस आंदोलन का असर भीलों पर भी पड़ा। भील संगठित होने लगें तथा खुलकर सामूहिक रूप से प्रतिरोध करना शुरू कर दिया। गोविन्द गुरु के नेतृत्व में शोषण के खिलाफ भीलों द्वारा किया गया आंदोलन, सामंतों और रजवाड़ों की जड़ों को हिलाने वाला सिद्ध हुआ। फलस्वरूप रजवाड़ों द्वारा भील-आंदोलन को कुचलने की योजना बनायी गई। "विशेष रूप से डूंगरपुर के महाराजा विजय सिंह ने यह प्रचार कर रखा था, कि गोविन्द गुरु के नेतृत्व में जो आदिवासी आंदोलन चल रहा है उसे और अधिक तेज व उग्र बनाने के लिए तथा जगह-जगह रियासतों के विरुद्ध उपद्रव पैदा करने के मकसद से मानगढ़ पर मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को विशाल मेला आयोजन होगा जिसमें गोविन्द गुरु पृथक से आदिवासी स्टेट की घोषणा करेगा। अगर ऐसा होता है तो डूंगरपुर नहीं प्रत्युत बाँसवाड़ा, उदयपुर, प्रतापगढ़...रियासतों के आदिवासी राज की प्रजा के रूप में हाथ से निकल जाएगा और जगह-जगह उत्पात शुरू हो जाएगा, जिन्हें नियंत्रित करना कठिन ही नहीं असंभव हो जाएगा। इसके लिए सभी रियासतों के शासकों ने ब्रिटिश अधिकारियों से संपर्क किया और फौजी मदद की गुहार की। परिणामस्वरूप देशी व अंग्रेजी सत्ता ने विशेष रणनीति बनाई और संयुक्त रूप

से फौजें मानगढ़ के लिए रवाना की।"[13]—17 नवम्बर 1913 ई. को भील लोग वार्षिक मेले के रूप में मानगढ़ की पहाड़ी पर इकट्ठा हुए। इस दिन राजनीतिक मुद्दों पर जनसभा का आयोजन भी किया गया था। जनसभा में हजारों की संख्या में महिला-पुरुष, बच्चे-बूढ़े सभी ने भाग लिया। जनसभा चल ही रही थी कि अंग्रेजी फ़ौज ने पहाड़ी को चारो ओर से घेरकर अचानक गोलीबारी करना शुरू कर दिया। पलभर में ही लाशों का ढ़ेर लग गया। इस गोलीबारी में 1500 लोग मारे गए। मारे गये लोगों की संख्या जलियावाला बाग हत्याकाण्ड से चार गुनी थी, किन्तु स्वाधीनता की लड़ाई में स्थापित इतिहाकारों ने अपने इतिहास में इस जनांदोलन को सिर्फ फुटनोट के लायक समझा।

भूटिया आंदोलन—देश के पूर्वोत्तर राज्यों विशेषकर असम, प. बंगाल चाय की खेती के लिए औपनिवेशिक काल से ही विश्वविख्यात रहा है। यहाँ के चाय बागानों में भूटिया आदिवासी लोग श्रमिक के रूप में काम करते थे। अंग्रेज अधिकारी आदिवासियों से बेगारी कराते थे तथा क्षमता से अधिक काम लेते थे। महिलाओं का दैहिक शोषण करते थे। शोषण की इस पृष्ठभूमि में आदिवासियों का असंतोष बढ़ता गया और अंग्रेजों के विरुद्ध लोगों ने आंदोलन शुरू कर दिया। इस आंदोलन में देशबंधु चितरंजन दास शामिल हुए। भूटिया आदिवासियों के नेतृत्वकर्ता "जानबू पाथर दुबराज मायर ने 1931 में बालुर घाट, ललिताबाड़ी क्षेत्र से अंग्रेजों के विरुद्ध हथियारबंद संघर्ष किया था। अंग्रेज उन्हें अंत तक नहीं पकड़ सके थे। 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान गिरफ्तार किये गए नेताओं को छोड़ने के लिए 27 सितम्बर को इस क्षेत्र के हजारों आदिवासियों ने धनुष-बाणों सहित वहाँ की पुलिस चौकी पर हमला किया था। मैमनसिंह के उत्तरी इलाके में आदिवासियों ने अपने स्व-शासन की स्थापना कर दी थी।"[24]

ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध आदिवासियों ने जिस तरह से सांगठनिक लड़ाइयाँ लड़ी, वह भारतीय इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। इसके पीछे आदिवासियों का सांस्कृतिक जीवन उत्तरदायी रहा है। इस सांस्कृतिक जीवन में समुदायपन की चेतना थी। श्रम से लेकर आनंद मनाने तक के सभी क्रियाकलापों में पूरा समुदाय एक साथ होता था। यह चेतना आदिवासी समाज को हमेशा एक सूत्र में बाँधे रहती थी।

स्वातंत्र्योत्तर आंदोलन

आंतरिक उपनिवेशवाद का स्वरूप—देश को आजादी तो मिली लेकिन राज्य सत्ता में मौजूद उपनिवेशवाद का चरित्र आदिवासियों के प्रति उसके द्वारा किए गए व्यवहार से स्पष्ट होने लगा। संसद में आदिवासी नेता जयपाल सिंह मुंडा, नेहरू के 'विकास का मंदिर' की अवधारणा को संदेह की दृष्टि के साथ देखते हुए भी राष्ट्रीय एकता के लिए उसे स्वीकार किया। लेकिन, उनका संदेह आजादी के कुछ दशक बाद ही हकीकत में बदलते हुए दिखने लगा। देश के विकास के लिए निर्मित हो रही बड़ी परियोजनाओं की मार आदिवासी समाज को झेलनी पड़ी। विकास परियोजनाओं में विस्थापित होने वाली आबादी का 60 प्रतिशत हिस्सा आदिवासी समाज का ही है। अकेले झारखंड में कुल 1710787 लोग[25] विस्थापित हुए। 'देश' और 'विकास' के नाम पर समूची आदिवासी जनता को तिलांजलि दी जाने लगी। दूसरी ओर समाज में उनके प्रति बनी घृणा और हेय की मानसिकता ने उन्हें हमेशा हाशिये में धकेलने का काम किया। आजादी के बाद बनी संवैधानिक संस्थाओं ने भी आदिवासियों के प्रति कोई जवाबदेही तय नहीं की। इससे पूर्वोत्तर सहित समग्र भारत में व्यापक आदिवासी असंतोष उभर कर सामने आया। डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा का यह कथन कि आदिवासियों के प्रति किये गए इस दोयम दर्जे

के व्यवहार का एहसास अपने ही देश के दूसरे हिस्से की जनता को नहीं है, यह चिंताजनक है। यह आंतरिक उपनिवेशवाद की प्रकिया है। आजादी के बाद भी आदिवासी आंदोलनों का दौर थमा नहीं, वह अब भी जारी है। उनके जल-जंगल-जमीन की लड़ाई अब तक चल रही है। कभी अफ्स्पा के नाम पर तो कभी नक्सल के नाम पर राज्य सत्ता द्वारा दमन की कारवाई भी जारी है। यहाँ आजादी के बाद के आदिवासी संघर्षों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

खरसावाँ गोलीकाण्ड (1948 ई.)—देश की आजादी से आदिवासियों का 'अबुआ दिसुम अबुआ राज' का सपना जुड़ा हुआ था। यह सपना जल-जंगल-जमीन पर अधिकार व स्वशासन व्यवस्था का था। दरअसल आजादी के बाद देशी रियासतों का विलय राज्यों के साथ किया जा रहा था। इसी तरह खरसावाँ रियासत का विलय भी उड़ीसा राज्य में किया गया, जिसे 1 जनवरी 1948 ई. को लागू करना था। किन्तु, खरसावाँ की जनता बिहार राज्य (अब झारखंड) के साथ रहना चाहती थी। इसलिए यहाँ की आदिवासी जनता इस विलय नीति का विरोध कर रही थी। जयपाल सिंह मुंडा के आह्वान पर लगभग 50 हजार की संख्या में खरसावाँ हाट के मैदान पर लोग इकट्ठा हुए। आदिवासी माँग का दमन करते हुए पुलिस ने अंधाधुंध गोलियाँ चलाई। इस क्रूरतापूर्वक की गयी करवाई में हजारों आदिवासियों की जानें गईं। दिलदहला देने वाली इस घटना को याद करके आज भी यहाँ के लोग सिहर उठते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के मात्र चार महीने बाद हुए इस गोलीकांड ने 29 वर्ष पूर्व अमृतसर में हुई जलियावालाबाग हत्याकांड की याद को ताजा कर दिया। खरसावाँ गोलीकांड में ज़िंदा बचे जगमोहन सोय ने बताया कि "उस दिन सैकड़ों आदिवासी अलग आदिवासी प्रदेश की माँग करने इकट्ठा हुए थे। आदिवासियों की आवाज को दबाने के लिए प्रशासन ने उन पर फायरिंग कर दी, जिसमें मरने वालों की सही तादात किसी को नहीं मालूम। प्रशासन ने लाशों को ठिकाने लगाने के लिए खरसावाँ के कुओं में फेंका था।"[26] यह आजाद भारत की सबसे बड़ी नृशंसतापूर्ण कारवाई थी। यह गोलीकांड आजाद भारतीय राज्य-सत्ता के उपनिवेशवादी चरित्र का उदाहरण था। इसी घटना ने आजाद भारत में आदिवासी समाज के अस्तित्व का भविष्य दिखा दिया था कि वे उसके आंतरिक उपनिवेश हैं।

नक्सलबाड़ी आंदोलन और आदिवासी

1967 ई. में शुरू नक्सलबाड़ी आंदोलन की बुनियाद आदिवासी रहे हैं। जंगल संताल और शान्ति मुंडा जैसे बड़े आदिवासी नेता नक्सलबाड़ी आंदोलन में आदिवासी संघर्ष का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। किन्तु, इस आंदोलन की जब भी बात होती है, उसमें इन नेतृत्वकर्ताओं का उल्लेख नहीं होता है। आज नक्सलबाड़ी आंदोलन का विस्तार झारखंड, उड़ीसा, बिहार, पश्चिम बंगाल, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़ तक हो गया है। आज यह आदिवासी इलाकों में सबसे अधिक सक्रिय है। इसके पीछे आदिवासियों का असंतोष रहा है। एक विचारक के तौर पर अरुंधती रॉय का मानना है कि "आज अगर आदिवासियों ने हथियार उठा लिया है, तो इसलिए क्योंकि वह सरकार जिसने इन्हें हिंसा और उपेक्षा के अलावा और कुछ नहीं दिया, अब इनकी आखिरी चीज भी छीन लेना चाहती है : इनकी जमीन। जाहिर है, जब सरकार कहती है कि वह उनके क्षेत्र का विकास करना चाह रही है, तो वे इस बात पर विश्वास नहीं करते। उन्हें यकीन नहीं है कि दंतेवाड़ा में राष्ट्रीय खनिज विकास निगम द्वारा हवाई पट्टी जितनी चौड़ी सड़क महज इसलिए बनवाई जा रही है कि वे अपने बच्चों को स्कूल ले जा सकें। उन्हें लगता है कि अगर उन्होंने अपनी जमीन की लड़ाई नहीं लड़ी, तो वे नष्ट हो जाएँगे। और, इसलिए उन्होंने हथियार

उठा लिया।"[27] सामंतवाद के विरोध में उठ खड़ा हुआ यह आंदोलन, आज पूँजीवाद के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इसे खत्म करने के लिए तरह–तरह के हथकंडे अपनाए जा रहे हैं। 'ऑपरेशन ग्रीनहंट' और 'सलवा जुडुम' इसका उदाहरण है। नक्सबाड़ी आंदोलन को राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा खतरा माना गया और इसे खत्म करने के लिए 'ऑपरेशन ग्रीनहंट' चलाया गया। इसके नाम पर बड़े पैमाने पर आदिवासियों का संहार किया गया और उन्हें जंगलों से खदेड़कर सेना द्वारा बनाए गए शिविरों में बसने के लिए बाध्य किया गया। दंतेवाड़ा के जंगलों से भगाये गए लगभग '50000 लोगों[28] को शिविरों में रखा गया। यह आदिवासी समाज की जीवन-शैली के खिलाफ था।

नक्सलबाड़ी आंदोलन इस बात का उदाहरण है कि आदिवासी समाज मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़कर अपनी क्षेत्रीयता के दायरे से बाहर आकर व्यापक मुक्ति की परिकल्पना करता है, साथ ही आदिवासी समाज अपने अस्तित्व की चुनौतियों को बड़े वैकल्पिक राजनैतिक संदर्भों में भी देखता है।

गुवा-नुवामुंडी गोलीकांड (जंगल काटो आंदोलन 1980 ई.)–खरसावाँ गोलीकांड ने आदिवासियों के अंदर आजादी से मोहभंग की स्थिति पैदा कर दी। इसने आदिवासियों को झकझोर कर रख दिया। अभी इस गोलीकांड का घाव भरा भी नहीं था कि पुनः 8 सितम्बर 1980 को शोषण, और बेरोजगारी के खिलाफ अपनी माँगों को लेकर गुवा (प. सिंहभूम) के मैदान में शांतिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे निहत्थे आदिवासियों पर बिहार मिलिट्री पुलिस के जवानों ने गोलियाँ चलाईं इस पर आक्रोशित लोगों ने प्रतिवाद स्वरूप पुलिस पर भी हमले किये। घायल आंदोलनकारियों को अस्पताल में भर्ती कराया गया। भन्नायी हुई पुलिस प्रशासन ने अस्पताल में ही पहुँचकर 11 आदिवासियों को गोली मार दी। स्वतंत्र भारत के इतिहास में यह पहली घटना थी, जब एक पंक्ति में खड़ा कराकर पुलिस ने गोली मारी हो। इस गोलीकांड ने झारखंड आंदोलन की दिशा ही बदल दी। यह वह समय था जब मनोहरपुर, गुवा, नुवामुंडी व आस-पास के इलाकों में जंगल आंदोलन जोरों पर था। फायरिंग जैसी घटनाएँ आम थी। इस आंदोलन का मुख्य कारण था–साल के पेड़ों की अंधाधुंध कटाई कर उसकी जगह व्यापार की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण सागवान के पेड़ लगाया जाना। यह आंदोलन का सांस्कृतिक कारण था। चूँकि साल का वृक्ष (सखुआ) आदिवासियों के सांस्कृतिक जीवन का आधार है। इससे उनका रीति-रिवाज व धार्मिक संबंध जुड़ा है। आदिवासियों का मानना है कि उनके सिङबोंगा (देवता) साल के पेड़ में ही वास करते हैं। इसलिए वे अपने सभी धार्मिक अनुष्ठान साल के टहनी या फूल से करते हैं। साल के वृक्ष से न केवल उनका धार्मिक संबंध है, बल्कि आर्थिक संबंध भी जुड़ा हुआ है। साल के पत्ते से दोना बनाकर आदिवासी लोग उसे पास के हाट में बेचकर कुछ पैसे कमा लेते हैं जिससे उनका जीवनयापन चलता है। साल वृक्षों की अंधाधुंध कटाई से आदिवासियों की अस्मिता व अस्तित्व पर ही संकट खड़ा हो गया। इसलिए साल-वृक्ष के काटे जाने पर और सागवान के लगाए जाने पर आदिवासी लोगों ने प्रतिरोध करना शुरू कर दिया। इसके लिए आदिवासियों ने सागवान के पेड़ों की कटाई व नर्सरी तथा रोपे गए पौधों को नष्ट करना शुरू किया। यह काम बड़े पैमाने पर होने लगा। इसे ही 'जंगल काटो आंदोलन' का नाम दिया गया।

असम एवं नागा आंदोलन–आजादी के बाद अपनी स्वायत्त शासन व्यवस्था को लेकर असम और नागालैंड के आदिवासी समूहों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन किया है। असम में बोड़ो समुदाय और नागालैंड में नागा समुदाय ने आंदोलन का प्रतिनिधित्व किया। नागाओं ने 'एनएनसी'

यानी 'नागा नेशनल काउंसिल' नामक संगठन बनाया। यह संगठन नागा समुदाय के 'आत्मनिर्णय के अधिकार' की बात करता है। इस संगठन का मानना था कि "नागा समुदाय के लोग एक राष्ट्र हैं, क्योंकि हम एक राष्ट्र के रूप में अपने आपको महसूस करते हैं। लेकिन अगर हम वाकई में राष्ट्र हैं तो फिर हम अपनी संप्रभुता का चुनाव क्यों नहीं करते? हम मुक्त होना चाहते हैं हम अपनी मर्जी की जिंदगी जीना चाहते हैं...हम नहीं चाहते कि दूसरे लोग हमारे साथ रहें।"[29] नागा आंदोलन के नेतृत्वकर्ता 'फिजो' थे। फिजो को सलाह देते हुए जयपाल सिंह मुंडा ने कहा था कि "वे एक आजाद देश की माँग को छोड़कर उत्तर-पूर्व में झारखंड की तरह आदिवासियों के लिए एक अलग राज्य की माँग करे जिसके लिए वह खुद संघर्ष कर रहे थे।"[30] लेकिन 'फिजो' ने अलग राष्ट्र की चाह अंत तक नहीं छोड़ी। 1956 तक आते–आते नागाओं का आंदोलन हिंसक हो गया। भारतीय सेना और नागाओं के बीच बड़े पैमाने पर युद्ध लड़ा गया। इसमें भारी नर संहार हुआ। नागा आदिवासियों की बस्तियों को सेना द्वारा जला दिया जाता था। तत्कालीन सांसद रिसांग किसींग सेना के इस कृत्य का खुलासा करते हैं कि "सेना ने भावनाओं के खिलाफ बहुत ही असम्मान का प्रदर्शन किया है। उसने मरे हुए नागाओं के शव को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित कर लोगों को भयभीत करने का काम किया है।" हालाँकि तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू नागा समुदाय की समस्या से परिचित थे। अपने सहयोगियों को लिखे खत में नेहरू ने कहा था कि "हम अभी तक इन इलाकों के लोगों का दिल जितने में कामयाब नहीं हो पाए हैं। हकीकत तो ये है कि वे हमसे दूर जा थे हैं। नागा पहाड़ी जिलों में पिछले साढ़े तीन सालों से वे असहयोग करते आ रहे हैं और ऐसा उन्होंने महान अनुशासन और कामयाबी के साथ किया है।"[31]

कोयल-कारो आंदोलन (1974 ई.)–में झारखंड के सिंहभूम जिले में दक्षिण कोयल और कारो नदी पर पनबिजली उत्पादन हेतु बाँध बनाने का कार्य शुरू हुआ। इस परियोजना की परिकल्पना सन् 1953 ई. में कर ली गई थी। इसके अंतर्गत दो बाँधों का निर्माण होना था। एक बाँध बसिया गाँव के निकट दक्षिण कोयल नदी पर और दूसरा बाँध लोहजिमा गाँव के निकट कारो नदी पर। किन्तु, आदिवासियों के भारी विरोध के कारण इस परियोजना को तत्काल रोक दिया गया। आदिवासियों के विरोध का कारण था बाँध के पानी में जंगल-जमीन-गाँव का डूबना और इसके बाद पलायन तथा जीविकोपार्जन का संकट। इस परियोजना के अंतर्गत चिह्नित क्षेत्र में आदिवासियों के लगभग 65 गाँव आते हैं। इन गाँवों के समुचित पुनर्वास का कोई प्रबंध नहीं है। जबकि सरकार के पास बहुत-सी जमीन है, जहाँ आदिवासियों को रहने और खेती लायक जमीन मुहैया कराकर नये गाँव बसाए जा सकते हैं और उन गाँवों में शिक्षा, चिकित्सा और जीविकोपार्जन के पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराकर आदिवासी समाज की जरूरत को कुछ हद तक पूरा किया जा सकता है।

नेतरहाट आंदोलन (1993 ई.)–नेतरहाट, झारखंड राज्य के लातेहार जिला में आता है। अंग्रेजों द्वारा बनाई गई 'मैनुवर्स फील्ड फायरिंग एंड आर्टिलरी प्रैक्टिस एक्ट 1938' के तहत इस क्षेत्र को अधिसूचित क्षेत्र घोषित कर दिया गया था। इसी कानून के तहत आजादी के बाद भारत सरकार ने 1992 ई. में नेतरहाट पठार के क्षेत्र को 'पायलट प्रोजेक्ट' के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। इस चयनित क्षेत्र में 245 गाँव आ रहे थे। इन गाँवों को खाली कराने का निर्णय लिया गया। इसके विरोध में आदिवासियों ने आंदोलन की घोषणा कर दी। इसकी शुरुआत महुआडांड़ प्रखंड मुख्यालय में 27 अक्टूबर 1993 ई. को दस हजार से भी अधिक आदिवासियों ने बैठक के बाद राष्ट्रपति के नाम प्रखंड विकास पदाधिकारी को पत्र सौंपकर किया। यह उनके

विरोध करने का लोकतांत्रिक तरीका था। इसके बावजूद सरकार ने सेना को गोलीबारी अभ्यास के लिए ज्ञापन जारी कर दिया। इसके बाद आदिवासियों का आक्रोश और बढ़ गया और आंदोलन के लिए उन्होंने 'जनसंघर्ष समिति' का गठन किया। इस समिति ने क्षेत्र की सभी ग्रामसभाओं को एक मंच पर लाने का काम किया। जो कि पोखर में 23 मार्च 1994 को लाखों की संख्या में आदिवासी, सेना को गोलीबारी का अभ्यास करने से रोकने के लिए जमा हुए। 'जनसंघर्ष समिति' में महिलाओं की व्यापक भागीदारी ने इस आंदोलन को नया तेवर दिया। आदिवासियों के इस लोकतांत्रिक विरोध के आगे सेना को अपना निर्णय बदलना पड़ा। यह परियोजना अभी स्थगित है लेकिन आज भी सरकार की नजर नेतरहाट क्षेत्र पर है और वहाँ की आम जनता आज भी अपने क्षेत्र को बचाने के लिए संघर्षरत हैं। नेतरहाट आंदोलन ने आदिवासियों की उस पारम्परिक सांगठनिक व्यवस्था को पुनर्जीवित कर दिया, जिसमें निर्णय और नेतृत्व सामूहिक होता है। नेतरहाट आंदोलन की अनुगूँज आदिवासी गीतों में भी दिखाई देती है। गीत है–

बराभाईरो जोकी पोखर ओरेमत
कालोत भाइरो बिल्ली लधरआ
लगी विजय बिगुल खरखा लगी भाइरो
सन्नी कोहाँ ओरेमत मिले जुले कालोत
आयो बबा ओरेमत संगे मिले कालोत
जोकीपोखर ओरेमत कालोत भाइरो
बिल्ली.....लधरआ लगी..... ।

अर्थात्–

आओ भाई सभी जाएँ जोकी पोखर
मशाल जल रहा है
विजय बिगुल बज रहा है
छोटे-बड़े सभी मिलजुल कर जाएँ
माँ बाप सभी संग संग जाएँ
हे भाई जोकी पोखर सभी जाएँ
दीया जल रहा है।[32]

नृत्य–गीत आदिवासियों के सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न हिस्सा है। अपनी सुख–दुःख की भावनाओं को आदिवासी लोग गीतों के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

नियमगिरी आंदोलन (2002 ई.–2013 ई.)–नियमगिरि, उड़ीसा में स्थित एक पर्वत शृंखला है। यह कोंध आदिवासियों का निवास स्थान है। यह क्षेत्र बॉक्साईट खनिज से भरा पड़ा है। इस खनिज को पाने के लिए ब्रिटिश बहुराष्ट्रीय कम्पनी वेदाँता ने सन् 2003 ई. में उड़ीसा सरकार से समझौता किया और नियमगिरि की तलहटी में ही लान्जिगढ़ नामक स्थान पर फैक्ट्री बनाई गई। इसके विरोध में कोंध आदिवासियों ने बड़े पैमाने पर आंदोलन किया। आंदोलन के लिए आदिवासियों ने दो तरीका अपनाया–पहला जनान्दोलन और दूसरा अदालती। इस संदर्भ में उनकी राय थी कि "यदि एक के माध्यम से हारेंगे तो दूसरा हमें सपोर्ट देगा।" अंततः 2013 ई. में सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप से आदिवासियों की विजय हुई। सुप्रीमकोर्ट ने 'पेसा कानून 1996', 'वन अधिनियम 2006' के तहत निर्णय ग्रामसभा पर छोड़ दिया। ग्रामसभा ने फैसला अपने पक्ष में किया। आंदोलन की सफलता के बारे में लिंगराज आजाद बताते हैं कि "आदिवासी समाज पहले से ही संगठित समाज रहा है। चाहे खेती करना हो या नाचना-गाना

हर जगह सामूहिकता की संस्कृति रही है। इसीलिए मैं जब भी उनके पास गया तो वे समूह में ही मिले और एकसाथ लोगों को समझाने में सहजता हुई तथा बहुत कम समय में ही आंदोलन शुरू हो गया। सामूहिकता के कारण ही आदिवासी लोग कभी विशृंखलित नहीं होते हैं।"[33]

पत्थलगड़ी आंदोलन—झारखंड में इनदिनों 'पत्थलगड़ी आंदोलन' पूरे जोर-शोर से चल रहा है। दरअसल पत्थलगड़ी, मुंडा समाज का एक संस्कार है, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक चलता रहता है। अनेक संस्कारों से जुड़े पहचान के रूप में पत्थर गाड़ा जाता है। मृतक के कब्र पर गाड़े गए पत्थर को 'ससनदिरी' कहा जाता है। पुरखे किस रास्ते से गाँव में आये इसको लेकर भी पत्थर गाड़ा जाता है और उस पर उन पुरखों की पूरी वंशावली दर्ज की जाती है। यह सदियों से चली आ रही परंपरा है। एक तरह से देखें तो यही उनका दस्तावेज है, जो भूमि पर उनके मालिकाना हक को साबित करता है। आज इस 'पत्थलगड़ी' का विस्तार करते हुए आदिवासियों ने संविधान प्रदत्त अधिकारों—पाँचवीं अनुसूची, छठी अनुसूची और पेसा कानून में दर्ज ग्रामसभा के अधिकारों को भी पत्थर पर लिखकर गाड़ना शुरू किया है। आज जब वन्य अभ्यारण्य और जल विद्युत् परियोजनाओं, कल-कारखानों के लिए उनकी जमीनों का संविधान के खिलाफ जाकर अधिग्रहण किया जा रहा है, तो आदिवासी लोग बड़े पैमाने पर पत्थलगड़ी करके संवैधानिक अधिकारों के दायरे में ही उन जमीनों पर अपना मालिकाना हक का दावा करना शुरू कर दिया है। इस आंदोलन ने मौजूदा सरकार की औपनिवेशिक नीतियों की चुलें हिला दी हैं।

उक्त आंदोलनों का सांस्कृतिक पक्ष

भारत में करीब साढ़े पाँच सौ आदिवासी समुदाय हैं। गौरतलब बात यह है कि ये 'समुदाय' हैं, हिन्दू समाज के अर्थों में ये जातियाँ नहीं हैं। इनकी अपनी—अपनी मातृभाषाएँ हैं। इसके बावजूद इनके विचारों में एवं जीवन शैली में अद्भुत समानता देखने को मिलती है। इनके बीच के अपने अन्तर्विरोध हो सकते हैं, लेकिन वे उतने विभाजक नहीं हैं। यही कारण है कि विदेशी उपनिवेशवाद और आतंरिक उपनिवेशवाद के विरुद्ध इनके द्वारा लड़ी गयी लड़ाइयों में समानता देखने को मिलती है। इन समुदायों ने अंग्रेजों के विरुद्ध कई लड़ाइयाँ मिलकर लड़ी हैं। इनकी आंतरिक सामाजिक व्यवस्था में मौजूद सहजीविता एवं स्वछंदता इन्हें एक रूप में सामने लाती है। आजादी के बाद भी ये समुदाय एक ही जीवन परिस्थितियों में जी रहे हैं और उनका संघर्ष भी पहले की ही तरह वैचारिक रूप से एक दूसरे से साम्य रखता है। आदिवासी समाज की चेतना में मौजूद 'प्रतिरोध की संस्कृति' के सांस्कृतिक आधार निम्नलिखित हैं :

जल-जंगल-जमीन निर्मित संस्कृति—वर्चस्ववादी ताकतों के विरुद्ध इन शृंखलाबद्ध आदिवासी आंदोलनों की वैचारिकी 'अबुआ दिशुम, अबुआ राज' और जल-जंगल-जमीन के प्रति सहजीवी रिश्ते से निर्मित होती है। जंगल के साथ उनका जीवनदर्शन जुड़ा हुआ है। यह दर्शन, प्रकृति के साथ जीने की कला है। सदियों से प्रकृति के बीच रहते हुए आदिवासी इस कला को बखूबी जानते हैं। इसलिए उन्होंने प्रकृति से हमेशा कृतज्ञता का संबंध रखा। यानी जरूरत के हिसाब से वे जितना प्रकृति से लेते हैं, उपकारस्वरूप उसकी सेवा करते हैं और बाद में सब कुछ उसे लौटा देते हैं। आदिवासियों के इसी गुण का परिणाम है। 'झूमखेती'। 'झूमखेती' का मतलब है, खेती करने के बाद उक्त जमीन को तीन—चार साल तक के लिए छोड़ देना, ताकि वहाँ जंगल फिर से आबाद हो सके। प्रकृति के प्रति यह कृतज्ञता ही आदिवासी समाज को सहजीवी बनाती है और उसकी रक्षा करना, आदिवासी समाज अपना कर्तव्य समझता है। 1854 ई.

में अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन पियर्स को रेडइंडियन्स आदिवासियों के मुखिया नोह सिएथल ने अपनी जमीन बेचने से यह कहते हुए इनकार कर दिया कि "हवाओं की ताजगी या जल की चमक के जब हम मालिक ही नहीं हैं, तो तुम हमसे कैसे खरीद सकते हो? हम इस भूमि के हिस्से हैं और यह भूमि हमारा हिस्सा है। सुगंधित फूल हमारी बहने हैं, सरपट दौड़ते घोड़े और आकाश में उड़ते बाज हमारे भाई हैं। पर्वत के चट्टानी शिखर, चरागाहों का रस, खच्चर के शरीर की ऊष्मा और मानव सृष्टि—ये सभी एक ही परिवार के सदस्य हैं, भाई-बहन हैं।"[34]

प्रकृति के प्रति यह संवेदना गैर-आदिवासी समाज में दिखायी नहीं देती है। गैर-आदिवासी समाज द्वारा विकसित सभ्यता का इतिहास प्रकृति के संहार से भरा पड़ा है। जल-जंगल-जमीन उसके लिए मात्र पूँजी बनाने का एक संसाधन है। कृषि भी व्यवसाय का अंग हो गई। अधिक मुनाफे के लिए जंगलों को साफकर खेतों का विकास किया गया, कल-कारखाने लगाये गए। परिणाम यह हुआ कि मुख्यधारा का समाज प्रकृति से धीरे-धीरे दूर होता चला गया और जब उसके क्षेत्र से जंगल-पहाड़ खत्म हो गए तो वह आदिवासी क्षेत्रों में प्रवेश किया और वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहा। उसके लिए तरह-तरह के वन कानून और भूमि अधिग्रहण कानून बनाये गए। अपने क्षेत्र में गैर-आदिवासियों की वर्चस्ववादी उपस्थिति आदिवासी समाज को नागवार गुजरी। क्योंकि जंगल के साथ आदिवासी समाज का धार्मिक—सांस्कृतिक विश्वास और सामुदायिक अर्थव्यवस्था जुड़ी हुई है। उनका पूजा स्थल 'सरना' साल वृक्षों का समूह होता है। साल के वृक्ष को आदिवासी अपने देवता 'सिङबोङा' का निवास मानते हैं। इसलिए 'साल' की वे पूजा करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों में साल की पत्तियों और फूलों को उपयोग में लाते हैं। इसी विश्वास के कारण आदिवासियों ने 'साल' का प्रतीकात्मक उपयोग वे युद्ध के समय खुद को संगठित करने के लिए किया। युद्ध के समय संगठित होने के लिए एक गाँव से दूसरे गाँव 'साल' की टहनी भेजी जाती थी। यह टहनी उनकी एकता की प्रतीक थी।

जंगल-जमीन के साथ ही आदिवासियों की कृषि व्यवस्था भी जुड़ी हुई है। उन्होंने सामूहिक रूप से जंगल को साफकर खेत और गाँव बसाए तथा 'खूँटकट्टी' भूमि-व्यवस्था विकसित की। यह 'खूँटकट्टी' व्यवस्था एक तरह की क्षेत्रीय व्यवस्था होती थी, जिसकी अपनी निश्चित सीमा थी। इस सीमा में आदिवासियों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व था। 'मुंडा-मानकी' वाली उनकी अपनी शासन प्रणाली थी। ये सारी चीजें मिलकर आदिवासी संस्कृति का निर्माण करती हैं और इसका टूटना आदिवासी समाज को आंदोलित करता है। 'स्थायी बंदोबस्ती' (1793 ई.) की नीतिआदिवासियों की 'खूंटकट्टी' व्यवस्था में हस्तक्षेप था। दरअसल 'स्थायी बंदोबस्ती' की धारणा व्यक्तिवादी थी। इसने जमीन पर एक व्यक्ति विशेष के अधिकार को मान्यता दी। जबकि आदिवासियों की 'खूँटकट्टी' एक सामुदायिक व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में जमीन पर पूरे समुदाय का अधिकार होता था। सभी मिलकर खेती करते थे। 'स्थायी बंदोबस्ती' ने आदिवासियों की इस सामुदायिकता पर हमला किया। आदिवासी समाज में व्यक्तिवाद की घुसपैठ यहीं से शुरू होती है। जल-जंगल-जमीन और उससे निर्मित सांस्कृतिक अस्मिता और अस्तित्व को बचाने के लिए आदिवासियों ने खुलकर प्रतिरोध किया।

सामूहिकतावादी संस्कृति—आदिवासी समाज की सामाजिक संरचना उसके प्रतिरोध की ताकत है। सामाजिक व्यवस्था में समूह की चेतना है। समूह में जीना और समूह में सोचना उनकी जीवन शैली है। समाज में सारे निर्णय सामूहिक होते हैं। इसलिए आंदोलन का नेतृत्व व्यक्ति प्रधान न होकर सामूहिक है। इतिहास में नेतृत्व को लेकर 'रमना अल्हाड़ी', 'तिलका

माँझी', 'बिरसा मुंडा' का जो नाम आता है, दरअसल ये ग्रामसभा द्वारा चुने गए लोग थे और ये आंदोलन का सिर्फ प्रतिनिधित्व कर रहे थे, निर्णय और योजनाएँ ग्रामसभा तय करती थी। यही कारण है कि कभी भी उनका आंदोलन नायक प्रधान नहीं रहा। मुख्यधारा के इतिहास में जितनी भी लड़ाइयाँ नायकत्व के संचालन में हुईं, उसका हस्र यह हुआ कि नायक के खत्म होते ही पूरी सेना विशृंखलित हो जाती थी और लड़ाई खत्म हो जाती थी। इस संदर्भ में ब्रिटिश हुकूमत के विरुद्ध रजवाड़ों की लड़ाइयों को देखा जा सकता है। दरअसल नायकत्व की अवधारणा में लड़ाई एक व्यक्ति विशेष के विचारों से नियंत्रित होती है, इसलिए व्यक्ति के खत्म होते ही उससे नियंत्रित लड़ाई का अवसान भी हो जाता है। किन्तु, आदिवासी समाज में व्यक्तिवाद कभी भी उस रूप में मुखर नहीं हो पाया जैसे मुख्यधारा के समाज में है, इसलिए यहाँ नायकत्व की अवधारणा कभी नहीं पनप सकी। इसलिए नेतृत्वकर्ता के शहीद होने के बाद भी लड़ाई निरंतर जारी रहती थी। यही कारण है कि आदिवासी आंदोलनों की एक लम्बी श्रृंखला दिखाई देती है।

आजादी से पहले की लड़ाइयों में 'धुमकुड़िया', 'गित्ति : ओड़ा' एवं 'घोटुल' जैसी संस्थाओं की महत्त्वपूर्ण भागीदारी होती थी। यह आदिवासियों के सामूहिक एवं सांस्कृतिक जीवन के केंद्र थे। युवक-युवतियों को सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण देने के लिए गाँव के बुजुर्गों ने इस संस्था का निर्माण किया था। इस युवागृह को मुंडा समाज में 'गित्ति : ओड़ा', मुरिया समाज में 'घोटुल', मिजो समाज में 'जालबुक' नाम से जाना जाता है। वेरियर एल्विन ने सन् 1942 ई. में छत्तीसगढ़ के नारायणपुर में 244 घोटुल और कोंडागाँव तहसील में 278 घोटुल देखा था। (मुरिया और उनका घोटुल, पृ.31)। इस युवागृह में लड़के-लड़कियाँ एक साथ रहते थे और अपना स्वच्छंद जीवन जीते थे। वे सामूहिक नाच-गान करते थे और गाँव की समस्याओं पर विचार-विमर्श करते थे तथा उसके निदान की योजनाएँ भी बनाते थे। इस सामूहिकता ने आदिवासियों को हमेशा संगठित रखा। हालाँकि आजादी के बाद बढ़ते बाह्य हस्तक्षेप के कारण इन युवागृहों का अस्तित्व खत्म हो गया, लेकिन उसकी वैचारिकी आज भी आदिवासी समाज के मनोविज्ञान में मौजूद है। आज भी आदिवासी युवक-युवतियाँ यौनिक कुण्ठाओं से मुक्त 'सहिया' (साथी) का जीवन जीते हैं, अखड़ा में एक साथ नाचते-गाते हैं और संघर्ष में हमेशा संगठित रहते हैं।

लोकतांत्रिक जीवन पद्धति–आदिवासी समाज की जीवन पद्धति लोकतांत्रिक है। यह एक समतामूलक समाज है। समता की यह अवधारणा स्त्री-पुरुष के संबंधों में भी मौजूद है। समाज में स्त्रियों की समान भागीदारी है। वे पुरुषों के समान कहीं भी आ जा सकती हैं। मुख्यधारा की तरह उन पर किसी भी प्रकार का सामाजिक प्रतिबंध नहीं है। श्रम का भी लैंगिक विभाजन आदिवासी समाज में नहीं है। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ मिलकर खेतीबारी करती हैं और वन से प्राप्त उपज को हाट में बेचकर अपने परिवार का भरण-पोषण करती हैं। यह आर्थिक निर्भरता आदिवासी स्त्रियों को स्वावलम्बी बनाती है। यही कारण है कि समाज अपनी स्त्रियों के सोचने-विचारने और उनके मस्तिष्क के सौन्दर्य को स्वीकार करता है और उन्हें 'सियानी' के रूप में देखता है। इसी सियानेपन की सोच के कारण आदिवासी स्त्रियों ने साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध आंदोलनों का नेतृत्व किया। नेतृत्व का उनका ज्ञात इतिहास 'सिनगी दई', 'फूलो'–'झानो', 'मकी', और रानी 'गाइदिल्ल्यू' तक जाता है। शाहजहाँ और औरंगजेब के शासनकाल में मुगल सेना के विरुद्ध 'सिनगी दई' ने रोहतासगढ़ में बारह वर्षों तक लड़ाई लड़ी। इसके बाद औपनिवेशिक काल में जितनी भी लड़ाइयाँ हुईं, सबमें स्त्रियों की समान भागीदारी रही। 'फूलो',

'झानों' ने अपने भाईयों के साथ मिलकर 'संताल हुल' का प्रतिनिधित्व किया। आजादी के बाद भी आदिवासी आंदोलनरत थे और उन आंदोलनों में आदिवासी स्त्रियों ने बढ़चढ़कर हिस्सा लिया। नेतरहाट आंदोलन में पायलट प्रोजेक्ट को रोकने से लेकर नियमगिरि आंदोलन के सफल होने तक में आदिवासी स्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

श्रम व आनंद की संस्कृति–आदिवासी समाज, श्रम-प्रधान उत्सवधर्मी समाज है। श्रम की सामूहिकता और उत्सवधर्मिता आदिवासी जीवन-शैली की सबसे बड़ी विशेषता है। आदिवासी अपने खेत-खलिहानों में दिनभर श्रम करते हैं और शाम को थकान मिटाने के लिए अखड़ा में नाचते-गाते हैं। उनके श्रम करने और आनंद मनाने की क्रिया सामूहिक होती है। स्त्री-पुरुष सभी मिलकर श्रम करते हैं। जहाँ एक तरफ उत्सवधर्मिता आदिवासियों को ऊर्जावान बनाये रखती है, वही श्रम की संस्कृति उन्हें विषम परिस्थितियों में भी लड़ने की ताकत देती है, उन्हें संघर्षशील बनाती है। इसी से प्रेरित होकर आदिवासी लोग आंदोलन के दौरान ढोल-मांदल बजाते हैं और साथ में नाचते–गाते हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण आदिवासियों ने 'पईका नाच' का विकास किया। यह ''पईका नाच' युद्ध शैली में चलते-चलते ही हथियारों को भाँजते हुए नाचा जाता है। लड़ाई के दौरान इस नाच से आदिवासियों को फायदा यह होता था, कि दूर का सफर मनोरंजन में ही कट जाता था और दूसरी बात कि लड़ने का अभ्यास भी हो जाता था। लड़ने की यह तकनीक मानव सभ्यता के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है। श्रम व आनन्द मिश्रित संस्कृति उनके गीतों में भी दिखाई देती है। गीत है–

सिगिदोबू सियूरू कमिया
अंगोरू नपंग दुमंग दंगोड़ी
निदा दोबू सुसुन करमा
सिंगी दोबू सियरू कमिया।

अर्थात्–

दिन में हल जोतेंगे, श्रम करेंगे
सुबह तक मांदल की धुन में नाचेंगे
रात में करम नाचेंगे
फिर सुबह हल जोतेंगे, श्रम करेंगे।[35]

इस गीत में आदिवासी समाज की श्रम-प्राप्ति की आकांक्षा भी व्यक्त होती है। चूँकि आदिवासियों की श्रम-प्राप्ति की आकांक्षा कभी पूँजी नहीं रही। उनकी श्रम-प्राप्ति की आकांक्षा आनंद की प्राप्ति है। श्रम करने के बाद वे कितना नाचेंगे-गाएँगे? यही तय किया जाता है। दरअसल आदिवासियों की सांस्कृतिक संरचना में सहजीविता का जो तत्त्व है, उसने उनके अंदर 'लाभ-लोभ' की प्रवृत्ति को कभी पनपे नहीं दिया। यही कारण है कि पूँजी या फिर उसके संचय की अवधारणा आदिवासी समाज में दिखाई नहीं देती है। इसको इस बात से भी समझ सकते हैं कि यदि पूँजी का संचय आदिवासी समाज में होता, तो आंदोलनों की यह लम्बी शृंखला आज दिखाई नहीं देती। इतना ही नहीं यदि वास्तव में मुनाफे की संस्कृति आदिवासी समाज में होती, तो वह अपनी नदियों, पहाड़ों और जंगलों को अब तक बेच चुका होता, जैसा कि गैर-आदिवासी समाज में होता रहा है। गैर-आदिवासी समाज मुनाफे के कारण अपने आस-पास के जंगलों–पहाड़ों को खत्म कर चुका है और अब उसकी नजर आदिवासी क्षेत्रों की प्रकृति पर है, जिसे हासिल कर अधिक मुनाफा कमाया जा सकता है। इस मुनाफाखोरी के खिलाफ आदिवासी आंदोलन होते रहे हैं। सन् 2009 में अमरीकी फिल्म निर्देशक जेम्स कैमरून निर्देशित

फिल्म 'अवतार' इसी विषय पर आधारित है। इस फिल्म की कथा पेंडोरा नामक उपग्रह पर रहने वाले नेवी आदिवासियों के बीच घूमती रहती है। उनका जीवन प्रकृति के साथ सामंजस्य पर टिका है। नेवी लोगों का निवास स्थान 'होम ट्री' नामक एक विशाल पेड़ है। इस पेड़ के गर्भ में ही 'युनोब्टेनियम' खनिज का भंडार है। इस खनिज में अधिक ऊर्जा उत्पन्न करने की शक्ति है। इसीलिए इस खनिज को प्राप्त करने और इससे उत्पन्न ऊर्जा को बेचकर 'आरडीए' नामक कंपनी अधिक मुनाफा कमाना चाहती है। 'होम ट्री' जो नेवी आदिवासियों के पुरखों का भी निवास स्थान है, इसे वे देवता की तरह पूजते हैं, इसको बचाने के लिए बड़े पैमाने पर लड़ाई होती है। इस लड़ाई में नेवी कबीलों का साथ पेंडोरा पर रहने वाले पशु-पक्षी भी देते हैं। अंततः नेवी लोग 'होम ट्री' को बचाने में कामयाब होते हैं। इस फिल्म की कथा काल्पनिक नहीं है, बल्कि दुनिया भर में फैले आदिवासी समाजों के जीवन से प्रेरित है। यह फिल्म पूँजीवादी समाज की लाभ-लोभ की संस्कृति का का विरोध करती है और यह बताती है कि अपने निजी हितों के लिए दूसरे मानव समाजों पर वर्चस्व स्थापित नहीं करना चाहिए।

आजादी के बाद आदिवासियों के आंदोलनों में एक भिन्नता दिखाई देती है। जहाँ औपनिवेशिक दौर में शोषणकारी शक्तियों के विरुद्ध आदिवासी समाज तुरंत सांगठनिक लड़ाई के लिए तैयार हो जाता था और लोग हथियार उठा लेते थे, वहीं आजादी के बाद उनके आंदोलन ने धरना-प्रदर्शन का रूप ले लिया। एक भी ऐसे ऐतिहासिक तथ्य नहीं मिले जो औपनिवेशिक काल में आदिवासियों द्वारा धरना-प्रदर्शन की जानकरी देते हों। यही स्थिति आदिवासी गीतों में भी है। जगदीश त्रिगुणायत ने मुंडारी गीतों का 1957 ई. में 'बाँसुरी बज रही' नाम से संकलन किया। इस संकलन में जितने भी गीत हैं, वे सभी आदिवासियों के पर्व-त्यौहार, नाच-गान, रीतिरिवाज, और युद्ध-संघर्ष से संबंधित हैं। उस संघर्ष में धरना-प्रदर्शन नहीं है। शोषण के खिलाफ वे सिर्फ लड़ना जानते थे। 'उलगुलान' के समय अंग्रेज अधिकारियों द्वारा आदिवासियों को हथियार रखने और बातचीत करने के मसले पर मुंडाओं का कहना था कि "अब राज हमलोगों का है, अंग्रेजों का नहीं। अगर हथियार रखने का सवाल है तो मुंडाओं को नहीं, अंग्रेजों को हथियार रख देने चाहिए और लड़ने की बात हो तो वे आखिरी बूँद तक लड़ने को तैयार हैं।"[36] आदिवासियों की यह लड़ाकू प्रवृत्ति उनके श्रमशील जीवन का परिणाम है। विषम परिस्थितियों में भी पहाड़ के चट्टान को काटकर खेत बनाना और खेती करना, यह उनके लिए चुनौती होती थी और इस चुनौती को स्वीकार कर उन्होंने खूंटकट्टी स्थापित की। जीविकोपार्जन को लेकर संघर्ष करने की यह प्रवृत्ति उन्हें लड़ाकू बनाती है। आज आदिवासियों के प्रतिरोध का तरीका तो बदला है, लेकिन उसका सांस्कृतिक स्वरूप वही पुरखों वाला है। वे आज भी आंदोलन के समय ढोल-मांदल बजाते हैं और नृत्य करते हैं। यह उनके उत्सवधर्मी जीवन का संस्कार है। उनकी मूल संस्कृति है।

वैश्वीकरण के दौर में आदिवासी समाज के साथ दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि आज वह नव-साम्राज्यवादी शक्तियों के हमले का पुनः शिकार हो गया है। इस हमले में राज्य-सत्ताओं के योगदान ने उनके अस्तित्व को संकटग्रस्त बना दिया है। जबकि आज भी अदिवासी समाज की विश्व-दृष्टि सहजीवी है। पूँजी और मुनाफे से दूर उनका जीवनदर्शन जीवन के लिए अनिवार्य बुनियादी तत्त्वों जल-जंगल-जमीन के प्रति हमेशा संवेदनशील रहा है। उनका जीवनदर्शन, जीवन और दुनिया को देखने का वैकल्पिक नजरिया रखता है। उनके अस्तित्व का संकट, दुनिया का संकट है और उनको बचाने का मतलब है दुनिया को भी बचाए रखना।

सन्दर्भ :

1. आदिवासी दुनिया : हरिराम मीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2014 ई., पृ. 79
2. झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति : डॉ. बी. वीरोत्तम, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2016 ई., पृ. 58
3. झारखंड की जनजातियाँ : डॉ. चतुर्भुज साहू, के. के. पब्लिकेशन, इलाहाबाद, 2012 ई., पृ. 128
4. आदिवासी संघर्षगाथा : विनोद कुमार, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2015 ई., पृ. 45
5. तिलका माझी : राजेन्द्र प्रसाद सिंह, नयी किताब, दिल्ली, 2011 ई., पृ. 39
6. आदिवासी अस्मिता का संकट : रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014 ई., पृ. 114
7. तिलका मांझी : राजेन्द्र प्रसाद सिंह, नयी किताब, दिल्ली, 2011 ई., पृ. 38
8. https:@@hi.m.wikkipedia.org
9. झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति—डॉ. बी.वीरोत्तम, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2016 ई. पृ.203
10. झारखंड : हेमंत, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008 ई., पृ. 133
11. आदिवासी संघर्षगाथा : विनोद कुमार, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2015 ई., पृ. 47
12. आदिवासी अस्मिता का संकट : रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014 ई., पृ. 102
13. आदिवासी संघर्षगाथा : विनोद कुमार, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2015 ई., पृ. 46
14. झारखंड : हेमंत, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2008 ई., पृ. 148
15. वही,
16. भारत का मुक्ति संघर्ष : अयोध्या सिंह, हिंदी कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, पृ. 279
17. आदिवासी दुनिया : हरिराम मीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2014 ई., पृ. 55
18. वही, पृ. 56
19. वही, पृ. 57
20. m.jagran.com>kolakata-9397156
21. झारखंड : इतिहास एवं संस्कृति : डॉ. बी. वीरोत्तम, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2016, पृ. 340
22. झारखंड की महिलाएँ : डॉ. रेणु दीवान, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 2004 ई., पृ. 12
23. आदिवासी दुनिया : हरिराम मीणा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2014 ई., पृ. 76
24. वही, पृ. 58
25. आदिवासियों का अस्तित्व समाप्ति की ओर—स्टेन स्वामी, झारखंड एक्सप्रेस, राँची, 2015ई., पृ. 5
26. https://m.bhaskar.com
27. आहत देश—अरुंधती रॉय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 ई., पृ. 19
28. वही, पृ. 21
29. भारत : गाँधी के बाद—रामचन्द्र गुहा, पेंगुइन बुक्स इण्डिया प्रा. लि., नई दिल्ली, 2012 ई., पृ. 327
30. वही, पृ. 336
31. वही, पृ. 346
32. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 ई. पृ. 79
33. अखड़ा पत्रिका—संपा. वन्दना टेटे, राँची, वर्ष 11, अंक 4, दिसम्बर-फरवरी 2018 ई., पृ. 52
34. आदिवासी दर्शन और साहित्य—वंदना टेटे, विकल्प प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 160
35. मोर पत्रिका-2, दिसम्बर 2013-फरवरी 2014; पृ. 9, आदिवासी जीवन दर्शन और मुंडारी गीत-अनुज लुगुन।
36. बिरसा मुंडा और उनका आंदोलन : कुमार सुरेश सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 ई., पृ. 138

संपर्क : ग्राम-करहरा, पोस्ट-फतेहपुर, गया पंचानपुर रोड, SH-7, जिला-गया-824236, मो. 9473998358

अश्वेत का यथार्थ

फ्रैंज फैनन
अनु. : धर्मराज कुमार

'गंदा निगर!' या 'देखो, एक नीग्रो!'

इस संसार को निर्मित करने वाले स्रोत को ढूँढने की तीव्र अभिलाषा से परिपूर्ण, अपने आसपास के वस्तुओं में एक अर्थ ढूँढने की उत्कट इच्छा लिए दुनिया में आया, और फिर मैंने पाया कि मैं स्वयं संसार के अन्य वस्तुओं में एक वस्तु मात्र था।

भौतिकता में जकड़े हुए, मैं दूसरों के जीवन की तरफ मुड़ा। उनका ध्येय मुक्ति था, जिसका अस्तित्व मेरे भीतर कहीं खो गया था, जिसके कल्पना मात्र से स्फूर्ति का संचार फिर से हुआ और संसारिकता से निकलकर अपने अस्तित्व की तरफ मुड़ा। लेकिन उस ओर बढ़ते हुए मैं झिझका और दूसरों की हरकतों, व्यवहार और दृष्टि ने मुझे वैसे ही जड़ साबित करने का प्रयास किया जितना किसी रासायनिक घोल में डाई का प्रभाव। मेरे भीतर एक आक्रोश पनपा; मैंने इसे समझने की कोशिश की। कुछ भी हासिल नहीं हुआ। मैं टूट कर बिखर गया था। उन टुकड़ों को फिर से एक अन्य स्व की सहायता से जोड़ा गया।

जब तक अश्वेत व्यक्ति अश्वेतों के बीच होता है सिवाय मामूली आतंरिक संघर्षों के, उसे अपने अस्तित्व को दूसरों की दृष्टि से अनुभव करने का कोई अवसर नहीं मिलता। बेशक, इसी समय 'दूसरों के लिए अस्तित्व में होने' जैसा क्षण आता है, जिसके बारे में हेगेल कहते हैं, एक औपनिवेशिक और सभ्य समाज में हर व्यक्ति के लिए अपने अस्तित्व का तत्त्व-मीमांसा करना (ओंटोलोजी) दुर्लभ हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रश्न पर विचार करने वाले लोगों ने अभी तक इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। वेल्टनशाओंग दर्शन के अनुसार, औपनिवेशिक लोग अशुद्ध माने जाते हैं, ऐसा दोष जो किसी भी प्रकार के 'तत्त्व-मीमांसा' की व्याख्या की अनुमति नहीं देती। संभव है, इससे किसी को आपत्ति हो, लेकिन इस तरह की आपत्ति एक बुनियादी समस्या को छिपाती है। तत्त्व-मीमांसा (ओंटोलॉजी) ज्योंही इसके अस्तित्व की सार्वभौमिकता को स्वीकृति मिलती है, यह अश्वेत के अस्तित्व को समझने की अनुमति

नहीं देता है। अश्वेत न केवल अश्वेत होना चाहिए; वह श्वेत लोगों के संदर्भ में अश्वेत होना चाहिए। कुछ आलोचक हमें याद दिलाते हैं कि ऐसे विचार पहले से ही विद्यमान रहे हैं। मैं कहता हूँ कि यह गलत है। श्वेत लोगों की नज़र में अश्वेत लोगों का कोई भी तात्त्विक (ओंटोलोजिकल) प्रतिरोध नहीं है। रातोंरात नीग्रो को दो प्रकार से परिभाषित किया जाता है, जिसमें वह स्वयं का मूल्यांकन करता है। उनकी अंतस्सचेतना या वास्तविकता, रीति-रिवाजों और स्रोतों के आधार नष्ट हो गए क्योंकि वे एक ऐसी सभ्यता के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे जिससे वे अपरिचित थे और वे खुद उसके वाहक बन गए।

बीसवीं सदी में अश्वेत लोग नहीं समझ सके कि वे कब अपनों के बीच में होते हुए भी दूसरों के कारण हीनता के शिकार हो गए। निःसंदेह, मैंने अपने दोस्तों या कभी-कभार अमेरिका के नीग्रों के साथ अश्वेतों की समस्या पर बात की है। हमने मिलकर विरोध किया, और दुनिया के सभी लोगों की समानता पर बल दिया। एंटिल्स में एक ऐसी छोटी-सी खाड़ी भी थी जहाँ लगभग-श्वेत, म्युलेटो और निगर रहते हैं। लेकिन मैं उनके बौद्धिक चेतना से उपजे मतभेदों से संतुष्ट था। दरअसल, यह बनावटी नहीं था। और तभी...।

और तभी ऐसा अवसर आया जब मुझे श्वेत व्यक्ति से आँख मिलाना था। मैंने एक अजीब-सा बोझ महसूस किया। दुनिया की वास्तविकता ने मेरी धारणा को चुनौती दी। श्वेतों की दुनिया में, अन्य रंग के लोग अपनी शारीरिक विकास में कठिनाइयों का सामना करते हैं। शरीर से संबंधित चेतना पूरी तरह से नकारात्मक विचार है। यह किसी तीसरे व्यक्ति की चेतना है। शरीर निरंतर अनिश्चितता की जाल में जकड़ा हुआ है। मुझे पता है कि अगर मैं धूम्रपान करना चाहूँ, तो मुझे अपना दाहिना हाथ अपने टेबल के दूसरे छोर पर पड़े सिगरेट के पैकेट की तरफ ले जाना होगा। हालाँकि, माचिस बाईं ओर दराज में हैं, और मुझे थोड़ा पीछे झुकना होगा। और ये सारी गतिविधियाँ आदत से नहीं बल्कि निहित ज्ञान से संचालित होती हैं। एक स्थानिक और लौकिक दुनिया शरीर के रूप में मेरे स्व का धीमा निर्माण-शरीर की बनावट जैसी ही होती है। यह मुझ पर हावी नहीं होता; बल्कि, स्व और संसार की निश्चित पद्धति है निश्चित क्योंकि यह शरीर और दुनिया के बीच एक वास्तविक द्वंद्व का निर्माण करती है।

कई वर्षों से कुछ प्रयोगशालाएँ "डेनेग्रिफिकेशन" के लिए सीरम बनाने की कोशिश कर रही हैं; पूरी निष्ठा के साथ, प्रयोगशालाओं ने अपने परीक्षण परखनलियों को साफ़ कर लिया है, अपने पैमानों की जाँच कर ली है, और शोध पर लगे हुए हैं ताकि दुःखी नीग्रो लोग खुद को श्वेत बना सके और अपनी शारीरिक हीन भावना को नकार सकें। शारीरिक बनावट के अंतर्गत, मैंने एक नस्लीय-इतिहास की संरचना का उल्लेख किया है। मैंने जिन तत्त्वों का इस्तेमाल किया वे मुख्यतः "किसी सदृश चरित्र, गतिशील, संस्पर्शनीय अवशिष्ट संवेदनाओं और धारणाओं से प्रेरित नहीं थे,"[1] बल्कि दूसरों के, श्वेतों, जिन्होंने मुझे हजारों विवरणों, किस्सों और कहानियों के द्वारा निर्मित किया था। मैंने सोचा कि मेरे पास जो कुछ भी था वह था शारीरिक स्व का निर्माण करना, संतुलन स्थापित करना, संवेदनाओं के लिए स्थान तलाशना और यहीं से मेरी परेशानी बढ़ गई।

"देखो, एक नीग्रो!" यह एक बाहरी उत्तेजना थी जो मुझसे होते हुए और बढ़ गई। मैं मुस्कुरा दिया।

"देखो, एक नीग्रो!" यह सच था कि इससे मेरा मनोरंजन हुआ।

"देखो, एक नीग्रो!" एक छोटा सा वृत्त बन रहा था। मैंने अपने मनोरंजन के किसी हिस्से को नहीं छुपाया।

"माँ, नीग्रो को देखो! मैं घबरा गया!" डर गया! सहमा हुआ! अब वे मुझसे डरने लगे थे। मैंने अपने आप को खूब हँसाने का अपना मन बना लिया, लेकिन हँसी कहीं गायब हो गई थी।

मैं अब हँस नहीं सकता था, क्योंकि मुझे पहले से ही पता था कि किंवदंतियाँ, कहानियाँ, इतिहास इत्यादि, जो मैंने जेस्पर से सीखा था वह इस समय काम नहीं आ सकते। फिर, विभिन्न बिंदुओं पर आलोचना से, शारीरिक संरचना नष्ट हो गई, इसकी जगह एक नस्लीय त्वचा का बाहरी आवरण भर रह गया। सवाल ट्रेन में तीन व्यक्तियों के बीच सचेत होने का नहीं था, बल्कि तीसरे व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने का था। ट्रेन में मुझे एक नहीं बल्कि दूसरी, या तीसरी जगह दी जाती। मैं पहले से ही निराश था। ऐसा नहीं था कि मुझे दुनिया में अनुपयुक्त लोग ही मिल रहे थे। मेरा अस्तित्व तीन स्तरों में बँट गया था : मेरी भी एक जगह थी। मैं दूसरे की तरफ बढ़ गया...एक अन्य की तरह अस्थायी, आक्रामक लेकिन स्पष्ट, पारदर्शी, अनुपस्थित, अदृश्य। उबकाई ...।

मैं अपने शरीर, नस्ल और पूर्वजों के प्रति जिम्मेदार था। मैंने खुद का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन किया, अपने कालेपन, जातीय विशेषताओं को ढूँढा; और मैं नरभक्षण, बौद्धिक अक्षमता, रूढ़िवाद, नस्लीय दोष, दासत्व से घिरा हुआ था और इन सब से ऊपर, "अच्छा खाने की चाह।"

उस दिन, पूरी तरह से, अव्यवस्थित, दूसरे के साथ बाहर जाने में असमर्थ, श्वेत व्यक्ति, जिसने निर्दयतापूर्वक मुझे कैद कर लिया था, मैं खुद को अपने आप से बहुत दूर ले गया, बहुत दूर और खुद को बस एक वस्तु में तब्दील कर दिया। यह मेरे लिए खुद को अंग-भंग, करने और पूरे शरीर को काले रक्त से रंग देने के अलावा और क्या हो सकता था? लेकिन मैं इसे दोहराना नहीं चाहता था। मैं बस अन्य आदमियों के बीच आदमी होना चाहता था। मैं इस दुनिया में हृदयस्पर्शी और युवा होना चाहता था, ऐसी दुनिया जो हमारी हो और जिसे साथ मिलकर बना सकें।

लेकिन मैंने भावुकता का संपूर्ण त्याग कर दिया। मैं एक आदमी बनना चाहता था, आदमी के अलावा कुछ नहीं। कुछ ने मेरी पहचान मेरे पूर्वजों से की, जिन्हें गुलाम बनाया गया था या प्रताड़ित किया गया था : मैंने इसे स्वीकार करने का फैसला किया। यह सार्वभौमिक स्तर की बौद्धिकता थी कि मैं इन आंतरिक संबंधों को समझता था। मैं बिल्कुल उन गुलामों का वंशज था, जैसे राष्ट्रपति लेब्रून कर-चुकाने वाले, मेहनतकश किसान के पोते थे। मुख्यतः, यह भय जल्द ही समाप्त हो गया।

अमेरिका में, नीग्रो अलग-थलग कर दिए जाते हैं। दक्षिण अमेरिका में नीग्रो को गलियों में मारा जाता है और नीग्रो हड़तालियों को मशीन-गन से काट दिया जाता है। पश्चिम अफ्रीका में नीग्रो एक जानवर है। और मेरे बगल में, विश्वविद्यालय के मेरे पड़ोसी, जो अल्जीरिया में पैदा हुए थे, ने मुझे बताया : "जब तक अरब के लोगों के साथ इंसान जैसा सलूक नहीं किया जाता, इसका कोई समाधान संभव नहीं है।"

"मेरे प्रिय दोस्त, समझो, रंग पूर्वग्रह ऐसी चीज है जो पूर्णतः विदेशी है..." । लेकिन निश्चय ही, हमारे भीतर, हमारे बीच कोई रंग पूर्वग्रह नहीं है...बिलकुल, नीग्रो हमारी ही तरह हैं।.. .इसलिए नहीं कि वे अश्वेत हैं और हमसे कम बुद्धिमान हैं...सेना में मेरा एक सेनेगल का दोस्त था जो वास्तव में बहुत चालाक था..." ।

मैं कैसे अलग हूँ? या, आपके अनुसार, जकड़ा हुआ?

"एक मार्टिनिकन, जो हमारे 'पुराने' उपनिवेशों का मूल निवासी है।"

मैं कहाँ छुपूँ?

"निगर को देखो!...माँ, एक नीग्रो!...धत्त, वह पागल हो गया है...माफ़ कर दें, साहब, वह नहीं जानता कि आप भी उतने ही सभ्य हैं जितने कि हम।"

उस सफ़ेद जाड़े की दिनों में मेरा शरीर मुझे विकृत, बदले हुए रंग, और शोकसंतप्त दशा में मिला था। नीग्रो जानवर होते हैं, नीग्रो बुरे होते हैं, नीग्रो नीच होते हैं, नीग्रो बदसूरत होते हैं; देखो, इस निगर को, यह सर्द पड़ गया है, काँप रहा है, काँप रहा है क्योंकि वह सर्द पड़ गया है, वह छोटा लड़का काँप रहा है क्योंकि निगर से डरता है, निगर ठंड से काँप रहा है, ऐसी ठंड जो मानो हड्डियों में छेद कर रही हो, वह छोटा-सा सुन्दर लड़का थरथरा रहा है क्योंकि उसे लगता है कि निगर गुस्से से काँप रहा है, वह नन्हा-सा श्वेत लड़का अपनी माँ की बाहों में छिप जाता है माँ, निगर मुझे खा जाएगा।

मेरे चारों तरफ श्वेत लोग, ऊपर आकाश के बीचोंबीच एक सूनापन, मेरे पाँवों के नीचे दबी धरती, और एक सफ़ेद गाना, एक श्वेत गाना। इतना सारा उजलापन जो मुझे जला रही है...।

मैं खुद को इस आग में झोंक देता हूँ और अपने आवरण के बारे में सचेत हो जाता हूँ। मैंने कभी ऐसा महसूस नहीं किया था। यह सच में बदसूरत है। मैं वहीं ठहर जाता हूँ, क्योंकि मुझे कौन बता सकता है कि आखिर सुंदरता है क्या?

अब मुझे जगह कहाँ मिलेगी? मैंने अपने अस्तित्व के अनगिनत पहलुओं में एक चिर-परिचित उमड़ते हुए सैलाब को महसूस किया। मैं नाराज होने वाला था। मेरे भीतर बहुत देर तक आग सुलगती रही, और एक बार फिर निगर काँप रहा था।

"देखो कितना सुंदर है नीग्रो! ..."

"सुंदर नीग्रो के पिछवाड़े को चूमो, मैडम!"

उसका चेहरा शर्म से पानी-पानी हो गया। अंततः, मैं अपनी चिंता से मुक्त हो गया। उसी समय मैंने दो काम पूरे किए—मैंने अपने दुश्मनों की पहचान की और एक दृश्य का निर्माण किया। एक भव्य तमाशा। अब हर कोई हँस सकेगा।

लड़ाई के क्षेत्र को चिह्नित कर, मैं मैदान में उतर गया।

क्या? जब मैं भूलना चाहता था, माफ़ कर देना चाहता था और सिर्फ प्यार करना चाहता था, मेरी यह चाहत तमाचे की तरह मेरे चेहरे पर जड़ दी गयी। श्वेतों की दुनिया, एकमात्र सम्मानित दुनिया ने मुझे हर प्रकार की भागीदारी से रोक दिया। एक इंसान से इंसान की तरह पेश आने की उम्मीद थी। मुझसे अश्वेत आदमी की तरह पेश आने की उम्मीद की गई—या कम से कम एक निगर की तरह। मैंने दुनिया को स्वीकार करना चाहा, लेकिन दुनिया ने मेरी खुशियों को बर्बाद कर दिया। मुझे अपने हदों के भीतर सिमटे रहने को कहा गया, वहीं जाने को कहा गया जहाँ से मैं था।

उन्हें सामना करना होगा, अब! मैंने उन्हें वैसे भी चेतावनी दे दी थी। गुलामी? इसका उल्लेख तक नहीं किया गया था, वह वेदनायुक्त स्मृति। मेरे भीतर हीन भावना? एक हौवा जिस पर हँसना ही अच्छा था। मैं यह सब भूल गया, लेकिन केवल इस शर्त पर कि दुनिया अब मुझसे बच नहीं सकती। मेरे दाँतों की परीक्षा होनी थी। उसकी मजबूती के प्रति मैं आश्वस्त था। और इसके अलावा...।

क्या! जबकि मेरे पास घृणा का, निंदा करने का हर कारण था, उलटे मुझे ही अस्वीकार कर दिया गया? जब उन्हें मुझसे भीख माँगना चाहिए था, गिड़गिड़ाना चाहिए था, मुझे ही रत्ती

भर सम्मान से वंचित कर दिया गया? चूँकि मेरे लिए अपने जन्म लेने वाले जटिल परिवेश से अलग हो पाना असंभव था, मैंने अश्वेत आदमी की तरह पहचाने जाने का प्रण लिया। चूँकि दूसरे मुझे पहचानने में हिचकिचाते थे, अतः सिर्फ एक ही उपाय रह गया— खुद की पहचान बनाना।

एंटी सेमाईट एंड ज्यू (पृ. 95) में सार्त्र ने कहा है : "दूसरों की नज़र में, उन्होंने, यहूदियों ने, अपने आप को रूढ़िवादिता के जहर से स्वयं को दूषित होने दिया और वे अब इस डर में जीते हैं कि उनकी हरकतें इस रूढ़िवादिता को ही बढ़ावा देंगी...। हम कह सकते हैं कि उनका आचरण अंदर से ही चिरस्थायी है।"

इसके बावजूद, यहूदी अपने यहूदीपन से अलग हो सकते हैं। वह पूरी तरह से वैसा नहीं है जैसा वह दीखता है। एक आशावान, दूसरा प्रतीक्षारत है। उनका कर्म, उनका व्यवहार ही इसका अंतिम निर्धारक होता है। वह एक श्वेत आदमी है, कुछ विचारणीय विशेषताओं के अलावा, वह कभी-कभी अपने को स्वयं से अलग भी कर सकता है। वह वैसे लोगों में से है जो जो शुरुआत से ही नरभक्षी नहीं थे। अद्भुत विचार है, अपने इतिहास को छिपाने के लिए! एकदम सरल, बस निगर नहीं होना चाहिए। मान लिया, यहूदियों को परेशान किया जाता है। जैसा मैं मानता हूँ उन्हें प्रताड़ित, निर्वासित, दफना दिया जाता है। लेकिन यह तो पारिवारिक छोटे झगड़े हैं। यहूदी को तो जानने के बाद से नापसंद किया जाता है। लेकिन मेरे मामले में तो सब कुछ एकदम नया है। मुझे कोई अवसर नहीं दिया गया। मेरी छवि पहले ही सुनिश्चित कर दी गई। मैं किसी अन्य के "विचार" का गुलाम नहीं हूँ बल्कि अपनी बनावट का।

मैं दुनिया में धीरे-धीरे आगे बढ़ता हूँ, अब उथल-पुथल की तलाश ज़रा भी नहीं। मैं घिसट-घिसट कर आगे बढ़ता हूँ। श्वेतों की निगाह में मैं पहले से ही टूटा हुआ हूँ, एकमात्र असली आँखें। मैं स्तब्ध हूँ। अपने माइक्रोटॉम के संतुलन के बाद, उन्होंने सीधे मेरे सच के टुकड़े कर डाले। मेरा सच सामने था। मुझे एहसास हुआ, मैं उन गोरे चेहरों में कोई नया आदमी नहीं देखता हूँ, जो प्रकट हुआ है, बल्कि एक नए किस्म का आदमी, एक नई प्रजाति। क्यों, यह नीग्रो है!

मैं कोने में दुबक जाता हूँ, और मेरा ध्यान आसपास बिखरी हुए वस्तुओं पर जाता है निगर के अंडरवियर से निगर की बदबू आती है निगर के दाँत सफ़ेद हैं निगर के पैर बड़े हैं उनकी छाती चौड़ी है। मैं कोने में दुबक जाता हूँ, चुप्पी ओढ़ लेता हूँ, गुमनामी में जाने का प्रयास करता हूँ, अदृश्य। देखो, मैं बहुत कुछ मान लूँगा, जब तक मेरी तरफ किसी का ध्यान नहीं जाता।

"ओह, मैं तुम्हें अपने काले दोस्त से मिलाना चाहता हूँ...एमी सीज़र, अश्वेत व्यक्ति और एक विश्वविद्यालय से स्नातक...। मारियन एंडरसन, सबसे बेहतरीन नीग्रो गायक ...। डॉ. कॉब, जिन्होंने श्वेत रक्त की खोज की, एक नीग्रो है...। अब मार्टिनिक के मेरे मित्र से मिलो (सावधान, वह बेहद संवेदनशील है) ...।"

शर्मनाक। शर्मनाक एवं अपमानजनक। उबकाई आती है। जो लोग मुझे पसंद करते हैं, वे बताते हैं कि वे मेरे रंग के बावजूद ऐसा करते हैं। जब वे मुझे नापसंद करते हैं, तो बताते हैं कि वे मेरे रंग के कारण ऐसा नहीं करते। हर तरफ से, मैं आग में जल रहा हूँ। मैं जलप्रलय के पहले वाले इन आर्क संरक्षकों से अलग हूँ और खुद को अपने भाइयों से जोड़ता हूँ—नीग्रो से, जो मेरी ही तरह हैं। मैं सशंकित, वे भी मुझे अस्वीकार कर देते हैं। वे भी लगभग

श्वेत ही हैं और इसके अलावा वे भी श्वेत महिलाओं से शादी करने वाले हैं। उनके बच्चे हल्के भूरे रंग के होंगे। कौन जानता है, शायद क्रमशः...।

मैं सपने देख रहा था।

"मैं आपको समझाना चाहता हूँ, सर, मैं उन सबसे अच्छे दोस्तों में से एक हूँ, जैसा ल्यों में नीग्रों के पास।"

वहाँ सबूत था, अपरिवर्तनीय। मेरा कालापन वहाँ था, घना और अनगढ़। इसने मुझे पीड़ा दिया, पीछा किया, परेशान किया, आक्रोशित किया।

नीग्रो जंगली, पाशविक, निरक्षर होते हैं। लेकिन खुद के मामले में मुझे पता था कि ऐसी बातें गलत थीं। नीग्रो के बारे में एक मिथक था जिसे हर कीमत पर नष्ट करना है। वह समय बहुत पहले बीत गया जब एक नीग्रो का पुजारी होना आश्चर्य की बात थी। हमारे पास चिकित्सक, प्रोफेसर, राजनेता थे। हाँ, लेकिन इनकी कुछ अलग विशेषताएँ जरूर थीं। "हमारे पास सेनेगली इतिहास के एक शिक्षक हैं। वे बहुत प्रतिभाशाली हैं।...हमारा डॉक्टर भी अश्वेत हैं। वे नेकदिल इंसान हैं।"

हमेशा से यह माना जाता है कि नीग्रो एक कमजोर शिक्षक और डॉक्टर होते हैं, जैसा कि मैं बनता जा रहा था, मैं इन संभावनाओं से भी थर्रा जाता था। उदाहरण के लिए, मुझे पता था कि अगर चिकित्सक ने कोई गलती की तो वह उसका और उसके साथ देने वालों का अंतिम दिन होगा। आखिरकार एक नीग्रो चिकित्सक से कोई और उम्मीद भी क्या कर सकता है? जब तक सबकुछ ठीक नहीं हो जाता, तब तक वह ऊपर वाले की तारीफ करता रहता, लेकिन हाँ किसी हालत में गलती की कोई जगह नहीं! अश्वेत विशेषज्ञ कभी आश्वस्त नहीं हो सकते कि वे अपमान से कितने दूर हैं। मैं आपको बताता हूँ, मैं इसे झेल चूका हूँ : मेरा अच्छा शिष्टाचार, साहित्य ज्ञान या क्वांटम सिद्धांत की अच्छी समझ के बावजूद कोई फर्क नहीं पड़ता।

मैंने अनुरोध किया, स्पष्टीकरण की माँग की। धीरे से, बच्चों वाले स्वर में, वे मुझे कुछ लोगों द्वारा स्वीकृत अस्तित्व की धारणा से परिचित करवाते और मुझसे हमेशा कहा जाता, "उम्मीद है कि यह बहुत जल्द समाप्त हो जाएगा।" क्या था यह? रंग पूर्वग्रह।

यह रंग पूर्वग्रह, एक जाति का दूसरी जाति के प्रति अनुचित घृणा से अधिक कुछ नहीं है, शक्तिशाली और समृद्ध लोगों द्वारा अपने से हीन समझे जाने वाले लोगों के प्रति अवमानना, अधीनता और अपमान के बोझ तले दबाये गए लोगों की तीखी नाराजगी। लोगों की सामाजिक और शैक्षणिक उपलब्धि से इतर, रंग ही नस्लीय श्रेष्ठता का सबसे मुखर बाह्य अभिव्यक्ति है, जिसे मानदंड मानकर मूल्यांकन न्याय किया जाता है। हल्के रंग वाली चमड़ी के लोग गहरे रंग के सभी लोगों से घृणा करते हैं, लेकिन अब नीच समझे जाने वाले अश्वेत चमड़ी वाले लोग बिना विरोध किये नहीं मानेंगे, जिसके लिए वे अभिशप्त हैं।[2]

मैंने सही पढ़ा था। यही नफरत थी; मुझसे सड़क के उस पार या मेरी माँ की तरफ के रिश्तेदारों से ही नहीं, बल्कि एक पूरी नस्ल के नफरत, इर्ष्या और द्वेष का सामना करना पड़ा। मैं हर प्रकार के अन्याय के खिलाफ था। मनोविश्लेषकों का कहना है कि एक बच्चे के लिए तर्कसंगत चीज़ों से सामना करने से अधिक और कुछ भी पीड़ादायक नहीं है। मैं निजी तौर पर कहूँगा कि एक तर्कशील शख्स के लिए तर्कहीनता से जुड़े रहना किसी पागलपन से कम नहीं है।

मुझे लगा कि मुझे किसी ने चाकू मार दिया हो। मैंने अपने बचाव का संकल्प लिया।

एक अच्छे रणनीतिकार की तरह मैं दुनिया को तर्कसंगत बनाने और गोरे आदमी को यह दिखाने कि वह गलत था के इरादे से चल पड़ा।

यहूदी में, जीन-पॉल सार्त्र कहते हैं, 'तर्क एक प्रकार का नियोजित साम्राज्यवाद है; क्योंकि वह न केवल दूसरों को अपने सही होने का विश्वास दिलाना चाहता है; बल्कि उनका लक्ष्य यह समझाना है कि तर्कवाद एक पूर्ण और शर्तहीन मूल्य है। वह अपने आप को सार्वभौमिक सुधारक महसूस करता है; कैथोलिक धर्म की सार्वभौमिकता के खिलाफ, जिससे उसे बाहर रखा गया है, वह तर्क को "कैथोलिक" की तरह बनाना चाहता है, एक ऐसा साधन जिससे सत्य की प्राप्ति हो और लोगों के बीच एक आध्यात्मिक बंधन स्थापित हो।'[3] इसमें लेखक और जोड़ता है, हालाँकि ऐसे यहूदी भी हो सकते हैं जिन्होंने अपने अंतर्दृष्टि को अपने दर्शन का मूल बना दिया है, उनकी अंतर्दृष्टि का पास्कलियन शक्ति की सूक्ष्मता से कोई समानता नहीं है और यही है जो बाद में हजार अगोचर धारणाओं के आधार पर—यहूदी को उसका सबसे बड़ा दुश्मन लगने लगता है। बर्गसन के लिए, उसका दर्शन पूरी तरह से तर्कसंगत और सबसे गंभीर बौद्धिक शक्ति से निर्मित एक ग़ैर-बौद्धिक सिद्धांत की बेजोड़ संभावना प्रस्तुत करता है। तर्क के माध्यम से ही वह निश्चित काल, दार्शनिक अंतर्दृष्टि के अस्तित्व को स्थापित करता है, और यह अंतर्दृष्टि जो समय या जीवन की खोज करता है, सार्वभौमिक है, क्योंकि इसे कोई भी कर सकता है, और यह सार्वभौमिकता की ओर ले जाता है, क्योंकि इन उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है।[4]

उत्साह के साथ मैंने अपने परिवेश का पड़ताल किया। बदलते समय के साथ, लोगों ने कैथोलिक धर्म द्वारा दासता और पूर्वग्रहों को उचित ठहराते देखा और फिर भर्त्सना करते। लेकिन मनुष्य की गरिमा के विचार करते हुए, लोगों ने कई बार पक्षपात किये। बहुत अनिच्छा के बाद, वैज्ञानिकों ने माना कि नीग्रो भी इंसान थे; इन विवो और इन विट्रो में नीग्रो को श्वेत आदमी के अनुरूप ही साबित किया गया : एक ही आकृति विज्ञान, एक ही ऊतक विज्ञान। कारण था हर स्तर पर जीत के प्रति आश्वस्त होना। मैंने सभी टुकड़ों को एक साथ रख दिया। इसके लिए मुझे अपना स्वर बदलना पड़ा।

उस जीत ने बिल्ली और चूहे की भूमिका निभाई; इसने मुझे मूर्ख बना दिया। जैसा कि 'दूसरे' ने मेरे सामने कहा, ऐसा नहीं था; जब वह वहाँ था, मैं नहीं था। अमूर्त सहमति थी—नीग्रो एक इंसान है। मतलब, अविश्वास करने वालों के लिए संशोधन किया गया, कि हमारी ही तरह उनका भी दिल है, बाईं तरफ। लेकिन कुछ बिंदुओं पर श्वेत लोग अड़े रहे। उन्हें किसी सूरत में अश्वेतों के साथ अंतरंग संबंध बर्दाश्त नहीं थे, क्योंकि उनके बीच एक रूढ़िवादी धारणा है कि "व्यापक रूप से विभिन्न नस्लों के मिलन से शारीरिक और मानसिक स्तर कम हो सकता है ...। जब तक हमें नस्ल-मिश्रण के प्रभाव का सुनिश्चित ज्ञान नहीं होता, तब तक हम व्यापक रूप से अलग-अलग नस्लों के बीच सम्मिश्रण से बचने का भरपूर प्रयास करेंगे।"[5]

अपनी तरफ से, मुझे क्या प्रतिक्रिया देनी है, पता है। और एक तरह से, मेरी राय माँगी जाए, तो मैं कहूँगा कि मैं प्रतीक्षा में विश्वास करता हूँ; मैं अपने परिवेश का आकलन करता हूँ, अपनी खोज के अनुरूप ही मैं अपनी धारणा बनाता हूँ, मैं संवेदनशील हो जाता हूँ।

इतिहास के पहले अध्याय में, जो दूसरों ने मेरे लिए संकलित किये हैं, नरभक्षण के दृश्य को इतनी प्रमुखता से दर्शाया गया है कि यह मरे आँखों से ओझल ही न होता। मेरे गुणसूत्रों का प्रतिरूपण ऐसा किया गया जिससे नरभक्षण साफ़ दिखे। सेक्स-सूत्रों के अलावा, विद्वानों ने अब नस्लीय-सूत्र भी खोज निकाला है।[6] कैसा शर्मनाक विज्ञान है!

लेकिन मैं ऐसे "मनोवैज्ञानिक तंत्र" को भलीभाँति समझता हूँ। क्योंकि यह सामान्य ज्ञान का विषय है कि तंत्र केवल मनोवैज्ञानिक है। दो शताब्दी पहले ही मेरे अंदर की मानवता खो चुकी थी, मैं हमेशा के लिए गुलाम हो चुका था। और तब वे लोग आए जिन्होंने कहा कि अब यह बहुत हो चुका। मेरी दृढ़ता रंग लाई; मैं सभ्यता के नाम पर आने वाले प्रलय से बचा लिया गया था। मैं काफी आगे बढ़ गया हूँ।

देर से ही सही। हर चीज की कल्पना की गई, सोचा गया और अधिक से अधिक कहने करने का प्रयास किया गया। मेरे काँपते हाथों से कुछ नहीं पकड़ा जाता; नस सूख गई हैं। देर ही सही! लेकिन मैं एक बार फिर समझना चाहता हूँ।

जबसे किसी व्यक्ति ने पहली बार इस तथ्य पर शोक व्यक्त किया कि अब बहुत देर हो गई और सबकुछ कहा जा चुका और अतीत की स्मृति के अलावा कुछ शेष नहीं। क्या ये वही असली स्वर्ग है जिसकी बात ओटो रैंक ने की? इस तरह के कितने लोगों, जो दुनिया में खोए हुए हैं, ने अपने जीवन को डेल्फिक भविष्यवाणी या युलिसिस के विचरण का अध्ययन करने के लिए समर्पित कर दिया है! संपूर्ण-अध्यात्मवादी इस तर्क का उपयोग करके प्रत्येक जीवों में आत्मा के अस्तित्व को साबित करना चाहते हैंः एक कुत्ता अपने मालिक की कब्र पर लेट जाता है और वहीं मर जाता है। सिर्फ दिखाने के लिए हमें जेनेट की प्रतीक्षा करनी पड़ी कि उपर्युक्त वर्णित कुत्ते में, मनुष्य के विपरीत, अतीत को नष्ट करने की क्षमता नहीं थी। हम ग्रीस के गौरव की बात करते हैं, अर्तोद कहते हैं; लेकिन, वे जोड़ते हैं, अगर आधुनिक आदमी अब एकीलस की क्वेफोराई को नहीं समझ सकता है, तो इसमें एकीलस का दोष है। यह ऐसी परंपरा है जिसके लिए एंटी-सेमाइट्स "अपने दृष्टिकोण" की वैधता को धरातल पर उतारने की कोशिश करते हैं। यही परंपरा है, यह ऐतिहासिक अतीत है, यही वह पास्कल और डेसकार्टेस के बीच रक्त संबंध, जिसे तब उजागर किया जाता है जब यहूदी को बताना हो, "आपके लिए इस समाज में जगह मिलने की कोई संभावना नहीं है।" हाल में ही, एक फ्रांसीसी ने ट्रेन में, जहाँ मैं बैठा था, कहा : "बस असली फ्रांसीसी स्वभाव बनाकर रखो और नस्ल को सुरक्षित। अब अक्सर, राष्ट्रीय स्तर पर एकता को यथार्थ में बदलने की आवश्यकता है। आंतरिक संघर्ष का अंत करें! हमें विदेशियों का सामना करने दो (अब वह मेरे कोने की तरफ मुड़ गया) कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे कौन हैं?"

उसके लिए इतना कहना आवश्यक है कि उससे सस्ते शराब की बू आ रही थी; अगर वह कहने में सक्षम होता, तो जरूर कहा होता कि मेरा गुलामी से मुक्त रक्त संभवतः विलेन या ताइन के नाम से नहीं खौलता।

आक्रोश!

यहूदी और मैं?' चूँकि मैं नस्लीय समझे जाने से आहत था, किस्मत से मैं मनुष्य हो पाया था। मैं अपने दुःखी भाई यहूदी के साथ खड़ा हो गया।

आक्रोश!

पहले सोचा कि यह अजीब लग सकता है कि एंटी-सेमाइट का दृष्टिकोण नेग्रोफोबिया से जुड़ा होना चाहिए। वो तो मेरे दर्शनशास्त्र के एक प्रोफेसर थे, जो एंटिल्स के रहने वाले थे, जिन्होंने एक दिन मुझे इस तथ्य से अवगत कराया—"जब भी आप किसी को यहूदियों को गाली देते सुनते हैं, तो समझें, कि वह आपके बारे में बात कर रहा है।" और मुझे एहसास हुआ कि वह सार्वभौमिक रूप से सही था—जिससे मेरा तात्पर्य था कि अगर मेरे भाई को कुछ होता है तो मैं तन-मन से इसके लिए जिम्मेदार था। बाद में, मैं समझा कि उनका सीधा कहना

था, एक यहूदी-विरोधी अनिवार्य रूप से नीग्रो विरोधी होता है।

तुम बहुत बाद में आते हो, काफी देर बाद। हमेशा एक ऐसी दुनिया होगी--एक श्वेत दुनिया--आपके और हमारे बीच...दूसरे की संपूर्ण अक्षमता अतीत को फिर से पूरी तरह नष्ट कर देती है। श्वेत व्यक्ति के निष्ठुर एकता के समक्ष, यह समझा जा सकता है कि मैं नीग्रो की तरह रोष व्यक्त कर सकता था। धीरे-धीरे, नकली मुखौटे हटाकर, नस्ल को दफ़न कर दिया। और यह नस्लीय सोच इसी मूल तत्त्व के बोझ तले दब गई। यह क्या था? लय! हमारे गायक, लियोपोल्ड सेनघोर को सुनो।

यह एक ऐसी चीज है जो सबसे अधिक बोधगम्य और सबसे कम भौतिक है। यही महत्त्वपूर्ण तत्त्व का प्रतीक है। जैसे साँस लेना जीवन की पहली शर्त है वैसे ही यह कला की पहली शर्त। साँस, जो बढ़ती या घटती है, जो व्यक्ति में तनाव, उसके भावनाओं की प्रकृति या ताप के अनुसार उत्तेजित होती है। मूलतः यही विशुद्ध रूप से लय है; नीग्रो कला की उत्कृष्ट कृतियों, विशेष रूप से मूर्तिकला में यही लय है। यह एक विषय पर आधारित है मूर्तिकला का रूप—जो एक मिलते-जुलते विषय के विरोध में निर्धारित किया गया है, जैसे साँस लेना और साँस छोड़ना है। यह वैसी समरूपता नहीं है जो नीरसता को जन्म देती है; लय जीवित है, मुक्त है...लय हमारे क्षीण बौद्धिकता को इसी तरह से प्रभावित करता है, निष्ठुरता से, किसी वस्तु की आध्यात्मिकता में समाने के लिए; और त्यागपूर्ण चरित्र हम जिसकी प्रतिमूर्ति हैं, लयबद्ध है।[7]

क्या मैंने सही पढ़ा था? मैंने इसे पुनः बहुत ध्यान से पढ़ा। श्वेतों की दुनिया के दूसरी तरफ, एक जादुई नीग्रो संस्कृति उभर रही थी। नीग्रो मूर्तिकला! मैं गर्व से अभिभूत हो गया। क्या इसी में हमारी मुक्ति थी?

मैं दुनिया को समझ चुका था और दुनिया ने मुझे रंग पूर्वग्रह के आधार पर नकार दिया था। चूँकि तर्क के किसी स्तर पर कोई समझौता संभव नहीं था, इसलिए मैंने तर्क को ही ठुकरा दिया। मुझसे अधिक तर्कहीन होना श्वेत लोगों पर निर्भर करता था। अपने संघर्षों की जरूरत के लिए मैंने संकीर्णता का रास्ता चुना था, लेकिन तथ्य है कि यह एक अपरिचित हथियार था; इसमें मैं दक्ष हूँ; मैं अतार्किक से निर्मित हूँ; मैं अतार्किकता में विचरता हूँ। अतार्किकता में सराबोर और अब ऐसे मेरी आवाज काँप रही है!

जिसने न बारूद का आविष्कार किया और न कम्पास का
जिसने कभी बिजली की भाप को जीतना नहीं सीखा
जिसने न कभी समुद्र ना आसमान का पता लगाया
लेकिन वे पीड़ा के देश के किसी कोने को नहीं जानते
जिसने कभी कोई यात्रा नहीं की बच गए वे अपहरण से
जिन्होंने विनम्रता में झुकना सीखा
उन्हें ही पराधीन और ईसाई बनाया गया
उन्हें गालियों से नवाज़ा गया...।

हाँ, वे सभी मेरे भाई हैं—एक "कट्टर भाईचारा" हम सबको एकजुट करता है। इस छोटे सिद्धांत को बताने के बाद, मैं कुछ और समझा :

... लेकिन जिनके बिना पृथ्वी नहीं रहेगी
पृथ्वी
अच्छा है फलों से लदा होना

बशर्ते
परती जमीन के
विशाल परती धरती
भंडारगृह सबकी रक्षा और फलने-फूलने के लिए
पृथ्वी पर जो सबसे अधिक सहनशील है
मेरा कालापन कोई पत्थर नहीं, उसका बहरापन
है दिन के कोलाहल के खिलाफ
मेरा कालापन बेजान पानी की बूँद नहीं
दुनिया की पथराई आँख का
मेरा कालापन न मीनार है न ही गिरजाघर
यह सूर्य की लालिमा में पकता है
यह जलते आसमान में पकता है
घने निराशा से गिरता है इसके भीतर से खाली
धैर्य का स्तंभ।[8]

वाह! शोर-शराबे में वैश्विक संदेश छिप जाते हैं। केवल नीग्रो के पास इसे अभिव्यक्त करने, समझने और फैलाने करने की क्षमता है। दुनिया के सामने, मेरे मजबूत पाँव दुनिया के सुदूर हिस्सों में पड़ चुके हैं, मैं दुनिया के ऊँचाइयों को चूमता हूँ, जैसे बलिदान देता हुआ आदमी की आँखों में उत्सव का दृश्य होता है।

लेकिन वे खुद को, सभी चीजों के सार को, बाहरी दुनिया से अनभिज्ञ होते हुए भी, सभी चीजों के लिए आंदोलनरत दिखते हैं :

भूल जाते हैं खोए हुए लेकिन दुनिया के खेल में शामिल
सचमुच दुनिया की सबसे बड़ी संतानें हैं
दुनिया के सभी अचंभों के लिए तैयार
जहाँ मिलती हैं संसार की सारी-हवाएँ
संसार के सारे समुद्रों के डूबे हुए तल
दुनिया के पवित्र आग की चमक
जिंदगी दर जिंदगी दुनिया, धड़कती हुई
दुनिया के हर हलचलों के साथ![9]

रक्त! रक्त!...जन्म! होने का उल्लास! हर दिन तीन-चौथाई भ्रम में डूबे हुए; मैं अपने आप को रक्त-रंजित महसूस कर रहा हूँ। दुनिया के सभी रास्ते, बाधित, टूटे हुए, तबाह किये गए मेरी तरफ मुड़ते हैं और मुझे आगे का रास्ता दिखाते हैं।

"रक्त! रक्त! हम सभी के रक्त सूरज की पौरुषेय किरणों द्वारा आंदोलित होते हैं।"[10]

बलिदान, सृष्टि और स्वयं के बीच का एक मध्य बिंदु था। अब मैं स्रोतों की ओर नहीं, बल्कि स्रोत की ओर लौटा। इसके बावजूद, लय, धरती माँ का प्यार, रहस्यवाद, समूह के सामूहिक विवाह और ब्रह्मांड के प्रति अविश्वास है।

'ला वी सेक्सुअल ऐन अफ्रिके नोयर' में, धारणाओं से समृद्ध, डी पेड्रल्स का तात्पर्य है कि अफ्रिका में, चाहे किसी भी क्षेत्र का अध्ययन किया जाए, इसकी एक निश्चित रहस्यवादी-सामाजिक संरचना होगी। वे आगे लिखते हैं:

ये सभी ऐसे तत्त्व हैं जो बड़े पैमाने पर समाज में गुप्त रूप से मिलते हैं। इसके अलावा,

किशोरावस्था के दौरान स्त्री या पुरुष के खतना होने के बाद, मृत्युदंड दिए जाते हैं अगर वे इसका अनुभव वैसे व्यक्ति से बयान करते हैं जो इससे नहीं गुजरे हैं और एक गुप्त समाज में प्रशिक्षित होने के लिए काफी हद बाध्य होते हैं, पवित्र प्रेम के कार्य, महिला और पुरुष दोनों के खतना को देखकर निष्कर्ष निकालने के लिए अच्छा आधार है कि वे छोटे गुप्त समाजों के संविधान के रूप में सुशोभित होते हैं।[11]

मैं श्वेत काँटों पर चलता हूँ। पानी की बौछारें मेरी आत्मा को आग लगा देती हैं। इन संस्कारों का सामना करते हुए, मैं दोगुना सतर्क हूँ। काला जादू! कामुकता, भूतहा सन्नाटा, मूर्ति पूजा, ताबीज। सहवास, कबीले के देवताओं को बुलाने का एक अवसर होता है। यह एक पवित्र कार्य है, शुद्ध, निरपेक्ष, अदृश्य शक्तियों को जागृत करना। इन सभी अभिव्यक्तियों, दीक्षाओं, कार्यों के बारे में कोई क्या सोचता है? चारों तरफ से मुझपर अश्लील शब्दों की बौछारें हो रही हैं, प्रहार किया जा रहा है। शायद एक गाना मुझे अभी तक याद है :

पहले हमारा दिल जला
अब ठंडे हैं
अब हम सिर्फ प्यार के बारे में सोचते हैं
जब हम गाँव लौटते हैं
और महान लिंग को देखते हैं
आह! अब हम कैसे प्यार करेंगे
हमारे शरीर के गुप्त अंग सूखे और सपाट हैं।[12]

मिट्टी, जो केवल कुछ क्षण पहले ही एक पालतू घोड़े की तरह थी, फिर से झूम उठती है। क्या ये कुँवारी हैं, ये अप्सराएँ? काला जादू, आदिम मानसिकता, दुश्मनी, पाशविक कामुकता, सब मुझ पर हावी हैं। यह वैसे सभी लोगों के लिए विशिष्ट है, जो मानव जाति के विकास के साथ तालमेल नहीं रख पाए। या, कोई ऐसे कहना चाहे तो, यह सबसे निम्नस्तरीय मानवता है। इस बिंदु पर पहुँचने के बाद, मैं प्रतिबद्धता के लिए अनिच्छुक था। चारों तरफ आक्रामकता। मुझे तय करना था। इससे मेरा क्या तात्पर्य है? मेरे पास कोई रास्ता नहीं था...।

हाँ, हम नीग्रो पिछड़े, सरल, अपने व्यवहार में स्वतंत्र हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि हमारे लिए शरीर हमसे अलग नहीं है जिसे आप मन कहते हैं। हम इस संसार में हैं। और मनुष्य और पृथ्वी की जोड़ी सलामत रहे! इसके अलावा, हमारे विद्वानों ने मुझे आपको समझाने में मदद की; आपकी श्वेत सभ्यता संवेदनशीलता रूपी धन को नहीं देख पाती। सुनो।

भावुक संवेदना। भावना पूरी तरह से नीग्रो है।[13] क्योंकि तर्क ग्रीक है। पानी हवा के हर झोंके से रिस रही है? हवा के हर झोंके में उड़ा ले जाती आत्मा, जिसका फल अक्सर पकने से पहले ही गिर जाता है? हाँ, एक तरह से, नीग्रो आज काम से अधिक उपहारों में इस्तेमाल किये जाते हैं।[14] लेकिन पेड़ों ने अपनी जडें पृथ्वी में गहरी फैला रखी है। नदी गहरी होती जाती है, कीमती बीज ले जाती है। और, अफ्रीकी-अमेरिकी कवि, लैंगस्टन ह्यूज कहते हैं :

मैंने नदियों को जाना है
प्राचीन अँधेरी नदियाँ
मेरी आत्मा गहरी हो गई है
गहरी नदियों की तरह।

नीग्रो की भावना, संवेदनशीलता और प्रकृति के अलावा, सूक्ष्म दृष्टिकोण की परिचायक

है। एक ऐसा त्याग है जो अपरिहार्य है, एक मिलन की स्थिति, अस्मिता की वास्तविकता, चाहे कितनी भी अनदेखी की जाए मैं लगभग वस्तु स्थिति को समझ चुका था। एक लयात्मक विचार। इस विशेषण को ध्यान में रखा जाना चाहिए।[15]

इसलिए हमने नीग्रो को पुनर्वासित किया है, "न्यायालय के सामने खड़े होकर", अपने अंतर्ज्ञान के साथ दुनिया पर शासन करते हुए, नीग्रो ने खुद को पहचाना, अपने पैरों पर फिर से खड़ा हुआ, खोजा, सँभाला और वह एक नीग्रो है नहीं, वह नहीं है नीग्रो, नीग्रो ही है, दुनिया की अजीबोगरीब शक्ति, दुनिया पर अपनी काव्य शक्ति की बारिश करते हुए, "संसार में सबके लिए खुला"। मैं दुनिया को गले लगाता हूँ! मैं दुनिया हूँ! श्वेत व्यक्तियों ने इस शक्ति को कभी नहीं समझा। जबकि श्वेत व्यक्ति पूरी दुनिया चाहता है; वह सिर्फ अपने लिए चाहता है। वह खुद को इस दुनिया का पूर्वनिर्धारित गुरु मानता है। उसने दुनिया को गुलाम बनाया। उसके और संसार के बीच एक अधिग्रहण का संबंध होता है। लेकिन ऐसे अनेक मूल्य हैं जिसमें हमारे मूल्य ही ही सही हैं। एक जादूगर की तरह, मैंने श्वेत लोगों की "एक निश्चित दुनिया" ही ले ली, जो हमसे छीन लिया गया था। जब ऐसा हुआ, तो श्वेत व्यक्ति को एक ऐसी शक्ति से हराया गया जिसे वह नहीं पहचान सका, जिस प्रतिक्रियाओं के लिए वह तैयार भी नहीं थी। खेतों, केले के पेड़ों और रबर के पेड़ों की भौतिक दुनिया से परे, मैंने वास्तव में एक दुनिया बसाई। संसार का सार ही मेरा भाग्य था। मेरे और दुनिया के बीच सह-अस्तित्व का संबंध स्थापित हुआ। मैंने अपने शुरुआत की खोज की थी। मेरे "कामगार हाथों" ने उग्र दुनिया का गला घोंट दिया। श्वेत व्यक्ति को यह अहसास था कि मैं उनसे अलग हूँ और अपने साथ कुछ ले जा रहा था। उसने मेरी जेबों की तलाशी ली। वह मेरे भोलेपन की भी जाँच करवाता है। हर जगह उसे स्पष्टता दिखी। अतः, यह स्पष्ट था कि मेरे पास एक रहस्य था। मुझसे पूछताछ की गई; रहस्य की एक हवा के साथ दूर, मैं बड़बड़ाया :

तोकवली, चाचा, क्या आप बीती हुई रातें याद करते हैं
जब मेरा सिर तुम्हारे धैर्य की पीठ पर भारी पड़ा
या
मेरे हाथ को आपके हाथ ले गए छाया और निशानों के बीच
खेत चमकते कीड़ों के फूल हैं, तारे लटकते हैं
झाड़ियों, पेड़ों पर
सन्नाटा है चहुँओर
केवल जंगल की गंध गाती है, लाल रंग से घिरी
मधुमक्खियाँ जो झींगुर की तेज आवाजों को ढँक लेती हैं,
और धीमा शोर, साँस ले रहे रात के अँधेरे में
कहीं दूर।
तोकोवली, सुनों जिसे नहीं सुना जा सकता है, और
मुझे समझाओ जो पूर्वज कह रहे हैं
नक्षत्रों के बहती शांति में,
बैल, बिच्छू, तेंदुआ, हाथी,
और मछली जिसे हम जानते हैं,
और स्वर्ग के कोनों में भूतों का सफ़ेद छाया और धूमधाम
अंतहीन,

लेकिन अब देवी चंद्रमा की चमक आती है
और परछाइयों का पर्दा पड़ जाता है।
अफ्रीका की रात, मेरी काली रात, रहस्यमय और उज्ज्वल,
काली और चमकती।[16]

मैंने खुद को दुनिया का कवि बनाया। श्वेत व्यक्ति को एक कविता मिली थी जिसमें कुछ भी काव्यात्मक नहीं था। श्वेत व्यक्ति की आत्मा भ्रष्ट हो गई थी और जैसा कि मुझे एक दोस्त, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में एक शिक्षक था, ने बताया था, "गोरों के बगल में नीग्रो की उपस्थिति एक तरह से मानवता की रक्षा पर बीमा पॉलिसी है। जब गोरों को लगता है कि वे मशीनीकृत हो गए हैं, तो वे अश्वेतों की ओर मुड़ते हैं और उनसे थोड़ा मानवीय जीवन लेते हैं।" आखिरकार मुझे पहचान मिल गयी थी, मैं अब जीरो नहीं था।

मुझे जल्द ही अपनी धुन बदलनी थी। एक पल के लिए केवल, श्वेत व्यक्ति ने मुझे समझाया कि मैंने ही, आनुवंशिक रूप से, विकास के एक चरण का प्रतिनिधित्व किया—"आपके गुणों का हमने इस्तेमाल कर लिया। हमारे पास पृथ्वी के ऐसे रहस्य हैं जिन तक आप कभी नहीं पहुँच सकेंगे। हमारे इतिहास का अध्ययन करें और आप देखेंगे कि यह संलयन कितनी दूर चला गया है।" तब मुझे लग रहा था कि मैं एक चक्र दोहरा रहा हूँ। मेरी मौलिकता मुझसे छिन गई थी। मैं देर तक रोया, और फिर से जीने की शुरुआत की। लेकिन मैं विनष्टकारी कुंठा से पीड़ित था : वे नीग्रो के अद्‌भुत खुशबू से... नीग्रो का अप्रतिम अच्छा स्वभाव... नीग्रो का अनोखा भोलापन...।

मैंने अपने आप से भागने की कोशिश की, लेकिन गोरे मुझ पर हावी हो गए और मुझे परेशान किया। मैंने अपने सीमाओं का परीक्षण किया; निःसंदेह, इसमें कुछ नहीं बचा था। यहीं पर मैंने अपनी सबसे उल्लेखनीय खोज की। सही अर्थ में, तो यह खोज एक पुनर्खोज थी।

मैंने अश्वेत व्यक्ति की सभी प्राचीनताओं की गहन खोज की। जो हासिल हुआ, उससे मेरे होश उड़ा दिए। अपनी पुस्तक लाबोलिशियों दा लिश्लावाज (गुलामी का अंत) में, शॉल्सर ने उल्लेखनीय तर्क दिए। तब से, फ्रोबेनियस, वेस्टरमन, डेलाफोस ये सभी गोरे समूह में शामिल हो गए थे। सीग, जेन, हजारों लोगों का शहर; अश्वेत विद्वान् (धर्मशास्त्र के चिकित्सक जो कुरान की व्याख्या करने मक्का गए थे)। मेरे लिए सभी, अतीत के गर्त से लेकर वर्तमान तक के विस्तार के कारण एक सर्वमान्य ऐतिहासिक बिंदु को ढूँढना संभव हुआ। श्वेत गलत थे, ना तो हम आदिम थे, ना ही लंगूर, मैं एक ऐसी जाति का था जो दो हजार साल पहले ही सोने और चाँदी का काम करता था। और भी बहुत कुछ था, कुछ ऐसी चीजें जिसे श्वेत नहीं समझ सकते। सुनो :

ये कैसे लोग थे, जो इतिहास की सबसे क्रूरतम पाशविकता के कारण अपने परिवार, देश, धर्म से बिछड़ गए थे?

सज्जन, विनम्र, विचारशील लोग, बेशक यातना देने वाले लोगों से श्रेष्ठ हैं वैसे लोगों से जिन्होंने अफ्रिका के लोगों पर हमला कर प्रताड़ित किया और उसे बदनाम किया।

जिन लोगों को वे ले गए थे, वे घर बनाना, साम्राज्य चलाना, शहरों का निर्माण करना, खेती करना, धातुओं की खान, कपास की बुनाई, जाली स्टील बनाना जानते थे।

शहर के संस्थापक के साथ रहस्यमयी संबंधों पर आधारित उनके धर्म की अपनी सुंदरता थी। उनकी रीति-रिवाज सुखदायक थे, जिसका आधार एकता, दया, बड़ों के प्रति सम्मान पर आधारित था।

कोई जोर-जबरदस्ती नहीं, केवल पारस्परिक सहयोग, जीने की खुशी, अनुशासन की एक स्वतंत्र स्वीकृति।

आदेश, ईमानदारी, कविता और मुक्ति।

एक शांत व्यक्ति से होते हुए शानदार नेता बनने तक की समझ और विश्वास की एक अटूट शृंखला थी। क्या विज्ञानरहित? सच में हाँ; लेकिन यह भी कि उन्हें डर से बचाने के लिए, उनके पास महान मिथक थे जिनमें सबसे सूक्ष्म अवलोकन और साहसिक कल्पना का संतुलन और मिश्रण था। कलाविहीन? उनके पास उनकी शानदार मूर्तिकला थी, जिसमें मानव की भावना इतनी स्वछंद थी कि हमेशा किसी वस्तु के प्रमुख तत्त्वों के संगठन में एक लय आबद्ध होता था, जो उसके पुनर्वितरण के लिए ब्रह्मांड के सबसे गुप्त शक्तियों को संयोजित करता था...।[17]

अफ्रीका के बीचों-बीच स्मारक? स्कूल? अस्पताल? बीसवीं सदी का कोई भी बर्गर, डूरंड, स्मिथ, भूरा इत्यादी को शक नहीं कि ऐसी चीजें यूरोपियों के आने से पहले अफ्रीका में मौजूद नहीं थीं...।

लेकिन शॉलशर हमें उनकी मौजूदगी की याद दिलाता है जो कैन्डल बंधुओं कैले, मोलियन द्वारा खोजा गया था। और, हालाँकि वह कहीं भी याद नहीं दिलाता कि जब पुर्तगाली 1498 में कांगो के तट पर उतरे, तो उन्हें वहाँ एक समृद्ध राज्य मिला और अंबास के दरबारी रेशम और ब्रोकेड के कपड़े पहने हुए थे, कम से कम वह जानता है कि अफ्रीका ने खुद राज्य की एक न्यायिक अवधारणा का निर्माण किया था, और वह जानता है, साम्राज्यवाद के चंगुल में जीते हुए भी, कि यूरोपीय सभ्यता कई सभ्यताओं में से एक सभ्यता भर है वह भी क्रूर।[18]

मैंने श्वेत व्यक्ति को उसकी जगह दिखाई; हिम्मतपूर्वक मैंने उसे झकझोरा और सीधे कहा, "मेरी आदत डाल लो, मुझे किसी की आदत नहीं है।" मेरी हँसी से आसमान गूँज उठा। मैंने देखा, श्वेत नाराज थे। उनकी प्रतिक्रिया का समय अब समाप्त हो चुका था...। मैं जीता। मैं खुश था।

अपने इतिहास, अतीत की गुत्थियों को ठुकराओ, और अपने आप को हमारी लय में महसूस करने की कोशिश करो। हमारे जैसे समाज में, उच्चतम स्तर तक औद्योगीकृत, वैज्ञानिकता से प्रभावित, आपकी संवेदनशीलता के लिए कोई जगह नहीं है। यदि किसी को जीवित रहना है तो कठोर हृदय होना होगा। परमाणुओं के बल पर पूर्णतः पराधीनता कायम करना मायने रखता है।

ओह, निश्चित रूप से, बीच-बीच में मुझे बताया जाएगा, जब हम बड़ी इमारतों की दुनिया से बाहर आते हैं, तो हम आपको अपने बच्चे की तरह देखेंगे निर्दोष, सरल और सहज। हम आपको शुरुआती दुनिया की तरफ मोड़ देंगे। आप अपने जीवन में कितने वास्तविक हैं कितना आनंदित। हमें थोड़ी देर के लिए हमारे कर्मकाण्डयुक्त, श्रेष्ठ सभ्यता से दूर जाने दें और आराम करने दें, उन चेहरों की तरफ देखें, जो बहुत कुछ अभिव्यक्त करते हैं। एक तरह से, आप हमें खुद को जान लेने दें।"

इस प्रकार मेरी तर्कहीनता का सामना "वास्तविक तर्क" के साथ हुआ। मेरे लिए हर हाथ एक हारा हुआ हाथ था। मैंने अपनी आनुवंशिकता का विश्लेषण किया। मैंने अपनी बीमारी की पूरी जाँच की। मैं एक असली नीग्रो बनना चाहता था यह अब संभव नहीं था। मैं श्वेत होना चाहता था यह एक भद्दा मजाक था। और, जब मैंने अपने विचारों और बौद्धिकता के बल पर नीग्रो की प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने की कोशिश की, यह भी मुझसे छीन लिया

गया। प्रमाण दिया गया कि यह प्रयास केवल द्वंद्वात्मक स्थिति थी।

लेकिन कुछ चीजें उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। नीग्रो, जैसा कि हम मानते हैं, अपने लिए नस्लवाद-विरोधी नस्ल का निर्माण करता है। किसी भी मायने में वह दुनिया पर शासन करने की इच्छा नहीं रखता : वह सभी जातीय विशेषाधिकारों के उन्मूलन का प्रयास करता है, चाहे वे कहीं से आते हों; वह सभी नस्लों के उत्पीड़न के खिलाफ एकजुट होने का दावा करता है। शीघ्र ही व्यक्तिपरक, अस्तित्वगत, नीग्रो के जातीय विचार का "लोप" हो जाता है, हेगेल इसे वस्तुनिष्ठ, सकारात्मक और सर्वहारा वर्ग के सटीक विचार के रूप में देखते हैं। सीजेर के लिए सेंगों कहते हैं, "श्वेत व्यक्ति पूँजी का प्रतीक है क्योंकि नीग्रो श्रम का।...अपने नस्ल के काली-चमड़ी से परे यह विश्व सर्वहारा वर्ग की लड़ाई है जो उसका गीत है।"

यह कहना आसान है, लेकिन क्रियान्वयन में मुश्किल। और निस्संदेह यह कोई संयोग नहीं है कि नीग्रो भावना से प्रेरित सबसे तीक्ष्ण कवि अपने समय के उग्र मार्क्सवादी हैं।

लेकिन वर्ग के साथ मिलने से नस्लीय विचार खत्म नहीं हो जाते। पहला ठोस और विशेष है, दूसरा सार्वभौमिक और अमूर्त है; पहला का उद्भव, जैसा कि जैस्पर ने कहा, समझदारी से और दूसरा बुद्धि से होता है; पहला एक मनोवैज्ञानिक समकालिकता का परिणाम है और दूसरा अनुभव के आधार पर व्यवस्थित निर्माण का। वास्तव में, नीग्रो की भावना एक द्वंद्वात्मक प्रगति का छोटा सा शब्दरूप है : श्वेतों की सर्वोच्चता का सैद्धांतिक और व्यावहारिक सिद्धांत इसका मूल विचार है; नीग्रो की भावना का विरोधी विचार एक नकारात्मकता का क्षण है। लेकिन यह नकारात्मक क्षण अपने आप में अपर्याप्त है, और इसपर काम करने वाले नीग्रो इसे भलीभाँति जानते हैं; वे जानते हैं कि इसका उद्देश्य नस्लरहित मानव समाज के बोध और संश्लेषण को तैयार करना है। इस प्रकार नीग्रो की भावना स्वयं के विनाश की जड़ है, यह एक संक्रमण है, निष्पत्ति नहीं, एक साधन है और आख़िरी अंत नहीं।"[19]

जब मैंने वह पृष्ठ पढ़ा, तो मुझे लगा कि मेरा आखिरी मौका ही छीन लिया लिया गया है। मैंने अपने दोस्तों से कहा, "युवा अश्वेत कवियों की पीढ़ी के लिए यह एक बड़ा झटका है, जिसे कभी माफ नहीं किया जा सकता है।" अश्वेत लोगों के एक दोस्त से मदद माँगी गई, और उस दोस्त को इससे बेहतर कोई प्रतिक्रिया नहीं मिली कि वे सापेक्षता की बात करें। उस वक्त, जन्मजात हेगेलियन यह भूल गए थे कि स्व की चेतना की प्राप्ति का एकमात्र शर्त है कि ऐसे समय में चेतना की पूर्णता को भुलाना होगा। तर्कशीलता के विरोध में, उसने नकारात्मक पक्ष को लिया, लेकिन वे भूल गए कि यह नकारात्मकता लगभग पूरी तरह से निरपेक्ष है। अनुभव प्रधान चेतना अपरिचित, अअनभिज्ञ ही रहेगा, उसके अस्तित्व के सार और दृढ़ता के संबंध में।

'अफ्रीके नोयर' अश्वेत के अनुभव के बौद्धिकीकरण की एक महत्त्वपूर्ण तारीख है। और सार्त्र की गलती केवल स्रोत के स्रोत की तलाश ही नहीं थी, बल्कि एक अर्थ में उस स्रोत को अवरुद्ध करना भी था।

क्या कविता का स्रोत सूख सकता है? या क्या विशाल काली बाढ़, सब कुछ के बावजूद, समुद्र को अपने रंग में रंग देगी? इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हर युग की अपनी कविता है; हर युग में ऐतिहासिक परिस्थितियाँ एक राष्ट्र, एक जाति, एक वर्ग को मशाल उठाने के लिए प्रेरित करती हैं, जो केवल कविता के माध्यम से व्यक्त या प्रसारित किया जा सकता है; कभी-कभी काव्यात्मक आवेग में क्रांतिकारी आवेग होता है और कभी उनके रास्ते अलग होते हैं। आज सब उस ऐतिहासिक परिवर्तन का स्वागत करते हैं जब अश्वेतों के लिए "एक

महान नीग्रो उद्घोष गुंजायमान हो जिससे दुनिया की सारे स्तंभ हिल उठें" (सीजेर)।[20]

और मैं यहाँ इसलिए नहीं हूँ जो अपने लिए अर्थ तलाश रहा है, बल्कि यह पहले से ही उपस्थित है, मेरा इंतजार करता हुआ। यह मेरे बुरे निगर के दुःख, मौत, और भूख के कारण नहीं है जिससे मैं दुनिया को जलाने के लिए मशाल जलाऊँगा, लेकिन यह वह मशाल है जो ऐतहासिक परिवर्तन का इंतजार कर रही थी।

चेतना के संदर्भ में, अश्वेत चेतना एक संपूर्ण चेतना मानी जाती है, खुद में परिपूर्ण, किसी भी आक्रमण से पहले की स्थिति, अपनी इच्छा से अहंकार का उन्मूलन। इसमें, ज्याँ-पॉल सार्त्र ने अश्वेत उत्साह को नष्ट कर दिया है। ऐतिहासिक बनने के विरोध में, हमेशा कुछ अप्रत्याशित घटता रहा है। मैं अपने आप को पूरी तरह से अश्वेतों के अस्तित्व में भुला देना चाहता हूँ। किसी दिन, शायद, एक रोमांटिक दुःखों की गहराई में...।

वैसे भी, मैं नहीं जानता चाहता था। यह संघर्ष, एक नए पतन की एक संपूर्णता के पहलू तक ले जाना चाहता था। सामान्यीकरण से बुरा कुछ भी नहीं। "तुम बदल जाओगे, मेरे दोस्त; जब मैं छोटा था तो मैं भी ऐसा ही था। एक दिन तुम यह सब बीतते देखोगे।"

द्वंद्वात्मकता, जो मेरी स्वतंत्रता की नींव में आवश्यक तेजी लाती है, मुझे खुद से अलग करती है। यह मेरी वास्तविक स्थिति को ध्वस्त कर देती है। अभी भी चेतना के संदर्भ में, अश्वेत चेतना मेरी आँखों में आसन्न है। मैं किसी चीज की ताकत नहीं हूँ, मैं वही हूँ जो मैं हूँ। मुझे सार्वभौमिकता की तलाश नहीं करनी है। मेरे अंदर कोई संभावना नहीं है। मेरी नीग्रो चेतना खुद को किसी भी कमी के रूप में नहीं देखती। यह है। यह खुद को मानना है।

लेकिन, मुझे बताया जाएगा, आपके बयान इतिहास की गलत प्रक्रियाओं को प्रदर्शित करते हैं। फिर सुनो :

अफ्रीका, तुम मुझे याद हो अफ्रीका
तुम मेरे भीतर हो
किसी घाव की तरह
गाँवों के बीच में किसी बुत की तरह
मुझे अपने गुलेल का पत्थर बना लो
मेरे मुँह को अपने ज़ख्मी होंठ बना लो
मेरे घुटनों को अपने टूटे हुए नींव के खंभे बना लो
और फिर भी
मैं सिर्फ तुम्हारी नस्ल का होना चाहता हूँ
सारी धरती का मजदूर किसान...
... अलबामा का अश्वेत चपरासी डेट्रायट का श्वेत मजदूर
पूँजीवादी दासता के अनगिनत राष्ट्र
किस्मत हमें कंधों से कंधा जोड़ता है
रक्त वर्जनाओं के प्राचीन अभिशाप को ठुकराकर
हम अपने सुखांत के अवशेषों को अपना लेते हैं
अगर बाढ़ है सामने
हम गलियों को ख़त्म नहीं होने देंगे
होता रहे प्रवाह
अगर सामने है सिएरा

हम ज्वालामुखियों के जबड़े तोड़ देंगे
कॉर्डिलेरास को बरकरार रखेंगे
और मैदान में भोर का आवागमन होगा
जहाँ हम बिखरी शक्तियों को इकट्ठा करते हैं
हमारे आकाओं के धोखे से
जैसे विशेषताओं में विरोधाभास
चेहरे में मेल बिठाता है
हम पीड़ा के एक होने की घोषणा करते हैं
और विद्रोह
सारी दुनिया के सारे लोगों के
और हम ओखली में भाईचारे की तरह मिलते हैं
मूर्तियों की धूल से।[21]

बिल्कुल, हम जवाब देंगे, नीग्रो का अनुभव ही सबकुछ नहीं है, क्योंकि केवल एक नीग्रो नहीं है, सारे नीग्रो हैं। उदाहरण के लिए :

गोरे आदमी ने मेरे पिता को मार डाला
क्योंकि मेरे पिता को गर्व था
गोरे आदमी ने मेरी माँ का बलात्कार किया
क्योंकि मेरी माँ खूबसूरत थी
गोरे आदमी ने मेरे भाई को तेज़ धूप में सड़क पर धकेल दिया
क्योंकि मेरा भाई मजबूत था
फिर वह श्वेत व्यक्ति मेरे पास आया
उसके हाथ खून से लाल
उसने अपना अपमान मेरे अश्वेत चेहरे पर थूक दिया

उस आततायी की आवाज़ में :

"ऐ लड़के, बेसिन, तौलिया, पानी।" [22]

या यह एक और :

पाखंडों पर हँसता हुआ मेरा भाई
मेरा भाई सुनहरे-रंग के चश्मे में
मास्टर की एक आवाज़ पर नीली होती आँखें
बेचारा मेरा भाई अपने रेशमी किनारे वाले डिनर जैकेट में
डरते और कानाफूसी करते हुए विनम्रता के पास खींचते हुए
आप कितने दयनीय हैं
अपने देश का सूर्य अब छाया से ज्यादा कुछ नहीं है
आपके नकली सभ्य चेहरे पर
और आपकी दादी की झोपड़ी
सालों तक गोरे बने गालों में चमक लाता होगा
लेकिन जब ऊँचे आदर्शों के खाली शब्द उल्टी करते हुए
एक ऐसे बोझ जो आपके कंधों को दबा दे
आप फिर से अफ्रीका की कठिन लाल धरती पर चल रहे हैं

पीड़ा के ये शब्द आपकी बेचौनी की लय को बयाँ करेंगे
मैं अकेला महसूस करता हूँ, इसलिए यहाँ अकेला हूँ![23]

समय-समय पर हर कोई आराम करना चाहेगा। साफ़ शब्दों में सचाई एक थकाऊ काम है। लेकिन, जब किसी ने अपने अस्तित्व को व्यक्त करने का संकल्प ले लिया है, तो उसके अस्तित्व को मिटा देने का खतरा रहता है। दरअसल, उसी क्षण, जब मैं अपने आप को सहेजने का प्रयास कर रहा था, सार्त्र, जो दूसरे थे, मुझे एक नाम दिया और इस तरह से मेरा आखिरी भ्रम टूट गया। जब मैं उससे कह रहा था :

"मेरी निष्ठा न तो तौलिया है और न ही गिरजाघर,
यह सूरज पर दबाव बनाता है,
यह जले हुए आकाश से मिलता है,
अपने स्तंभों के घने विघटन से खोखले हो जाते हैं धैर्य... "

जब मैं चिल्ला रहा था, मेरे रोष और आवेग के बीच, वह मुझे याद दिला रहा था कि मेरा कालापन केवल एक मामूली शब्द था। सच में, मैं आपको बताता हूँ, मेरे कंधे दुनिया के ढाँचे से अलग हो गए, मेरे पैर अब जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। एक नीग्रो के लिए भूत और भविष्य के बिना, अपने भीतर के नीग्रोपन को बचा पाना असंभव था। अभी तक ना श्वेत, न पूरा अश्वेत, मैं दंडित किया गया था। ज्याँ-पॉल सार्त्र भूल चुके थे कि नीग्रो अपने आप में श्वेतों से अलग मायनों में दुःखी है।[24] श्वेत व्यक्ति और मेरे बीच अपरिवर्तनीय रूप से श्रेष्ठता की ओर बढ़ने वाला संबंध था।[25]

लेकिन मेरे प्रेम की निरंतरता को भुला दिया गया था। मैंने खुद की शुरुआत को पूरी तत्परता से परिभाषित किया। इसलिए मैंने अपनी नीग्रोपन को अपनाया, और आँखों में आँसू के साथ इसके सारे तंत्र को फिर से एकजुट किया। मेरे हाथों में अंतर्निहित हुनर द्वारा बिखरे टुकड़ों को सहेजकर फिर से पुनर्निर्मित किया गया।

मेरा रोना और अधिक तेज हो गया। मैं एक नीग्रो हूँ, मैं एक नीग्रो हूँ, एक नीग्रो हूँ...।

मेरा गरीब भाई था वह लकवाग्रस्त होने के कारण एक विक्षिप्त की ज़िंदगी जी रहा थाः

नीग्रो : मैं नहीं कर सकता।

लिजी : क्यों नहीं?

नीग्रो : मैं गोरे लोगों को गोली नहीं मार सकता।

लिजी : सच में! क्या उसे परेशानी होगी?

नीग्रो : वे गोरे लोग हैं, मैडम।

लिजी : तो क्या? क्या सिर्फ उन्हें यह अधिकार है कि वे तुम्हारा खून सुअर की तरह बहाएँ क्योंकि वे श्वेत हैं?

नीग्रो : लेकिन वे गोरे लोग हैं।

लिजी : हीनता की भावना? नहीं, अस्तित्वविहीन होने की भावना। नीग्रो पाप और श्वेत पुण्य का पर्याय हैं। उतने सारे श्वेत, हाथ में बंदूक लिए, एक साथ गलत नहीं हो सकते। मैं दोषी हूँ। मुझे नहीं पता अपना अपराध, लेकिन मुझे पता है कि मैं अच्छा नहीं हूँ।

नीग्रो : ऐसे ही होता है मैडम। श्वेत लोगों के साथ हमेशा ऐसा ही होता है।

लिजी : तुम भी? तुम खुद को दोषी मानते हो?

नीग्रो : हाँ, मैडम।[26]

यह बड़े थॉमस हैं डरते हैं, बहुत डरते हैं। वे डरते हैं, लेकिन वे किससे डरते हैं? खुद

से। अभी तक कोई नहीं जानता कि ये कौन है, लेकिन उन्हें पता है कि जब दुनिया को पता चलेगा तो दुनिया डर से भर जाएगी। और जब दुनिया को पता चलता है, तो वह हमेशा नीग्रो से कुछ उम्मीद करती है। उसे दुनिया से डर लगता है, वह भयाक्रांत है कि उसे जानने के बाद दुनिया डर जाएगी। बिलकुल उस बूढ़ी औरत की तरह जिसने मुझसे खुद को अपने बिस्तर से बाँधने की गुहार लगाईः

"मुझे पता है, डॉक्टर : किसी भी वक्त मैं उसकी पकड़ में आ सकता हूँ।"

"किसकी?"

"खुद को मारने की चाहत में। मुझे बाँध दो, मुझे डर है।"

अंत में, बड़ा थॉमस वही करता है। अपने तनाव को खत्म करने के लिए, वह कार्य करता है, वह दुनिया की उम्मीदों का जवाब देता है।[27]

'इफ ही होलर्स लेट हिम गो'[28] फिल्म का पात्र ठीक वही करता है जो वह नहीं चाहता। वह गोरी लड़की जिसे वह हमेशा कमजोर, कामुक, स्वतंत्र, खुले स्वभाव का समझकर, बलात्कार करने की इच्छा रखता था, अंत में उसकी मालकिन बन गई।

नीग्रो श्वेत के हाथों में एक खिलौना है; इसलिए, इस नरकीय दुष्चक्र का नाश करने के लिए वह फट पड़ता है। मैं खुद को देखे बिना किसी फिल्म में नहीं जा सकता। मैं खुद का इंतजार करता हूँ। अंतराल में, फिल्म शुरू होने से ठीक पहले, मैं खुद का इंतजार करता हूँ। थिएटर में लोग मुझे देख रहे हैं, आकलन कर रहे हैं, इंतजार कर रहे हैं। एक नीग्रो दूल्हा आने वाला है। मेरा दिल मेरे दिमाग पर हावी हो जाता है।

प्रशांत युद्ध में अपाहिज दिग्गज ने मेरे भाई से कहा, "अपने रंग को वैसे ही भूल जाओ जैसे मुझे सहारे की आदत हो गई है; हम दोनों पीड़ित हैं।"[29]

फिर भी मैं पूरे ताकत से अपने अपाहिज होने से इनकार कर देता हूँ। मैं अपने भीतर की दुनिया को महसूस करता हूँ, एक ऐसी आत्मा जो सबसे गहरी नदी जितनी गहरी है, मेरी सीने में असीम विस्तार पाने की शक्ति है। मैं मालिक हूँ और मुझे अपंग जैसे बनने की सलाह दी जाती है। कल, आँख खुलते ही मैंने देखा कि पूरा आकाश करवट ले रहा है। मैं उठना चाहता था, लेकिन भयानक चुप्पी मुझ पर सवार हो गई और हौसले पस्त। बिना किसी करतब के अनंत और शून्यता पर सवार, मैं रोने लगा।

(यह लेख फ्रान्ज फैनन की पुस्तक : 'ब्लैक स्कीन, व्हाइट मॉस्क'–अंग्रेजी अनु. : चार्ल्स लैम मार्कमैन के पाँचवें अध्याय : दि फैक्ट ऑफ ब्लैकनेस' का अनुवाद है।)

संदर्भ :

1. Jean Lthemitte, L' image de notre corps (Paris, Nouvelle Revue Critique, 1939), P. 17
2. Sir Alan Burns, Colour Prejudice (London, Allen and Unwin, 1948) p. 16.
3. Anti-semite and jew (New Yark, Grove Press, 1960) pp-112-113.
4. Ibid., p. 115.
5. Jon Afred Mjoen, "Harmonic Dishar monic Race-crossong." The second international Congress of Eugenic in Race and State, Vo.II, p.60. Quofed in sir Alan Burns. op.cit, p.120.
6. In English in the original (Translater's note).
7. "Ceque I'homme noir apparte" in Claude Nardey. L. Homme de Couler (Paris, Pion, 1939), pp. 309-310
8. Aime cesaire, cahierd'un Retour au pays natal (Paris, Presence Africaine, 1956). pp. 77-78
9. Ibid, p. 78

10. Ibid, p. 79
11. De Pedrals, Lavie sexuelle en Afrique noire (Paris, Payof), p, 83
12. A. M. Vergiat, Les rites Secrets des Primitits del oubangui (Paris, Payot 1951), p. 113.
13. My italics - f.f.
14. My Italics- f. f.
15. Leopold sneghor, "Ceque l' homme noir apporte" in nordey. o.p. cit. p. 205
16. Leo pold senghor, chants d' ombre (Paris, Edition de seuil, 1945)
17. Aime cesaire introduction to victor schoelcher. Esclavage et. coloni sation (Paies, Presses Universities de france, 1948), P. 7
18. Ibid, p.8
19. Jean-Pual sartre, Orphee noir, Prefence to Anothologie de la nauvelle Poesie negre eit Malgache (Paris Presses Universitaires France, 1948), PP. X/ff
20. Ibid, p. x/ff
21. David Di op, "Le temps du martyre", in bid. p. 174
23. David Di op, "Le Renegat"
24. Through sartre's speculation on the existence of the other may be correct c to the extent, we must rember, to which being and nothingness discribes and alienated consciousness) , Their application to a black conciousness Prores fallacious. Thae is master, whether real or imaginary.
25. In the sense in cohich the world is used by Jean wahl in Geistance hamaine et transedence (Neuchater, La Bacanniere, 1944)
26. Jean-paul sartre, the Respectful Prostitute, in three Plays (New yark, Knoff, 1949) , pp. 189,191 originally, Laputain respectueuse (Paris Gallimard, 1947) See also home of the France, a film by mark Rabson.
27. Richard wrightm Native son (New yark harper, 1940)
28. By chestor Himes (Garden city, Doubleday, 1945).
29. Home of the Brave.

संपर्क : शोधार्थी, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, मो. 9871931186

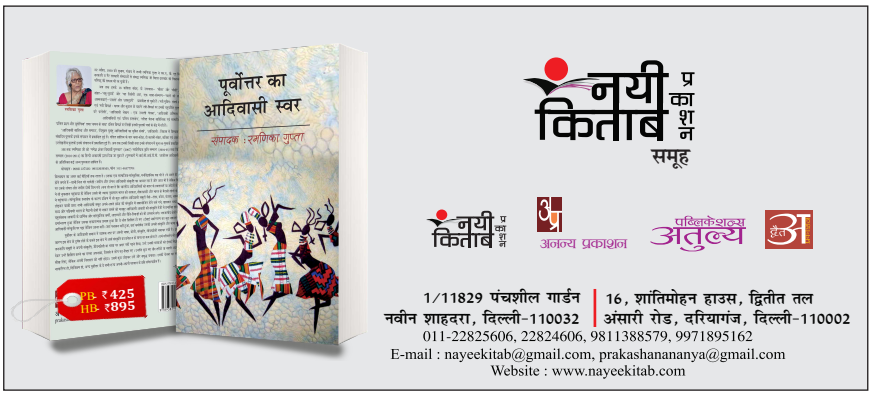

साम्राज्यवादी शोषण का विराट प्रतीक : दामोदर वैली कॉरपोरेशन (टी.वी.ए. अमेरिका की नकल)

घनश्याम

अंततः जिसकी आशंका थी, कुछ वैसा ही हो रहा है। केन्द्र की नई सरकर ने गंगा की सफाई के नाम पर कुछ ऐसी अवधारणा सामने लाई है जिससे गंगा की अविरल धारा और बाधित होगी तथा गंगा कॉरपोरेट घरानों के हाथ चली जाएगी। यह बात सर्वविदित है कि नदियाँ जब अविरल बहती हैं तभी वह निर्मल रहती हैं। नदियाँ जब उन्मुक्त रहती हैं तब वह आम जन के फायदे के लिए होती हैं। सबकी आजीविका और जीवन के लिए सर्वसुलभ रहती हैं लेकिन नदियाँ जब बँधती हैं तब वह मुट्ठी भर लोगों, खासकर पूँजीपतियों और इजारेदारों की सम्पत्ति बन जाती हैं।

इस बहस की शुरुआत तभी हो गई जब दामोदर वैली कॉरपोरेशन के माध्यम से दामोदर पर कई बाँध और बराज बनाने की योजना सामने आई थी। इस बहस की शुरुआत तत्कालीन प्रमुख इंजीनियर कपिल भट्टाचार्य ने जोरदार ढंग से की थी। उन्होंने कहा था कि ''मैं इस बात को बार-बार दुहराऊँगा कि आज उन करोड़ों रुपयों से निर्मित परियोजनाओं की वैज्ञानिक ढंग से समीक्षा करने का समय आ गया है। देश का शासन जिन लोगों के कब्जे में है, उनके अशिष्ट व्यवहार की वजह से अनेक स्वदेशी विज्ञ एवं अभिज्ञ व्यक्ति मौन साधे रहने के लिए मजबूर कर दिए गए हैं। उनके सम्यक ज्ञान का सद्व्यवहार न करके उन्हें पंगु बनाकर रख छोड़ा गया है एवं दुष्टों, देशद्रोही चरित्रवालों का दल क्षमतासीन होकर आम जनता की गाढ़ी पसीने के कमाई को लूटने में संलिप्त है।''

क्या कपिल भट्टाचार्य की उक्त बातें आज भी सही नहीं लग रही हैं? इस पर विचार करने की जरूरत है। आईए डी.वी.सी. परियोजना के आलोक में वस्तुस्थिति का आकलन करें।

दामोदर घाटी निगम का निर्माण बहुद्देशीय परियोजनाओं के लिए हुआ था। इसमें बाढ़ नियंत्रण, पन बिजली उत्पादन और सिंचाई की व्यवस्था की अवधारणा निहित थी। बंगाल और बिहार के लिए 'विकास का अभिनव मंदिर' के रूप में प्रस्तुत इस परियोजना का क्या हश्र

हुआ? यह दोनों राज्यों के लिए वरदान साबित हुआ या अभिशाप इसकी पहचान करने के लिए विख्यात इंजीनियर कपिल भट्टाचार्य की अवधारणाओं को उद्धृत करना उपयुक्त होगा ''दामोदर नदी हुगली और हावड़ा जिले के लोगों का मेरुदंड है। इस नदी की तमाम अच्छाइयों-बुराईयों के साथ यहाँ के निवासियों के जीवन का सुख-दुःख एवं उन्नति-अवनति ओतप्रोत भाव से जुड़ा है। भारत सरकार ने दामोदर परियोजना को लेकर बहुमुखी उद्देश्य की घोषणा की और उसके साथ-साथ रंगीन और सुखद भविष्य का सपना दिखाना प्रारंभ किया। लेकिन जरा भी समीक्षा करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ के लोगों की आशाएँ वर्तमान संदर्भों में दिवास्वप्न के अलावा कुछ नहीं है। एक वाक्य में कहना हो तो मैं बोलूँगा कि वर्तमान समय में यह परियोजना देश के साधारण जनों के सर्वांगीण विकास के लिए, कल्याण के लिए नहीं, बल्कि साम्राज्यवादियों के शोषण को अक्षुण्ण रखने के लिए जबरन हमारे सिर पर थोप दी गई है। परियोजना के विभिन्न पहलुओं ये यह समझना कठिन नहीं कि एक भयानक षड़यंत्र में हम लोगों को फाँसा गया। चतुर साम्राज्यवादियों ने अपना मतलब साधने के लिए एक फंदा बनाया। वर्तमान दामोदर घाटी परियोजना की बदौलत देश की आम जनता की सुख-समृद्धि में तनिक भी वृद्धि नहीं होगी, बल्कि उनकी स्थिति दिनों-दिन और भी दयनीय होती चली जाएगी। साम्राज्यवादी शक्तियों और दलालों की चाँदी कटती रहेगी। इस परियोजना के तहत नहरों के खोदने की निरर्थक हरकत करते हुए ऐसी मूल्यवान जमीन का सत्यानाश कर दिया है, जिसमें वर्ष में चार फसलों की उपज होती थी।''

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पूर्व तक दामोदर नदी के इन अंचलों में रहने वाले लोग दामोदर की बाढ़ को अपने काम में लगाते थे। 4 हजार वर्ष पूर्व प्राचीन काल की भगीरथी के समय से ही यहाँ के लोग दामोदर की बाढ़ को अपने कृषि में उपयोग में लाते थे। विशेषकर बाढ़ की मिट्टी को अपने खेत में जमाकर उसे अधिक उर्वर बनाने के लिए। इन इलाकों में नियमित रूप से वर्षा होती रहने के कारण खेती-बारी के कार्यों में जरा-सा भी जल जमाव नहीं होता था। साथ ही साथ दामोदर की बाढ़ में पहाड़ी अंचलों से बहकर जाने वाली उर्वरक मिट्टी खेतों की समृद्ध बनाती थी।

डॉ. वेन्टली, सर विलियम्स विलकॉक्स, विलियम जैसे विशेषज्ञों ने भी यह तथ्य स्वीकार किया था कि आषाढ़ के महीने में दामोदर नदी की बाढ़ के पानी से बहकर आने वाली अरबों मछलियाँ और उसके अंडे खेतों में फैल जाते थे। वे मछलियाँ धानखेती के तमाम मच्छरों के अंडों तथा लार्वा को खा जाया करती थीं इससे मलेरिया वाहक मच्छरों का समूल विनाश हो जाता था और इलाके के लोग मलेरिया से पीड़ित होने से बच जाते थे। यहाँ के निवासियों को बड़े पैमाने में खाने के लिए मछलियाँ मिल भी जाया करती थीं। लेकिन अब दामोदर नदी के दोनों ओर सुदृढ़ तटबंध और बाँध बनाकर उसकी बाढ़ को रोकने की जो प्रक्रिया अपनाई जा रही है, इससे यहाँ के खेतों की उर्वराशक्ति घटती चली जा रही है। साथ ही आदिवासियों को अब मछलियाँ भी नहीं मिलती हैं।

दामोदर नदी के किनारे बसने वाले किसान पिछले 4 हजार वर्षों से अपने इलाकों में छोटे-छोटे बाँध, आहर आदि के निर्माण की प्रक्रिया अपनाते रहे हैं। कई जगह अपनी सुविधानुसार नदी के किनारे पर भी कच्चे बाँध बना दिया करते थे। और समय-समय पर अपनी जरूरत के मुताबिक उसको काट कर दामोदर की बाढ़ का पानी खेतों में ले आया करते थे ताकि खेतों की उर्वरा शक्ति बरकरार रहे।

पिछले दिनों का रिकार्ड यह बतलाता है कि इन अंचलों में संपूर्ण अनावृष्टि की दुर्घटना कभी घटित नहीं हुई। बारिश के समय में थोड़ा बहुत परिवर्तन जरूर हुआ लेकिन कुल मिलाकर

यहाँ 55 इंच बारिश हो ही जाती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि पुराने तालाब, पोखरे, नहर-नाले में संचित जल से ही इस इलाके की खेती सहजतापूर्वक की जा सकती है।

स्पष्ट है, गौरांग महाप्रभुओं ने यहाँ के किसानों को दरिद्र बना देने तथा ब्रितानी सत्ता के लिए अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिए ख्याल से दामोदर घाटी बहुउद्देश्यी परियोजना का जाल फैलाया था। यह जाल फैलाने के पूर्व ब्रिटिश हुक्मरानों ने भारत के खेतों को धीरे-धीरे इस कदर जल से वंचित कर दिया कि भारतीय किसान तड़पती मछलियों की तरह खुद व खुद जाल में फँस जाय।

कुछ मत करो, कुछ मत करने दो

इसके लिए ब्रितानी सत्ता ने सर्वप्रथम यहाँ के परंपरागत सिंचाई साधनों मसलन पोखर, तालाब, बाँध, प्राकृतिक, जोरिया, कच्चे कुँए आदि, जो यहाँ के किसानों ने पिछले 4 हजार वर्षों में अपने अधिकांश से बनाए थे, की ओर ध्यान न देकर उसे मरने को विवश कर दिया। यहाँ की जमीन की बंदाबस्ती कर इलाके में चलने वाली सामूहिक और सामुदायिक पद्धति को तोड़ा। सिंचाई के साधन जो समुदाय की सामूहिक सम्पत्ति हुआ करते थे, पर टैक्स लगा कर उसे सरकारी घोषित कर दिया। परिणामतः उस सामुदायिक पद्धति की ओर से लोग उदासीन होने लगे और धीरे-धीरे उसके प्रति लगाव और अभिक्रम घटता चला गया।

1838 में एक पुस्तक छपी थी 'इंडिया एंड द कॉलोनीज'। इसके लेखक थे जी. थॉम्सन। श्री थॉम्सन लिखते हैं, 'देश की सेवा और जनता की भलाई के लिए हिन्दू और मुसलमान राजाओं ने जिन सड़कों, तालाबों और नहरों को बनाया था उनकी हालत आज जीर्णशीर्ण हो गई है। आज स्थिति यह है कि सिंचाई के साघनों के अभाव में जनता को अकाल का सामना कर पड़ रहा है।

एक दूसरी पुस्तक 'पब्लिक वर्क्स इन इंडिया' 1854 में प्रकाशित हुई। इसके लेखक आर्थर काटन ने एक जगह लिखाः ''समूचे भारत में सार्वजनिक कार्य की उपेक्षा की गई है। यहाँ का नारा बस यहीं था कि कुछ मत करो, कुछ मत करने दो और कुछ करने की जरूरत नहीं है। जनता को अकाल से मरने दो, लाखों लोगों को पानी और सड़क के लिए पैसा वसूल कर, कंगाल बना दो। तत्कालीन भारत की दुर्दशा पर प्रकाश डालते हुए सन् 1858 के 24 जून को हाऊस ऑफ कामन्स में जॉन ब्राइट ने कहा, 'अकेले मेनचेस्टर शहर ने अपने निवासियों को केवल पानी मुहैया करने के लिए जो राशि खर्च की है वह ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत जैसे विशाल डोमिनियन में 1834 से 1848 तक खर्च की गई कुल राशि से कहीं ज्यादा है।'

अंग्रेजों ने भारत को लूटने और यहाँ के लोगों को कंगाल बनाने की जो प्रक्रिया अपनाई थी, उसकी मिसाल देते हुए रजनी पाम दत्त अपनी पुस्तक 'आज का भारत' में लिखते हैं, 'ब्रितानी सत्ता ने सन् 1900 तक जहाँ रेल व्यवस्था पर 22 करोड़ पौंड खर्च किए वहीं नहरों के निर्माण में मात्र ढ़ाई करोड़ पौंड। यानी नहरों मुकाबले रेल पर 9 गुणा ज्यादा खर्च किया गया।

1930 में प्रकाशित बंगाल सिंचाई विभाग समिति की रपट का छोटा-सा अंश यह बताने के लिए काफी है कि अंग्रेजी राज ने भारत को कितनी दयनीय स्थिति में पहुँचा दिया—''प्रत्येक जिले में नाव के जरिये सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने के लिए जो नहरें बनाई गई हैं, उनमें, समय बीतने के साथ ही पानी सूखता जा रहा है। यह दलदल का रूप ले रहा है। पूर्वी बंगाल में नहरे और नदियाँ ही वहाँ की सड़कें और राजमार्ग है। इस प्रांत के लोगों के आर्थिक जीवन के लिए इनका कितना महत्त्व है इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

जहाँ तक छोटे-छोटे रास्तों के रखरखाव और उनको फिर से शुरू करने की बात है व्यवहारिक रूप से कुछ भी नहीं किया गया है। इसका नतीजा, यह हुआ कि इस सूबे के कुछ हिस्से में नहरें सूख गई हैं।''

भारतीय किसान : लगन पर लगान

मजेदार बात यह है कि अंग्रेजी शासकों ने भारत की बर्बर और असभ्य युग में जीने वाला देश कहा था। यहाँ की कृषि व्यवस्था को पिछड़ेपन का शिकार बताया गया है। दूसरी ओर इसको नकारते हुए तत्कालीन कृषि वैज्ञानिक जे.ए. बोल्कर 1889 में भारत की कृषि व्यवस्था की छानबीन करने के बाद अपनी रिपोर्ट (1891) में लिखते हैं, ''एक मुद्दे पर कोई सहमति नहीं हो सकती। यह जो धारणा व्यक्त की जाती है कि भारतीय कृषि कुल मिलाकर आदिकालीन और पिछड़ी है तथा इसमें सुधार करने के उपाय नहीं किए गए हैं, पूरी तरह भ्रांतिपूर्ण हैं। भारतीय किसान कुछ मामलों में तो ब्रिटिश किसान से भी ज्यादा अच्छी स्थिति में हैं।''

इसी रिर्पोट में भारतीय किसानों की लगन और वैज्ञानिकता की बड़ाई करते हुए कहा गया कि ''कृषि कर्म के साधारण कार्यों को यदि देखें तो हमें इस तरह के दृष्टांत इतने बेहतर ढंग से और कहीं नहीं मिलेंगे, जहाँ लोग इतने कायदे से खेत के घासपात साफ करते हों, सिंचाई के इतने अच्छे उपकरण इस्तेमाल में लाते हों, मिट्टी और उसकी क्षमता की इतनी अच्छी जानकारी रखते हों, बोने और काटने के ठीक-ठीक समय के बारे में जानते हों। ये सारे गुण भारतीय किसानों में सहज ही मिलेंगे। यह भी अद्भुत है कि फसलों को मिलाकर बोने का तरीका उन्हें बखूबी मालूम है।''

इन परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए रजनी पाम दत्त अपनी पुस्तक 'आज का भारत' में लिखते हैं, ''भारतीय कृषि में बढ़ते संकट का कारण न तो प्राकृतिक परिस्थितियाँ हैं और न ही किसानों की कुशलता अथवा साधन सम्पन्नता का अभाव। जिन सीमाओं के अंतर्गत उन्हें काम करना पड़ता है उन्हें यदि देखें तो यह कहना गलत होगा कि भारतीय किसान की गरीबी का कारण उनका तथाकथित पिछड़ापन है, जिसकी वजह से उनका विकास नहीं हो पा रहा है। वस्तुतः इस संकट का कारण साम्राज्यवाद है और साथ ही साम्राज्यवाद द्वारा पोषित वे सामाजिक संबंध हैं जिनकी वजह से कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता जा रहा है।...दिनोंदिन किसानों को परेशान रहना पड़ता है और आधा पेट खाकर किसी तरह गुजर बसर करना पड़ता है।''

ऊपर के तमाम उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में अंग्रेजी सत्ता ने अकाल को आमंत्रित किया। समय पर वर्षा नहीं होना अकाल नहीं सुखाड़ कहलाता है। लेकिन सुखाड़ के कारण अकाल हो जाए यह जरूरी नहीं है। क्योंकि सुखाड़ के बावजूद अगर लोगों के पास क्रय शक्ति है, खाने के और साधन सुलभ हैं तो अकाल कैसा? लेकिन अंग्रेजों ने भारतवासियों को कहीं का नहीं छोड़ा था। लोगों से बेशुमार लगान वसूल कर अंग्रेजों ने यहाँ किसानों की कमर तो तोड़ ही दी, मजदूरों को बंधुआ बनने को विवश कर दिया।

ब्रितानी अकाल : भारतीय दलाल

ब्रितानी सत्ता में यहाँ अकाल को जन्म दिया, यह कहने पर शायद यहाँ यह सवाल उठ सकता है कि क्या अंग्रेजों से पहले अकाल नहीं पड़ते थे? इस सवाल का जवाब यूनान के दूत मेगास्थनीज के उस विवरण में मिलता है जो यहाँ आने पर उन्होंने भारत के बारे में लिखा। 300 वर्ष ईसा पूर्व उन्होंने लिखा है कि यह जानकर आश्चर्य होता है कि भारत मे कहीं भी अकाल

नहीं पड़ते। हो सकता है मेगास्थनीज की यात्रा के बाद भारत में अकाल पड़ा हो लेकिन इसके दस्तावेज शायद उपलब्ध नहीं है।

भारत में अकाल का पहला विवरण 1769-70 में मिलता है। वस्तुतः यह अकाल से भी ज्यादा गंभीर समस्या थी, जिसे दुर्भिक्ष कहा गया था (दुर्भिक्ष यानी जब भीख भी नसीब न हो) इस दुर्भिक्ष में तत्कालीन बंगाल प्रोविन्स (आज के बंगाल, बिहार और उड़ीसा) की लगभग एक तिहाई-आबादी मौत का शिकार हुई थी। 1769-70 से लेकर अब तक 10 बड़े-बड़े अकाल पड़े जिनमें लाखों लोग काल के गाल में समा गए। 1769 के बाद 1860 में अकाल पड़ा। इस अकाल ने भी बंगाल प्रोविन्स को ही ज्यादा प्रभावित किया। 1860 के बाद 1896 से 1900 तब यह क्षेत्र लगातार अकाल का शिकार रहा। 1900 के बाद 1943 अकाल फिर आया जिसमें बंगाल में 15 लाख से अधिक लोग काल कवलित हुए। 1943 के बाद बिहार में 1966-67, फिर 1979-80 में लगातार सुखाड़ आया। इस क्रम में इलाके को अकाल क्षेत्र घोषित करने की माँग उठती रही लेकिन कभी लाठी तो कभी अनसुना कर सरकार माँग को दबाती चली गई। हाँ, 1967 में संविद सरकार ने बिहार को अकाल क्षेत्र घोषित किया था। तत्कालीन संविद सरकार ने अकाल का सामना भी दक्षतापूर्वक किया लेकिन यह सरकार कुछ ही दिनों में टूट बिखर गई।

1769-70 और 1860 के अकाल के संदर्भ में यह तथ्य सामने आया है कि जब बंगाल प्रोविन्स के अधिकांश हिस्से में लाखों लोग भूख से बिलबिला कर मरे रहे थे तब छोटानागपुर और 'जंगलतरी' (संताल परगना) में भूख से एक भी मौत नहीं हुई थी।

इसके दो मुख्य कारण हैं। पहला कि छोटा नागपुर-संताल परगना के निवासियों ने अपनी खेतों को सींचने के लिए अपनी भौगोलिक परिस्थिति और होने वाली बारिश की सूझबूझ के जरिये प्राकृतिक जल स्रोतों के आधार पर सिंचाई के साधनों का विकास कर लिया था। परिणामतः कम या अनियमित वर्षा का सामना यहाँ के किसान आसानी से कर लिया करते थे। दूसरा यह कि यहाँ के किसान सिर्फ खेतों पर निर्भर नहीं थे। यहाँ के किसानों की जीविका जंगलों पर ज्यादा निर्भर थी। सामान्यतः साल में छः महीने का भोजन उन लोगों को जंगलों से मिल जाया करता था।

ऐतिहासिक दस्तावेज गवाह हैं कि एक ओर अंग्रेजी सत्ता ने यहाँ की सिंचाई परंपरागत साधनों का नाश किया तो दूसरी ओर एक ऐसा श्रीमंत वर्ग पैदा किया जो अंग्रेजी सत्ता की दलाली करता हुआ पश्चिम की नकल कर रहा था। इनमें बंगाली श्रीमंतों की अहम् भूमिका थी।

गौरांग महाप्रभुओं ने इन देशी श्रीमंतों को जमींदार और राजा बनाकर ब्रितानी सत्ता और पद्धति के पैरोकार के रूप में एक मुखर वर्ग खड़ा कर लिया था। इस वर्ग के लोग कलकत्ता, वर्द्धमान, बीरभूम, बांकुड़ा, मिदनापुर, सिंहभूम, धनबाद और संताल परगना आदि इलाकों में बड़ी संख्या में फैले थे।

लगभग 70 सालों बाद इन श्रीमंतों और साम्राज्यवादी ताकतों के जाल का इतना विस्तार हुआ है कि एक दीर्घकालीक व्यूह रचना के बिना न तो हम नदियों को निर्मल बना सकते हैं और न स्वच्छ भारत का निर्माण कर सकते हैं।

संपर्क : मधुपुर, झारखण्ड, मो. 9431101974

पत्थलगड़ी आंदोलन : इतिहास के बियावान जंगल में पत्थर के निशान

विनोद कुमार

पत्थलगड़ी को लेकर गैर आदिवासी समाज में, तथाकथित भद्र समाज में एक तरह के भ्रम की स्थिति है। कुछ तो यह भ्रम हमारे इस समझ की उपज है कि आदिवासी समाज एक पिछड़ा आदिम समाज है और वे तरह-तरह के अंधविश्वास के शिकार हैं और पत्थलगड़ी उसी अंधविश्वास से भरी कोई परंपरा है। इसमें कुछ नये खौफनाक अर्थ सत्ता ने हाल के दिनों में भरे हैं। वह यह कि पत्थलगड़ी एक राष्ट्रद्रोह है, देश की सार्वभौमिकता के लिए एक चुनौती। इसे मानने वाले देश के संविधान को नहीं मानते। देश के कानून से खुद को उपर समझते हैं। वे हिंस्र हैं और अब तो बलात्कारी भी। यहाँ तक कि उसके बारे में लिखने वाले या उसका किसी रूप में समर्थन करने वाले राष्ट्रद्रोही हैं।

पिछले दिनों पत्थलगड़ी के इर्द गिर्द जो राजनीतिक माहौल गरमाया, उसने उत्सुकता जगायी कि हम जाने, पत्थलगड़ी दरअसल है क्या? इस क्रम में जो जाना और जितना समझ पाया वह उदात्त है। इस विराट, नश्वर जगत में अपनी पहचान का घनीभूत एहसास। मूलतः यह मुंडा समाज की सामाजिक व्यवस्था का एक हिस्सा है, लेकिन अन्य रूपों में अन्य आदिवासी समुदायों में भी इसे देखा जा सकता है। आदिवासी समाज 'पहाड़' को श्रद्धा से देखता है। 'मरांग बुरु' यानी विशाल पहाड़ उसके देवता हैं और पत्थर उसी का एक अंश। परस्पर सौहार्द और विश्वास पर टिका। सारा पोथी, पतरा, नक्शा, खतिहान एक तरफ, पत्थरगड़ी एक तरफ। विस्तृत भूखंड, खुले आसमान के नीचे एक अदद पहचान। जिसे कोई चुनौती नहीं दे सकता और देगा तो आदिवासी समाज से उसे टकराना पड़ेगा।

मुंडा समाज या बृहद आदिवासी समाज में यह धारणा है कि मृत्यु के बाद भी परिजन जीवित रहते हैं, सूक्ष्म और अगोचर रूप में। और अपने बच्चों के सुख-दुःख के साक्षी बनते हैं। मृतक के नाम से सासिंदरि-कब्रिस्तान जैसी जगह—में पत्थर गाड़ा जाता है। पत्थर के आस पास बुहार कर पत्थर पर हल्दी लगाई जाती है। उस पर उस आदमी के नाम से लाया गया

कपड़ा बिछाया जाता है। अस्थि फूल रख चुक्का पत्थर के नीचे तीर मार कर सरकाया जाता है। पूजा सामग्री- पानी, आग, धुवन, सिंदूर, इलि का रस। और उसके बाद मंत्र पढ़ा जाता है—

आज...दिन
आज...महीना
...गाँव में
...मौजा की सीमा में
पाँच भाई गाँव के
कुटुंब-बंधु देश के
हम आये हुए हैं...
हम एकत्र हुए है...
हमारे बीच से जो देव बन गया
हमारे बीच से जो छिन गया
... के नाम से
उसकी स्मृति में
तुम्हारे बताये रास्ते से
तुम्हारे इंगित मार्ग से
... गाँव में
...मौजा सीमा में।
...के घर के आँगन में
... की संतान
... की संतति
उसे पुरर्ख-पूर्वजों के साथ मिलाने को
हम पत्थर खड़ा कर रहे हैं
हम एक चिह्न स्थापित कर रहे हैं।
हमारे द्वारा खड़ा किया गया यह पत्थर
हमारे द्वारा स्थापित यह चिह्न
युग-युग तक बना रहे
हमेशा के लिए स्थिर रहे।
जो कोई इसे देखे
जो कोई इसे पहचाने
हाँ, यह आदमी यही था
यह प्रजा यहीं की थी.
उस आदमी के माध्यम से
इस प्रजा के द्वारा
सारा गाँव प्रकाशित हो
सारा देश जाना जाए।
गाँव के निर्माण में सहयोगी
देश के गठन में सहयोगी
खुटकटी बचाने वाला आदमी
भुईहरी का रखवाला आदमी...

अब यह पत्थलगड़ी तो मूलतः मुंडा आदिवासी समाज की परंपरा है लेकिन यह अन्य आदिवासी समाजों में भी किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। मृत्यु के बाद आदिवासी मृतक के शरीर को जलाते भी हैं और मिट्टी भी देते हैं। यानी, मिट्टी के नीचे दबाते भी हैं। एक ही समाज के भीतर के अलग-अलग गोत्रों में अलग परंपरा हो सकती है। जो जलाते हैं, वे अस्थि-राख के अवशेष को मिट्टी के बर्तन में रख कर घर के करीब किसी पेड़-पौधे के नीचे दबा देते हैं और वहाँ एक पत्थर लगा देते हैं। जो जलाते नहीं, वे उसे ठीक से लपेट कर गाँव के करीब ही चिन्हित एक स्थान विशेष में मिट्टी के नीचे दबा देते हैं। जाहिर है एक शरीर के भीतर होने की वजह से वहाँ की जमीन थोड़ी उंची हो जाती है। फिर उस पर एक चट्टान या पत्थर को सुला दिया जाता है ताकि जंगली जानवर या कोई अन्य पशु उसे नष्ट न कर सके और सिर की तरफ एक पत्थर गाड़ दिया जाता है जिस पर उस व्यक्ति विशेष का नाम, जन्म और मृत्यु की तिथि/वर्ष आदि लिख दिया जाता है। लिखा नहीं, उकेर दिया जाता है। लेकिन यह ससिंदरी या कब्रिस्तान जैसी जगह गाँव से बहुत दूर नहीं होती और न उसकी घेराबंदी ही होती है। वह एक खुली जगह और पेड़-पौधों से घिरी जगह ही होती है और गाँव, घर, खेत, खलिहान का हिस्सा।

इन ससिंदरियों की चर्चा राँची में आजादी के पहले सेटलमेंट अधिकारी के रूप में रहे जे रीड ने अपने सर्वे रिपोर्ट में इस रूप में की है कि मुंडा समुदाय पश्चिमोत्तर क्षेत्र से झारखंड में आये थे जिसका प्रमाण उन ससिंदरियों से मिलता है जिसे वे इतिहास के उस पथ पर जगह-जगह छोड़ते आये थे। वे बहुधा जमीन पर अपनी दावेदारी के लिए ससिंदरियों या अपने घर-जमीन पर गाड़े गये पत्थरों का इस्तेमाल प्रमाण के रूप में करते थे। अंग्रेजों और उनके पोषित जमींदारों ने जब छल-प्रपंच से उनकी जमीन छीननी चाही तो 25 नवंबर 1880 को ससिंदरी में पत्थरगड़ी के रूप में खड़े पत्थरों के ढेर उठा कर कोलकाता पहुँचे थे और ब्रिटिश हुक्मरानों को सबूत के तौर पर सौंपा था।

अस्सी के दशक में जंगल पर अपनी दावेदारी मजबूत करने के लिए हो और मुंडा आदिवासियों ने जहाँ-तहाँ बिखरी ससिंदरियों को खोजा और सरकार को बताने की कोशिश की कि जिन जंगलों को सरकार सुरक्षित क्षेत्र या रिजर्व फारेस्ट के रूप में चिन्हित कर आदिवासी जनता को उससे बेदखल कर रखा है, वह तो उनका घर-गाँव था। लेकिन भारत सरकार ने उनके दावे को लगातार होने वाली फायरिंग से दबा दिया। उस आंदोलन के दौरान दो दर्जन पुलिस फायरिंग में कम से कम दो दर्जन लोग मारे गये थे। कोल्हान क्षेत्र में दर्जनों लोगों पर राष्ट्रद्रोह के मुकदमे चले।

उसी दौर में पत्थरगड़ी का इस्तेमाल शहीदों के नाम को उकेरने में किया गया। राँची के करीब के दशमफाल देखने आप जब जायेंगे तो प्रवेश द्वार के आँगन में एक विशाल पत्थरगड़ी देखेंगे जिस पर उस इलाके के संघर्ष में मारे गये शहीदों के नाम दर्ज हैं। 24 दिसंबर 1996 को संसद में पेसा कानून पास हुआ जिसने आदिवासियों की पारंपरिक व्यवस्था और स्वशासन प्रणाली को कानूनी मान्यता दी। उस दौर में बी. डी. शर्मा के नेतृत्व में आदिवासी इलाकों में बड़े पैमाने पर पत्थलगड़ी की गई। यानी बड़े-बड़े चट्टानों पर ग्रामसभा की शक्तियों एवं अधिकारों को लिखा गया और अनुष्ठानपूर्वक गाँवों में लगाया गया। पत्थर पर लिखने का काम सामान्यतः रंग रोगन से नहीं, बल्कि उसे खोद-खोद उकेरा जाता है ताकि वह कभी मिटे नहीं। कुल मिला कर पत्थलगड़ी का इस्तेमाल पेसा कानून के प्रावधानों को जनता को बताने के लिए सूचनापट्ट के रूप में किया गया। फर्क यह की सरकारी सूचना पट्ट भाड़े के मजदूर

/ ठेकेदार तैयार करते हैं और पत्थलगड़ी ग्रामीण जनता अपने संसाधन और थोड़े परंपरागत तरीके से अनुष्ठानिक रूप में। उस दौर में पत्थलगड़ी को लेकर कोई विवाद नहीं था। लेकिन अब एनडीए सरकार उसे एक आपराधिक कृत्य बता रही है।

बहाना यह बनाया जा रहा है कि पेसा कानून या संविधान की धाराओं के रूप में कुछ ऐसी बातें या धाराओं का भी उल्लेख पत्थरों पर किया गया जो दरअसल है नहीं। खास कर पत्थलगड़ी के द्वारा आदिवासी इलाके को बहिरागतों के लिए प्रतिबंधित क्षेत्र घोषित करना, जहाँ वे ग्रामसभा की अनुमति के बगैर प्रवेश नहीं कर सकते। कानूनी पेचीदगियों में न जा कर हम कहें तो खूँटी के आदिवासियों व आंदोलनकारियों का कहना यह कि आप अपने घर में अनधिकृत प्रवेश का बोर्ड लगा सकते हैं, शहर के बीच किसी कालोनी विशेष के प्रवेश द्वार पर बैरिकेट लगा सकते हैं, तो आदिवासी अपने घर-गाँव के द्वार पर बैरिकेट क्यों नहीं लगा सकता? बहिरागतों को, पुलिस-प्रशासन को आदिवासियों से किसी तरह का संवेदनात्मक लगाव नहीं। वे कारपोरेट का लठैत, दलाल बन कर ही आदिवासी इलाके में प्रवेश करते हैं, इसलिए उनके लिए पत्थलगड़ी आंदोलन के क्षेत्र में ग्रामसभा से अनुमति लेकर ही प्रवेश की बात कही गई।

अब रही यह बात कि पत्थलगड़ी आंदोलन के क्षेत्र में सरकारी स्कूलों, अस्पतालों आदि का वहिष्कार किया जा रहा है। यहाँ तक कि आधार कार्ड को भी गैर जरूरी बताया जा रहा है। सवाल यह कि सरकारी स्कूल और अस्पताल इस लायक हैं कहाँ कि कोई वहाँ जाए। और आधार कार्ड की अनिवार्यता पर तो देशव्यापी बहस ही चल रही है। लेकिन पुलिस प्रशासन के लोग इन्हीं बातों को बहाना बनाकर पत्थलगड़ी को राष्ट्रद्रोह बता रहे हैं।

वैसे, यहाँ एक बात समझने की है कि आंदोलनकारी या उसके कुछ अगुवा गुजरात के कुछ आदिवासी गाँवों के जिस मॉडल से प्रेरित होकर यह सब झारखंड में करना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि गुजरात या महाराष्ट्र में जमीन के नीचे खनिज संपदा नहीं और आदिवासी अपने इलाके में स्वायत्त तरीके से रहें तो सरकारों को कोई खास फर्क नहीं पड़ता, लेकिन झारखंड में जमीन के नीचे प्रचुर खनिज संपदा है। यहाँ तो सत्ता निरपेक्ष नहीं रहेगी। घुस कर आपका दमन करेगी और आपका 'विकास' करके मानेगी।

दरअसल, पेसा कानून की मूल भावना है कि राजसत्ता आदिवासी इलाकों में किसी तरह की भी विकास योजना के लिए आदिवासी जनता को भागीदार बनायेगी, यदि जमीन का अधिग्रहण करना चाहती है तो पहले ग्रामसभा की अनुमति लेगी। लेकिन झारखंड सरकार इस मूल भावना को ही नकारती है। सैकड़ों एमओयू बगैर ग्रामसभा की अनुमति के किये गये हैं। और अब आंदोलनकारियों के कुछ अतिवादी तरीकों को आधार बनाकर आदिवासी जनता को कुचलने की नीति पर काम कर रही है। मसलन, गत वर्ष 24 अगस्त को पुलिस ग्रामसभा द्वारा लगाये बेरिकेड को तोड़ कर गाँव में घुस गई। उग्र ग्रामीणों ने एसपी, डीएसपी सहित 300 जवानों को बंधक बना लिया। वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों को जमीन पर बिठा कर रखा, क्योंकि ग्रामसभा में तमाम ग्रामीण जमीन पर ही बैठते हैं। लेकिन इस बात को सत्ता ने अपना भीषण अपमान समझा।

इस बात का एहसास हमें तब हुआ जब देशद्रोह का मामला उठाने की माँग को लेकर जन संगठनों के साझा अभियान का एक प्रतिनिधि मंडल झारखंड के गृह सचिव से मिला। इस प्रतिनिधि मंडल में पूर्व के वरिष्ठ पुलिस अधिकारी रामेश्वर उराँव, जो अब काँग्रेस पार्टी के नेता हैं, निरसा के विधायक अरूप चटर्जी, दयामनी बारला, सहित एक दर्जन लोग शामिल थे। गृह सचिव ने माना कि देशद्रोह के इस एफआईआर का कोई पुख्ता आधार नहीं, लेकिन

उनका कहना था कि 'एसपी को पंद्रह घंटे जमीन पर बिठा कर रखेंगे, तो पुलिस चूँटी भी नहीं काटेगी?' यानी, इस लेखक सहित झारखंड के बीस लोगों को फेसबुक पर लिखने का आधार बनाकर देशद्रोह का अभियुक्त बना देना प्रशासन के लिए एक 'चूँटी' काटना मात्र है।

खूँटी की आदिवासी जनता को पुलिस-प्रशासन के उच्चाधिकारियों की अवमानना के जुर्म में किस तरह सबक सिखाया गया यह जगजाहिर है। पत्थलगड़ी इलाके में एक बलात्कार की घटना होती है। बलात्कार की घटना उन महिलाओं के साथ होती है जो सरकारी योजनाओं के प्रोपेगंडा के लिए क्षेत्र में नुक्कड़ नाटक करने गई थी। इस घटना के लिए पीआईएलएफ को जिम्मेदार ठहराया गया और कहा गया कि इस संगठन के सदस्यों ने पत्थरगड़ी आंदोलन के नेताओं के निर्देश पर ऐसा किया। फिर पाँच अभियुक्तों की गिरफ्तारी के लिए हजारों की संख्या में पुलिस और सुरक्षा बल के जवानों ने खूँटी के कोचांग गाँव में प्रवेश किया। घर-घर की तलाशी ली गई। गोली चली और एक और बिरसा मुंडा मारा गया। और उस आपाधापी में जब उत्तेजित ग्रामीणों ने एक सांसद के चार सुरक्षा गार्डों को अगवा कर लिया, जिन्हें अगले दिन छोड़ भी दिया गया, तो तलाशी अभियान और पुलिस एवं सुरक्षा बलों की दबिश और बढ़ गई। करीबन 300 अज्ञात लोगों के खिलाफ मुकदमे दायर किये गये। ईसाई मिशनरियों से जुड़े लोग इस आंदोलन का समर्थन कर रहे हैं, इसलिए मदर टेरेसा के निर्मल हृदय संस्थान को बच्चा बेचने का आरोप उसी दौरान लगाया गया।

अब हालत यह है कि पत्थरगड़ी आंदोलन राष्ट्रद्रोह का आंदोलन बना दिया गया है। उसको चलाने वाले उग्रवादी और बलात्कारी। उसे सपोर्ट करने वाली ईसाई मिशनरियाँ नवजात शिशुओं को बेचने वाली और पत्थरगड़ी आंदोलन का समर्थन फेसबुक पर करने वाले राष्ट्रद्रोही। कोचांग में स्थाई पुलिस कैंप बन गया। सरकार ऐलान कर रही है कि वह खूँटी का विकास करके ही मानेगी। दरअसल, उसे राँची शहर के बिस्तार के लिए जमीन चाहिए, खूँटी के आस पास निर्बाध उत्खनन का अधिकार। और इसके खिलाफ जो भी खड़ा होगा, उसे कुचल दिया जायेगा।

इस पूरे प्रकरण में स्थानीय मीडिया की भूमिका शर्मनाक रही है। खूंटी में हुई तमाम हाल फिलहाल की घटनाओं को उसने सिर्फ प्रशासन के नजरिये से देखा, सुना और नकारात्मक रूप से अखबारों की सुर्खी बनाया। सरकार ने यह बता दिया कि मीडिया की मदद से कैसे लोकतांत्रिक व्यवस्था में फासीवादी तरीकों का इस्तेमाल किया जा सकता है।

वैसे, इस घटना का एक सबक भी है। वह यह कि उग्र तरीकों से आप किसी आंदोलन में क्षणिक सफलता जरूर प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन 11-12 लाख सैन्य ताकत और आधुनिकतम हथियारों से लैश इस सत्ता से मुकाबला तो शांतिमय तरीकों से ही हो सकता है। पेसा का इलाका प्रतिबंधित क्षेत्र है, आप वहाँ नहीं जा सकते ग्रामसभा की अनुमति के, यह पेसा कानून की नई व्याख्या है। मैं चालीस वर्षों से आदिवासी इलाके में परिभ्रमण कर रहा हूँ, लेकिन मैंने ऐसा कभी और कहीं नहीं पाया। आदिवासी जनता चुनावों में शिरकत करती है, झारखंड में तीन-तीन आदिवासी मुख्यमंत्री रहे हैं, आप इतिहास की धारा को मोड़ नहीं सकते। हाँ, शोषण और विषमता के खिलाफ और जल, जंगल, जमीन को बचाने के लिए संघर्ष व आंदोलन तो कर सकते हैं, लेकिन उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि यह आंदोलन सिर्फ मुंडा आदिवासियों का आंदोलन न रहे, पूरे आदिवासी समाज व बंचित जमात का आंदोलन हो और वह पूरी तरह शांतिमय हो।

टी ट्राइब्स का आदिवासी अस्मिता के लिए संघर्ष

प्रमोद मीणा

आठ राज्यों से मिलकर बना पूर्वोत्तर भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से रंग-बिरंगे भारत की तस्वीर पेश करता है। पाँच पड़ोसी देशों की सीमाओं को स्पर्श करता यह क्षेत्र भौगोलिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक कारणों से न जाने कितने ही आदिवासी समुदायों के विस्थापन और बसावट का गवाह रहा है। भाँति-भाँति के आदिवासी समुदायों के कारण आज पूर्वोत्तर में जिस विविधता का दर्शन होता है, उसी में इस क्षेत्र का सौंदर्य भी निहित है। इसी पूर्वोत्तर का सबसे बड़ा राज्य है—असम। इस असम की आबादी को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—पहाड़ी आदिवासी, मैदानी आदिवासी और गैर आदिवासी। पहाड़ी आदिवासियों में मुख्यतः कारबी और दिमासा आदिवासी आते हैं जबकि मैदानी आदिवासियों में बोडो, मिशिंग, राभा, तिवि आदि आते हैं। ये विभिन्न समुदाय विभिन्न प्रकार की भाषाएँ और बोलियाँ बोलते हैं।

दक्षिण एशिया के विभिन्न स्थानों से आकर कितनी ही मानव नस्लों ने असम को अपना स्थायी निवास बनाया और समय के साथ वे परस्पर घुली-मिली भी जिससे नस्लीय विविधता के बीच भी कुछ साझा पहचानें आज विकसित हो चुकी हैं। देश की आज़ादी के उपरांत एक ही राष्ट्र राज्य के अंतर्गत रहने से एक सीमा तक साझा भारतीयता भी अब यहाँ महसूस की जा सकती है। किंतु आदिवासियों और गैर आदिवासियों के पंचमेल सम्मिश्रण के कारण एक जटिल स्थिति भी यहाँ साफ-साफ देखी जा सकती है। विभिन्न समुदायों के बीच आत्मसातीकरण की तुलना में आपसी अलगाव और एकाकीपन कहीं ज्यादा नज़र आता है। अपनी नृजातीय भिन्नता के साथ जुड़ी अपनी विशिष्ट पहचान को लेकर शेष पूर्वोत्तर की भाँति ही यहाँ भी आदिवासी समुदाय बहुत ज्यादा संवेदनशील हैं क्योंकि बाहर से आकर बसे गैर आदिवासियों के चलते संख्यात्मक दृष्टि से अल्पसंख्यक हो जाने के भय के कारण एक असुरक्षा बोध इनमें गहरे तक घर कर चुका है। इसके साथ-साथ पहचान की राजनीति ने नृजातीय भिन्नता को

राजनीतिक लक्ष्य प्राप्ति का माध्यम भी बना दिया है।

सामुदायिक पहचान के दावे और नृजातीय एवं सांस्कृतिक आधार पर समुदायों की गोलबंदी के सहारे चलने वाली पहचान की राजनीति आज पूरे पूर्वोत्तर भारत में पृथक्ता और स्वायत्तता के आपसी संघर्षों में जा फँसी है। विभिन्न आदिवासी और गैर आदिवासी समुदाय अपने अस्मिता मूलक राजनीतिक संघर्षों के जरिये अपनी वैध-अवैध संवैधानिक और राजनीतिक माँगों के लिए संघर्षरत हैं।

असम की आदिवासी आबादी प्रशासनिक दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित है-अनुसूचित जनजाति (एसटी), अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) और अधिक अन्य पिछड़ा वर्ग (एमओबीसी)। असम में अनुसूचित जनजाति वर्ग के अंतर्गत 23 अनुसूचित जनजातियाँ आती हैं जिनमें से 14 पहाड़ी उपवर्ग में आती हैं जबकि शेष 9 मैदानी उपवर्ग में। असम के आदिवासी समुदायों को उनके मूल निवास के आधार पर भी दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—मूल निवासी आदिवासी और गैर मूल निवासी आदिवासी। असम के लगभग समस्त मूल निवासी आदिवासी एसटी अंतर्गत आते हैं जबकि गैर मूल निवासी आदिवासियों को ओबीसी और एमओबीसी में रखा गया है। ये गैर मूल निवासी आदिवासी समुदाय देश के अन्य हिस्सों से आजीविका आदि की तलाश में सामान्यतः औपनिवेशिक शासन के दौरान असम में आकर बस गये थे। असम के इन गैर मूल निवासी आदिवासियों में प्रमुख हैं आज के टी ट्राइब जिन्हें केंद्रीय सूची के तहत अन्य पिछड़ा वर्ग में रखा गया है। इन्हें अंग्रेजों द्वारा मुख्यतः मध्य भारत से विशेषतः झारखंड से असम के चाय बागानों में काम करवाने के लिए लाया गया था। अपने पेशे और कार्यस्थल के आधार पर ही इनका नाम टी ट्राइब पड़ गया। किंतु आज भी टी ट्राइब समुदायों में एक हिस्सा अपने मूल सरना धर्म का अनुयायी है।

ब्रिटिश शासन काल में औपनिवेशिक प्रभु वर्ग ने असम की भौगोलिक-प्राकृतिक परिस्थितियों के मद्देनज़र यहाँ चाय की व्यावसायिक बागानी में निहित आर्थिक संभावनाओं के विदोहन के लिए चाय बागान स्थापित किये। लेकिन बागान कार्य हेतु सस्ते श्रमिकों की आवश्यकता थी जो असम की विषम परिस्थितियों में भी चाय बागानों में काम कर सके। कृषि आदि में रुचि रखने वाले असम के स्थानीय आदिवासियों को विभिन्न कारणों से चाय बागानों के लिए अनुपयुक्त पाकर अंग्रेज प्रभुवर्ग ने मध्य भारत और बंगाल आदि से अनुबंध पर आदिवासियों को लाकर यहाँ बसाया। अनुबंध की समाप्ति पर भी ऐसे प्रवासी आदिवासी बागानों के आसपास ही स्थायी रूप से बस जाते थे। आज भी ऐसे टी ट्राइब्स की कमी नहीं है जो चाय बागानों में अनियमित श्रमिक के रूप में अपनी सेवाएँ देते हैं। अंग्रेज बागान मालिकों से आरंभ हुआ मध्य भारत से आदिवासियों का असम में विस्थापन बाद में भी रोजगार की उपलब्धता के चलते जारी रहा। यह भी ध्यातव्य है कि आज चाहे मूल असमिया आदिवासी और गैर आदिवासी लोग देश के विभिन्न हिस्सों से आकर असम में बस गये इन टी ट्राइब्स के लोगों को अपने स्थानीय संसाधनों पर बोझ मानते हो लेकिन असम के आर्थिक विकास में इनके योगदान को बिल्कुल भी नकारा नहीं जा सकता। और फिर अकेले टी ट्राइब के लोगों ने ही बाहर से आकर असम को अपनी कर्मभूमि नहीं बनाया, अपितु प्रशासनिक कार्यों और खेती-किसानी से जुड़े पेशों में बंगाल के हिंदू और मुस्लिम भी बड़ी संख्या में आकर असम में स्थायी रूप से बस गये। व्यापर-वाणिज्य में लगे हुए मारवाड़ियों की उपस्थिति भी ध्यातव्य है।

आज असम के जिन जिलों में टी ट्राइब के लोग पाये जाते हैं, वे हैं—सोनितपुर, नवगाँव, डारंग, जोरहाट, गोलघाट, डिब्रूगढ़, कछार, करीमगंज और तिनसुकिया आदि। असम के विभिन्न

नृजातीय समूहों के बीच टी ट्राइब की अपनी विशिष्ट पहचान है। ये मध्य भारत के आदिवासी समुदायों जैसे मुंडा, ओराँव, संथाल आदि की संतानें हैं। जिन मध्य भारत के आदिवासियों के ये वंशज हैं, उन्हें उनके राज्यों में और भारत सरकार द्वारा एसटी का दर्जा दिया हुआ है लेकिन असम के अंतर्गत टी ट्राइब्स को सिर्फ असम के मूल निवासी न होने के कारण एसटी की श्रेणी में नहीं रखा गया है। वैसे तो आदिवासी समकालीन भारतीय समाज के सबसे वंचित तबके के लोग हैं किंतु असम के मूल आदिवासियों की तुलना में टी ट्राइब की स्थिति कहीं ज्यादा बदतर है। लगभग दो शताब्दियों से असम में रहते आने पर भी संसाधनों तक पहुँच के मामलों में ये लोग वंचना के शिकार हैं। असमिया भाषा अंगीकृत कर लेने पर भी असमिया समाज ने आज तक इन्हें आत्मसात नहीं किया है। ये लोग आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं और साक्षरता की दर भी इनमें कम (23 प्रतिशत) ही पाई जाती है। स्पष्ट है कि किसी समुदाय के पिछड़ेपन और उस पिछड़ेपन को दूर करने के लिए निर्धारित संवैधानिक विशेषाधिकारों के निर्धारण का एकमात्र आधार मूल निवासी होना या न होना कैसे हो सकता है। सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक पिछड़ापन इस संदर्भ में कहीं ज्यादा मायने रखता है।

टी ट्राइब्स के शोषण की जड़ें औपनिवेशिक काल में अंग्रेज प्रभु वर्ग द्वारा विभिन्न प्रलोभनों के साथ मध्य भारत से इनके बलात् विस्थान में निहित हैं। अपनी जमीन से दूर होकर जहाँ ये लोग सांस्कृतिक अलगाव के शिकार हो गये, वहीं चाय बागानों में इन्हें बहुत कम मजदूरी पर लगभग दासता की स्थितियों में काम करने के लिए मजबूर किया गया। न अपनी इच्छा से आने-जाने की स्वतंत्रता इन्हें होती थी और न चिकित्सा की कोई सुविधा ही हारी-बीमारी में इन्हें उपलब्ध थी। कोड़ों से पिटाई और बलात्कार आम था।

1947 में देश आज़ाद हो गया और अंग्रेज भी चले गये किंतु लगभग दो शताब्दियों तक असम में रहने के बाद भी टी ट्राइब्स की दशा कुल मिलाकर आज भी बड़ी सोचनीय बनी हुई है। कहने को उन्हें 'टी ट्राइब' कहा जाता है किंतु एसटी का आधिकारिक दर्ज़ा उन्हें आज तक नहीं दिया गया है। स्थिति यह है कि 'टी ट्राइब' संबोधन उनके कानों में पिघले सीसे-सा कचोटता है। राज्य के द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से बहुत कम मजदूरी पर वे आज भी चाय बागानों में काम करते हैं। और उस पर भी चाय बागानों में लगातार चलने वाली कामबंदी के कारण भुखमरी जैसे हालातों से उन्हें जूझना पड़ता है। असम में इतने सालों से रहने के बाद भी अपना कहने के लिए भूमि का एक टुकड़ा तक मुश्किल से ही किसी टी ट्राइब के पास मिलता है। असमिया पहचान की जो राजनीति असम में चली है, उसके कारण मुख्य धारा का असमिया समाज ऊपर से इनके प्रति असंवेदनशील अलग देखा जा सकता है। असमिया मुख्य धारा और असम सरकारें एक प्रकार से इन टी ट्राइब्स के प्रति बहिष्कारी मानसिकता से ग्रसित नज़र आती हैं। असम में आकर बसने के शुरुआती चरण से ही स्थानीय असमिया आदिवासी समुदायों की तरफ से इनके प्रति अपनायी गई इस प्रकार की बहिष्कारी नीति के कारण टी ट्राइब के लोग अपनी पहचान को लेकर संवेदनशील बन गये।

ऐसा भी नहीं है कि आज़ादी के बाद राष्ट्र राज्य ने इन टी ट्राइब के लिए कुछ किया ही न हो। बागान श्रमिकों की विषम स्थितियों को देखते हुए भारतीय संसद ने 1951 में बागानी श्रम कानून पारित किया था लेकिन कागज़ों से निकालकर असम के चाय बागानों में कभी ईमानदारी से इसका क्रियान्वयन किया ही नहीं गया। असम के चाय बागान कामगारों के लिए 1959 में एक विशेष कानून भी बनाया गया था—असम चाय बागान कर्मचारी कल्याण कोष अधिनियम। असम सरकार ने चाय बागान श्रमिकों के हित में चाहे दूसरे कदम भी उठाये हों,

जैसे 2004 में असम टी लेबर वेल्फेयर बोर्ड की स्थापना आदि। किंतु पेयजल, शिशु पालना घर, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं से लेकर प्रशिक्षण तक तमाम कल्याणकारी प्रावधानों की जमीनी हकीकत कुछ और ही बयाँ करती है।

हाशिये की जिंदगी जी रहे टी ट्राइब के लोगों की बदहाल जीवन दशाओं में सरकारी लोक कल्याणकारी योजनाओं आदि के कारण कोई ख़ास बदलाव न आ पाने के कारण ही नब्बे के दशक के मध्य से ही ये लोग विभिन्न झंडों के नीचे एसटी दर्ज़े की माँग को लेकर लोकतांत्रिक ढंग से आंदोलनरत हैं। स्कूलों-कॉलेजों में पढ़ने वाली और पढ़कर बेरोजगार भटकती युवा पीढ़ी ने विशेषत रूप से इस आंदोलन को आगे बढ़ाया है, जैसे 'आल आदिवासी स्टडेंट्स एसोसिएशन' और 'असम टी ट्राइब्स स्टडेंट्स एसोसिएशन' जैसे विद्यार्थी संगठन इस आंदोलन के हरावल दस्ते रहे हैं।

वंचना, दमन और शोषण के शिकार टी ट्राइब के लोग आज चाय बागान श्रमिकों वाली अपनी पहचान से पीछा छुड़ा अपनी मूल आदिवासी पहचान पर विशेष बल दे रहे हैं ताकि उनकी इस माँग को और बल मिल सके। एसटी श्रेणी के अंतर्गत विशेष रूप से प्राप्त संवैधानिक सुविधाओं और संरक्षण के बल पर वे अपने साथ वर्षों से चले आ रहे शोषण और भेदभाव के कुचक्र से मुक्ति का स्वप्न देख रहे हैं। लेकिन एसटी के दर्ज़े के लिए जारी टी ट्राइब्स की लामबंदी को लेकर स्थानीय मूल आदिवासी समुदायों में बेचैनी और असंतोष भी साफ महसूस किया जा सकता है। उन्हें सरकारी नौकरियों और स्थानीय संसाधनों में असम के गैर मूल निवासी आदिवासियों की साझेदारी स्वीकार्य नहीं है। और पहचान की राजनीति संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण की टी ट्राइब्स की माँग को स्थानीय बनाम बाहरी के झगड़े का रूप दे देती है। इसमें भी कोई दो राय नहीं कि असम के वर्तमान एसटी कोटे के तहत इन्हें आरक्षण दिये जाने से वैधानिक संस्थानों, सरकारी नौकरियों और उच्च शिक्षा में आरक्षित सीटों पर भार बढ़ जायेगा। किंतु जब भारत सरकार आर्थिक रूप से कमजोर सामान्य वर्ग के लिए 10 प्रतिशत आरक्षण देने के लिए सर्वोच्च अदालत द्वारा निर्धारित आरक्षण की पचास प्रतिशत वाली सीमा की अवहेलना कर सकती है तो टी ट्राइब्स और एसटी वर्ग से बाहर रखे गये इस प्रकार के दूसरे आदिवासी समुदायों को भी एसटी वर्ग का कोटा बढ़ाकर इस वर्ग के अंतर्गत लाया जाना चाहिए ताकि इन समुदायों के बहिष्करण और प्रताड़ना पर अंकुश लग सके।

संख्या बल की दृष्टि से भी टी ट्राइब्स के लोकतांत्रिक आंदोलन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। असम की कुल जनसंख्या में इनकी हिस्सेदारी 18 से 20 प्रतिशत के आसपास ठहरती है। इतनी बड़ी आबादी के साथ अब तक होते आये अन्याय को दूर किये बिना हम समावेशी विकास का लक्ष्य हासिल नहीं कर सकते। चरमपंथी संगठनों की हिंसा की मार भी बाहरी होने का ठप्पा लगा होने के कारण सबसे ज्यादा इन्हीं पर पड़ती है।

कुछ लोग तर्क देते हैं कि मात्र एसटी का दर्ज़ा देने से टी ट्राइब की शोचनीय स्थिति में सुधार नहीं हो पायेगा अपितु आरक्षण इनमें एक छोटा सा मलाईदार वर्ग पैदा कर देगा और शेष पहले की जैसे निर्धनता और वंचना की स्थिति में ही रहते रहेंगे। वास्तव में इस प्रकार का तर्क वो लोग देते हैं जो इस प्रकार के तर्कों की आड़ में आरक्षण के संवैधानिक प्रावधानों को लागू नहीं करना चाहते। ये लोग खुद वंचित तबकों की बेहतरी के लिए कुछ नहीं करते और आरक्षण से कई सालों बाद पैदा होने वाले मलाईदार तबके का भय दिखाकर आरक्षण की पूरी अवधारणा के खिलाफ ही माहौल बनाना चाहते हैं। मलाईदार तबके के ऊपर नियंत्रण के उपाय करना अलग बात है और इसकी आड़ में हाशिये के लोगों को आरक्षण

से वंचित रखना बिल्कुल अलग बात है। वैसे संसाधनों और सत्ता के समतामूलक वितरण की दिशा में आरक्षण के साथ-साथ अन्य अपेक्षित कदम भी उठाने होंगे। टी ट्राइब्स की विशिष्ट समस्याओं के समाधान के लिए जो नीतियाँ और योजनाएँ कागजों पर रेंग रही हैं, उन्हें भी जमीन पर लाना होगा।

अस्तु, पूर्वोत्तर के इन अस्मितामूलक राजनीतिक संघर्षों और आंदोलनों के बीच असम के टी ट्राइब समुदायों की आदिवासी पहचान का संघर्ष बहुत ही वाजिब सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष है किंतु असम के मूल आदिवासी समुदायों के साथ हितों के टकराव के चलते आदिवासी राजनीति में जो जगह इस संघर्ष को मिलनी चाहिए थी, वह नहीं मिल पाई है।

संपर्क : सह आचार्य, हिंदी विभाग, मानविकी और भाषा संकाय, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, जिला स्कूल परिसर, मोतिहारी, जिला–पूर्वी चंपारण, बिहार 845401, ईमेल–pramod.pu.raj@gmail.com, मो. 7320920958

उत्तर बंगाल के आदिवासी : संस्कृति एवं राजनीति

दीपक कुमार

उत्तर बंगाल! जिसे पूर्वी भारत का द्वार (गेटवे ऑफ़ ईस्ट) कहा जाता है। भौगोलिक रूप से यह क्षेत्र नेपाल, भूटान और बांग्लादेश की सीमा से लगा हुआ है। इस क्षेत्र में अधिकांशतः आदिवासी समुदाय के लोग रहते हैं। इस क्षेत्र के मूल निवासी लेपचा थे। लेपचा समुदाय में 'गैबो अच्योक' नाम के राजा का बड़ा सम्मान है। उनकी कहानियाँ में बार-बार उसका नाम आता है। कलिम्पोंग के गोरूबथान सब डिवीज़न में दालिमगढ़ी नाम का किला है जिसके अवशेष ही अब शेष हैं। फिर भी वहाँ के स्थानीय निवासी आज भी गैबो अच्योक को बड़े सम्मान के साथ याद करते हैं। कहा जाता है कि भोटिया राजा ने धोखे से उसे मारकर चेल नदी में फेंक दिया था। इस तरह की कई लोककथाएँ यहाँ प्रचलित हैं। इन लोक कथाओं से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इस क्षेत्र के पहले निवासी लेपचा ही थे। स्वयं लेपचा समुदाय के लोग मानते हैं कि वे कंचनजंघा की गोद में जन्में हैं। आज इनकी आबादी अनुमानतः एक लाख के करीब है। जिसमें से सिर्फ 35 हजार की आबादी भारत में रहती है। इनका बसाव क्षेत्र सिक्किम और दार्जीलिंग है। सन् 1780 में नेपाल के गोरखाओं ने दार्जीलिंग पर पहली बार आक्रमण किया था और 1815 तक दार्जीलिंग सहित सिक्किम को नेपाल में मिला लिया था। सन् 1816 में अंग्रेजों ने गोर्खाओं को हराकर उनसे सगौली की संधि की। जिसके तहत सिक्किम और दार्जीलिंग अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया। अंग्रेजों ने 1817 में सिक्किम के राजा से तितालिया की संधि के तहत सारा अधिकृत क्षेत्र उन्हें सौंप दिया। इन आक्रमणों और संधियों के फलस्वरूप लेपचाओं के बसाव क्षेत्र में बाहरी लोगों का प्रवेश हुआ। आज इस क्षेत्र में लेपचओं के इतर जो आदिवासी समुदाय रहते हैं वे सभी 18वीं और 19वीं सदी में यहाँ आकर बसे हैं।

पश्चिम बंगाल में आदिवासियों की कुल जनसंख्या लगभग 53 लाख (2011 की जनगणना के अनुसार) के आसपास है। जिसमें पुरुषों की संख्या 2649974 और महिलाओं की संख्या

2646979 है। इसमें पहाड़ और मैदान दोनों के आदिवासी समुदाय सम्मिलित हैं। पहाड़ों पर मूलतः गोरखा, भूटिया, लेपचा, किरात, तमाँग, लामा, सुब्बा आदि बहुतायत में हैं और डुआर्स में मुंडा, ओरांव, महाली, खड़िया आदि बहुसंख्यक हैं। अगर बंगाल की कुल जनसख्या को अनुपातिक रूप में देखा जाए तो आदिवासियों में पुरुष और स्त्री का अनुपात लगभग एक समान है। खैर, ये हमारे विषय का मूल उद्देश्य नहीं है। जिस आदिवासी जनसंख्या की बात हम कर रहे हैं उसका प्रसार राज्य के झाड़ग्राम, पुरुलिया, मिदनापुर, जलपाईगुडी, अलीपुरद्वार, कूचबिहार, दार्जीलिंग, कलिम्पोंग आदि जिलों में सर्वाधिक है। बसाव की दृष्टि से झाड़ग्राम, पुरुलिया, दार्जीलिंग, कालिम्पोंग और मिदनापुर को छोड़कर बाकी क्षेत्र इनके पारंपरिक बसाव के क्षेत्र नहीं हैं। जलपाईगुड़ी, अलीपुरद्वार, कूचबिहार, दार्जीलिंग और डुआर्स (तराई क्षेत्र) में आदिवासियों को अंग्रेज लेकर आये थे।

19वीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेजों ने इस क्षेत्र में चाय की खेती शुरू की थी। शुरुआत में स्थानीय आदिवासी समुदायों की मदद से ही इसकी खेती की जाती थी। लेकिन बाद में बड़े स्तर पर व्यावसायिक उत्पादन के लिए अंग्रेजों ने देश के दूसरे हिस्सों, खासकर झारखंड, छत्तीसगढ़, ओड़िशा आदि से अन्य आदिवासी समुदाय के लोगों को लाकर यहाँ बसाया। आदिवासियों को यहाँ लाकर बसाने के पीछे अंग्रेजों की कोई कल्याणकारी धारणा तो थी नहीं। दरअसल, मैदानी प्रदेशों के आदिवासी अच्छे खेतिहर हुआ करते थे और मेहनती भी। जंगलों में रहने का उन्हें अनुभव भी था। अतः आदिवासियों को डुआर्स में बसाने का उनका मुख्य उद्देश्य था, उनसे चाय की खेती करवाना और उन्हें उनके मूल बसाव क्षेत्र से दूर करना। आदिवासी अपने पुरखों की जमीन से गहरा जुड़ाव रखते हैं। उनके लिए अपनी जमीन और जंगल से अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई चीज नहीं है। आदिवासी अपनी मर्जी से अपनी जमीन को नहीं त्यागता। आदिवासी समाज बहुत ही सहनशील होता है और सहजीवी भी। अगर कोई उन्हें परेशान न करे तो वे किसी को परेशान नहीं करते। जो परेशान करते हैं, उन्हें वे दिकू कहते हैं, क्योंकि वे हर बात पर दिक दिक करते हैं। यानी बखेड़ा करते हैं। आदिवासी इन बखेड़ों से दूर ही रहता है। तब तक जब तक उसकी अस्मिता का सवाल न हो। जब भी उनकी अस्मिता पर सवाल खड़े हुए हैं, तब तब हूल और उलगुलान हुआ है। अगर प्रत्येक आदिवासी समाज का अपना बसाव क्षेत्र होता है। जैसे संतालों का संताल परगना, मुंडाओं का छोटानागपुर, खड़िया का सिंहभूम, सिमडेगा, पहाड़िया लोग पहाड़ पर ही रहते हैं। संताल और पहाड़िया एक ही क्षेत्र में होने के बाद भी शांति से रहते हैं, क्योंकि वो किसी के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते। वे अपनी सीमाएँ तय करते हैं और उसी में रहते हैं। जब अंग्रेज मैदानी क्षेत्र से आदिवासी समुदायों को उत्तर बंगाल लेकर आये तो यहाँ भी उन्होंने इसी का अनुसरण किया। एक साथ रहते हुए कभी एक दूसरे के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया। यही वजह है कि इतने सालों से रहते हुए भी पहाड़ के आदिवासियों और मैदान के आदिवासियों में कभी कोई अनबन नहीं रही। एक ही बस्ती में मुंडा भी हैं, उराँव भी हैं, महाली, खड़िया, लेपचा, किरात, तमाँग, लामा, लिम्बू आदि भी हैं। सबकी अपनी-अपनी परंपराएँ हैं, खान-पान है, भाषा है लेकिन कभी किसी बात को लेकर विवाद नहीं हुआ। अब यहाँ एक सवाल यह खड़ा होता है कि जिन आदिवासियों को अंग्रेज लेकर यहाँ आये थे, क्या वे अपनी मर्जी से आये थे? इस सवाल का जवाब देने के लिए उस पीढ़ी का आज कोई भी जिन्दा नहीं बचा। अंग्रेजों के द्वारा जो दस्तावेज तैयार किये गये हैं उससे सिर्फ इतना ही पता चलता है की 19वीं सदी में ये आदिवासी उत्तर बंगाल के डुआर्स में आकर बसे थे। खैर, यह मुद्दा अलग बहस की माँग करता है। यहाँ

हम बात करेंगे उत्तर बंगाल में आकर या लाकर बसाये गये आदिवासी समुदाय के वर्तमान स्थिति के बारे में।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि उत्तर बंगाल के मूल निवासी लेपचा थे। जो विशेषकर पहाड़ों पर ही रहते थे। दार्जीलिंग में चाय की पहली खेती सन् 1841 में अर्चिबाल्ड कैम्पबेल ने शुरू की थी। कैम्पबेल इंडियन मेडिकल सर्विस में सर्जन थे और 1839 में दार्जीलिंग के सुपररिटेंडेंट के रूप में यहाँ आये थे। उनके उद्योग से ही दार्जीलिंग में चाय की खेती शुरू हुई। जब मैदान के आदिवासी यहाँ आकर बसे उस समय तराई का क्षेत्र जंगलों से ढँका हुआ था। लेकिन ये जंगल मैदान के जंगलों से अलग थे। यहाँ के जंगल हमेशा गीले रहते हैं। फिर भी जंगल के माहौल से वे पूर्णतया अनजान नहीं थे। अतः उन्हें बहुत ज्यादा दिक्कत नहीं हुयी खुद को इस नए वातावरण के अनुसार ढालने में। धीरे-धीरे आदिवासियों ने अपनी मेहनत से जंगलों को साफ़ कर दार्जीलिंग और डूआर्स को चाय की खेती के अनुकूल बनाया। अंग्रेज जिन आदिवासियों को यहाँ लेकर आये थे, उन्होंने अपने उपयोग के लिए जंगलों को साफ़ कर जमीने तैयार की। उस समय जमीन का कोई पट्टा नहीं होता था। अपनी जरूरत के हिसाब से लोग बसाव के लिए जमीने तैयार करते थे। इस क्षेत्र में आदिवासियों के पास जो जमीनें नजर आती हैं, वो उसी समय की जमीने हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होती रही हैं। आज इन जमीनों के कागज़ भी उनके पास नहीं हैं। ये सारी जमीनें बागानों की हैं। जिसे सिर्फ रहने के लिए आदिवासियों को दिया गया है। तब से लेकर आज तक उन आदिवासियों की कई पीढियाँ यहाँ के चाय बागानों में काम करते हुए मर खप गयीं। चाय बगानों में पहाड़ के आदिवासी समुदाय भी काम किया करते थे। उनके साथ काम करने के क्रम में मैदान के आदिवासियों का उनके साथ पहला संपर्क स्थापित हुआ। अंग्रेजों ने इन बागानों को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन लोगों को नियुक्त किया था, वे सभी बंगला भाषी लोग थे। जिनका व्यवहार आदिवासियों को लेकर बहुत अच्छा नहीं था। फिर भी अपने स्वभाव के अनुसार आदिवासी लोग उनका सम्मान ही करते थे और आज भी बगान के भनैजरों की इज्जत करते हैं। उन्हें साहब कहकर ही बुलाते हैं। लम्बे समय तक एक साथ रहते हुए इन सभी समुदायों के बीच सांस्कृतिक और भाषिक आदान-प्रदान भी हुए। जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव इनके रहन-सहन, खान-पान, पहनावे अदि पर भी पड़ा। जो किरात सूअर नहीं खाते थे आज मैदान के आदिवासियों के साथ रहते हुए वो भी खाने लगे हैं। लामा लोग बड़े का माँस नहीं खाते थे लेकिन आज बहुत से ऐसे लोग हैं जो खाते हैं। ऐसे बहुत से उदहारण हैं जिसमें बदलाव को रेखांकित किया जा सकता है। आज यह क्षेत्र सामाजिक दृष्टि से कई समाजों व संस्कृतियों का मिश्रण है। वैसे तो सभी समुदायों की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं लेकिन संपर्क भाषा के रूप में यहाँ मूलतः तीन भाषाएँ बोली जाती हैं—नेपाली, बंगला और सादरी। यहाँ रहने वाले सभी समुदायों के लोग इन तीनों भाषाओं में बात कर सकते हैं। आज जो युवा आदिवासी पीढ़ी इस क्षेत्र से निकल रही है वो मिश्रित संस्कारों में पली-बढ़ी है। इनकी बोली, पहनावा, खान-पान आदि को देखकर कोई इनके सामाजिक पृष्ठभूमि को समझ नहीं सकता। एक नेपाली लड़का इतनी साफ़ सादरी बोलेगा कि उसकी भाषा से कोई कह नहीं सकता कि वो आदिवासी नहीं है। यही बात बंगाली और आदिवासियों पर भी लागू होती है। यह तस्वीर का एक पहलू है, अब आते हैं इसके दूसरे पहलू पर।

एक समय था जब इस क्षेत्र में सिर्फ लेपचा रहते थे। आज इस क्षेत्र में देश के हर कोने के लोग बसे हैं। सिलीगुड़ी जो कभी लेपचाओं का एक गाँव हुआ करता था। आज गुवाहाटी

के बाद उत्तर पूर्व का सबसे बड़ा शहर और व्यापारिक केंद्र है। बंगाल का यह क्षेत्र अपने प्राकृतिक संसाधनों के लिए जाना जाता है। यहाँ की अर्थव्यवस्था में चाय, लकड़ी और पर्यटन का सर्वाधिक योगदान रहा है। अंग्रेजों ने व्यवसाय की दृष्टि से ही इस क्षेत्र को अपने तरीके से विकसित किया था। आज भी हमारे देश की सरकारें व्यावसायिक विकास का गुणधर्म बखानती फिरती है। लेकिन इस व्यावसायिक विकास का असल चेहरा देखना हो तो उत्तर बंगाल के चाय बागान सबसे उपर्युक्त स्थान है। यहाँ वर्तमान विकास का मूर्त चेहरा नजर आएगा। यहाँ वे लोग बसते हैं जिनके घरों में खाने के भी लाले हैं, लेकिन वो आपके लिए शानदार चाय की पत्तियाँ उगाते हैं। कभी बंगाल की अर्थव्यवस्था की रीढ़ रहा चाय उद्योग अपने सबसे बुरे दौर से गुजर रहा है। वर्तमान समय में छोटे-बड़े मिलाकर 60 फीसद से भी अधिक चाय बगान बंद हैं। बंद बागानों में रहने वाले मजदूरों का हाल न कहा जा सकता है और न ही सुना जा सकता है। भूख और पेट की बीमारियों के चपेट में आकर धीरे-धीरे मौत की मुँह में समा रहे हैं। सरकारी आँकड़ों की माने तो अब तक बंद बागानों में कम से कम छः सौ मजदूर विभिन्न बिमारियों की वजह से मर चुके हैं। इनके पास न इलाज के लिए पैसा है और न ही दो वक्त के खाने के लिए रोटी। जलपाईगुड़ी जिले के रामझोरा, सिंगियाझोरा और रायपुर जैसे बागानों में राशन तो दूर पीने का साफ़ पानी तक उपलब्ध नहीं है। ज्यादातर मजदूर पेट की बीमारियों से पीड़ित हैं। बीरपाड़ा स्टेट जनरल अस्पताल में बागान से आने वाले ऐसे मरीजों की भरमार है। वेब दुनिया की एक रपट के अनुसार अस्पताल के अधीक्षक डॉ प्रवीर दास कहते हैं कि डायरिया के ज्यादातर मरीज चाय बगान इलाकों से आए हैं। जो बगान खुले हैं उनमें दिहाड़ी के रूप में 176 रुपये दिए जाते हैं। अगर मान भी लें कि एक परिवार में चार लोग हैं तो भी 5280 की मासिक आमदनी में कोई कैसे अपने परिवार का पेट भरे। ये आमदनी भी स्थायी नहीं है। बगान में दिहाड़ी का काम पत्तियों के पैदावार पर निर्भर करता है। अमूमन 3 दिनों में नयी पत्तियाँ आ जाती हैं लेकिन मौसम एक जैसा बना रहा तो एक हफ्ते भी लग जाते है। पत्तियाँ मौसम का इंतजार कर सकती हैं लेकिन पेट कैसे मौसम का इंतजार करे? दिन भर कड़ी धूप में खड़े होकर काम करने के बाद भी दिहाड़ी उन्हें सप्ताह भर बाद मिलता है। ये स्थिति उन बागानों की है जहाँ काम चालू है। जिन बागानों में काम ठप है उनके कामगारों का क्या हाल होगा इसी से अंदाजा लगाया जा सकता है। बंगाल में चाहे कम्युनिस्टों की सरकार रही हो या ममता दी के माँ, माटी, मानुष की सरकार, चाय बगान के कर्मियों का हाल वही रहा जैसा पहले था। आये दिन कोई न कोई बगान बंद हो रहे हैं और कामगार बेरोजगार। सन् 2012 में एनएचआरसी (नेशनल ह्यूमन राईट कमीशन) ने पश्चिम बंगाल सरकार को नोटिस जारी किया था। जिसमें मीडिया की एक रिपोर्ट का हवाला देते हुए सरकार से रिपोर्ट माँगी गयी थी। दरअसल, मामला था जलपाईगुड़ी जिले का। जिले के मालबाजार सबडिवीज़न के कुमलाई बगान में तीन लोगों की भूख से मौत हो गयी थी। जिसमें दो महिला मजदूर और एक बच्चा शामिल था। ये ऐसी घटना थी, जिसने सबको हिला कर रख दिया था। बगान जब सुचारु रूप से चलते थे, तब मजदूरों के लिए साप्ताहिक राशन की सुविधा और दवाओं की व्यवस्था हुआ करती थी। लेकिन अब बगान मालिक आर्थिक नुकसान का हवाला देकर राशन और दवाओं की सुविधा भी बंद करते जा रहे हैं। ऐसे मामलों में सिर्फ कुमलाई बगान ही नहीं, बीरपाड़ा, बुन्दापानी, धेक्लापाड़ा आदि और भी बगान हैं जो बंद पड़े हैं। यहाँ के कामगारों के पास न राशन है और न ही कोई मुलभूत सुविधा। ऐसी स्थिति में बागानों से मानव तस्करी के भी कई मामले आ चुके हैं। बंद पड़े चाय बागानों से काम दिलाने

के बहाने लड़कियों को दूसरे शहरों में ले जाकर बेच दिया जाता है। दिन पर दिन स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। जैसे-जैसे बागानों की स्थिति ख़राब होती जा रही है वैसे-वैसे भूख और कुपोषण से मौतों की संख्या बढती जा रही है।

इस क्षेत्र में रोजगार के तीन ही प्रमुख साधन थे—चाय, लकड़ी और पर्यटन। आज इन तीनों की हालत खस्ता है। दूसरा कोई व्यवसाय नहीं जो इनकी जगह ले सके और इतनी बड़ी आबादी को रोजगार दे सके। अतः अपनी जड़ों से विस्थापित लोग एक बार फिर से विस्थापित होने को मजबूर हैं। आत्मसम्मान से जीने वाले इस समाज को हमारी तथाकथित विकास की धारा ने मझधार में लाकर छोड़ दिया है। सरकारें बदलती रहती हैं, वादे भी खूब होते हैं पर कुछ नहीं होता तो इनकी स्थिति में बदलाव। ये कल भी विस्थापित थे और आज भी हैं। विस्थापन का पहला प्रहार होता है भाषा और संस्कृति पर। जब कोई समाज अपनी जड़ों से कटकर किसी दूसरी जमीन पर जाता है तो उसके समक्ष पहली चुनौती होती है सर्वाइवल की। कई तो इस प्रक्रिया में ही ख़त्म हो जाते हैं और जो बच जाते हैं, उनके समक्ष दूसरी चुनौती आती है खुद को बचाए रखने की। नए समाज और नयी संस्कृती में खुद को बचाए रखना बड़ा मुश्किल काम है। खासकर वहाँ जहाँ आपकी मर्जी न हो। किसी भी पौधे को अनुकूल जमीन और वातावरण न मिले तो वो मुरझाने लगता है या फिर नए रूप में ढल जाता है। उत्तर बंगाल के आदिवासियों के समक्ष कुछ ऐसी ही परिस्थिति थी। जब वे यहाँ लाये गये। इन विपरीत परिस्थितियों में वे बच तो गये लेकिन आज खुद को बचाये रखना उनके लिए मुश्किल हो रहा है। किसी भी समुदाय विशेष का अपनी भाषा, संस्कृति से इस तरह कट जाना तथाकथित व्यावसायिक विकास का फलाफल है, जिसकी डफली आज हर राजनैतिक दल या बौद्धिक समाज बजा रहा है। जिस व्यावसायिक विकास की अवधारणा अंग्रेजों ने तैयार की थी आजादी के बाद भी हमारी सरकारों ने उसे बनाये रखा। अंग्रेजों के तथाकथित विकास की अवधारणा में सबसे बड़े बाधक आदिवासी ही थे। यही कारण है कि उन्हें ही विस्थापन का दंश झेलना पड़ा। जो आदिवासी औपनिवेशिक युग में अपने जल-जंगल-जमीन से विस्थापित होकर दूसरे क्षेत्रों में ले जाए गये उसका प्रतिकूल असर उनके भावी पीढ़ी में नजर आता है। आज इस क्षेत्र की आदिवासी युवा पीढ़ी अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, जीवन दर्शन, सबकुछ भूल चुकी है। बहुत कम ही लोग बचे हैं जिन्होंने अपनी भाषा को बचाए रखा है। भाषा व संस्कृति अपने परिवेश की देन होती है। परिवेश बदलते ही इनका स्वरूप भी बदलने लगता है। जिस विकास का बाजा आज सभी बजा रहे हैं उस विकास की कीमत औपनिवेशिक युग से लेकर आज तक आदिवासी ही चुकाते आये हैं और आज भी चुका रहे हैं। चाय की जो प्याली हाथ में लिए हमारा बौद्धिक समाज आदिवासी विषयों पर अपनी राय रखता है या उनके भविष्य की अवधारणा तय करता है उन्हें याद रखना होगा कि ये चाय भी आदिवासियों की ही देन है।

तत्कालीन समय आदिवासी समुदाय के लिए सबसे भयावह समय है। उनके पारंपरिक संसाधनों को उनसे जबरन छीनकर उन्हें मजबूर किया जा रहा है कि वे अपनी जल-जंगल जमीन को छोड़कर उनके कंक्रीट के जंगलों में शरण लें। उपरी तौर पर देखने में यह स्थिति व्यावसायिक नजर आती है। लेकिन इसके पीछे एक दार्शनिक कारण भी है। दरअसल, आदिवासी भूख से कभी नहीं मरते हैं। क्योंकि पेट भरने के लिए वे हमारी तरह सिर्फ खाद्यान्न पर निर्भर नहीं रहते। वे शिकार करना जानते हैं, उन्हें वनस्पतियों का ज्ञान है। अतः अपना पेट वे किसी न किसी तरह भर लेते हैं। इसमें उनका सबसे बड़ा साथी था जंगल! दिक्कत यह हो गयी

है कि इस क्षेत्र के आदिवासी अपने पारंपरिक बसाव क्षेत्र से उजाड़ दिए गये हैं। खाद्यान्न न होने पर भी जंगल उनकी जरूरत पूरी कर देता था। लेकिन जहाँ ये लाए गये थे उन्हें ये स्वतंत्रता न थी। पीढ़ी दर पीढ़ी इनके भीतर की स्वाभाविकता को नष्ट किया गया। अब ये उसी जीवन के आदी हो चुके हैं जो अब तक जीते रहे हैं। या जो जीवन इन्हें जीने को मजबूर किया गया। यही वजह है कि भूख और कुपोषण से मौत की जो ख़बरें मिलती हैं वो उत्तर बंगाल के आदिवासियों की हैं। अपनी जड़ों से उखड़ा पेड़ ज्यादा दिनों तक हरा भरा नहीं रह सकता। आदिवासियों की जो पीढ़ी आज यहाँ रह रही है उन्हें पता ही नहीं है कि वे कहाँ से आये थे। उनका गाँव कहाँ है। वे वापस भी नहीं जा सकते। दूसरी समस्या यह हो गयी है जो लोग जंगलों के आसपास हैं वे जंगलों का इस्तेमाल नहीं कर सकते। क्योंकि जंगलों पर फारेस्ट ऑफिसर्स का कब्ज़ा हो गया है। जो उन्हें जंगलों में जाने नहीं देते और अगर जाने भी देते हैं तो उसके एवज में रकम लेते हैं। जब आप किसी की पारंपरिक जीवन दर्शन के साथ खिलवाड़ करेंगे तो ऐसी स्थिति का आना स्वाभाविक है।

ऐसा नहीं है कि इस क्षेत्र के आदिवासियों की स्थिति शुरू से ही ऐसी थी। एक दौर ऐसा भी रहा है, जब यहाँ के आदिवासी एक संगठन के तहत संगठित थे। सन् 1968 में कार्तिक उराँव ने अखिल भारतीय आदिवासी विकास परिषद् का गठन किया था। जिसके बाद उत्तर बंगाल में भी उसकी एक शाखा जलपाईगुड़ी के नागराकाटा क्षेत्र में खोली गयी। इस क्षेत्र में आदिवासी विकास परिषद् मूल उद्देश्य था, यहाँ रहने वाले सभी आदिवासियों की समस्याओं को चिन्हित करना और उन्हें सत्ता तक पहुँचाना और समस्या के वक्त आदिवासी लोगों के साथ खड़े रहना। चाय बगान में काम करने वालों के लिए परिषद् एक बहुत बड़ा संबल था। उन्हें यकीन था कि उनके साथ अगर कुछ बुरा होता है तो परिषद् उनके साथ खड़ा होगा। यहाँ के अधिकतर आदिवासी चाय बागानों में काम करते हैं। बागानों में वेतन वृद्धि से लेकर राशन, दवा, पानी, घर, बिजली-बत्ती, सड़क आदि बहुत सी समस्याएँ आये दिन लगी रहती हैं। परिषद् इन समस्याओं को बगान के मालिकों के समक्ष उठाता था। सरकार द्वारा चलाये जाने वाली योजनाओं की जानकारी लोगों तक पहुँचाना, सरकारी प्रमाण पत्रों और जातीय प्रमाण पत्रों के लिए आदिवासी लोगों समुचित जानकारी उपलब्ध करवाना, बच्चों की शिक्षा के लिए सामुदायिक प्रयास आदि बहुत से काम थे जो परिषद् करता था। बगान में काम करने वाले अधिकांश लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं। वे अपने कार्य से संबंधित किसी समस्या के लिए आज भी परिषद् के पास ही जाते हैं। एक तरह से कहा जाए तो परिषद् एक विपक्ष की भूमिका अदा करता था। एक ऐसा विपक्ष जिसकी एक आवाज पर पूरा का पूरा उत्तर बंगाल खड़ा हो जाए। वह एक ऐसी ताकत के रूप में उभरा की सत्ता भी एक बार उसके बारे में सोंचने को मजबूर हो जाए। सरकार की कोई भी योजना बिना परिषद् से हुए लागू नहीं हो सकती थी। मालबाजार के स्थानीय निवासी विकास तिर्की कहते हैं कि जब वे छोटे थे तबसे आदिवासी विकास परिषद् को देख रहे हैं। जब भी कोई झमेला होता था, चाहे वो राजनैतिक हो या फिर सामाजिक लोग सबसे पहले परिषद् के पास जाते थे। अस्सी के दशक में पहाड़ पर सुभाष घिशिंग थे और डुआर्स में आदिवासी विकास परिषद्। इन दोनों के समर्थन के बिना यहाँ से कोई भी व्यक्ति वो चाहे किसी भी दल का हो निर्वाचित नहीं हो सकता। जिस दल को ये समर्थन देते थे वही दल इस क्षेत्र से जीतता था। परिषद् अपने मुद्दों पर समर्थन देता था। जो दल इनके मुद्दों को उठाएगा उन्हें ही परिषद् समर्थन देगा। इन दोनों की ताकत ज्योति बासु जैसे कद्दावर नेता को भी घुटने पर ला देती थी। आज भी आदिवासी समुदाय में कोई

समस्या हो तो वे सबसे पहले परिषद् की ओर उम्मीद भरी नजरों से देखते हैं। परिषद् जो बात कहती थी उसे यहाँ के आदिवासी मानते थे। परिषद् एक गैर राजनीतिक संगठन है लेकिन राजनीति में उसका हस्तक्षेप है। लेकिन समय के साथ इसकी ताकत भी क्षीण होती गयी। जो परिषद् विपक्ष की भूमिका में रहता था अब वो सत्ता के साथ गलबहियाँ करने लगा। 90 के दशक से ही परिषद् सीपीएम के साथ खड़ा हो गया। फिर जब टीएमसी सत्ता में आई तो आज उसके साथ खड़ा है। आदिवासी हितों के लिए सत्ता से लड़ने वाला संगठन आज उनके हाथों की कठपुतली बन गया है। विकास तिर्की जो परिषद् से जुड़े रहे हैं वो कहते हैं कि परिषद् अब पहले जैसा नहीं रह गया है। पहले वो लोगों के लिए काम करता था आज सिर्फ अपने लिए काम करता है। आपसी मतभेद और महत्त्वाकांक्षाओं ने परिषद् को विभाजित कर दिया। कभी परिषद् के प्रमुख अंग रहे जॉन बारला आज बीजेपी के सांसद हैं। परिषद् में विघटन की शुरुआत होती है जॉन बारला के अलग होने से। जब पहाड़ से अलग गोरखालैंड की माँग उठी तब जॉन बारला उसके समर्थन में थे। वे चाहते थे कि डुआर्स भी गोरखालैंड में शामिल हो। लेकिन परिषद् ऐसा नहीं चाहता था। हाल ही में हुए चुनाव में परिषद् ममता दी के समर्थन में खड़ा था लेकिन इस बार लोगों ने बीजेपी को चुना। आदिवासी यहाँ हमेशा से निर्णायक भूमिका में रहे हैं। फर्क सिर्फ इतना आया है कि अब वे परिषद् के अनुसार नहीं चल रहे हैं। आज इस क्षेत्र में आदिवासियों का प्रतिनिधित्व अलीपुरद्वार के सांसद जॉन बारला कर रहे हैं। चुनाव प्रचार में बीजेपी ने बंद पड़े चाय बागानों, राशन और दैनिक मानदेय की बात उठाकर इस क्षेत्र के आदिवासियों को अपनी तरफ लाने में सफल रही है। आज भले ही बीजेपी देश के अन्य आदिवासी समाज के लिए एक समस्या हो लेकिन इस क्षेत्र में वह उनके लिए उम्मीद की नयी वजह है। लगभग 200 सालों से अपने पारंपरिक क्षेत्र, जीवन दर्शन से कट कर रहने वाले इन आदिवासियों की मानसकिता को उसी तथाकथित विकास की रूपरेखा में संश्लिष्ट कर दिया गया है। इनकी युवा पीढ़ी विकास का अर्थ वही समझ रही है जो तथाकथित मुख्यधारा का समाज उन्हें दिखाना चाह रहा है। इसके बीज सालों पहले ही अंग्रजों ने बो दीए थे जो आज फलित हो रहा है। आज जिस स्थिति में यहाँ का आदिवासी समाज है उसकी सबसे बड़ी वजह उनका अपनी जड़ों से विस्थापित होना है।

आज सभी आदिवासियों का विकास करना चाहते हैं। उन्हें मुख्यधारा में शामिल करना चाहते हैं। लेकिन कोई उनसे नहीं पूछता कि क्या वे इस विकास की अंधी दौड़ में शामिल होना चाहते हैं या नहीं। जिस विकास का रट्टा सत्ता से लेकर विपक्ष तक लगा रहा है उसकी नींव भी अंग्रेजों ने ही रखी थी। दरअसल, औपनिवेशिक युग में एक शब्दावली गढ़ी गयी थी—'डेवलपमेंट' यानी विकास। यूँ तो विकास प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। लेकिन यहाँ हम जिस विकास की बात कर रहे हैं वो प्रकृति प्रदत्त विकास नहीं बल्कि मानवजनित विकास परंपरा है। जिस समय ये शब्द गढ़ा गया, उस वक्त पश्चिम में औद्योगीकरण की हवा चल रही थी। जिसने धीरे-धीरे आँधी का रूप ले लिया। इस आँधी की जद में वे सभी क्षेत्र आये जहाँ प्राकृतिक खनिज-संपदाएँ उपलब्ध थीं। दुनिया भर में ऐसी सभी जगहों पर अंग्रेज, डच, फ्रेंच, पुर्तगीज आदि उपनिवेशवादियों ने अपने-अपने औपनिवेशिक केंद्र स्थापित किए। जहाँ-जहाँ वे गये, उनका पहला सामना वहाँ के आदिवासियों से हुआ। उन आदिवासियों से जो प्रकृति को अपना सहजीवी और सहभागी मानते हैं। जाहिर सी बात है उनके रहते तो औद्योगिक विकास का पहिया चल नहीं सकता था। तो प्राथमिकता तय हुई आदिवासियों को उनके जड़ों से काटने की। उन्हें उनके बसाव क्षेत्र से दूर ले जाने की। जिसके दो तरीके थे—या तो उन्हें

ख़त्म कर दिया जाए या फिर उन्हें बंदी बनाकर उनके बसाव क्षेत्र से दूर भेज दिया जाए। जहाँ वे ताजिंदगी गुलामी करते हुए दम तोड़ दें। अंग्रेज जानते थे कि अपने जीते जी तो आदिवासी अपनी जमीने देने से रहे। इसलिए, अंग्रेजों ने दोनों तरीके अपनाए। आज भी वही हथियार इस्तेमाल किये जा रहे हैं। बस फर्क इतना है कि पहले बाहरियों ने किया था आज अपने कर रहे हैं। लेकिन एक बात है जो सत्ता भूल जाती है—हूल भी आदिवासियों ने किया था और उलगुलान भी। ये आदिवासी ही हैं जो इतनी प्रतिकूल स्थितियों में भी जीने की जद्दोजहद में जुटे हैं। अन्य कोई समाज होता तो कब का ख़त्म हो गया होता। ये जंगली पेड़ हैं जब तक इनकी जड़ें जमीन में धँसी हैं ये फिर उग आयेंगे। चाहे अंग्रेज हों या तत्कालीन सत्ताधीश वे आदिवासियों को जंगल से विस्थापित कर सकते हैं लेकिन जंगल को आदिवासियों से कभी विस्थापित नहीं कर सकते। वे अपनें आस-पास स्वतः उगने वाली वनस्पतियों में से ही अपने लिए आहार ढूँढ लेते हैं। चाय की पत्ती तो सभी पीते हैं लेकिन आदिवासी चाय के फूल का भी इस्तेमाल जानते हैं। यह खोज किसी तकनीक सम्पन्न लैब में नहीं हुई है। ये आदिवासियों के ज्ञान की खोज है। आप उनसे एक जरिया छीनोगे वे अपने लिए कुछ नया ढूँढ लेंगे। वे प्रकृति के सबसे प्यारे बच्चे हैं अतः प्रकृति भी उनके लिए हमेशा कुछ न कुछ बचाए रखती है। आज जो स्थिति यहाँ के आदिवासियों की है उसकी मूल में तथाकथित विकास की अवधारणा है। 200 साल पहले शुरू हुई विकास प्रक्रिया में आदिवासी आज इस स्थिति में आये हैं। अब और विकास हुआ तो शायद ये ख़त्म ही हो जायें। अगर अंग्रेज इन्हें यहाँ नहीं लाए होते तो आज भी ये लोग अपने पुरखों की जमीन पर अपने तरीके से रह रहे होते। लेकिन विकास की अंधी दौड़ में इन्हें जबरन घसीटा गया और इस स्थिति में पहुँचा दिया गया। जहाँ वे पुनः विस्थापित होने की कगार पर खड़े हैं। यहाँ फिर से वही सवाल खड़ा होता है कि क्या आदिवासी आपके विकास की अवधारणा में शामिल होना चाहते हैं? जो होना चाहते हैं वे बेशक हों लेकिन जो नहीं होना चाहते कम से कम उन्हें उनके हिसाब से ही रहने दिया जाए।

संपर्क : गोरूबथान कॉलेज, दार्जिलिंग, मो. 6296464549

संताली भाषा और साहित्य की त्रासदी

वासुदेव बेसरा

भारतवर्ष में बोली जाने वाली जनजातीय भाषाओं में संताली भाषा सबसे बड़ी भाषा है। इसे बोलने वालों की संख्या 80 लाख के लगभग है। इससे मिलती-जुलती जनजातीय भाषाएँ जैसे 'हो' एवं 'मुंडारी' को शामिल करने पर इस भाषा के बोलनेवालों की संख्या एक करोड़ से अधिक हो जाएगी। भौगोलिक रूप से इस भाषा का विस्तार बिहार, बंगाल, उड़ीसा, असम के अलावा नेपाल, भूटान एवं बंगलादेश तक है। इस समय संताली भाषा एवं साहित्य एक अभूतपूर्व त्रासदी का शिकार है।

संताली, संतालों की भाषा है। लिखित रूप में यह भाषा पहली बार 1845 में प्रकट हुई, जब जेरेमिया फिलिप्स नामक एक मिशनरी ने इस भाषा के लिए बंगला लिपि में एक वर्णमाला तैयार करने का प्रयास किया। 1855 के विख्यात संताल विद्रोह के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने इस जाति के आर्थिक शोषण में तथाकथित कमी दिखलाकर इनके सांस्कृतिक शोषण की एक लम्बी रणनीति तैयार की। संतालों के बीच प्रवेश करने के लिए ईसाई मिशनरियों में होड़ सी लग गयी ओर अंततः 1894 तक पूरे संताल परगना क्षेत्र में विदेशी मिशनरियों का जाल बिछ गया। यही कारण है कि इस भाषा का आरम्भिक अध्ययन विदेशी मिशनरियों ने ही प्रस्तुत किया। 1867 में इन मिशनरियों ने ही संताल परगना की धरती पर बेनागोडिया नामक स्थान में प्रथम छापाखाना खोला। जो आज तक चल रहा है। 1868 एवं 1899 में संताली-अंग्रेजी शब्दकोश बनाये गये। फिर भी शब्दकोश बनाने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम पॉल ओलॉफ बोडिंग ने ही किया। बोडिंग ने 1929-36 तक पाँच खंडों में एक बृहताकार संताली अंग्रेजी शब्दकोश ऑस्लो विश्वविद्यालय (नार्वे) से प्रकाशित किया।

शब्दकोश के अलावा विभिन्न नृतत्वीय अध्ययन भी किये गये। सामाजिक-सांस्कृतिक थातियों को लिपिबद्ध करने के काम में ईसाई मिशनरियों को अभूतपूर्व सफलता मिली। एशियाटिक सोसायटी (कलकत्ता) ने बोर्डिंग एवं स्क्रेप्सरूड की कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित कीं। इसके

अलावा बेनागोडिया स्थित छापेखाने से भी कई पुस्तकें प्रकाशित की गयीं। जैसा कि स्वाभाविक है, इस अवधि में संताली भाषा के साहित्य में ईसाई मिशनरियों का वर्चस्व बना रहा। डॉ. जे. ट्रॉयसी ने 1975 में संतालों से संबंधित पुस्तकों एवं लेखों की एक सूची संकलित की थी। इस सूची के अनुसार 1947 के पूर्व विदेशी लेखकों द्वारा संतालों पर 62 पुस्तकों एवं 83 लेख लिखे गये थे, जबकि इसी विषय पर भारतीय लेखकों द्वारा इस अवधि में 11 पुस्तकें और 49 लेख लिखे गये। 1947 के बाद की तस्वीर भिन्न है। 1947-75 की अवधि में विदेशी लेखकों द्वारा 13 पुस्तकें और 12 लेख लिखे गये, जबकि इसी अवधि में भारतीय लेखकों द्वारा 45 पुस्तकें एवं 163 लेख लिखे गये।

1947 के बाद स्थिति बदली। आज संताली भाषा में 46 पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। बंगाल एवं उड़ीसा में मैट्रिक स्तर तक इस भाषा में पठन-पाठन की मान्यता प्राप्त है। बिहार में राँची विश्वविद्यालय में 1983 से स्नातकोत्तर कक्षा में संताली भाषा के पठन-पाठन की व्यवस्था की गयी है। इसके अलावा भागलपुर विश्वविद्यालय (बिहार) में स्नातक स्तर तक इस भाषा की पढ़ाई होती है। बिहार सरकार ने 1982 में एक जनजातीय भाषा अकादमी की स्थापना की है।

इतना होने के बाद भी संताली भाषा आज अनगिनत समस्याओं से जूझ रही है। इन समस्याओं में सबसे विकट समस्या लिपि की है। वर्तमान समय में संताली भाषा एक साथ चार लिपियों में लिखी जाती है। ये लिपियाँ हैं—रोमन, देवनागरी, बंगला एवं ओल चिकी। विश्व में शायद संताली एकमात्र भाषा है जिसे एक समय में ही चार लिपियों में लिखा जा रहा है।

लिपियों की विकास-कथा

इन चार लिपियों की विकास-कथा भी कम रोचक नहीं है। संताली लिखने के लिए रोमन लिपि का व्यवहार सर्वप्रथम इ. एल. पक्सले ने 1868 में किया था। बाद में पी. ओ. बोर्डिंग ने Materials for Santali Grammer की भूमिका में लिखा था कि ''जब तक इस (संताली) भाषा के लिए कोई भिन्न लिपि नहीं बनायी जाती तब तक विभिन्न ध्वनि संकेतों के साथ रोमन लिपि को ही अपनाया जाना चाहिए।'' वास्तव में बोर्डिंग ने संताली भाषा के ध्वनिगत विशेषताओं को देखते हुए इसे अंतर्राष्ट्रीय ध्वनि संकेतों के माध्यम से लिखना चाहा था, फिर कुछ कारणवश उन्होंने भी रोमन लिपि में ही ध्वनि संकेतों के साथ संताली भाषा लिखी। अंग्रेजी वर्णमाला के 26 अक्षरों में से 22 अक्षरों का ही व्यवहार किया जाता है। OVXZ आदि अक्षरों का संताली में व्यवहार नहीं होता। चूँकि स्वतंत्रता-पूर्व तक संताली भाषा के लेखन-मुद्रण में अंग्रेजों का वर्चस्व था इसलिए बेरोक-टोक संताली भाषा के लिए रोमन लिपि का प्रचलन रहा।

देश के स्वतंत्र होने पर राज्य सरकारों ने क्षेत्रीय लिपि को संताली के ऊपर लाद दिया। बंगाल सरकार ने अपने सांस्कृतिक मंत्रालय के तत्त्वावधान में 1948 से एक संताली पाक्षिक 'पाछिम बांगला' का प्रकाशन आरम्भ किया। यह पत्रिका अब भी प्रकाशित हो रही है और बंगला लिपि में छपती है। ठीक उसी तरह बिहार सरकार के जनसंपर्क विभाग की ओर से एक संताली साप्ताहिक 'होड़ संवाद' का प्रकाशन भी 1947 से आरंभ हुआ और अब तक जारी है। यह पत्रिका देवनागरी लिपि में छपती है।

दूसरी ओर सन् 1936 में उड़ीसा के बारीपादा निवासी स्व. रघुनाथ मुर्मू (1912-1982) ने संताली भाषा के लिए एक लिपि तैयार की जिसे बाद में ओल चिकी के रूप में जाना जाने लगा। बाद के वर्षों में ओल चिकी लिपि ने काफी प्रगति की और आज पूरे संताली भाषा-भाषी

इलाके में इसे जाना जाता है। इसके 5 छापेखानों से 11 पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं।

लिपियों की यह भिन्नता संताली साहित्य के विकास पथ में चीन की दीवार साबित हुई है। आज स्थिति यह है कि बिहार का एक संताली भाषा-भाषी व्यक्ति बंगाल, उड़ीसा, असम के एक संताली भाषा-भाषी व्यक्ति को संताली भाषा में पत्र नहीं लिख सकता। बिहार से प्रकाशित संताली भाषा की पुस्तक का बंगाल, उड़ीसा अथवा असम में पाठक नहीं मिलता जबकि बिहार में कुल संताली भाषा-भाषी आबादी का 30% ही निवास करता है। पठन-पाठन में भी यही अनिश्चितता बनी हुई है। मिशनरी स्कूलों में संताली भाषा की पढ़ाई रोमन लिपि में होती है। उसके समानांतर सरकारी स्कूलों में संताली भाषा की पढ़ाई बिहार में देवनागरी लिपि में, बंगाल में बंगला एवं ओल चिकी लिपि में, उड़ीसा एवं बिहार के सीमावर्ती जिलों में ओल चिकी लिपि में संताली भाषा पढ़ायी जाती है। भागलपुर विश्वविद्यालय के कॉलेजों में संताली भाषा लिखने के लिए कोई निश्चित लिपि नहीं है। जबकि राँची विश्वविद्यालय की स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में संताली भाषा देवनागरी एवं ओल चिकी में लिखी जा रही है। लिपि की इस अनिश्चितता के चलते न तो संताली भाषा का साहित्य आगे बढ़ पा रहा है, न ही संताली साहित्य का इतिहास लिखने में सफलता मिल पायी है। वर्तमान समय में संताली भाषा का इतिहास लिखने के लिए लेखक के लिए उपरोक्त चार लिपियों में दक्ष होना आवश्यक है। यह एक कठिन दायित्व है।

लिपियों के इस विवाद में संताली भाष-भाषी लेखक व पाठकों के साथ राज्य सरकारें भी उलझ गयी हैं। वर्तमान समय में लिपि विशेष के लेखक विभिन्न संगठनों में संगठित हैं जैसे संताली साहित्य एवं सांस्कृतिक समिति, कलकत्ता में रोमन लिपि लिखने वाले, अखिल भारतीय संताली साहित्य परिषद्, पटना में देवनागरी लिपि में लिखने वाले; आदिवासी समाज शिक्षा एवं सांस्कृतिक समिति की बिहार, बंगाल, उड़ीसा एवं असम शाखा में ओल चिकी लिखने वाले एवं 'आबेवा गांवता' में बंगला लिपि लिखने वाले एकजुट हैं। बिहार सरकार संताली भाषा के लिए नागरी लिपि को बढ़ावा देती है तो बंगाल सरकार की संताली पत्रिका (पाछिम बंगला) बंगला लिपि में छपती है।

धर्मांध मिशनरियों की भूमिका

जो हो, लिपि के संबंध में तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किये बिना वास्तविक स्थिति उजागर नहीं हो सकती। पहली घटना सन् 1973 में हुई जब पाकुड़ बिहार में इन सभी संगठनों का एक संयुक्त सम्मेलन आयोजित किया गया। लक्ष्य था—एक लिपि निर्धारित करना। उक्त सम्मेलन में बहुत तनावपूर्ण स्थिति में प्रस्ताव किया गया कि जब तक ओल चिकी सुदृढ़ नहीं हो जाती रोमन लिपि में ही काम लिया जाना चाहिए। दूसरी घटना सन् 1979 की है जब पं. बंगाल सरकार ने संताली भाषा के लिए औपचारिक रूप से ओल चिकी लिपि की मान्यता प्रदान की। बंगाल सरकार की इस पहल पर पड़ोसी राज्य सरकारों ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। परिणामस्वरूप विदेशी मिशनरियों की शह पर रोमन लिपि के समर्थकों ने बंगाल सरकार के विरुद्ध दूसरे संताल विद्रोह का आह्वान किया था। इस आह्वान की व्यापक प्रतिक्रिया हुई और बिहार में देवनागरी तथा ओल चिकी के लेखकों ने इस आह्वान का विरोध किया। इस विरोध के बाद रोमन लिपि व्यावहारिक रूप से एक धर्म विशेष के समुदाय तक ही सिमट गयी है, लेकिन पहले से अधिक रुढ़िवादी भी हो गयी है। लिपि में किसी परिवर्तन को वे धर्म के ऊपर हमले के रूप में ही लेते हैं। इस रूढ़िवादिता में मिशनरियों की भूमिका स्पष्टतः

महत्त्वपूर्ण है। इस धर्म संकट में निकलने की पहल राँची विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय भाषा विभाग ने की है। 12-14 दिसम्बर 1986 के क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में जनजातीय भाषा के मानकीकरण एवं लिपि के विषय में एक राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया गया। देश के कोने-कोने से आये विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये, जिन पर पुनः चर्चा की जाएगी। इस प्रकार तीसरी घटना ने सकारात्मक रवैया अपनाकर समाधान की दिशा में पहलकदमी की है।

प्रकाशन व्यवस्था का चक्रव्यूह

दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या प्रकाशन से संबंधित हैं संताली भाषा के लेखक स्वयं अपनी पुस्तकें छापने के लिए बाध्य हैं। कहीं-कहीं छोटी-दोटी संस्थाएँ एकाध पुस्तकें प्रकाशित कर लेती हैं आज तक कोई संगठित प्रकाशन की व्यवस्था नहीं हो सकी है। लिपि की भिन्नता के कारण कोई प्रकाशक अपनी पूँजी लगाना नहीं चाहता। परिणामतः प्रकाशन के जो व्यक्तिगत प्रयास होते हैं वे एक हजार प्रति से अधिक के नहीं होते। किसी पुस्तक का दूसरा संस्करण बिरले ही निकलता है। 1984 में संताली लेखकों को एक और हादसे का शिकार होना पड़ा है। पटना स्थित एक प्रकाशक ने बिहार के अधिकांश संताली लेखकों से इस शर्त पर पांडुलिपियाँ ले लीं की समझौते के अनुसार उन्हें (लेखकों को) भुगतान किया जाएगा। इस प्रकार उक्त प्रकाशक ने एक साथ 69 संताली पुस्तकों की एक सूची जारी की जिन्हें वह प्रकाशित करने वाला था। इसमें अधिकांश पुस्तकें पाठ्यक्रम में लगी हुई थीं। परंतु लेखकों की नींद तब टूटी जब उक्त प्रकाशक ने लेखकों को यह कहकर टरका दिया कि आपकी पुस्तक तो बिकी ही नहीं। आज स्थिति यह है कि बिहार के अधिकांश संताली लेखक उक्त प्रकाशक (संचयन, पटना) के बंधक बने हुए हैं।

बिहार में उच्च विद्यालय के पाठ्यक्रम में स्वीकृत पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करने की जिम्मेदारी बिहार पाठ्य पुस्तक प्रकाशन निगम की है। यह निगम प्रतिवर्ष पाठ्य पुस्तकों की सूची प्रकाशित करता है। जिसमें संताली भाषा-साहित्य की पुस्तकों का नाम भी छपता है। ये पुस्तकें प्रथम वर्ग से लेकर दशम वर्ग तक की होती हैं। आश्चर्यजनक रूप से इन विज्ञापनों में वर्ग-1 से वर्ग-4 तक तथा वर्ग-8 से वर्ग-10 तक की पुस्तकों के नाम होते हैं। यह नियम पिछले 5 वर्षों में वर्ग-4 से वर्ग-8 तक की संताली भाषा-साहित्य की पाठ्य पुस्तक तैयार नहीं कर सका है। बिहार अनियमितताओं के लिए बदनाम तो है ही, यहाँ जातिवाद भी चरम सीमा पर है। इसका मिला-जुला प्रभाव यह होता है कि प्राथमिक विद्यालयों की जो संताली पाठ्य पुस्तकें निगम छाप भी चुका है उन्हें निःशुल्क वितरण के लिए ऐसे जिलों में भेजा जाता है जहाँ इस भाषा को पढ़ने-लिखने वाला कोई नहीं है। इन पुस्तकों को इनके पाठकों तक पहुँचाने में 8-10 महीने लगते हैं ओर छात्रों को पाठ्य पुस्तकें वार्षिक परीक्षा के बाद मिलती हैं या मिलती ही नहीं।

और तो और स्नाकोत्तर कक्षा में भी पाठ्य पुस्तकों का अभाव है। राँची विश्वविद्यालय के कुलपति रहे डॉ. राम दयाल मुंडा स्वयं एक आदिवासी विद्वान हैं तथा जनजातीय भाषा विभाग के संस्थापक अध्यक्ष रह चुके हैं। यह उनके जीवट का ही काम है कि उन्होंने इस विभाग के अस्तित्व को बनाये रखा, लेकिन एक अकेले व्यक्ति के प्रयास की सीमाएँ भी होती हैं। यह नहीं कि लेखक नहीं हैं बल्कि प्रकाशन की असुविधा के कारण पुस्तकें छप नहीं पातीं।

इस सिलसिले में सरकारी प्रयास की संक्षिप्त समीक्षा की जानी चाहिए। 1982 में बिहार

सरकार ने एक जनजातीय भाषा अकादमी की स्थापना की थी। इस अकादमी का कार्यालय कहाँ है। इसका पता किसी को नहीं है। आज तक इस अकादमी का काम केवल यात्रा-भत्ता एवं अन्य मदों में पैसा खर्च करना रहा है। इसने आज तक एक भी पुस्तक का न तो प्रकाशन कराया और न ही संताली भाषा एवं साहित्य के लिए चिंतन ही किया है। जबकि इस अकादमी की लाखों रुपया अनुदान दिया जाता रहा है।

इसी प्रकार कल्याण विभाग (बिहार सरकार) के अधीन जनजातीय लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित करने की एक योजना है। और विभागों की तरह ही यहाँ भी पैरवी एवं पहुँच ही कार आमद साबित होती है। साधनहीन जनजातीय लेखक इस चक्रव्यूह में प्रवेश ही नहीं कर पाता। आज तक केवल दो पुस्तकें (संताली भाषा में) इस कोष से प्रकाशित की गयी है और पुस्तकों की छापी प्रतियाँ इस विभाग की अलमारियों में सड़ रही हैं। कहा जाता है कि विभाग के पास बिक्री की व्यवस्था नहीं है।

यह सही है कि संविधान में अल्पसंख्यकों की भाषा एवं संस्कृति को बचाये रखने के लिए प्रावधान है परंतु उन प्रावधानों तक पहुँचने के लिए भी शक्ति चाहिए जो फिलहाल संताली लेखकों के पास नहीं है।

तीसरी समस्या है भाषा को मान्यता प्रदान करने की। यह साधारण अनुभव है कि जब तक कोई भाषा रोजगार से न जुड़ जाए उसे अपनाने या विकसित करने में कुछ समय लगता है। अब तक संताली भाषा को रोजगार से दूर रखा गया है। बिहार लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं में आज तक संताली भाषा-साहित्य शामिल नहीं किया गया है। जबकि इसकी पढ़ाई स्नातकोत्तर कक्षाओं तक हो रही है। बिहार के दस जिलों में कमोबेश संताली भाषा-भाषी लोग रहते हैं। परंतु प्राथमिक विद्यालयों में इसकी पढ़ाई नगण्य ही है। उच्च विद्यालयों में 0.5% स्कूलों में ही संताली भाषा के शिक्षक हैं।

देश-विदेश से रेडियो-प्रसारण

संताली भाषा की जीवंतता को बनाये रखने के लिए दूसरी सांस्कृतिक माध्यमों से भी इसे जीवित रखने की आवश्यकता है। आकाशवाणी का कलकत्ता केंद्र प्रतिदिन 30 मिनट का संताली कार्यक्रम प्रसारित करता है। जबकि राँची (बिहार) केंद्र सप्ताह में मात्र 15-15 मिनट का ही संताली कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। इसके अलावा बंगलादेश रेडियो सप्ताह में 15 मिनट का संताली कार्यक्रम प्रसारित करता हैं यही नहीं, ईसाई मिशनरियों द्वारा नियंत्रित गुवाम द्वीप स्थित प्रसारण केंद्र प्रतिदिन नियमित रूप से 15 मिनट संताली कार्यक्रम प्रसारित कर रहा है। यह केंद्र केवल धर्म प्रचार की सामग्री ही प्रसारित करता है। मिशनरियों ने दुमका (बिहार) में दो सुसज्जित स्थायी रेडियो रिकार्डिंग स्टूडियो खोल रखे हैं। इस प्रकार प्रति सप्ताह देश एवं विदेश के रेडियो से संताली भाषा में 360 मिनट का प्रसारण होता है। जिसमें 33% प्रसारण विदेशी धरती से होता है। इतना होने के बावजूद भारतीय दूरदर्शन के लिए संताली भाषा अभी भी एक अजूबे से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

निहित स्वार्थी तत्त्व

राज्य और केंद्र सरकारों के अनुदानों का बँटवारा कुछ चुने हुए निहित स्वार्थी तत्त्वों के बीच ही होता आया है। बिहार सरकार ने आदिवासियों के विकास का ठेका 'संताल पहाडिया सेवा मंडल' नामक एक स्वयंसेवी संस्था को दिया है। यह संस्था स्वतंत्रता के तुरंत बाद ठक्कर

बापा जैसे समाज सेवियों का नाम लेकर उभरी और आज संतालों की चिकित्सा से लेकर संताली भाषा का शब्दकोश बनाने तक का ठेका इसने ले लिया है। यह संस्था पिछले 5 वर्षों से एक शब्दकोश तैयार कर रही है। लागत 5 लाख रुपये से अधिक आ चुकी है लेकिन शब्दकोश अभी तक बाजार में नहीं आ पाया है। शब्दकोश बनाने वाले विद्वानों की टोली में एक भी संताली भाषा-भाषी विद्वान नहीं है। इसका सीधा परिणाम यह है कि 'चूड़ा' जैसे घरेलू उपयोग की वस्तुओं का शाब्दिक अर्थ 'चिपटा-चावल' लिखा जाता है। 'चिपटा चावल' सुनकर 'चूड़ा' बनाने वाला भी नहीं समझ पायेगा कि यह क्या बला है—पाठकों की बात तो छोड़ ही दें। संख्या की दृष्टि से संताली से कम आबादी वाली भाषाएँ संविधान की आठवीं सूची में स्थान पाने की प्रतीक्षा कर रही हैं—जैसे नेपाली, मगही, मैथिली आदि।* परंतु अभिभावकहीन संताली भाषा युगों से एक बोली के रूप में रहकर तथा एक शताब्दी से अधिक समय से लिखित रूप में विद्यमान रहतते हुए भी वैधानिक रूप से स्वीकृति पाने में पीछे है।

संक्षेप में, भारतीय उपमहाद्वीप के एक विस्तृत क्षेत्र में 80 लाख लोगों द्वारा बोली जाने वाली संताली भाषा ऐतिहासिक विकास क्रम के एक संकटपूर्ण दौर से गुजर रही है। एक लम्बे समय से विभिन्न षड्यंत्रों का शिकार होते हुए भी इसकी प्राणवत्ता बची हुई है। इस भाषा के समक्ष जो समस्याएँ हैं वे अंतर्राज्यीय एवं अंतर्देशीय प्रकृति की है। इसके समाधान की दिशा में केंद्रीय सरकार को प्रभावशाली ढंग से हस्तक्षेप करने की आवश्यकता है।

(गंगा, जुलाई 1987 अंक से सभार।)

* **अब नेपाली, मैथिली और संताली भाषाएँ संविधान की 8वीं अनुसूची में शामिल हो चुकी हैं।–संपादक**

आदिवासी साहित्य की वैचारिक दिशा

(राम दयाल मुंडा की कविता पुस्तक 'सेलेद' का संदर्भ)

महेश कुमार

राम दयाल मुंडा की कविताओं और गीतों पर विश्लेषणात्मक दृष्टि डालने से पहले आदिवासी साहित्य पर विचार करना जरूरी है। आदिवासियों पर प्राप्त शोध में ज्यादातर तथ्य भ्रामक और अपर्याप्त मालूम होते हैं। बिना उनके सांस्कृतिक पहचान को समझे उनकी सामूहिक पहचान को बेतुके शब्दों में उलझाने की कोशिश की गई है, जिनमें उन्हें वनवासी, जंगली, जनजाति, गिरिजन इत्यादि कहा गया है। इस संदर्भ में अनुज लुगुन की आदिवासियों की देशज पहचान को चिन्हित करने वाली कविता 'आदिवासी' प्रासंगिक मालूम होती है :

जिन्हें आरक्षण चाहिए,
कहते हैं हम आदिवासी हैं
जिन्हें वोट चाहिए कहते हैं
तुम आदिवासी हो
वे जो धर्म प्रचारक हैं
कहते हैं तुम आदिवासी जंगली हो
वे जिनकी मानसिकता यह है कि
हम आदि निवासी हैं
कहते हैं तुम वनवासी हो
और वे जो नंगे पैर
चुपचाप चल जाते हैं जंगली पगडंडियों में
कभी नहीं कहते कि हम आदिवासी हैं
वे जानते हैं जंगली जड़ी बूटियों से
अपना इलाज करना
वे जानते हैं जंतुओं की हरकतों से
मौसम का मिजाज समझना

सारे पेड़ पौधे नदी पर्वत पहाड़
जानते हैं कि वे कौन हैं।

आदिवासियों की अस्मिता समझ कर तमाम वैसे लोग जो उन्हें उन का अधिकार दिलवाने की बात करते हैं, केवल उनका राजनीतिक फायदा उठाना चाहते हैं। उद्धृत कविता में कवि इसी विडंबना का पर्दाफाश करना चाह रहे हैं। कविता की अंतिम चार पंक्तियाँ आदिवासी समाज की सामाजिकता और उसके देशज सांस्कृतिक पक्ष को रेखांकित करती है। इस छवि को आदिम मानकर कहा पिछड़ा नहीं कहा जा सकता है। यह आदिवासियों की प्राथमिक विशेषता भी है और पहचान भी। इसलिए आदिवासी अस्मिता से जुड़े नस्लवादी और वर्चस्वकारी विचारों की आलोचना करते हुए वंदना टेटे लिखती हैं—"अस्मिता शब्द और इसके जरिए जो राजनीतिक अवधारणा लाई जा रही है वह स्त्रियों, दलितों, पिछड़ों और आदिवासी के मूल राजनीतिक सवाल उनके सहजीविता के दर्शन को पीछे धकेलती है। अस्मिता की राजनीतिक—सांस्कृतिक अवधारणा और इस पर चलाई जा रही बहसें, जिस के प्रायोजक अकादमिक जगत और उसके शैक्षणिक साहित्य संस्थान हैं, वास्तव में नस्लीय और औपनिवेशिक सोच से ग्रसित हैं क्योंकि यह अवधारणा दुनिया की उस बड़ी आबादी को पूर्णता में नहीं स्वीकारती, जिसके सवालों से यह व्यवस्था घिरी हुई है।"[2]

इस संदर्भ में राम दयाल मुंडा का आदिवासी साहित्य के संबंध में उद्धृत विचार अत्यंत प्रासंगिक है जिसमें वे आदिवासी साहित्य से संबंधित विरोधाभासों की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं—"आदिवासी साहित्य का अर्थ क्या है? क्या आदिवासी जो बोलता है वह भाषा? दिल्ली में बस जाने वाला आदिवासी तो अंग्रेजी बोलता है। क्या वह जो लिखेगा तो आदिवासी साहित्य कहलायेगा? यदि हम कहेंगे आदिवासी साहित्य आदिवासियों के बारे में लिखा जाने वाला साहित्य है, चाहे वह अंग्रेजी में हो या जापानी में तो क्या वह आदिवासी साहित्य कहलायेगा? आखिर क्या हो आदिवासी साहित्य जिसे चिन्हित करना चाहिए?"[3]

यहाँ राम दयाल मुंडा का पूरा जोर आदिवासी साहित्य में 'क्या हो जिसे चिन्हित करना चाहिए' पर है। मुंडा जी की यही चिंता आदिवासी साहित्य के प्रति उनकी प्रतिबद्धता और गहरे चिंतन की याद दिलाती है। जब वे 'क्या हो' और 'चिन्हित' करने का प्रस्ताव रख रहे हैं तो इसका अभिप्राय 'दृष्टि' और 'विषय' से है।

दरअसल किसी भी साहित्य का विस्तार और उसका कालजयी होना इस बात पर निर्भर करता है कि उस साहित्य में समाहित विषय वस्तु कितना विविध है, और उसमें भी विषय वस्तुओं की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और गहरी है। चूँकि, राम दयाल मुंडा का अनुभव और अध्ययन क्षेत्र काफी विस्तृत था, इसलिए वे जानते थे कि किसी भी भाषा का साहित्य समय के साथ अपने विषय, शब्द भंडार, मुहावरे, उपमाएँ, सौंदर्य और अन्य साहित्यिक तत्त्वों को बदलते परिस्थितियों के अनुसार न केवल परिमार्जित करता है बल्कि आवश्यकता पड़ने पर बदल भी लेता है। जिस भाषा-समाज का साहित्य ऐसा नहीं करता, वह पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। हिंदी भाषा का साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करता है। अपभ्रंश से होते हुए वर्तमान हिंदी के साहित्यिक स्वरूप का जो विकास हुआ है, उसमें रूप और विषय वस्तु दोनों में विविधता का विकास निरंतर जारी है। इसलिए मुंडा जी आदिवासी साहित्यकारों को विरोधाभासों की ओर ध्यान आकर्षित कर सजग भी करते हैं और चेतावनी भी देते हैं। सजग इस बात के लिए की ऐसा न हो कि आदिवासी भाषाओं के साहित्य को संकलित करने में केवल भाषाओं पर ही ध्यान रहे 'विचार' और 'मुद्दे' छूट जाएँ। आदिवासी भाषाओं के साहित्य में खास समय

में और परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के विचार और मुद्दे किस प्रकार अभिव्यक्त हुए हैं इसका ध्यान रखा जाना अत्यंत जरूरी है। अगर ऐसा न हुआ तो आदिवासी साहित्य आगे न बढ़ सकेगा जिसकी चेतावनी मुंडाजी दे रहे हैं। मुंडा जी का जोर विरोधाभासों पर इसलिए भी है क्योंकि वे इस बात से चिंतित हैं कि आदिवासी साहित्य भारतीय साहित्य और विश्व साहित्य को क्या योगदान देगा? आदिवासी साहित्य आधुनिक युग की विसंगतियों को किस प्रकार विश्लेषित करता है? कोई विकल्प प्रस्तुत करता भी है या नहीं? आखिर आदिवासी साहित्य में ऐसा क्या है जो गैर आदिवासी पाठक को आकर्षित कर सकता है और अन्य विश्व समुदाय के लिए हितकर हो सकता है?

इन्हीं बिंदुओं पर ध्यान खींचने हेतु वे आदिवासी साहित्यकारों को आदिवासी साहित्य से जुड़े विरोधाभासों पर विचार करने के लिए कहते हैं। चूँकि, आज तक के जितने विचार और सिद्धांत हैं वे तथाकथित मुख्यधारा द्वारा प्रतिपादित हैं और तथाकथित सभ्य समाज द्वारा रचे गये हैं, इसलिए आदिवासी समाज और दर्शन की और ध्यान देना जरूरी नहीं समझा गया। परंतु, राम दयाल मुंडा का इशारा इस ओर है कि अगर लिखित साहित्य की इस दुनिया में आदिवासियों को अपने जीवन दर्शन की महत्ता स्थापित करनी है तो उन्हें भी लिखना होगा। लेकिन वे सावधान भी करते हैं और कहते हैं—"वे सभी लोग जो संविधान के रूप की व्यवस्था के हिसाब से तो बहुत महत्त्वपूर्ण आबादी हैं लेकिन व्यवहार में नहीं चारों तरफ से काट—छाँट कर कैसे जीरो पर लाया जाए और नेस्तनाबूद किए जाने का प्रयास हो रहे हैं। इस चक्र को विपरीत दिशा में ले जाना होगा। पहले तो कोशिश कर उसे रोकें। उसके बाद उसमें जो भी सकारात्मकता है, उसे हम लोग कैसे पकड़े और राष्ट्रहित में इन चीजों को कैसे प्रोत्साहित करें इसकी कोशिश करनी होगी।"[4]

उपर्युक्त विचारों और आदिवासी दुनिया को समझने के लिए हमें रामदयाल मुंडा की रचनाओं से गुजरना होगा। 'सेलेद' राम दयाल मुंडा के जीवन की कहानी है। उन्होंने जो देखा, जो माना उसी को गीत—कविता के रूप में अभिव्यक्त किया। इस किताब का दो बार प्रकाशन हो चुका है, 1967 और 2005 में। 2017 में प्रकाशित 'सेलेद' में रामदयाल जी द्वारा लिखित 2005 के बाद की रचनाएँ भी शामिल हैं। पूरा संकलन तीन भागों में है—मन बंधन, मन बिछुड़न और जागरण। यह तीन भाग उनके जीवन के हासिल हुए अनुभवों की क्रमशः अभिव्यक्ति हैं। उनके गीत और कविताएँ उनके पारिवारिक रिश्तों से होते हुए सामाजिक रिश्तों का सफर तय करती हैं और एक आदिवासी मन का उल्लास, इंतजार, प्रेम, विरह, समाज और देश के प्रति चिंताएँ सब कुछ गहरी संवेदना और सघन वैचारिक परिदृश्य के साथ उपस्थित होती हैं।

उनकी कविताएँ यह स्पष्ट कर देती हैं कि बिना आदिवासी दर्शन और उनके सामाजिक जीवन को समझे न उनकी कविताएँ समझी जा सकते हैं ना आदिवासियत। वे लिखते हैं :

मैं धान चावल नहीं खोजता
मैं अरखी-इलि नहीं चाहता
मैं गीतों की मजदूरी करता हूँ।
बाजे की गूँज सुनकर
मैं जोगी की तरह पहुँच गया। (पोकला गाँव का नाम लेकर)

जो आदिवासियों की सामूहिकता और सामाजिकता से अपरिचित हैं उन्हें 'गीतों की मजदूरी करना' अटपटा लग सकता है। यहाँ गीत आदिवासियों की रागात्मकता और उत्सवप्रियता का सूचक है और 'मजदूरी' सामूहिकता का। आदिवासी विमर्श का आधार सांस्कृतिक है। यह

केवल आर्थिक प्रश्नों पर केंद्रित नहीं है। अभी ने सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था है। इसकी भिन्नता पर समाजशास्त्रीय और अर्थशास्त्रियों को विचार करना चाहिए। आदिवासी समाज का साहित्य उनके जीवन की आकांक्षाओं की ही अभिव्यक्ति है। चूँकि, आदिवासी समाज के अंदर सामंतवाद का पूर्ण विकास नहीं हुआ, फलस्वरूप उनके समाज की आंतरिक बनावट में खास किस्म की स्वतंत्रता और स्वायत्तता देखने को मिलती है। समुदाय में सामूहिकता की मजबूत प्रवृत्ति होने की वजह से वर्चस्व पर आधारित कलाओं को उनके यहाँ जगह नहीं मिली। वह संपूर्ण समाज एक साथ एकत्रित होता है हर एक साथ कलात्मक आनंद की अनुभूति करता है। उनके यहाँ श्रम और आनंद दोनों बिना लैंगिक भेदभाव के सामूहिकता में संचालित होता है। उनकी अपनी स्वायत्त सामाजिक-प्रशासनिक व्यवस्था है। गीतों की मजदूरी के पीछे यही सामूहिकता का दर्शन काम करती है। उनका समाज उपयोगिता पर आधारित है न की उपभोक्तावादी विचार पर। उपभोक्तावादी समाज अति केंद्रीकरण पर आधारित है। वह प्रत्येक वस्तु और विचार का 'पेटेंट' करना चाहती है जबकि आदिवासी समाज सब कुछ सब तक पहुँचाने में विश्वास रखता है। यही वजह है कि आदिवासियों को 'अस्मिता' से जोड़कर देखा जाता है तो आदिवासी विचारक असहमति प्रकट करते हैं। वंदना टेटे लिखती हैं—"हम आदिवासी लोग अस्मिता नहीं, सोल(आत्मा) हैं। नग हैं, नग, जो नगर और नागरिकता का सर्जक है। हम आदिवासी लोग गण हैं, जन हैं, जिससे जनता और गणतंत्र बना है। अगर सभ्यता और उसके बौद्धिक—अकादमिक जगत की नियत ईमानदार होती तो हमें आईडेंटिटी नहीं मानता। वह हमको 'पहचान के संकट' के रूप में न तो हमें चिन्हित करता और न ही हमारे सवालों को अस्मिता के संकुचित दायरे में बाँधकर हाशिए पर फेंक देता। आदिवासी दर्शन इस तरह की सोच का निषेध करता है। अपनी सामाजिक व्यवस्था में आदिवासी किसी भी तरह की सत्ता की अवधारणा को जगह नहीं देता। इसलिए उसके जीवन में आम और खास नहीं है। पक्ष प्रतिपक्ष नहीं है। सुंदर-असुंदर नहीं है। मर्दवाद—स्त्रीवाद वाली बात नहीं है। वह प्रकृति को अपना विरोधी नहीं मानता, न ही उससे होड़ करता है। सृष्टि और प्रकृति के सभी अंगों के साथ उसका आत्मीय और सहजीवी संबंध है। एक रागात्मक रिश्ता है प्रकृति के साथ, जिसमें वह जीता है, जीने के लिए तरह-तरह की गतिविधियाँ करता है। उसके मार्गदर्शक पहाड़ नदियाँ जल और हवा है जिससे सृष्टि स्पंदित रहती है। जीवन गतिशील रहता है। आदिवासियों से ज्यादा प्रगतिशील और वैज्ञानिक इस दुनिया में कोई नहीं है।"[5] उनका यह कथन वर्तमान संदर्भ में बिल्कुल प्रासंगिक और विचारणीय है। स्वयं मुंडा ने इस विचार की पुष्टि करते हुए अपने एक भाषण में कहा था—"यह बोल देना कि आदिवासी दहेज नहीं लेते काफी नहीं है। मुख्यधारा का समाज इससे कोई सीख क्यों नहीं ले रहा, यह जानते हुए कि दूसरा कोई रास्ता नहीं है? आपके घर में दवा है, आप सीखना नहीं चाहते समानता वाली बात आपको मार्क्स से सीखनी है जबकि आपके घरों में हजारों मार्क्स पड़े हैं। पर आप इंतजार कर रहे हैं रूस से कोई दवा आएगी, चीन और वॉशिंगटन से कोई दवा आएगी उसी से सीखेंगे। नहीं दवा तो यहीं है, बस सीखने भर की बात है। हमें समानता, सामाजिकता और सहयोगिता सीखनी है। दरअसल यह सभी मानवीय गुण पहले से ही हम आदिवासियों में है पर हम सीखना नहीं चाहते। यही विरोधाभास है।"[6]

यह विचार गैर आदिवासी आदिवासियों से सीख सकता है। भारतीय एवं विश्व साहित्य में आदिवासी साहित्य का योगदान भी इसी रूप में स्वीकृत होनी चाहिए।

राम दयाल मुंडा की कविताओं की विशेषता यह है कि उन्हें किसी खास विचारधाराओं

की सीमाओं में बाँधकर नहीं पढ़ा जा सकता है, विश्लेषण तो दूर की बात है। इसलिए जरूरी है कि उनकी कविताओं से ही विचार को आने दिया जाए और उसके आधार पर विश्लेषण किया जाए। इसके पीछे दो कारण हैं—पहला, उनका किसी खास 'स्कूल ऑफ थॉट' से जुड़ाव या संबंध का न होना और दूसरा उनका आदिवासी होना। उनकी कविताएँ किसी एक ढाँचे में फिट नहीं होती। अक्सर उनकी कविताओं को पढ़ते हुए यह भ्रम होता है कि वे छायावादी हैं। इसका एक कारण उन पर रवींद्रनाथ ठाकुर का प्रभाव भी हो सकता है। परंतु जब छायावाद की विशेषताओं और सिद्धांतों के आलोक में मुंडा जी की कविताओं का विश्लेषण करते हैं तो यह भ्रम दूर हो जाता है। नामवर सिंह ने अपनी किताब छायावाद में लिखा है—"स्वानुभूति, कल्पना, प्रकृति का मानवीकरण, अध्यात्मिक छाया, मूर्ति मत्ता, लाक्षणिक विचित्रता आदि छायावाद की विशेषता कही जाती है।[7] छायावाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता की चाह में प्रस्फुटित हुआ, इसलिए छायावादी कविताओं के सौंदर्य के विषय में नामवर सिंह लिखते हैं कि छायावाद का काव्य सौंदर्य व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना से उत्पन्न हुआ है और वह स्वाधीनता व्यक्ति के माध्यम से संपूर्ण समाज की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है। निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं—"छायावाद का प्रभाव जीवन के सीमित क्षेत्र पर ही पड़ता है। उसमें कल्पना अधिक वास्तविकता कम थी, जो वास्तविकता थी वह प्रायः मानव जीवन के एकदेशीय प्रेम से संबंधित थी।"[8]

राम दयाल मुंडा की 'मन बंधन' और 'मन बिछुड़न' खंड में जो संकलित कविताएँ और गीत हैं वह छायावादी प्रतीत होती हैं, परंतु इन गीत और कविताओं का विचार और प्रतीक छायावादी सिद्धांतों से भिन्न है। उनका समाज मुख्यधारा के समाज से ज्यादा लोकतांत्रिक है इसलिए उनकी सामाजिकता की भावना में भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को दमन नहीं किया जाता है। रामदयाल मुंडा की रचनाओं में जो निज भावना प्रकट हुई है उसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता की माँग नहीं है बल्कि सामाजिकता की भावना से उत्पन्न खुद की अभिव्यक्ति है, जो उनके उल्लास और विरह दोनों ही भाव दशाओं में दिखाई देती है। उनकी रचनाएँ अपनी जमीन की उपज है न कि पश्चिम या बंगाल से प्रेरित रोमांटिसिज्म के विचारधारा से। इसकी झलक उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है—

कोयल तुम वापस न जाना
हम तुम्हारे लिए घर—द्वार बना देंगे
हम यहीं एक साथ बैठेंगे-बतियाएँगे
हम तुम्हारे लिए खेत खलिहान बना देंगे।

यहाँ छायावाद की तरह अप्रस्तुत का विधान नहीं है बल्कि यथार्थ है। कोयल उसका सहिया है, प्रेमी है, गोतिया है। यही प्रेम और सहियापन आदिवासी दर्शन का आधार है। यहाँ कवि अपनी बात कह रहे हैं परंतु विचार सामूहिकता से जुड़ जाती है। कोयल, घर द्वार, खेत -खलिहान आदि सब देशज बिंब हैं जो लोक की उपज हैं। यह बिंब विधान ही राम दयाल मुंडा को छायावादी कवियों से अलग करता है और उनकी कविताओं को भी। छायावादी रचनाकार जब विरह की कविताएँ लिखते हैं तो उनके बिंब संस्कृत काव्य के बिंबों की याद दिलाते हैं परंतु राम दयाल मुंडा जी के विरह के गीत और कविताओं में हमें आदिवासी लोक के बिंब दिखाई पड़ते हैं। यह बिंब उनके जीवन के अभिन्न अंग हैं, जैसे उनकी प्रेमिका, पत्नी और परिवार उनके अभिन्न अंग हैं। इसलिए जब भी वे दुःखी होते हैं तो छायावादी कवियों की तरह चाँद, चाँदनी, तारा, समुद्र की लहरों को अपनी पीड़ा व्यक्त करने का माध्यम न बनाकर खेत, बाँसुरी, मांदल, लकड़ी आदि को अपना संदेश वाहक बनाते हैं। इसका एक सुंदर नमूना

देखिए–

खेत-डांड़ रहने पर भी
इली भात रहने पर भी
बाँसुरी बनाम के बीच भी
तुम्हारे बिना यह मन
भर नहीं पाता, भर नहीं पाता।

छायावादी कवि विरह में रहस्यवादी और आध्यात्मिक बिंब एवं विचार की योजना करते हैं। परंतु राम दयाल मुंडा विरह की स्थिति में भी लोक की स्मृतियों से जुड़े बिंब की प्रस्तुत योजना करते हैं, अप्रस्तुत नहीं। इसकी झलक नीचे उद्धृत उनकी कविता के पंक्तियों में दिखाई पड़ती है–

रात दिन जलते रहने पर
मोटी लकड़ी की तरह धड़कते हुए
जब तक तुम खुद धर निकालोगे नहीं
खुद पानी डालोगे नहीं
तुम्हारे बिना यह मन
बच नहीं सकेगा, बच नहीं सकेगा। (देश देश ढूँढने पर भी)

यहाँ राम दयाल मुंडा की विरह की स्थिति तभी दूर होगी जब वे अपनी प्रियतमा से मिल सकेंगे। उनकी पंक्तियों में कहीं भी रहस्यवादी और आध्यात्मिक विचार दिखाई नहीं पड़ती। यही बिंब योजना उन्हें छायावादियों से अलग भी करती है और खास भी बनाती है। राम दयाल मुंडा की कविताएँ और गीत पाठक के समक्ष विभिन्न परिस्थितियों से उपजे विभिन्न विचारों की झलकियाँ प्रस्तुत करती हैं, जिसमें एक आदिवासी का देशप्रेम, ग्राम प्रेम, उसका आधुनिक समाज के साथ सामना तथा उससे उपजे आदिवासी मन के विचार, लोकतंत्र से उम्मीद और मोहभंग शामिल हैं। ये सारे तत्त्व मिलकर उनकी रचनाओं को प्रगतिशील बनाते हैं। जैसा कि नामवर सिंह ने लिखा है–"चूँकि, प्रगतिशील साहित्य कोई स्थिर मतवाद नहीं है बल्कि यह एक निरंतर विकासशील साहित्य धारा है जिसके लेखकों का विश्वास है कि प्रगतिशील साहित्य लेखक की स्वयंभू अंतः प्रेरणा से उद्भूत नहीं होता बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम में वह भी परिवर्तित और विकसित होता रहता है और उसके सिद्धांत उत्तरोत्तर स्पष्ट तथा अधिक पूर्ण होते चले जाते हैं।"[9]

राम दयाल मुंडा की कविताएँ इस दृष्टिकोण से सार्थक भी हैं और प्रासंगिक भी। क्योंकि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम में साहित्य का विकास तभी होता है जब लेखक गहरे रूप से अपने समाज के साथ जुड़ा रहता है और उसमें सामूहिकता की भावना बनी रहती है। यह सामाजिकता और सामूहिकता कवि को अपने समाज में घट रही घटनाओं के प्रति सूक्ष्म अन्वेषण की दृष्टि भी देती है और जब इस प्रक्रिया में उनकी सामाजिकता और सामूहिकता बाधित होती है तो उसकी रचनाओं में भी नए सिद्धांत की झलक दिखलाई पड़ती है। मुंडा जी की कविताओं में अन्वेषण और सिद्धांतों की झलकियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। बदलते परिस्थितियों के अनुसार उनका अन्वेषण और सिद्धांत दोनों बदलते गए हैं। इसकी झलक इन पंक्तियों में देखी जा सकती है–

तुम्हारे गाँव का अखरा
इमली की छाया

हर रोज, हर रोज
मुझे यहाँ आने का जी करता है
हर रोज -हर रोज।

यहाँ समानता और सामूहिकता के प्रति मुंडा जी का जो लगाव है वही अभिव्यक्त हो रहा है। यह सहज अभिव्यक्ति तड़प में तब बदल जाती है जब वह इस सामूहिकता और समाज से खुद को कटा हुआ महसूस करते हैं। ऐसे में उनकी दृष्टि न केवल सामूहिकता पर जाती है बल्कि उनके समाज में मौजूद परंपरा और मिथक पर भी जाती है–

हवाई जहाज का कप्तान
हे कप्तान जल्दी भगाओ
मेरी माँ रास्ता देख रही है
लोटा में आम की पत्तियाँ लिए
बहन मेरी राह तक रही है
थाल में दूब-घास लिए।

इन पंक्तियों में 'आम की पत्तियाँ' और 'दूब -घास' मुंडा जी के समाज की परंपरा के अभिन्न तत्त्व हैं और देशज संस्कृति का स्वर इन्हीं बिंबों से उद्धृत होता है। यहाँ 'हवाई जहाज का कप्तान' आधुनिकता का सूचक है। आदिवासी समाज प्रकृति की गोद में पोषित होता है इसलिए जब उसका सामना शहरी संस्कृति और तथाकथित आधुनिक समाज से होता है तो वह अपनी जड़ों की ओर लौटना पसंद करता है। अर्थात्, देशज संस्कृति ही उसके जीवन का आधार बनती है। यह भाव राम दयाल मुंडा की कविताओं में बहुत दिखाई पड़ता है इसलिए आधुनिकता और पूँजीवादी समाज की जो आलोचना वे प्रस्तुत करते हैं उसके मूल में इसी देशज संस्कृति के प्रति उनकी प्रतिबद्धता है। उनकी देशज संस्कृति मूल रूप से कृषि एवं जंगल आधारित व्यवस्था है जो संसाधनों और प्रकृति के उचित उपयोग पर बल देती है। इस विचार की समझ रखने वाले को कृषि समाज की बौद्धिक या देशज बौद्धिक कह सकते हैं। मुंडा जी ऐसे ही बौद्धिक हैं इसलिए उनकी कविताओं में पूँजीवादी और उपभोक्तावादी व्यवस्था की आलोचना में देशज बिंबों का समर्थन और उसकी प्रचुरता दिखाई पड़ती है। इसकी झलक इन पंक्तियों में दिखाई पड़ती है–

सड़क किनारे दारू है
पानी की तरह बिकता है
कागज-थैलों में मीट मछली
साग के जैसे ही मिलता है
खाने वाले तो खाने वाले
गिद्धों की तरह नोच रहे हैं
पीने वाले तो पीने वाले
चील की तरह पी रहे हैं। (अमेरिका देश शिकागो शहर)

प्रगतिवाद से जुड़े लेखक और कवियों की पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना मार्क्स के विचारों से प्रेरित है और वर्ग संघर्ष के दायरे में अपना विश्लेषण प्रस्तुत करती है। परंतु मुंडा जी का यह विचार उनके खुद के समाज से लिया गया है। यह विशुद्ध देशज विचार है, इसलिए उनका विश्लेषण इसी देशजता के आलोक में अपना रूप ग्रहण करता है न कि मार्क्स के विचारों के आलोक में। इसका खंडन वे ऊपर अपने भाषण में कर चुके हैं। उनकी देशज बौद्धिकता

का ही परिणाम है कि प्रस्तुत पंक्तियों में साग, गिद्ध, चील जैसे देशज बिंब सामने आते हैं। चील और गिद्ध उपभोक्तावादी और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतीक के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं। मुंडा जी अपने समाज की सांस्कृतिक पहचान को लेकर अत्यंत सजग हैं। मुख्यधारा के राजनीतिक गतिविधियों से जो उन्होंने सीखा उसमें अपनी पहचान के प्रति सजगता उनका मुख्य विचार और मुद्दा रहा। इसलिए अपनी सांस्कृतिक पहचान को लेकर वे अपने समाज को कथित आधुनिकता की अंधी दौड़ में फँसने से बचाने के लिए देशजता की ओर उन्मुख करते हैं हुए लिखते हैं–

पुरानी पड़ गई नाम चुटिया
इस युग में चलती है नाम हटिया।
हे दीदी,
छूट रही है लाल पड़िया।
हम खो ना जाएँ कहीं
हे दीदी,
कलयुग में हम सजग रहें। (क्या इधर ही राँची है)

21वीं सदी के आज के भारत में जब आदिवासी स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र दिवस पर दिल्ली की सड़कों पर नाचते गाते अपनी सांस्कृतिक पहचान का प्रदर्शन करता है तो सत्ता में शामिल लोग तारीफ करते हैं, परंतु जैसे ही वह अपनी राजनीतिक पहचान और अधिकारों की बात करते करने लगते हैं तो यही नाचने-गाने वाले भोले आदिवासी उनके लिए भटके हुए लोग, अलगाववादी और नक्सलवादी हो जाते हैं। इनकी देशभक्ति पर सवाल खड़े कर दिए जाते हैं। आलम यह है कि अंग्रेजो के चले जाने के बाद भी आदिवासी समुदाय के कुछ समुदायों को जन्मजात अपराध की श्रेणी में ही रखे हुए हैं। आदिवासी समाज के प्रति इस प्रकार की दृष्टि इस बात का प्रमाण है की आदिवासी समाज को देखने का यह नजरिया ब्रह्मणवादी है जो उनके संवैधानिक अधिकारों और मनुष्यता के मूल्यों को नकारता है। यह एक प्रकार का पूर्वग्रह है, जो आदिवासी समाज को उसी रूप में देखता है, जिस रूप में आदि मानव का समाज रहा करता था। आदिवासी समाज को अपराधी के दृष्टिकोण से देखने वाले यह भूल जाते हैं की जिन समुदायों को अपराधी कहा जा रहा है दरअसल वे पूर्व में अपने अधिकारों के लिए अंग्रेजों और सामंतों से लड़ते रहे, जिनके कारण उन्हें अपराधी की श्रेणी में रखा गया। आज भी अपने हक़ के लिए लड़ने वाला आदिवासी शासन द्वारा अपराधी और असामाजिक ही माना जाता है। आजादी के बाद आदिवासी समाज में कई तरह के परिवर्तन और विकास हुए, परंतु मुख्यधारा के पूर्वग्रह से ग्रसित वर्चस्वकारी और विभेदकारी विचारों ने इसे स्वीकार करने से इंकार किया और अपने घटिया विचारों को स्थापित करने का प्रयास करते रहे। महादेव टोप्पो इन्हीं विचारों को नकारते हुए इसे 'त्रासदी' की संज्ञा देते हैं और लिखते हैं–

कहने को तो वे तुम्हें
इस देश का आरक्षित नागरिक भी कह लेंगे
लेकिन यह कितनी बड़ी विडंबना है कि
देश के नागरिक होने के नाते
जब तुम माँगोगे अपना अधिकार तो
कहलाओगे तुम ही अलगाववादी।[10] (त्रासदी)

रामदयाल मुंडा अपनी कविताओं से ऐसे शोषणकारी और बेतुके विचारों पर करारा

तमाचा मारते हुए उन्हें आईना दिखाते हुए लिखते हैं–

कोई भी ऊँचा नहीं होता
अपनी मातृभूमि से
स्वतंत्रता मूल्य 'आओ' कहती है
उठो, मेरे भाइयों, उठो!
उठो, मेरी बहनों, उठो। ('आओ' कहता है।)

आज की मुख्यधारा की पीढ़ी और राजनीतिज्ञ शायद इस बात को नजरअंदाज करते हैं कि अपनी मातृभूमि के प्रति जितना प्रतिबद्ध आदिवासी समाज रहा है उतना कोई दूसरा समाज कभी नहीं रहा। इसलिए अंग्रेजो के खिलाफ सबसे पहले जंग का ऐलान भी आदिवासियों ने ही किया। जब भारत के मुख्य धारा का समाज आजादी मिलने के बाद देशप्रेम को कविता को विषय मानना छोड़ चुका था तब रामदयाल मुंडा भारत-पाकिस्तान, भारत-चीन के युद्ध से आहत होकर अपनी कविता राष्ट्र प्रेम का अलख जगाने के लिए लिख रहे थे। चीन की मक्कारी पर उन्होंने लिखा–

हिमालय से घिरे हुए थे
हमारा घेरा छेद हो चुका है
भाई सोचकर हम चुप थे
लेकिन चीन चोर निकला। (हिमालय से घिरे हुए)

मुंडा जी केवल मक्कारी की बात लिख कर चुप नहीं होते बल्कि अपने समाज के लोगों को भी इसमें शामिल होकर राष्ट्रहित में समर्पित होने के लिए प्रेरित करते हैं। वे लिखते हैं–

हाथ में तिल फरसा लिए
वे युद्ध को चले
कंधे पर बंदूक लिए
वे लड़ाई को चले।
हाथ में तीर फरसा
अपने देश के लिए
कंधे पर बंदूक अपनी माँ के लिए
माँ के लिए। (हाथ में फरसा लिए)

आदिवासी समाज अपनी सामाजिक संरचना में लोकतांत्रिक रहा है, इसलिए उनके बीच आपस में हिंसात्मक संघर्ष की स्थितियाँ उस तरीके से कभी नहीं आई, जिस तरह मुख्यधारा के समाज में सामंतवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कारण दिखाई देता रहा है। आदिवासी समाज में किसी एक वर्ग या वर्चस्वकारी समूह के नियंत्रण में कभी कोई संगठनात्मक सेना की व्यवस्था नहीं रही है। जरूरत पड़ने पर श्रमिक जनता ही सेना की तरह अपने को प्रशिक्षित कर अपने समाज के लिए लड़ती रही, जिसकी झलक आज भी विभिन्न आदिवासी आंदोलन में दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए पत्थलगड़ी आंदोलन को देखा जाना चाहिए। आजादी के बाद जब सेना के रूप में देशसेवा की बात आई तो आदिवासी समाज ने बढ़ चढ़के हिस्सा लिया और अपनी शहादत भी दिया, परंतु कितनी विरोधाभासी बात है कि यही आदिवासी समाज जब अपने संवैधानिक अधिकारों, परंपरा और मूल्यों के लिए संघर्ष करता है तो देशद्रोही अलगाववादी और अपराधी कहा जाता है। भारतीय लोकतंत्र के इस प्रकार के दोहरे चरित्र और अधूरे लोकतांत्रिक विकास पर गहरा चिंतन प्रस्तुत करते हुए लोकतंत्र के भीतर चल रहे

तानाशाही व्यवस्था पर मार्मिक समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए अनुज लुगुन 'गंगाराम कलुण्डिया' का स्मरण करते हैं जो 1971 के भारत पाकिस्तान युद्ध में वीरता पूर्वक लड़े और राष्ट्रपति से वीरता सम्मान से नवाजे भी गए। परंतु इसी गंगाराम ने जब सिंहभूम में ईचा बाँध के विरुद्ध संघर्ष करना शुरू कर दिया तो इन्हें बागी और विद्रोही कहकर पुलिस द्वारा गोली मार दी गई। यह सरकार के द्वारा निर्देशित थी और यह घटना हुई एक लोकतांत्रिक ढाँचे के भीतर। यह प्रकरण हमारे देश के लोकतंत्र के औपनिवेशिक विचार को निर्लज्ज रूप से हमारे सामने प्रकट करता है। अनुज लुगुन इसे अपनी कविता में इस रूप में प्रकट करते हैं–

गंगाराम!
तुम मरे ऊँचे आसमानों पर बैठे
लोगों की कागजी फाँस से
जहाँ हाशिए पर रखे गए हैं
तुम्हारे लोग
देशांतर है जहाँ
हमारे ग्लोब का मानचित्र।[1] (गंगाराम कलुंडिया, देशांतर)

बाद में मुंडा जी का यह देश प्रेम आँचलिक प्रकृति का यथार्थ रूप ले लेता है। इसके पीछे का कारण संभवतः बाद में किसी बड़े युद्ध का न होना रहा हो। इसके अलावा वे अमेरिका में एक प्रवासी का जीवन भी बता रहे थे जिसके कारण उनका आदिवासी मन बार-बार अपने गाँव की ओर जा ठहरता था। जैसा कि प्रगतिवादी कवियों में दिखता है कि "कवि अपने गाँव, जनपद को प्यार करते हुए देश प्रेम की व्यंजना करते हैं इन कविताओं की विशेषता यह है कि यहाँ देश प्रेम विशेष के भीतर से सामान्य को प्रकट करती है।" नागार्जुन मिथिला को याद करते हुए लिखते हैं–

याद आता है मुझे अपना वह तरउनी ग्राम
याद आती है लीची और आम
याद आते हैं मुझे मिथिला के रुचिर भूभाग
याद आते धान

यह मातृभूमि प्रेम राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीयता का विरोध नहीं है बल्कि अपने देशज बिंबों के साथ स्थानीयता हितों के साथ ही राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता का बोध कर लेता है। ऐसा इसलिए भी है की प्रगतिशील कवियों ने अपने समय की समस्याओं पर हस्तक्षेप किया, उस में भाग लिया निरंतर कृषि समाज से जुड़े रहे उनकी दिनचर्या को सूक्ष्मता से विश्लेषण किया। यही सूक्ष्म विश्लेषण प्रगतिवादी कविताओं के बिंब विधान का भी आधार बना।

इस संदर्भ में मुंडा की कविताएँ खास हैं क्योंकि उनका समाज कृषि आधारित भी है और सामूहिक श्रम आधारित भी। प्रगतिवादी कवि तो एक खास विचारधारा के आंदोलन से प्रेरित होकर आँचलिक प्रकृति का वर्णन कर रहे थे परंतु मुंडा जी के समाज में यह विचार हजारों वर्षों से चला आ रहा है। अतः उन्हें आँचलिक प्रकृति के चित्रण में, जिसके माध्यम से वे मातृप्रेम जाहिर करते हैं बहुत प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, सहज ही प्रस्फुटित होता है। इसकी झलक हमें उनके बिंब विधान की योजनाओं से पता चलता है। उनकी कविता की पंक्तियों में इसकी झलक दिखाई देती है :–

घर वापस आ गया
खोया हुआ बछड़ा जंगल से।

वापस आ गया
अपनी माँ के दूध के लिए मैं
वापस आ गया
बाँसुरी बनाम की आवाज सुन मैं
वापस आ गया
क्या तुम ही नहीं दवा पिलाई थी?
क्या तुम ही ने शराब पिलाई थी?
मैं वापस आ गया
पुराने आगरा में
मैं वापस आ गया। *(घर वापस आ गया)*

इन पंक्तियों में दैनंदिन जीवन में उपयोग होने वाले मूर्त-अमूर्त को बिंबों के रूप में प्रयोग किया गया है। यहाँ बछड़ा जंगल, बाँसुरी, बनाम, शराब, अखरा उनकी आँचलिक स्मृतियों का सांस्कृतिक प्रस्तुतीकरण है। यह सारे बिंब विधान 'लोक' की अभिव्यक्ति है मुंडा जिस मामले में अद्भुत हैं।

प्रगतिवादियों के बारे में नामवर सिंह लिखते हैं कि "प्रगतिवादी कवियों ने लोक गीत और लोक धुन को पुनर्जीवित किया।"[12] काश! नामवर सिंह राम दयाल मुंडा की रचनाओं को केंद्र में रखकर विश्लेषण करते तो उन्हें मालूम होता कि उनके स्मृति और लेखनी से लोक गीत और लोक धुन को नई ऊँचाई देने वाला एक अनमोल कवि छूट रहा है। ऐसा इसलिए कहना पड़ रहा है कि राम दयाल मुंडा की रचनाएँ लोक से इतनी प्रभावित हैं कि भ्रम होता है कि उनकी रचनाएँ कविता के रूप में ग्रहण की जाए या लोकगीत रूप में। क्योंकि उनकी रचनाएँ प्रायः गीतात्मक हैं और लोक धुन पर आधारित हैं। इसका एक नमूना देखिए–

जड़ी बूटी पीसने की तरह
गरम लोहा गलाने की तरह
तुमने मुझे पीस डाला, मिला डाला
कोई फूल तोड़ने की तरह
कोई साग टूँगने की तरह
तुमने मुझे तोड़ लिया
मैं छिना ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया
तुममें यह मन मिल ही गया। (जड़ी बूटी पीसने की तरह)

यहाँ बिंब के रूप में आए जड़ी -बूटी, साग बिल्कुल दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुएँ हैं। वहीं पीसना, टूँगना और छिनग जाना लोक के शब्द हैं। इस तरह राम दयाल मुंडा की कविताएँ लोक गीत और लोक धुन की शैली में लिखी गई हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि रामदयाल मुंडा लोकगीत और लोकधुन को जीवित करने वाले प्रतिनिधि कवि हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही समता, न्याय और आर्थिक उन्नति की उम्मीद जगी। मुंडा जी को भी नई व्यवस्था से कुछ ऐसी ही उम्मीद थी। नेहरू के पंचशील सिद्धांत ने भी वंचित आदिवासी समाज में काफी उम्मीद जगाई थी। उन्हें लगा था की जमींदारी व्यवस्था के उन्मूलन के बाद गरीब परंतु स्वाभिमानी आदिवासी कृषक समाज को उनका उचित अधिकार, मजदूरी और सम्मान मिलेगा। इन्हीं विचारों का असर था कि उन्होंने लिखा–

राजा-ठाकुर होते थे
सोचकर जी धुक -धुक करता है।
अब वे चुप हैं किसी कोने में
धूल उड़ने लगी है घुड़साल में।
लाज शर्म छोड़ कर
जोतने-कोड़ने चलना ही होगा
जो काम करेगा वही खाएगा
कुछ नहीं है लंबी पगड़ी में
जो काम करेगा वही खाएगा। (राजा-ठाकुर होते थे)

इतना ही नहीं नेहरू युगीन विचारों से प्रभावित होकर वे औद्योगिककरण और पूँजीवादी व्यवस्था तक को समर्थन दे रहे थे। क्योंकि उनको लगता था कि आदिवासी गाँव के आसपास कल कारखाने खुलने से उत्पादकता बढ़ेगी। लोगों के पास विकल्प होंगे। उन्हें आसाम, बंगाल और अन्य राज्यों में जीवनयापन और रोजगार के लिए भटकना नहीं पड़ेगा। उन्हें लगता था कि इससे आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक-शारीरिक शोषण थमेगा इसीलिए वे आदिवासी समाज को आह्वान करते हुए कहते हैं–

एक बित्ता जमीन
जोतोगे कितना सब मिलकर
बार-बार मैं कहता रहा
देश के लिए कारखाना
कारखाना हमारे लिए
बार-बार मैं कहता रहा
तभी भूख हमें छोड़ेगी
बार-बार मैं कहता रहा। (राउरकेला पत्थर ढोने)

यहाँ मुंडा जी अपने लोगों से औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में सहभागी होने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। कारखाना मुंडा जी के लिए आर्थिक विकास और जीवनयापन का ही मसला नहीं है बल्कि यह उनकी हिस्सेदारी का भी मामला है। वे इसे राष्ट्रीय हित से जोड़कर देखते हैं इसलिए श्रम के साथ बुद्धि देने की बात में अपनी रचनाओं में करते हैं। मुंडा जी के इन कविताओं पर गौर करना जरूरी है। यह कविताएँ आदिवासी विश्वास का सूचक रहे हैं जिसका कालांतर में राज्य सत्ता ने बुरी तरह क्रूरता से दबा दिया जिसके परिणाम स्वरूप आदिवासियों का भयानक विस्थापन हुआ और अंततः राज्य सत्ता और सरकार से उनका विश्वास उठ गया।

राम दयाल मुंडा ने विश्वास के आधार पर ही लिखा था–

थोड़ी सी जमीन पर
कितना भी काम करने पर
सिर्फ आँगन बिहार में से भूख नहीं मिटती
प्रिय सुगिया चलो
हम कारखाना को चलें
देश को हम उबारें बुद्धि बल जो भी है उसे दे
प्रिय सुगिया चलो
हम काम करने कारखाना चलें। (राँची के पास हटिया)

परंतु दुर्भाग्य उनका यह विचार गलत साबित हुआ। उन्हें इसका अंदाजा उस वक्त ही लगा लेना चाहिए था जब संविधान सभा की बैठकों में जयपाल सिंह मुंडा को नजरअंदाज कर दिया गया था। उन्हें यह बात तब भी समझ लेना चाहिए था जब झारखंड विरोध में कांग्रेस, मार्क्सवादी विचारक तथा तमाम बड़े राजनीतिज्ञ शामिल थे। परंतु, जैसे ही मुंडा जी को इसका एहसास हुआ कि वे ठगे गए हैं तो इसकी आलोचना भी उन्होंने खुले मन से किया। उन्होंने लिखा–

तुमने स्कूल बनाया
गाँव वालों की शिक्षा के लिए
(किंतु) मास्टर नहीं है, हे राजा।
अपने गाँव में अपना राज
सचमुच की आजादी के लिए
कागज तो आ गए हैं
(किंतु) ऑर्डर नहीं है, हे राजा।
कितने दिन ऐसे चलेगा
तुम्हारा राज है, हे राजा। (तुमने स्कूल बनाया)

आजादी के बाद जो नव उपनिवेशवाद व्यवस्था आदिवासियों के लिए रची गई उसकी एक तीखी आलोचना प्रस्तुत करती है ऊपर उद्धृत कविता। नेहरू युगीन विचारों से मोहभंग की यह स्थिति राम दयाल मुंडा के बाद के रचनाकारों मैं भी साफ दिखाई पड़ता है।

इस संदर्भ में निर्मला पुतुल और महादेव टोप्पो का जिक्र करना अत्यंत जरूरी है। क्योंकि राम दयाल मुंडा की कविताओं में जो विकास की नव उपनिवेशवाद की अवधारणा की आलोचना दिखाई पड़ती है उसकी व्याख्या हमें निर्मला पुतुल और महादेव टोप्पो की कविताओं में भी सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान की माँग के साथ दिखाई पड़ती है। आदिवासी संस्कृति और उनकी कलाओं के नुमाइश पर तंज कसते हुए निर्मला पुतुल ने अपनी कविता 'चुड़का सोरेन से' में लिखती हैं:-

"तुम्हारी भाषा में बोलता वह कौन है?
जो तुम्हारे भीतर बैठा उतर रहा है
तुम्हारे विश्वास की जड़ें?
दिल्ली की गणतंत्र की झाँकियों में
अपनी टोली के साथ नुमाइश बनाकर कई–कई बार
पेश किए गए तुम
पर गणतंत्र नाम की कोई चिड़िया
कभी आकर बैठी तुम्हारे घर की मुंडेर पर?[13]

लोकतंत्र और समाजवाद की क्रमशः बुनियादी विशेषता यह है कि एक स्वतंत्रता पर बल देता है और दूसरा समानता पर। भारत में दोनों अवधारणा को संविधान में जगह मिली है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जो हमारे पूर्वजों ने आजाद भारत के नई पीढ़ी के लिए जो मूल्य प्रस्तावित किए थे उनमें से यह दोनों महत्त्वपूर्ण थे। इसके एक पुरोधा गाँधी बने तो दूसरे का नेतृत्व भगत सिंह कर रहे थे। गाँधी ने 'सर्वोदय' की अवधारणा प्रस्तुत की वहीं भगत सिंह ने मजदूर वर्ग और तमाम वंचित वर्गों के लिए समानता पर बल दिया। परंतु अफसोस गणतंत्र की स्थापना के बाद राजनीतिक खींचातानी में गाँधी के अवधारणा भाषणों और मेनिफेस्टो

तक ही सीमित रह गया, वहीं भगत सिंह के विचारों को स्वतंत्रता पूर्व ही कांग्रेस के वर्चस्व कारी राजनीति ने सोख लिया। फलस्वरूप, आजादी के बाद गाँधी की शांति की अवधारणा और भगत सिंह के समानता की अवधारणा केवल एक राजनीतिक घोषणा और अंतरराष्ट्रीय राजनीति में एक प्रतीक के रूप में सिमट कर रह गया। जवाहरलाल नेहरू ने शांति और समानता के पूरे अवधारणा को 'कबूतर' में केंद्रित कर दिया और उसके पीछे विध्वंसकारी विकास की परियोजनाएँ बनाई गई जिसकी कीमत आदिवासियों ने अपने जल, जंगल, जीन सभी स्थापित होकर चुकाई। आदिवासी लेखन में इस विरोधाभासी तस्वीर को बहुत ही साहित्यिक और आलोचनात्मक विचारों के साथ महादेव टोप्पो ने दर्ज किया है। वे लिखते हैं–

पेरवा चले गए बेटे! चले गए
राजधानी तुम्हारे चाचा के पास
अब परवाह नहीं लौटेंगे
वे शांति के दूत बन गए हैं
संपूर्ण विश्व में शांति फैलाते हैं
लेकिन यहाँ हम रोज आतंकित
पता नहीं कब उजाड़ दिए जाएँ
बाँध के नाम, विकास के मंदिर के नाम[14] (पेरवा घाघ के कबूतर-2)

ये कविताएँ बरबस ही हमारा ध्यान समकालीन कवियों की ओर खींच ले जाती हैं। नेहरू के बाद जो भारतीय लोकतंत्र में परिवर्तन हुए जिसमें भारतीय लोकतंत्र की विफलता और उसकी विद्रुपता प्रकट हुई। इसकी पहचान सबसे पहले हिंदी साहित्यकारों में धूमिल और रघुवीर सहाय ने की। धूमिल इस अंतर्विरोध को पहचानने में अपने समय के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्हें इस बात की समझ है की भारतीय लोकतंत्र अपने मौलिक अर्थ से भटक कर वोट बैंक की राजनीति तक सीमित हो चुका है। जनता केवल वोट हासिल करने नारे लगवाने और जुलूसों का हिस्सा बनाने का माध्यम भर बनकर रह गई। जनता के प्रतिनिधि संसाधनों की लूट में शामिल हैं। जमींदारी प्रथा उन्मूलन की विफलता, राजनीतिक अव्यवस्था, भूखमरी, बेरोजगारी, अकाल और 1962 का युद्ध जैसी स्थिति ने धूमिल को अंततः लोकतंत्र की तीखी आलोचना करने पर मजबूर करता है वे लिखते हैं–

एक आदमी रोटी बेलता है
दूसरा आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ वह तीसरा आदमी कौन है?
मेरे देश की संसद मौन है।[15] (रोटी और संसद)

भारत में लोकतंत्र के प्रतीक राष्ट्रगाण, स्वतंत्रता दिवस और गणतंत्र महज एक औपचारिकता रह गई। लाल किला वैभव प्रदर्शन का केंद्र मालूम होने लगा। वहीं भारत का मजदूर और किसान वर्ग भूख, बीमारी, शोषण अशिक्षा जैसी चुनौतियों से जूझ रहा था (यह प्रक्रिया अभी जारी है) ऐसी स्थिति में राष्ट्रगान गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस में निहित मौलिक अर्थों के अंतर्विरोध को केंद्र में लाती है रघुवीर सहाय की कविता अधिनायक जिसमें लिखते हैं–

राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुण हरचरना गाता है।
पूरब-पश्चिम से आते हैं
नंगे-बूचे नरकंकाल
सिंहासन पर बैठा उनके
तमगे कौन लगाता है?[16]

भारतीय लोकतंत्र की विफलता ने जब मुख्यधारा के चिंतकों, कवियों और लेखकों को जब इतना इतना चिंतित कर दिया तो आदिवासी समाज सामाजिक-सांस्कृतिक आर्थिक स्थिति क्या रही होगी इसका अंदाजा ही केवल लगाया जा सकता है।

दरअसल आदिवासी समाज के लिए यह दौर अस्तित्व के संकट का दौर आदिवासियों को अपने राजनीतिक अधिकार के साथ-साथ सांस्कृतिक पहचान भी बनाए रखना है। इसलिए जब मुंडा जी की 'जागरण' में संकलित कविताओं को पढ़ते हैं तो यह दिख जाता है कि उनकी कविताओं में सांस्कृतिक स्वर ज्यादा है। जबकि मुख्यधारा की कविताओं में राजनीतिक स्वर ज्यादा है। इसके पीछे का मूल कारण यह है कि मुख्यधारा का समाज अपने विचार राजनीतिक सिद्धांतों से ग्रहण कर रहा है, जबकि आदिवासी समाज अपने विचार पुरखों से ग्रहण करता है। इसलिए मुंडा जी का जब भारतीय लोकतंत्र से मोहभंग होता है तो वे अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने के लिए पुरखों को याद करते हैं–

जंगल जल रहे हैं
पहाड़ जल रहे हैं
बनाए रखो प्रिय चूहा, शीशम का घर
बनाए रखो, बनाए रखो।
लोग तुम्हें पका खाएँगे
लोग तुम्हें भून चढ़ाएँगे।
बनाए रखो प्रिय केंकड़ा, पत्थर का द्वार। (जंगल जल रहे हैं)

यहाँ चूहा, शीशम का घर, केंकड़ा और पत्थर का द्वार आदिवासी समाज में मिथकों से जुड़ा हुआ मामला है। ऐसा माना जाता है कि केकड़ा और चूहा ने मिट्टी को पानी की सतह से ऊपर लाने में ईश्वर की मदद की थी। इसलिए आदिवासी इन्हें अपना पूर्वज मानते हैं। यहाँ मुंडा जी उन्हें अपनी कविताओं में प्रतीक के रूप में इसलिए प्रयोग करते हैं क्योंकि इससे उन्हें अपने समाज को संबोधित करने और सांस्कृतिक पहचान के लिए संघर्ष करने में प्रेरणा मिलती है। उनका संघर्ष भी उत्सव के साथ और प्राकृतिक वातावरण में उनकी समीपता और साहचर्यता में ही संभव है। इसलिए संघर्ष के लिए वे अपनी उत्सवधर्मिता को बचाये रखना चाहते हैं। इसके लिए वे अपनी बाँसुरी की ओर लौटते हैं–

गाँव-गाँव, टोला-टोला
बाँसुरी बनाम गूँजते थे।
वे बाँसुरी बनाम गया कहाँ गए?
हमारी खुशी बही जा रही है
नदी की ओर, समुंदर की ओर।

उस खुशी को आओ, हम रोकें।
उस खुशी को आओ, हम रोकें। (गाँव-गाँव टोला-टोला)

मुंडा जी अपनी सांस्कृतिक पहचान के भीतर से ही राजनीतिक पहचान की रूपरेखा तैयार कर लेते हैं। अपने लेखों में इसका जिक्र करते हुए वे लिखते हैं कि "पर्यावरण की जितनी क्षति स्वतंत्रता के पहले 200 वर्षो में हुआ उससे अधिक स्वतंत्रता के बाद 50 वर्षों में हुई। कल-कारखानों की सघन स्थापना से झारखंड के 60 प्रतिशत का वन आच्छादन 13 प्रतिशत पर उतर आया है।[17] चंद्रपुरा वाले क्षेत्रों में काम करने वाले 50% से अधिक लोग श्वास रोग से पीड़ित हैं।" उन्होंने झारखंड की जनतंत्र की प्रणाली पर विचार करते हुए लिखा है की झारखंडी समाज एक जनतंत्र होता था जहाँ कोई भी निर्णय सर्वसम्मति से लिया जाता था। चाहे जितना भी समय लगे लोग धैर्य पूर्वक इंतजार करते थे। अतः, निर्णय हो जाने के बाद इसके खिलाफ जाने का कोई सवाल ही नहीं उठता था। परंतु, स्वतंत्रता के बाद इस व्यवस्था में गैर कानूनी और औपनिवेशिक स्वार्थवादी व्यवस्था की बदनियति से झारखंड की गौरवपूर्ण जनतांत्रिक प्रणाली को ऊपर आने का मौका ही नहीं दिया जा रहा है। हालात यह है कि आदिवासियों का शोषण निरंतर बढ़ा है। झारखंड क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन और बड़े-बड़े परियोजनाओं के कारण लोग बड़ी संख्या में विस्थापित हो रहे है। मात्र दिल्ली में झारखंड क्षेत्र की 25 से 30,000 स्त्रियों की संख्या दाई के रूप में है (यह आंकड़ा 2002 का है) आसाम में इनकी संख्या 5 लाख से भी ज्यादा है जो वहाँ आदिवासी के रूप में गिने भी नहीं जाते। हालात अभी भी नहीं बदले हैं बल्कि स्थिति और भयावह होती जा रही है।"[18] इसलिए मुंडा जी के बाद जो नई पीढ़ी आई उनकी रचनाओं में भी चिंता का स्वर दिखाई देता है। झारखंडी जमीन से निरंतर आदिवासियों का विस्थापन, गाँव का मलबा और खदानों में बदल जाना उनकी सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करते हुए अनुज लुगुन लिखते हैं–

हमारे जंगल में लोहे के फूल खिले हैं
बॉक्साइट के गुलदस्ते सजे हैं
अभ्रक और कोयला
थोक और खुदरा दोनों भाव में
मंडियों में रोज सजाए जाते हैं
यहाँ बड़े-बड़े बाँध भी फूल की तरह खेलते हैं
इन्हें बेचने के लिए सैनिकों के स्कूल खुले हैं। (शहर के दोस्त के नाम पत्र)

ऊपर उद्धृत प्रक्रिया केवल झारखंड में ही नहीं तमाम आदिवासी क्षेत्रों में जारी है। जो आदिवासी मुक्त रहने और उत्सव को जीने वाला रहा है वह अपने जल, जंगल, जमीन अर्थात, जड़ों से कटकर अपनी सांस्कृतिक और आर्थिक पहचान के लिए दर-दर की ठोकरें खा रहा है। दरअसल वह हक्का-बक्का है कि उनके ही संसाधनों से विकसित होने वाले शहर, कल–कारखाना उनके विकास को सीमित कर रहे हैं। इस तरह की त्रासद स्थिति को अनुज लुगुन इन पंक्तियों से प्रस्तुत करते हैं–

कल रात पहाड़ को ट्रक पर जाते देखा
उसके पहले नदी गई
अब खबर फैल रही है कि
मेरा गाँव भी यहाँ से जाने वाला है
शहर में मेरे लोग तुमसे मिले हैं

तो उनका ख्याल जरूर रखना
यहाँ से जाते हुए उनकी आँखों में
मैंने नमी देखी थी
और हाँ!
उन्हें शहरों के रीति-रिवाज भी तो नहीं आते।[19]

(शहर के दोस्त के नाम पत्र)

अक्सर आदिवासी रचनाओं की आलोचना में यह तर्क दिया जाता है कि उनके यहाँ देशजता का इतना प्रभाव है कि वे मुख्यधारा से जुड़ना ही नहीं चाहते। वे आधुनिक तकनीकों को ख़ारिज करके अपना विकास चाहते हैं जो उनके पिछड़ेपन का एक कारण है।

प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि आदिवासी आधुनिकता के विचार के साथ सहजीवी रवैया नहीं अपनाते, एक तरह का पूर्वग्रह है। पूर्व में उद्धृत मुंडाजी की औद्योगिकरण को समर्थन देती कविताएँ पूर्वाग्रह से ग्रसित विचारों का खंडन करती है। आदिवासी भी चाहते हैं कि उनके गाँव में स्कूल, सड़क, बिजली, उद्योग और तमाम आधुनिक सुविधाएँ पहुँचे। आदिवासी समाज की असहमति 'विकास और आधुनिकता' में निहित उस विचार से है जो देशजता को नकारता है। आदिवासी चाहते हैं कि उनके क्षेत्र में जब बाँध बने, पुल बने, नहर की खुदाई हो, स्कूल-अस्पताल बने, खान की खुदाई हो तो इस पूरी प्रक्रिया में उन्हें भी शामिल किया जाए। एक लोकतांत्रिक संवाद हो जिसमें इस बात की गारंटी हो कि विकास की उस अवधारणा को आगे बढ़ाया जाएगा जिससे आदिवासी समाज सहमत होगा। आदिवासियों के पास कृषि सिंचाई तथा उत्पादन के अपने देशज तरीके हैं जिस पर अमल किया जाए तो किसी और खनन से पर्याप्त लाभ कमाया जा सकता है, वह भी बिना जंगल जमीन को भयंकर नुकसान पहुँचाए बिना। आदिवासी वैसे विकास का क्या करेंगे जो उन्हें अपनी जड़ों से अलग कर दर-दर भटकने पर मजबूर कर रहे हैं? विकास और आधुनिकता अंततः सहजीवी और सामूहिक होने की प्रक्रिया है परंतु आदिवासियों के संदर्भ में यह बिल्कुल उल्टा है।

जब भी कोई बाँध बनता है 10-20 गाँव को विस्थापित होना पड़ता है नई खनन कंपनियों खुलती हैं तो आदिवासियों को उपहार में पानी की कमी, श्वास रोग तथा महामारी का दंश झेलना पड़ता है। जिन्हें लगता है कि आदिवासी आधुनिकता के विरोधी हैं उन्हें वंदना टेटे की कविता 'मैं भी टूटा हुआ पुल' की इन पंक्तियों पर विचार करना चाहिए–

मैं भी टूटा हुआ पुल
बनते देखना चाहता हूँ
जो मेरे गाँव से तुम्हारे
शहर को जोड़ता है
हाँ मैं जानना चाहता हूँ कि
पुल कब बनेगा
मेरी छोटी नोनी स्कूल जाना चाहती है
जो नदी के उस पार है
ताकि समझ सके तुम्हारी नीतियों को, योजनाओं को।[20]

यहाँ प्रस्तुत पंक्तियों में यह स्पष्ट है कि आदिवासी समाज बदलते समय के साथ खुद को राष्ट्र के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने के लिए तैयार है। परंतु, पुल के बनने से (जो आदिवासी समाज और मुख्यधारा को आपस में जोड़ने का प्रतीक है) जो सामाजिक-सांस्कृतिक

व्यवस्था का क्षरण होता है जिससे उनका अस्तित्व ही संकट में आ जाता है जिसके कारण उन्हें पुल बनने की प्रक्रिया पर संदेह होता है। एक तरफ पुल उन्हें मुख्यधारा से जोड़ता है तो दूसरी ओर उनके अस्तित्व को ही संकटग्रस्त बना देता है यह विरोधाभास की तस्वीर समझे बिना यह कहना है कि आदिवासी विकास के विरोधी हैं भयंकर पूर्वग्रह को दर्शाता है। यह विरोधाभास की तस्वीर को वंदना टेटे ऊपर उद्धृत कविता के अंतिम पंक्तियों में कहती हैं–

पुल बनते ही
बेदखल कर दोगे मुझे भी
जैसे कर दिया मेरे
दूर गाँव के रिश्तेदारों को
और तब मैं रिक्शा पुलर, कुली और
बेटियाँ आया, रेजा, धंगरीन के
नाम से पहचाने जाएँगे और
मेरा एम.ए. पास जवान बेटा
अपने प्रतिरोध के कारण
नक्सली बना मार दिया जाएगा
और इसलिए मैं दुविधा में हूँ
पुल बने या नहीं।

इन पंक्तियों में यह दिखाने की कोशिश की गई है कि विकास की जो अवधारणा है उसमें निहित आधुनिकता और भौतिक समृद्धि देश को आर्थिक समृद्धि तो देती है परंतु आदिवासी समाज को उनकी पीढ़ियों को क्या उनकी मौलिकता के साथ रहने की स्वतंत्रता भी देती है? क्योंकि आजादी के बाद आँकड़े तो यही बताते हैं कि जितना इस तथाकथित भौतिक समृद्धता से उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता मिली उससे ज्यादा विस्थापन का दंश झेलना पड़ा उन्हें अपनी मौलिकता और परंपरा से अलग कर दिया गया। यह प्रक्रिया अभी तक जारी है जिसमें कई पीढ़ियों ने संघर्ष में ही अपना जीवन होम कर दिया। इसलिए उनकी चिंता स्वयं के लिए भी और उससे ज्यादा आने वाले पीढ़ियों के लिए है। जो आदिवासी अपना जीवन अपने समाज में सम्मान और प्रसन्नता के साथ गुजार सकते थे, वे गैर जरूरी हस्तक्षेप के कारण रिक्शा चालक, कुली, रेजा आदि के रूप में गुजार रहे हैं। जहाँ इस प्रकार की स्थिति है वहाँ वे निश्चित रूप से अपनी परियों के बारे में विचार करेंगे और विकास की नीतियों पर सवाल उठाएँगे उन्हें संदेह की दृष्टि से देखेंगे।

आदिवासियों की पहचान स्वतंत्र, प्रकृति प्रेमी, उत्सव-धर्मी और वीर लोगों में की जाती है। यह 'पुल' उनकी इस पहचान को रिक्शा चालक, कुली, आया, धंगरीन में बदल देता है। ऐसी स्थिति में इस आधारहीन विकास को समर्थन देना आदिवासियों पर ज्यादती भी है और दुराग्रह से भरा विचार भी।

रामदयाल मुंडा इन विरोधाभासी स्थितियों से निकलने और आदिवासियों के अस्तित्व को बचाने हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हैं[21] जो निम्नलिखित हैं–

जन जागरण :- आदिवासी की वर्तमान दुर्दशा के विभिन्न आयामों को पहचानना एवं उसके मूल कारण को पकड़ना एवं समाधान के तरीकों को जानना। इसके लिए आदिवासियों के आत्मविश्वास को बढ़ाने के लिए उन्हें उनकी स्मृतियों से जोड़ने की जरूरत है। इस क्रम में एक ऐसा संयमित दृढ़ संकल्पित युवा कार्यकर्ताओं का एक दल तैयार करना होगा जो एक

वांछित भविष्य का निर्माण कर उसके प्रगतिशीलता को तारतम्यता दे।

समन्वयन :- इसका अभिप्राय लोक संग्रह से है समन्वय का यह काम सामुदायिक, एथेनिक, सामाजिक, भाषाई, धार्मिक, लैंगिक, आर्थिक सभी स्तरों पर करना होगा एवं सामूहिक नेतृत्व का विकास करना होगा।

जन आंदोलन :- इस प्रक्रिया का उद्देश्य है कि लोक संग्रह का उपयोग इस तरह करें कि पोषक तत्त्व पर दबाव पड़े और वह अपना अन्याय पूर्ण रवैया छोड़ें। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि केवल शांति पूर्ण असहयोग आंदोलन काफी नहीं होता। आंदोलनकारियों के उग्र रवैयों के बिना उनकी तंद्रा नहीं टूटती इसलिए अहिंसात्मक जन आंदोलन में उग्रवाद का पुट अनिवार्य हो गया है।

सत्ता का वार्त्तार्थ विवशीकरण :- इसका उद्देश्य विपक्षी को वार्ता के लिए विवश करना होता है। आंदोलनकारी को अपने होम ग्राउंड का लाभ मिल सके इसके लिए जरूरी है कि वार्ता उनके परिचित स्थान में हो और विरोधियों का सामना तथ्यों और तर्क पूर्ण तरीके से करें ताकि प्रस्तुति प्रभावपूर्ण हो।

पुनर्निर्माण :- इसका उद्देश्य एक वैकल्पिक व्यवस्था खड़ी करना है जो उनकी वांछनीय उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें।

रामदयाल मुंडा न केवल एक कवि हैं बल्कि वे चिंतक, सामाजिक कार्यकर्त्ता भी हैं। उनकी कविताएँ आदिवासी समाज की सामाजिकता और उनकी विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ हमारे सामने एक विकल्प की दुनिया का विचार के तौर पर संप्रेषित करती हैं। यह विकल्प की दुनिया सामूहिकता के विचार से निर्मित होगी। गौर करने वाली बात यह है कि सामूहिकता का यह विचार भी सामूहिक स्मृतियों की देन है जो हमें अपने पूर्वजों के साथ हमेशा जोड़े रहता है और पुराने स्मृतियों के सांस्कृतिक महत्त्व को स्थापित करता है। नए मॉडल की यह योजना समावेशी विकास का रूप है जिसकी चर्चा आज वैश्विक पटल पर जोर शोर से की जा रही है। परंतु दुःख की बात है की हमारे सामने एक वैकल्पिक दुनिया का विचार स्पष्ट रूप से मौजूद है लेकिन हम उम्मीद कर रहे हैं की अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के सम्मेलनों से कोई हल निकलेगा (जो मुख्य रूप से साम्राज्यवादी देशों और पूँजीपतियों के मुनाफे वाले विचार से ही संचालित होती है)। तमाम अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ और शक्तिशाली राष्ट्र इस बात से अवगत हैं की आदिवासी संस्कृति में आज की आधुनिक वैश्विक समस्या का विकल्प मौजूद है परंतु वह अपनी सभ्यता के दंभ में इसे स्वीकार करना नहीं चाहते। मुक्तिबोध इसी को 'सभ्यता समीक्षा' कहते हैं। राम दयाल मुंडा की कविताएँ केवल 'कला कला के लिए' के विचार के साथ हमारे सामने संप्रेषित नहीं होती बल्कि 'बदलाव और आंदोलन' के विचार के साथ हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं।

संदर्भ :

1. Kavita kosh.org, अनुज लुगुन, आदिवासी
2. अस्मिता मूलक साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, संपादकः कर्मानंद आर्य, The marginalised publication, 2018, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः-44
3. आदिवासी साहित्य और समाज, संपादकः रमणिका गुप्ता, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ संख्याः—39, 44
4. सेलेद, राम दयाल मुंडा, रुम्बुल, 2017 राँची, पृष्ठ संख्या : 24
5. अस्मिता मुल्क साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वही, पृष्ठ संख्याः 45

6. आदिवासी साहित्य और समाज, वही, पृष्ठ संख्याः 41, 45
7. छायावाद, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, 19वाँ संस्करण, 2015, भूमिका, नवंबर 1954
8. वही, आवरण पृष्ठ
9. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, पुनःमुद्रण, 2017, वही पृष्ठ संख्या : 64
10. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2004, 21-ए दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्याः 50
11. Kavita kosh.org, अनुज लुगुन (गंगाराम कलुंडिया, देश, देशांतर)
12. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, वही, पृष्ठ संख्या : 79, 74
13. Kavita kosh.org, निर्मला पुतुल, (चुड़का सोरेन से)
14. जंगल पहाड़ के पहाड़, महादेव टोप्पो, अनुज्ञा बुक्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2017, पृष्ठ संख्या : 57, 58
15. Kavita kosh.org, धूमिल, (रोटी और संसद)
16. Kavita kosh.org, रघुवीर सहाय, (अधिनायक)
17. आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, डॉ. रामदयाल मुंडा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002, पृष्ठ संख्या : 50
18. आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, वही, पृष्ठ संख्या : 30
19. Kavita kosh.org, अनुज लुगुन, (शहर के दोस्त के नाम पत्र)
20. कोनजोगा, वंदना टेटे, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, राँची, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ संख्या : 71, 72
21. आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, वही, पृष्ठ संख्या : 38, 39, 40

संपर्क : ग्राम-करहरा, पोस्ट-फतेहपुर, गया पंचानपुर रोड, SH-7, जिला-गया-824236, मो. : 9123107484, ई-मेलः-manishpratima2599@gmail.com

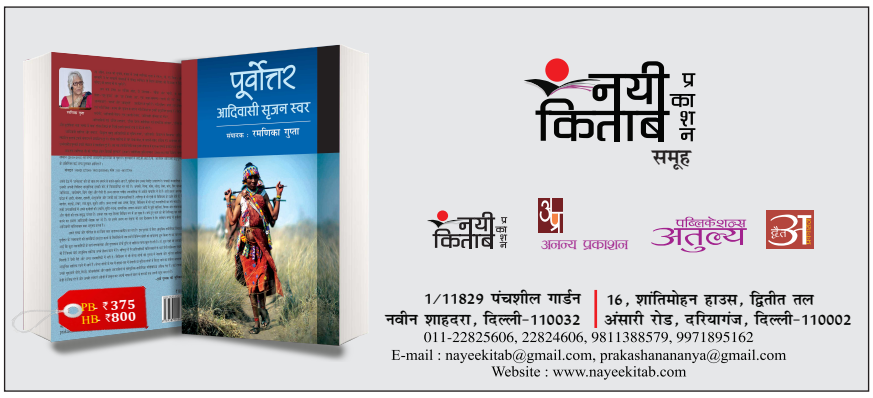

मराठी साहित्य में आदिवासी लेखन

वीरा राठोड

विषय प्रवर्तन

इक्कीसवीं सदी समाज, राजनीति, साहित्य, संस्कृति आदि की दृष्टि से निश्चित ही महत्त्वपूर्ण रहेगी। इस सदी के आरंभ में ही चेतना ने समता और स्वातंत्र्य की पुरजोर माँग शुरू की है। अब तक समाज संस्कृति आदि की हाशिये पर रहे जनसमुदाय प्रवाह में आने की लिए जद्दोजहद कर रहे हैं। इन जनसमुदायों में आदिवासियों का भी अंतर्भाव होता है।

स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव आये और समूचे भारतीय सामाजिक जीवन में जनजागृति हुई। इसी बदलाव के चलते आदिवासी जनजातियों में शिक्षा का फैलाव हुआ। जिस कारण आदिवासी युवक नये तरह से सोचने लगा। इसी सोच का एक परिणाम आदिवासी साहित्य का निर्माण है। यह कहना उचित होगा।

आज भारतीय साहित्य में नयी-नयी धाराओं ने जन्म लिया है। विशेष रूप से 1960 के दशक के दौरान बहुत सारी साहित्य संकल्पनाएँ नया रूप धारण करती दिखाई देती हैं। जैसे दलित साहित्य, ग्रामीण साहित्य, आदि इन्हीं धाराओं में एक आदिवासी साहित्य की धारा भी है।

वैसे देखा जाये तो 'आदिवासी साहित्य' यह एक रूप में प्राचीन संकल्पना है। परंपरा से चले आ रहे मौखिक साहित्य को भी आदिवासी साहित्य की दृष्टि से ही देखना होगा। अभ्यास की दृष्टि से भले ही हम लिखित आदिवासी साहित्य ने आदिवासियों के समूचे जीवन को अधोरेखित किया है।

आदिवासी भारत का मूलनिवासी होते हुए भी आदिकाल से अगर देखा जाये तो प्राचीन संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में आदिवासियों को हीनता की दृष्टि से देखा गया है। लिखा गया है। आज भी उन्हें उसी तरह से फिल्माया भी जाता है। अंग्रेज शासनकाल में उनके अस्तित्व

को बेड़ियों में जकड़ दिया गया। कालांतर में संविधान के लागू होने के बाद आदिवासियों के जीवन में बदलाव की प्रक्रिया शुरू हुई है। आदिकाल से आज तक भले ही आदिवासी अनपढ़ रहा हो मगर वह अज्ञानी, कुसंस्कृत कभी नहीं था। उनकी अपनी स्वयंपूर्ण जीवनपद्धति थी। स्वतंत्र बोली भाषा थी। आदर्शवत् जीवन धारणायें थीं। समृद्ध लोक साहित्य की बड़ी लंबी परंपरा भी रही है। प्रकृति एवं मानव के प्रति वे सदा ही संवेदनशील रहे हैं। यही रूप आज भी आदिवासी साहित्य में दिखाई देता है।

अपनी प्राचीन संस्कृति को सँजोते हुए नये बदलाव के साथ समाजधारा में उतरकर चलने का प्रयास आदिवासी कर रहा है। इसी जीवन को अधिक गति देने हेतु आदिवासी लेखक लिखने लग गये हैं। अपनी साहित्य विषयक धारणाएँ अधिक विकसित कर व्यापक बना रहे हैं।

साहित्यकारों का योगदान

आदिवासी साहित्यकारों के साथ-साथ अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने आदिवासियों के संदर्भ में साहित्य लिखा है। जिन में महाश्वेता देवी, विमल मित्र, टे. शि नेगी, सुरेश मिश्र, डी. विजय चौरसिया, सतीनाथ भादुड़ी, डॉ. गणेश देवी, तिप्पेस्वामी, यू. आर. अनंतमूर्ती आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सभी साहित्यकारों ने आदिवासियों की ओर करुणाभाव, मानवता की दृष्टि से देखा और लिखा है। मराठी साहित्य का विचार करने पर बाबा भांड, श्री. म. माटे, गोदावरी परूहेलकर, अनुताई वाघ, दिनानाथ मनोहर, सुरेश द्वादशीवार, मधुकर वाकोडे, शंकरराव खरात, इरावती कर्वे, दुर्गा भागवत, एकनाथ सालवे, गो. नि. दांड़ेकर आदि इन सभी लेखक, कवि तथा महानुभावों ने भारतीय आदिवासी जीवन संस्कृति को, संस्कृति के अनेक विशेषतापूर्ण धागों को उजागर किया है। उनकी पीड़ा को समझने का प्रयास आज तक जारी है। किंतु कुछ आदिवासी नव साहित्यकारों का यह मानना है। गैर आदिवासी लेखक कवि, साहित्यकारों ने अपने साहित्य में आदिवासियों का किया हुआ वर्णन केवल बाहरी तथा ऊपर-ऊपर का है। हमारे भीतर के जलते मन की, पूरे बदन की पीड़ा वह कितना समझ पाये हैं। यह भी एक भावना देखने को मिलती है। जैसे वाहरू सोनवणे अपनी कविता में लिखते हैं :

वे आये और मंच पर बैठ गये
हमारा ही दुःख हमे सुना रहे थे
हम मंच पर गये नहीं
हमारा दुःख कभी उनका हुआ नहीं
वे आये और तालियाँ ले गये (स्टेज)

सोनवणे का यह संदर्भ मराठी साहित्य में लागू होता है। अन्य भारतीय भाषाओं में शायद गैर लागू हो। इस असंतुष्ट भावना के चलते अनेक आदिवासी युवकों ने अपने दुःखों को तीव्रता से लिखना आरंभ किया है। ऐसी उनकी अपनी सोच है। किंतु यह बात हम कतई नहीं नकार सकते की आदिवासी साहित्यकारों ने जब लिखना शायद ही आरंभ किया हो उस दौर में आदिवासियों के बारे में इन्हीं साहित्यकारों ने जो लिखा है वहाँ से आज तक यह बड़ी सराहनीय बात माननी होगी। क्योंकि, गैर आदिवासी लेखक साहित्यकारों का किया हुआ लेखनकार्य अतुलनीय है तथा इन साहित्यकारों ने आदिवासी साहित्यकारों को प्रभावित किया है। इसलिए इस साहित्य को भी आदिवासी साहित्य ही कहना उचित होगा। भले ही कोई इस साहित्य को गैर आदिवासियों का साहित्य कहता हो किंतु इस सहित्य के भीतर का आदिवासी जीवन अंश अलग नहीं।

आज आदिवासी साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो निश्चित रूप से आदिवासी जनजातियों में जगा 'आत्मसम्मान' 'आत्मभान' हमारा ध्यान आकर्षित करता है। आज भारतीय स्तर पर आदिवासी साहित्य की चर्चा बड़ी जोरों से शुरू है। तेमसुला आओ, ममंग दई, भुजंग मेश्राम, डॉ. विनायक तुमराम, वाहरू सोनवणे, हरिराम, मीना, महुआ माँझी, रणेंद्र, निर्मला पुतुल, रोझ केरकट्टा, वंदना टेटे, अनुज लुगुन, हंसदा शेखर, जसिंता, केरकट्टा ग्रेस कुजुर, सुमित्रा हंसदा आदि आदिवासी साहित्यकार भारतीय साहित्य चर्चा में शीर्ष पर हैं। अनेक! भाषाओं में आदिवासियों की जीवन समस्या, जीवन संघर्ष और शोषण को लेकर साहित्य लिखना आरंभ हुआ है। यह साहित्य आदिवासियों की 'जल-जमीन-जंगल' से खदेड़ने की त्रासदी को डंके की चोट पर वह व्यक्त कर रहा है। आदिवासी साहित्य स्पष्ट कर रहा है कि हम यहाँ के मूलनिवासी हैं और आज हमें ही निर्वासित किया जा रहा है।

इस विषय पर रखे जा रहे अपने विचार में मैं मराठी भाषा में लिखित आदिवासी साहित्य पर अपना विचार रख रहा हूँ और साथ ही साथ महाराष्ट्र के घुमंतू जनजातियों के साहित्य का भी विचार रखनेवाला हूँ। आदिवासियों के साथ-साथ घुमंतुओं के साहित्य का विचार करने की वजह यह होगी के आदिवासियों के जीवन के बहुत ज्यादा करीबी यह समुदाय रहा है। उनकी भौगोलिक स्थिति, उनका इतिहास, संस्कृति, बोली भाषा आदि के कारणवश भी वह आदिवासियों के छोटे भाई ही हैं। तथा बंजारा-लमाणी, वडार, पारधी, वाघरी, कंजारभाट, बेरड, कैकाडी आदि विमुक्त घुमंतुओं का अंतर्भाव कई राज्यों में अनुसूचित जनजाति की सूची में किया गया है। तथा सभी आदिवासियों के लक्षण भी इन घुमंतुओं में दिखाई देते हैं। आज भी अनेक समुदायों को यहाँ की नागरिकता नसीब नहीं हो पायी है। इस दुःख को आत्माराम राठोड व्यक्त करते हैं :

वनवासियों को राज्य देने का स्वप्न
अभी भी एक स्वप्न ही है
या फिर
मेरी मातृभूमि कहाँ है
मेरी मातृभूमि नहीं
नहीं है मातृभूमि

यह पीड़ा भी आदिवासियों जैसी ही है। आदिवासी जैसे इस भूमि का मालिक था आज भूमिहीन हो गया है। उसी तरह घुमंतु भी अपनी भूमि ढूँढते भटक रहे हैं। उनके सभी आविष्कारों में समानता दिखाई देती है। उनका आशय भी सामान है।

मराठी आदिवासी साहित्य का स्वरूप

आदिवासी साहित्य का मूलसूत्र प्रकृतिवादी रहने के कारण इस पूरे साहित्य में प्रकृति के प्रति आदरभाव तथा उसके रक्षण का विचार केंद्रवर्ती है। समता, बंधुभाव, न्याय तथा स्वतंत्र्य इन मानवी तथा संवैधानिक मूल्यों का सम्मान यह साहित्य करता है। आदिवासियों के भिन्न-भिन्न सामाजिक प्रश्न इस साहित्य के प्रमुख विषय हैं। आदिवासी कवि आदिवासियों के उद्धार हेतु समाज, देश, सरकार के सामने कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल खड़े करता है।

मैं वनवासी हुआ तो क्या
आखिरकार मनुष्य ही तो हूँ
आपके ही जैसा

रक्त माँस का हड्डियों का
जीवित।

मराठी आदिवासी साहित्य की परंपरा चार पाँच दशकों की है। फिर भी इस साहित्य ने अपनी अलग पहचान बनायी है। हजारों सालों के अंतराल से दूर-दराज के गिरी कुहरों में, जंगलों पहाड़ों में रह रहे अभावग्रस्त आदिवासी जनसमुदाय की भावनाओं को उजागर करने का ऐतिहासिक कार्य आदिवासी घुमंतुओं के साहित्य ने किया है। वह सृष्टि के अस्तित्व का, स्त्री अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। अगर देखा जाये तो वह नव प्रबोधन का एक महत्त्वपूर्ण मार्ग बना है। महाराष्ट्र की गोंड, भील, कोरकू, कोलाम, वारली, कातकरी, माडिया, हलवा, परधान, आंध्र आदि 47 आदिवासी तथा बंजारा, लमाण, वडार, वाघरी, पारधी, कंजारभाट, बेरड, कैकाड़ी आदि 48 घुमंतू जनजातियों ने मराठी साहित्य को सशक्त किया है।

मराठी आदिवासी साहित्य की प्रेरणाएँ

आदिवासी घुमंतुओं के मराठी साहित्य की कुछ प्रेरणाओं में एकवाक्यता दिखाई देती है। तो कुछ प्रेरणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। आदिवासी घुमन्तु समूह के लिए प्रकृति ही उनका जीवन सर्वस्व होने के कारणवश मुख्य प्रेरणा के रूप में वे प्रकृति को ही सृजनभूमि मानते हैं। जिस तरह आदिम संस्कृति उनके जीवन का आधार है। उसी तरह साहित्य की मुख्य प्रेरणा भी है। कुछ प्रेरणाओं ने सामाजिक यथार्थ से जन्म लिया है। जैसे विद्रोह, नकार, व्यवस्था परिवर्तन की तीव्र इच्छा।

आदिवासी घुमंतुओं की वीर गाथा, आदिम संघर्ष, वीर पुरुष तथा सांस्कृतिक, ऐतिहासिक प्रेरणाएँ भी महत्त्वपूर्ण है। दशरथ मडावी अपनी 'लढा' नामक कविता में आदिवासी वीर योद्धाओं से ऊर्जा माँगते हैं :

बिरसा माँ तू बिरसा दे, लड़ाई की विरासत दे
धारदार तीर दे, आदिमों के वीर दे।
तंट्या मामा कला दे, इमलो पर हल्ला दे
पुल्ले सुरा आवाज दे, स्वतंत्रता की परवाज दे।
शंकरशहा तलवार दे, इन हाथों को धार दे।
आने दे जागृति, भड़कने दे आग।
मंडला गढ़ के आदिमों की लड़ाई निर्णायक होने दे।

ऐसे कई अवतरण पूरे साहित्य में दिखाई देते हैं। विभिन्न बोली भाषाएँ आदिवासी साहित्य का अंग बनी हैं। आदिवासी घुमंतुओं को मिली आधुनिक शिक्षा को भी साहित्य निर्माण के लिए प्रेरणा माननी होगी। म. जोतीराव फुले, डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर, कार्ल मार्क्स आदि को भी आदिवासी घुमंतुओं के साहित्य की प्रेरणा माना जाता है। महाराष्ट्र में सामाजिक, सांस्कृतिक आंदोलनो के चलते दलित साहित्य ने वंचितो का बौद्धिक मंथन करते हुये साहित्यिक आंदोलन खड़ा किया। जिस कारण कई सांस्कृतिक परिवर्तनों ने जन्म लिया। इसी आंदोलन के चलते आदिवासी घुमंतुओं के साहित्य निर्माण का कार्य आरंभ हुआ यह भी एक कारण हो सकता है।

आदिवासी घुमंतुओं की कविता

आदिवासी साहित्य की पहली आवाज ही आदिवासी कविता है। जंगल पहाडियों में जीवन बिता रहे आदिवासियों के पास अपना अतिप्रिय गीत-संगीत था, वह इन्हीं गीतों के ताल पर नाचता

झूमता रहा है।

आज तक की मराठी आदिवासी कविता का दो कालखंड में विचार करना उचित होगा। (शायद यही बात संपूर्ण आदिवासी मराठी साहित्य पर भी लागू होती है) पहले आवर्तन में स्वतंत्रता से लेकर सन् 1990 तक और दूसरा चरण सन् 1990 तक से लेकर आज तक।

मराठी आदिवासी कविताओं पर एक नजर डाला जाये तो इनमें सुखदेव उईके 'मेटा पुंगार' (पहाडी फुल) 1962 , 'भुजंग मेश्राम 'आदिवासी कविता' 1965, विनायक तुमराम 'गोंडवन पेटलय' 1987, वाहरू सोनवणे, 'गोधडं', भुजंग मेश्राम, 'उलगुलान' 1990, पुरुषोत्तम शेळमाके, 'वनसूर्य' 1990, निलकांत कुलसंगे' 'इंद्रियारण्य' 1990, वामन शेळमाके 'जागवा मने पेटवा मशाली' डॉ. गोविंद गारे' 'अनुभूती' 1997 उषाकिरण आत्राम 'म्होरकी' 'मोट्यारीन' 1997 कृष्ण कुमार चांदेकर, 'पुतुसा' 1999, कुसुम आलम 'रान आसवांचे तळे' 1996, प्रकाश आलासे 'अस्मितादर्श' 1996, सुनील कुमरे तिरकंमठा', प्रकाश सलामे 'सुक्का सुकूम, कोयाफुल' 2001, अशोक मसराम मा का मावा राज पायजे' 2003 प्रभु राजगडकर 'येथुन पुढे' 2006, भुजंग मेश्राम 'आबुजमाड' 2006, लक्ष्मण टोंपले 'आरड गं कुटुबाय' 2010, चामुलाल राठवा, विनोद कुमरे 'आगाजा' 2014, विश्राम वळवी, संघजा मेश्राम, कुसुम बोंबले, अनिल साबळे आदि कवियों ने आदिवासी कविता को समृद्ध किया है। आत्माराम राठोड़ 'लदेनी' से लेकर वीरा राठोड़ 'सेनं सायी वेस' तक घुमंतुओं की विविधता पूर्ण कविताएँ दिखाई देती हैं।

ये कविताएँ केवल काव्य निर्मिति नहीं है दिखाई देती हैं। आदिवासियों की भावनाओं का उद्‌गार हैं। अपने पूरे समुदायों से अटूट होकर व्यक्त होती रही हैं। जागृत करने का अह्वान करती रही हैं। आदिवासियों की यातना, वंचना, अभावग्रस्तता को मुखर करती हैं। उनके सभी प्रश्नों के साथ बड़े जोर से व्यवस्था की दहलीज पर दस्तक देती हैं। ये कविताएँ एक ओर क्रांतिदर्शी हैं। तो दूसरी ओर आदिम जीवन के अर्थ तलाशती और समुदाय का प्रबोधन करती हैं। अपने शोषण के कारण तथा परिणामों की चर्चा करते हुए पूरी व्यवस्था की मीमांसा, चिकित्सा करती हैं :

जहाँ आदिवासी वहाँ बाँध
यही आदिवासियों की मौत
जहाँ आदिवासी वहीं खदान
आदिवासियों के ले लिए प्राण
जहाँ आदिवासी वहाँ प्रकल्प
यही उनको मारने का संकल्प
प्रकल्प औरों का कायाकल्प
हमारे मृत्यु का संकल्प *(चामुलाल राठवा)*

मिटने मिटाए जाने का भय और उठ खड़े होने की उम्मीद इसी कश्मकश में यह कविता अपना अलख जगाती रही है। आदिवासी कविताओं ने भारतीय साहित्य को अनेक बोली भाषाएँ सौंपी हैं। शब्द भंडार के दरवाजे खोले हैं। नये आशय विषय दिये हैं। कुछ नए शब्द प्रतिमाएँ बहाल की हैं। वाहरू सोनवणे की 'भिलोरी' लक्ष्मण की 'वारुली', रवी कुरसुंगे की 'परधानी', उषा किरण आत्राम की 'गोंडी', भुजंग मेश्राम की 'गोंडी', परधानी, 'आत्माराम राठोड, वीरा राठोड की गोरमाटी, शंकर तडवी की 'तडवी' आदि का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है।

आदिवासी घुमंतुओं का कथा साहित्य

तुलनात्मक दृष्टि से अगर देखा जाये तो मराठी आदिवासी उपन्यास तथा कहानियों की संख्या बहुत कम है। परन्तु, वह महत्त्वपूर्ण मानी जाएँगी क्योंकि इस पूरे कथा साहित्य में आदिवासी समुदाय उनकी जीवन शैली, आचारण पद्धति, लोकगीत उत्सव त्योहार, लोकतत्त्व, वेशभूषा, बोलीभाषा, भौगोलिकता, आदि अंगो को दर्शाते हुये प्राकृतिक जीवन का वर्णन किया गया है।

उपन्यासों का जब विचार करते हैं तो उनमें गो. ना. मुनघाटे का 'माझी काटे मुंडारीची शाळा' माधव सुरकुंडे का 'वाडा' यह आंध्र समुदाय के जीवन को रेखांकित करता है। गोपाल गवरी का 'कोळवाडा' यह महादेव कोळी समुदाय के जीवन को दर्शाता है। लक्ष्मण गायकवाड का 'वडार वेदना' 'वडार समुदाय', 'वकिल्या पारधी' पारधी समुदाय, संतोष पवार 'मोहतराचा नवरा' 'पारधी समुदाय तथा पारधी स्त्री के जीवन रेखांकित को करता है। रावजी राठोड 'गोठण', गोरमाटी और अशोक पवार 'इलनमाल' दर कोसदर मुक्काम' यह घुमंतुओं के जीवन को उजागर करने वाले उपन्यास हैं।

कहानियों में उषाकिरण आत्राम 'अहेर' स्त्री विडंबना पर भाष्य करती हैं। माधव सुरकुंडे 'सर्वा', 'ताडम', 'मारूती कुलमेथे', 'देवकी पोटवडली', लक्ष्मण टोंपले' कुंडलीक केदारी, नजुबाई गावित 'भिवा फरारी', आत्माराम राठोड 'धरतीचे धनी' 'अज्ञानकोश' लक्ष्मण माने 'उध्वस्थ' आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

आदिवासी घुमंतुओं की नाट्य संपदा

मराठी आदिवासी, घुमंतुओं का नाट्यलेखन कुछ नाट्यकृतियों को छोड़कर न के बराबर ही माना जायेगा। आदिवासी नाट्य लेखन क्यों नहीं हो पाया इसके कारण अलग से ढूँढने होंगे। फिर जो भी कुछ प्रयोग हुये हैं उनमें कुंडलीक केदारी 'आदिवासी साहेबांची बायको', जीवन गेडाम 'होन्या रे होन्या', भुजंग मेश्राम 'सवारी', विनोद मोरांडे 'मरी माँ का भगत', नीलकांत कुलसंगे, रवी कुलसंगे, विष्णू सलामे, सुरेंद्र मसराम, आदि उल्लेखनीय हैं।

आदिवासी घुमुंतुओं की आत्मकथा तथा जीवनी

मराठी साहित्य में दलित आत्मकथाओं के प्रभाव में आदिवासी साहित्य में भी कुछ आत्मकथाएँ लिखी गई है। जिनमें नजुबाई गावित 'आदोर', 'तृष्णा' बाबाराव मडावी 'आकांत' यह आत्मकथाएँ लिखी है। तथा 'दोन क्रांतिकारक' व्यंकटेश आत्राम, 'ठक्कर बाप्पा', 'संत मुंगसाजी', 'गोंडावनाचे वीर नारायणसिंह उईके', 'धरती आबा', आदि जीवनियाँ लिखी पायी जाती हैं। आदिवासियों के तुलना में घुमंतुओं की आत्मकथाएँ मराठी साहित्य चर्चा में शीर्ष पर रही हैं। जिन्होंने काफी हलचल भी मचाई है। जिनमे लक्ष्मण माने 'उचल्या' -(उठाईगीर) लक्ष्मण गायकवाड 'उपरा' (पराचा) आत्माराम राठोड 'तांडा', अशोक पवार 'बिराड', किंशोर काळे, 'कोल्हाट्याचं पोर (छोरा कोल्हाटी का) दादासाहेब मोरे 'गबाळ' (डेराडांगर), रमेश पिंग्या काळे 'पारध्याचं जीनं', संतोष पवार 'चोरटा', भीमराव गस्ती' बेरड' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन सभी आत्मकथा एवं जीवनियों में स्वयं अपना, अपने समाज का पूरा इतिहास और वर्तमान चित्रित हुआ है।

मराठी साहित्य में आदिवासियों का वैचारिक साहित्य विपुल है। जो अपने समुदाय का प्रबोधन करता है। इतिहास की खोज करता है। भविष्य को दिशा देता है। वर्तमान समाज और सरकार की नीतियों पर कठोरता से प्रहार करता है। जिनमें डॉ. गोविंद गारे, डॉ. विनायक

तुमराम, श्रीमती उषाकिरण आत्राम, नेताजी राजगडकर, ऋषि मसराम, दशरथ मडावी, व्यंकटेश आत्राम, भुजंग मेश्राम, डॉ. प्रमोद मुनघाटे, लक्ष्मण माने, लक्ष्मण गायकवाड, आत्माराम राठोड, बालकृष्ण रेनके, वीरा राठोड आदि का समावेश किया जा सकता है।

अंत में केवल इतना ही कहूँगा, आदिवासी मराठी साहित्य के माध्यम से महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में बसे जैसे सतपुड़ा के 'भील', 'आंध', 'कोरकू', गोंडवना के 'गोंड', 'परधान', 'माडिया', 'कोलाम', 'हलबा', सह्याद्री के 'वारली', 'कातकरी' आदि 47 आदिवासी जनजातिओं का तथा 'लमाणी', 'वडारी', 'कैकाडी', 'बेरड', 'पारधी', 'वाघरी', 'कंजारभाट', आदि घुमंतु जनजाति समुदाय का जीवन चरित्र दृश्य हुआ है। प्रकृतिसन्मुखता, उनके धार्मिक–सामाजिक जीवन, नीतियाँ, जीवन पद्धति, जीवन आचरण आदि अंगो को साहित्य ने उजागर किया है। परंतु आज भी आदिवासी साहित्य की संकल्पना अस्पष्ट दिखाई देती है। आदिवासी साहित्य की भूमिका के बारे में कुछ अंतर्विरोध अभी दूर होने हैं। आदिवासी साहित्य की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उपलब्धि क्या है? यह बताना अभी थोड़ा कठिन है।

संपर्क : पी-10, अमर हाऊसिंग सोसायटी, एन-8, सिडको, औरंगाबाद-431003, मो. : 9420431718, 8888228335

नारायन : आदिवासी माटी का कथाकार

प्रमीला के.पी.

नारायन (1940-जीवित) केरल के प्रथम आदिवासी उपन्यासकार और कहानीकार हैं। *'कोच्चरेत्ति'* उनका प्रथम उपन्यास है। पन्द्रह साल के लंबे इंतजार और प्रकाशकीय खोज के बाद 1998 में वह केरल के प्रशस्त प्रकाशक डी सी बुक्स के माध्यम से सामने आया, लोगों का ध्यान मिला। नारायन को इस उपन्यास के लिए 1999 में *केरल साहित्य अकादमी पुरस्कार* से नवाजा भी गया। ऑक्सफोर्ड द्वारा प्रकाशित *'कोच्चरेत्ति दि आर्या वुमन'* शीर्षक अंग्रेजी अनुवाद के लिए, अनुवादिका *कैथथरिन तंकम्मा* के साथ उनको 2011 में एशिया के प्रशस्त *एकेडेमिक क्रॉसवर्ड पुरस्कार* भी मिला। हिंदी में अनुवादक रवीन्द्रनाथ ने *पहाड़िन* नाम से *कोच्चरेत्ति* का अनुवाद किया, यह साहित्य अकादमी की तरफ से प्रकाशित है। केरल के पहले आदिवासी लेखक के तौर पर नारायन की कलम की महिमा एवं नाम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक जगत में मशहूर है। फ्रेंच सहित अन्य दूसरी विदेशी भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद हुए हैं। रचनात्मक उत्कर्ष के लिए उन्हें 1999 में *तोप्पिल रवि फाउंडेशन पुरस्कार* और *अबुदाबी शक्ति पुरस्कार*, 2011 में *स्वामि आनंद तीर्थ पुरस्कार* भी मिले हैं। बावजूद आज भी वे कोच्चि के पास किराए पर लिए मकान में अपना साधारण सेवानिवृत्त जीवन बिता रहे हैं।

नारायन स्वतंत्र भारत के आरंभिक आदिवासी लेखकों में आते हैं। *'कोच्चरेत्ति'* में वे अपने समुदाय, माने *मलय अरया*, माने पहाडी जनजाति में शामिल अपनी जीवन कथा बताते हैं। इस उपन्यास में वे दो किरदारों, माने *कुंजिप्पेण्णु* और *कोच्चुरामन* के जीवन के माध्यम से अपने समुदायिक जीवन का चित्रण करते हैं। बताया जाता है कि वे *नारायन* के ही माता-पिता हैं। *कुंजिप्पेण्णु* के बचपन से कहानी की शुरुआत होती है, फिर उसके जीवन की विविध घटनाओं में उपन्यास विस्तार पाता है। इसमें जनजातीय जीवन की भी कथा विकसित होती है। विशेष सामुदायिक परिसर, जंगली जीवन, इतिहास, जनविश्वास, प्रथाएँ, जन्म-मरण, बीमारियाँ, इलाज की जैविक रीतियाँ आदि जुड़ते जाते हैं। उपन्यास के अंत में वयस्क होते-होते रोगी बन जाने

वाले कोच्चुरामन को शहरी अस्पताल में लाया जाता है पर शल्यक्रिया सहित आधुनिक चिकित्साविधियों व उसके प्रयोक्ता लोगों के डर व अविश्वास में वह पत्नी के साथ वहाँ से भाग जाते हैं। आदिवासी का जीवन सभ्य कहे जानेवाले ग्रामीणों व शहरी पढे-लिखों की दृष्टि में उपेक्षित था, पिछड़ा था, नारायन उसको अपनी दृष्टि और सृष्टि के प्रसंग में जैविक और इतर सिद्ध कर देते हैं। यहाँ पर साहित्य या कलमी लेखन जनजीवनेतिहास के छोरों पर रिसती हुई पारदर्शी बूँदों जैसा पाठकों के सामने उपस्थित होता है।

मलय अरया यानी पहाड़ी जनजाति मध्य केरल की पश्चिमी तराईयों, माने तमिलनाडु के सरहदोंवाले जंगली प्रदेश के निवासी थे। बाहरी लोगों, सूदखोरों, व्यापारियों, पुलिस तथा सरकारी अफसरों द्वारा सतत् शोषित होकर यह जाति गरीबी और असहायता में पस्त रह जाती है। धीरे-धीरे नशे की शिकार होकर अपनी जंगली जमीन व जनजातीय जीवन से बाहर हो जाती है। कुपोषण, जगंली आग, बीमारियाँ तथा गरीबी के यह सदा मारी रहती है। नारायन ने अपने लोगों के इस यथार्थपूर्ण जीवन को शब्दबद्ध करने का ही प्रयास किया। एक दृष्टि में उनका साहित्य बीसवीं शती की आधुनिकता में अपने जनजातीय जीवन से विच्छिन्न और विघटित होने वाले अमुक आदिवासी समुदाय का लेखाजोखा है। किस तरह एक इंसानी समुदाय, अनजाने ही अपने जीवन संदर्भों से बर्खास्त होते जाते हैं, अमानवीयता के हाथों अपदस्थ होते हैं, आदिम और जैविक जीवनतत्त्वों से अलग होकर बंजारे बन जाते हैं, इसका सटीक और सीधा वर्णन उनमें मिलता है। उनके यहाँ आदिवासी वह निरीह, कच्चा इंसान है जो बाहरी कपट और बनावटी नागरिक मनुष्य के अजीबोगरीब शोषण व आक्रमण के आगे कराहने के अलावा कुछ भी कर नहीं सकता है। आधुनिकता के आगे रखे तिकड़मों, इलाज विधियों, ज्ञान संप्रदायों व जीवन दर्शनों की औपचारिकता में नारायन के आदिवासी पात्र पुरातन कहे जानेवाली जंगली या लोक अभिरुचियों व जीवन शैलियों का अर्थ और पुनराख्यान खोजते रहते हैं। उनकी कोई औपचारिक या तर्कसंगत महिमा नहीं है। कई बार वे अंधविश्वासी लग सकते हैं। इन आधारविहीनों की निराधार बातों पर उपहास करनेवाले सभ्य व शिक्षित सामाजिकों की हैवानी मानसिकता को वे आँक नहीं पाते हैं। रचनाकार नारायन के लिए रचनाकर्म अपने मन की इस शंका को जाहिर करने का अवसर भी है। व्यंग्य के पुट के साथ वे अपने संदेहों को खोल कर रखते हैं और अपने लोगों के साथ वे औपचारिक या सभ्य कहे जानेवालों पर भी प्रतिव्यंग्य छोड़ते हैं। ज्ञान नियंत्रित कहे जानेवाले आधुनिकता के तत्त्वों से टकराकर आदिवासी की जीवनविधियाँ चूर हो जाती हैं मगर आदमीयत खोने को वह जनजाति तैयार नहीं। सभ्य नागरिकों की चालाकियों व फरेबों में वे फँस जाते हैं मगर जानबूझकर उनके रंग में रंग नहीं जाते हैं। इस तरह आदिवासी का जनजीवन हमेशा गाँव व शहर के साथ संघर्षात्मक रहता है, बाहरी लोगों के दखल में वे अंदरूनी शिथिलिता का भी सामना करते हैं और यह उनमें अपराधबोध का सृजन भी करता है। *नारायन* के सभी पात्रों में न्यूनाधिक स्तर पर यह अपराधबोध या स्वत्वशंका विद्यमान है। स्वयं वे कहते हैं कि ''एक बात मैं जानता हूँ कि सिनेमा, टी. वी. या कुछ प्रकाशित सामग्रियों में मिलनेवाली आदिवासी कहानियों का यथार्थ के साथ कोई संबंध नहीं है।''

कोच्चरेत्ति के अलावा नारायन का दूसरा उपन्यास *उराळिक्कुटि—जनजातीय बस्ती—* भी काफी प्रशस्त रहा है। यह भी *कोच्चरेत्ति-अरया औरत-* के समान्तर, *अरया* जनजीवन की ही कहानी है। आगे क्रमशः *चेंगारूम कुट्टालुम, वंन्दनम्, आराणु तोल्क्कुन्नवर्, ई वषियिल आळेरेयिल्ला, तिरस्कृतरूटे नाळे* और *मनस्सुम देहवुम कोण्टु जान निन्ने* उपन्यास सामने आए।

इनके अलावा उनके नाम पाँच कहानी संग्रह भी बाहर आए जिनमें करीब सत्तर कहानियाँ संकलित हैं। उपन्यास और कई कहानियाँ कई देशी विदेशी भाषाओं में अनूदित होकर पहुँची हैं। आधुनिकता या आधुनिक कहे जानेवाले सभी तत्त्वों व प्रयोगों के प्रति शंका और डर नारायन की रचनात्मकता के लक्षण हैं।

नारायन का साहित्य मलय अरया जनजातीय जीवन का सीधा और प्रथम विवरण देता है। वे अपने साहित्यकार को वैज्ञानिक शिक्षा या ज्ञानबोध से नियन्त्रित होने नहीं देते हैं। बदले में आँखों देखी बातों जैसा, अनुभवमान दुनिया का बयान देते जाते हैं। उनके पात्र नाम, कार्य और विवरण भी उन्हीं के जीवन जैसे टूटी अभिव्यक्तियों व बोलचाल के रूपों से सिक्त व आसक्त हैं। आदिवासी जीवन की दीनता एक तरफ है तो जनजीवन को आविष्ट करनेवाली कबीलाई प्रथाओं व तर्कहीन रीतिरिवाजों की अपक्वता और अनाडंबरता दूसरी तरफ है। ज्ञान या तर्क चिंतन से बढ़कर उन्हें जीवन का विश्वास व जरूरतें नियन्त्रित रखती हैं, पुरखों के व्यवहृत उसूलों व रिवाजों के भरोसे पर वे जीते हैं। बाहरी लोगों के हस्तक्षेपों पर डरने वाले आदिवासी मानसिक तौर पर ध्वस्त होकर नशे में डूब जाते हैं, विस्थापित होते हैं तो फिर कभी उनकी जैविक जीवन की स्निग्धता वापस नहीं आती है। बीचों बीच नष्ट होने वाली इलाज विधियाँ, जातीय या लोकज्ञान की व्यवहृत झाँकियाँ, जीवन के विशिष्ट तरीके, आपसी सहूलियत की रीतियाँ आदि सब पर नारायन का साहित्यकार वेदना प्रकट करता है। सावधानी और सहानुभूति में बुने उनके स्त्रीपात्र बदतर ढंग में शोषित दिखते हैं। आदिवासी जीवन की प्रथाओं में फँसी रहने पर भी पुरुषों से प्रश्न करनेवाली स्त्रियाँ उनके यहाँ वर्चस्वविरोधी तेवर दिखाती मिलती हैं। वनवासियों व जंगली निवासियों के इतिहास व वर्तमान यहाँ पर वर्णित मिलते हैं।

अपने साहित्यिक यात्रा का आरंभ नारायन ने कहानियों के सृजन से किया था और प्रदेशी पत्रिकाओं में उनका प्रकाशन हुआ था। पर प्रथम उपन्यास के प्रकाशन व प्रचार के बाद उन पर सार्वजनिक ध्यान आकर्षित हुआ। नारायन की कहानियाँ भी जंगली जनजातीय जीवन के अवस्थान्तरों का चित्रण करती हैं। जन विश्वास के साथ जुड़नेवाले अंधविश्वास, जीवन परिवर्तन के साथ आनेवाली विभीषिकाएँ, आपसी रिश्तों में आनेवाले अविश्वास, आदिवासियों के रीतिरिवाज के साथ टकराने वाली सरकारी नीतियाँ आदि के साथ अपने वैयक्तिक जीवन में आए विकास परिणाम को भी इन कहानियों में स्थान मिलता है। नारायन जंगली जीवन के प्रति निष्ठा और उसमें जीवित आदिवासी की मासूमियत पर अडिग विश्वास रखते हैं। बाहरी लोगों के दखल से आदिवासी का जीवन क्षतविक्षत हो जाता है और वह कंकाल बन जाता है। अपनी अस्मिता, जातीय महिमा आदि की खासियतें खोते हुए आदिवासी जिस तरह आमरण जूझकर असहाय और रोगी बन जाते हैं, इसका सच्चा और कच्चा चित्र इनके साहित्य का नींवाधार है। *नारायन* अपनी मिश्रित भाषा में ही ये सब कुछ लिख देते हैं, जिसमें पहाड़ी भाषा की नमी और गंध है। उनकी औपचारिक शिक्षा को वे रचनात्मकता पर हावी होने नहीं देता है। जरूरी संदर्भों पर वे मलयालम भाषा के साथ मिलाकर अपनी शैली को निखार देते हैं। विरेल ही वे पाद टिप्पणी या शब्दार्थ प्रस्तुत करते हैं ताकि सामान्य लोग उनकी भाषा-बोली मिश्रित के इंगितों को ठीक तरह से समझ सकें। उनका कहना है कि "शिक्षित होने के बावजूद, माँजे बिना रहनेवाली जुबानी झाँकियाँ आज भी हमारे साथ हैं, जो अपनी हैं। पर वे दूसरों को आसानी से समझ में आनेवाली हैं।" उनकी रचनाएँ अपने जातीय जीवन और कबीलाई अभिव्यंजना का सच्चा दस्तावेज हैं, पर सबको पता है कि ये दोनों म्रियमाण हैं। पूरा आदिवासी जीवन ही पतन और विस्थापन के कगार पर है। इसकी सूचना रचनाओं

के जरिए *नारायन* देते रहते हैं, उस बात पर उनकी आशंका रचनाओं में द्योतित मिलती है। इस अर्थ में मलय अरया जनजातीय इतिहास और वर्तमान को *नारायन* ने साहित्यिक व ऐतिहासिक पुनःज्जीवन देने का प्रयास किया है। यही उनकी पहली महिमा है, साहित्यिक योगदान है। उनकी हर रचना धीरे-धीरे नाशोन्मुख होने वाले जनजातीय जीवन की भंगिमाओं पर रोष और भीतरी वेदना सूचित करनेवाली है। वे अपने लोगों या प्रदेश भर का सच्चा रचनात्मक प्रतिनिधित्व पेश करते हैं। नारायन की रचनात्मकता की सबसे बड़ी खासियत उनकी कलम से अनायास बहनेवाली भाषण क्षमता है, जो शाब्दिक वार्तालाप जैसी आगे बढ़ती है। किस्सागोई में वे अपने जातीय जीवन के बहुत निकट रहते हैं और संभाषण के मिजाज के कारण पाठकों के सम्मुख से हटते नहीं है। अतिकथन या भाषणबाजी कहीं नहीं है, माने वे अपना ढिंढोरा पीटने के लिए कलम व शब्दों का उपयोग नहीं करते हैं। यहाँ पर नारायन का साहित्यकार इंसानियत का कलमकार है। उनका रचनाकार गतकालीन जंगली रास्तों, माने बचपन की मानसिक भूमि से आत्मनिष्कासित होने को इंकार करते मालूम पड़ता है। सच्चे अर्थ में *नारायन* जख्मी जनता का कथाकार है।

नारायन के संपूर्ण कृतित्व में आदिवासी जीवन के दो प्रकार के असमंजस सामने आते हैं। एक, आधुनिक शिक्षा और भीतरी-बाहरी विस्थापन के आगे शंकित रहनेवाले आदिवासी की मानसिक अन्यता है। आगे, आधुनिकता या औपचारिक शिक्षा से वह मुँह मोड़ना नहीं चाहता है, क्यों कि अब उनके पास कोई दूसरा रास्ता है नहीं। पर वह मुख्यधारा की वर्गकेन्द्रित राजनीति के साथ मिल भी नहीं पाता है। उसे पता है कि किसी के साथ होने वाले राजनीतिक व सामाजिक समीकरण में उसका ही शोषण होता रहता है। अतः आत्मसंघर्ष में अन्य रहने वाले आदिवासी की नीयत सच्ची है, जो उसकी अस्मिता पर केन्द्रित रहती है। पर आधुनिक होते रहने वाले विस्तृत समाज के मानकों व वैचारिक मापदंडों पर उसे शंका होती है। उनसे वह जुड़ नहीं पाता है। अपरिष्कृत कही जानेवाली अवस्था या पिछड़ी जीवन स्थितियों से वह बाहर आना चाहता भी है। एक साथ निजी अस्मिता और आत्मव्यवहृत जीवन की रीतियाँ पालते हुए नागरिक जीवन का रास्ता उसके आगे उपस्थित होता भी नहीं है। यहाँ पर आदिवासी कहीं न रहने वाला शरणार्थी बन जाता है। मानसिक उधेड़बुन और नैतिक हलचल के आगे उन्हें कभी भी आराम नहीं मिलता है। विषाक्त संस्कृति में अन्य होकर वे भीतर व बाहर से छिन्न-भिन्न-विच्छिन्न रह जाते हैं। लगता है कि आदिवासी जीवन का सबसे बड़ा सामयिक संकट यही है। नारायन के सभी जनजातीय प्रतिनिधित्व इस तरह के असमंजसों के साथ आदिवासी जीवन और वैचारिक चिंतन के साथ आत्मालोचन और सांसारिक अलोचन की मुद्रा में पाठकों के आगे उपस्थित होते हैं। उनका संघर्ष विवेक सिद्ध है और खोज विवृत्ति की तरफ।

संपर्क : प्रोफेसर, श्रीशंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल। ई-मेल : prameelakp2011@gmail.com

अरुणाचल प्रदेश में आदिवासी लेखन
(येशे दोर्जी थोंग्छी के उपन्यासों के विशेष संदर्भ में)

जमुना बीनी तादर

भारत के सुदूर पूर्व में स्थित अरुणाचल प्रदेश एक सीमांत राज्य है। यहाँ लगभग छब्बीस प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं। इन सभी जनजातियों की संस्कृति, रीति-रिवाज, आचार-विचार और व्यवहार परस्पर भिन्न हैं। परंतु इसके बावजूद इनमें भाईचारा, स्नेह और सौहार्द्र का भाव पाया जाता है। यहाँ एक ओर जहाँ आदी, आपातानी, गालो, तागिन, ञीशी आदि जनजातियाँ 'दोञी-पोलो' अर्थात सूर्य एवं चंद्र की उपासना करती हैं वहीं दूसरी ओर मोनपा, मेम्बा, खाम्बा, सिंग्फो, खाम्ती, शेरदुक्फेन आदि बौद्ध धर्मावलम्बी जनजातियाँ हैं। इस जनजातीय बहुल प्रदेश में कई भाषाएँ एवं बोलियाँ बोली जाती हैं। किंतु यह खेद का विषय है कि इन भाषाओं एवं बोलियों की अपनी कोई लिपि नहीं है। केवल अपवाद रूप में मोन्पा और खाम्ती भाषा को रख सकते है जिनकी लिपियाँ हैं। मोन्पा जनजाति अपनी भाषा के लिए 'भोटी लिपि' का प्रयोग करती है तथा खाम्ती जनजाति 'ताई लिपि' का। अन्य जनजातियाँ या तो रोमन में लिखती हैं या देवनागरी में।

इस पहाड़ी प्रदेश में शिक्षा का प्रचार-प्रसार विलम्ब से हुआ। सरकारी रिकॉर्ड के अनुसार सन् 1947 में प्रदेश का साक्षरता दर नगण्य था। बाद में कई स्कूल खोले गए। जिनमें शिक्षा का माध्यम असमिया भाषा थी। सन् 1962 में चीनी आक्रमण के पश्चात शिक्षा नीति में परिवर्तन करते हुए तत्कालीन सरकार ने शिक्षा का माध्यम असमिया से अंग्रेजी और हिंदी किया। किंतु असमिया भाषा को पूर्ण रूप से हटाया नहीं गया। तीसरी भाषा के रूप में असमिया का पठन-पाठन जारी रहा। इसलिए अरुणाचल की प्रथम पीढ़ी के अधिकांश लेखक केन्साम केङलाङ, तागाङ ताकी, लुम्मर दाई, येशे दोर्जी थोंग्छी आदि असमिया भाषा में ही साहित्य लेखन करते थे। इन प्रथम पीढ़ी के लेखकों में येशे दोर्जी थोंग्छी का नाम सर्वोपरि है।

येशे दोर्जी थोंग्छी का जन्म 13 जून सन् 1952 में अरुणाचल प्रदेश के वेस्ट कामेंग जिले में स्थित एक प्राकृतिक सौंदर्य से संपन्न गाँव 'जिगाँव' में हुआ। वे मूलतः असमिया

भाषा में लिखते हैं। बचपन से उनका साहित्यिक रुझान था। अपने स्कूली दिनों से ही उन्होंने लिखना आरम्भ किया। कविता, नाटक आदि से उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया और तत्पश्चात कहानी एवं उपन्यास लेखन की ओर अग्रसर हुए। प्रायः उनके लेखन की तुलना नाइजीरियन उपन्यासकार 'चिनुबा अचेबे' के साथ की जाती है। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं—'सोनाम', 'पापोर पुखुरी' (पाप का पोखर), 'बाँ फुलोर गोंधो' (बाँस फूल की गंध), 'विष कोन्यार देशोत' (विष कन्या के देश में), 'शो काटा मानुह' (शव काटने वाला आदमी), मौन ओंठ मुखोर हृदोय' (मौन होंठ मुखर हृदय) आदि। साहित्यिक लेखन के लिए उन्हें कई पुरस्कार प्राप्त हुआ जिनमें मुख्य है वर्ष 2005 का साहित्य अकादमी पुरस्कार। उनके उपन्यास 'मौन होंठ मुखर हृदय' को यह पुरस्कार प्रदान किया गया। उनकी कृतियों का अंग्रेजी, हिंदी, बोड़ो, बाँग्ला और रूसी भाषा में अनुवाद हो चुका है। हिंदी में अब तक उनकी तीन कृतियाँ अनूदित है—'शव काटने वाला आदमी', 'मौन होंठ मुखर हृदय' और 'सोनाम'। प्रस्तुत आलेख में हिंदी में अनूदित उनके तीनों उपन्यासों 'शव काटने वाला आदमी', 'मौन होंठ मुखर हृदय' एवं 'सोनाम' पर मुख्य रूप से विचार होगा तथा प्रसंगवश उनकी अन्य कृतियों पर भी चर्चा होगी।

थोंग्छी जी का समग्र कथा-साहित्य अरुणाचल की विभिन्न जनजातियों की अनोखी एवं विशिष्ट संस्कृति पर आधारित है। एक प्रशासनिक अधिकारी के तौर पर वे अरुणाचल के विभिन्न स्थानों में अलग-अलग समय पर कार्यरत रहे। जिन-जिन स्थानों में उनकी पोस्टिंग होती थी वहाँ के जनजीवन में वे पूरी तरह घुलमिल जाते थे और अपने लेखन के लिए सामग्री जुटा लेते थे। इसलिए उनके कथा-साहित्य में अरुणाचल का जनजातीय समाज वहाँ की संस्कृति, चिंतन एवं दर्शन प्रामाणिक रूप में अंकित हुआ है। उनका उपन्यास 'शव काटने वाला आदमी' मोन्पा जनजाति का मृत्यु संस्कार की एक विचित्र प्रथा पर आधारित है। मोन्पा जनजाति बौद्ध धर्म की महायान शाखा की अनुयायी है। मोन्पा लोग मृतकों के शव को एक सौ आठ टुकड़ों में काटकर नदी में बहाते हैं। आलोच्य उपन्यास इसी प्रथा की समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करता है। दारगे नोरबु इस उपन्यास का नायक है। वह दिरांगजांग गाँव का रहने वाला है। लोग उसे आउ थाम्पा, आपा थाम्पा अथवा आजांग थाम्पा कहकर पुकारते हैं। ''मोन्पा भाषा में आउ का अर्थ बड़ा भाई, आपा का अर्थ पिता, दादा या बुजुर्ग होता है। आजांग का अर्थ मामा और थाम्पा का अर्थ शव काटने वाला आदमी होता है। यानी गाँव में वह किसी के लिए बड़ा भाई, किसी के लिए दादाजी और किसी के लिए मामा है। मगर मूल रूप से वह एक शव काटने वाला आदमी, थाम्पा है। उसका घर दिरांगजांग गाँव से कुछ दूरी पर थाम्पानांग यानी शव काटने वाली निर्जन जगह पर स्थित है। उसके घर में तीन सदस्य रहते हैं। वह, उसकी पत्नी गुईसेंगमु और उसकी विकलांग बेटी। लेखक ने दारगे नोरबु के माध्यम से मोन्पा जनजाति की लोमहर्षक प्रथा को दुनिया के सामने उद्घाटित किया है। दारगे नोरबु का हुलिया जिस तरह से जुगुप्सा पैदा करता है वह अपने आपमें एक विशेष सामाजिक संस्कार का बोध कराता है। लोगों के शव काटते समय खून, पीव, सड़ा हुआ माँस, चर्बी, पेशाब, मल आदि के छींटों की वजह से उनके कपड़ों पर एक मोटी परत जम जाती है और उसके ऊपर अनगिनत जुएँ अपना प्रजनन क्षेत्र एवं विचरण भूमि तैयार कर लेते है''।[1] उसकी मानसिक स्थिति भी बड़ी अजीबोगरीब होती है। दिन-रात शवों के साथ रहते-रहते उसकी संवेदनाएँ भी कुंद पड़ जाती है। वह हमेशा मैले-कुचले कपड़े पहनता है और इंसानों के प्रति उसके मन में कोई दया भाव नहीं होता। उसका संबंध मात्र शवों से है। अतः कुछ आलोचकों ने इस चरित्र को विश्व के निकृष्ट चरित्रों में से एक माना है। लोग आउ थाम्पा के डरावने हुलिया से डरते अवश्य

है किंतु किसी मोन्पा घर में जब किसी की मृत्यु होती है तो लोग उसे ढूँढ़कर आवभगत कर शव कटवाने का काम संपन्न कराते हैं।

शव काटने का अभ्यस्त दारगे नोरबु इंसानी शरीर और उसकी बीमारियों का विशेषज्ञ बन जाता है। ''जीवन भर लोगों के शव काटते रहने के कारण लोगों के बाहर-भीतर के अंगों की बनावट, रोग के लक्षण, मृत्यु आदि के कारण के बारे में दारगे जानकार हो चुका है—इस बात पर गाँव वालों को संदेह नहीं होता इस कारण वह कई बीमारियों का इलाज भी कराने की क्षमता रखता है। कई मामले में वह किसी भी मनुष्य की होने वाली मौत की पूर्व सूचना भी दे सकता है। ऐसा अनोखा किंतु घृणास्पद पात्र है दारगे नोरबु''।[2] उपन्यास में उसकी शव काटने की प्रक्रिया का वीभत्स वर्णन है जो रोंगटे खड़ा कर देने वाला है— ''तरह-तरह के लोगों के शव उसके पास आते हैं, सभी आयु के शव, सुंदर स्त्रियों से लेकर वृद्ध स्त्री-पुरुषों के शव, इन सबको काटते हुये दारगे नोरबु के मन-मस्तिष्क में पैदा होने वाली संवेदनाएँ पाठक को झकझोरकर रख देती है। शव को काटने की विधिवत पद्धति होती है जिसे उपन्यासकार ने बहुत बारीकी से समुची प्रक्रिया को देखकर ही उपन्यास में वर्णित किया है। ...दारगे के अनुसार शव काटने की पूरी प्रक्रिया का सबसे गंदा और घृणित काम नारी देह के भीतरी हिस्से को चीरने-काटने का काम। पहले गर्भाशय, फिर गुर्दा, मल, पचे-अधपचे खाद्य के साथ पेट की अंतड़ियाँ, हृदय, फेफड़ा, सीना आदि एक सौ आठ टुकड़ों में विभाजित होकर एक सुंदर शरीर वाली स्त्री पृथ्वी से लुप्त हो जाती है। मोन्पा जनजाति की सुंदर स्त्रियाँ लाश बनकर निर्लिप्त भाव से अपने शरीर को उसके हवाले कर देती हैं, काटे जाने के लिए। खुले आसमान के नीचे वे आखिरी बार अपनी खूबसूरती को प्रदर्शित कर जाती हैं। अस्थायी, क्षण-भंगुर जीवन का मजाक उड़ाकर चली जाती हैं, मनुष्य और पृथ्वी का अपमान कर चली जाती है। मगर दारगे नोरबु को अपना फर्ज पूरा करना होगा। इसलिए उसके दाव के द्वारा चित्त होकर पड़ी हुई सुंदर स्त्रियों का सुंदर शरीर उनके सुंदर धड़ से अलग हो जाता है। गर्दन से, शरीर से कटा हुआ सुंदर स्त्रियों का सिर एक ऊँची चट्टान के ऊपर रखा जाता है, जहाँ कुत्ते-गीदड़ पहुँच नहीं सकते। इस तरह दारगे नोरबु अपनी मानवीय संवेदनाओं को दफनाकर अपना कर्म करता जाता है''।[3] वस्तुतः उसका कार्य जितना भयावह और घृणास्पद दिखाई देता है उसके साथ जुड़ी हुई मान्यता या अंधविश्वास उतना ही जटिल और कट्टर है जिसका कोई समाधान नहीं। मोन्पा जनजाति में यह धारणा प्रचलित है कि इस प्रथा के पालन न करने से मृतक की आत्मा को स्वर्ग प्राप्त नहीं होता है।

उनके दूसरे उपन्यास 'मौन होंठ मुखर हृदय' में देश की स्वतंत्रता के लगभग एक दशक पश्चात भारत सरकार द्वारा तत्कालीन नेफा में (अरुणाचल प्रदेश का पूर्व नाम) प्रशासन की व्यवस्था को सुदृढ़ करने हेतु दुर्गम पहाड़ी क्षेत्र को काटकर सड़क निर्माण का वर्णन है। इस काम के लिए गाँवों के स्थानीय लोगों को श्रमिक के रूप में तैनात किया जाता हैं। आलोच्य उपन्यास में सड़क निर्माण के मुख्यतः दो उद्धेश्य दर्शाए गए हैं—एक मैदान के साथ दुर्गम पहाड़ों को जोड़ना तथा दूसरा भौगोलिक दुर्गमता के कारण एक दूसरे से अलग-थलग पड़े जनजातियों के मध्य अपरिचय का दीवार भेद कर उनके दिलों को परस्पर जोड़ना। किंतु यह सड़क निर्माण का कार्य आसान नहीं अत्यंत चुनौतिपूर्ण था। दुर्गम पहाड़, बीहड़ जंगल, उद्दाम बहती पहाड़ी नदियाँ, अँधेरी गुफाएँ तथा गहरी खाइयाँ आदि कई भौगोलिक चुनौतियाँ थीं तो वहीं छोटी-बड़ी जनजातियों के बीच परस्पर अजनबीपन की अभेद्य दीवार एवं उनमें जातिगत श्रेष्ठता का बोलबाला था। भौगोलिक दुर्गमता के कारण एक जनजाति का दूसरी जनजाति से

कभी कोई सम्पर्क नहीं था। अतः सड़क निर्माण के दौरान जब वे मिलते हैं तो उनमें परस्पर घृणा और संदेह उपजता है। उपन्यास में इस तथ्य को बहुत मार्मिक ढंग से उभारा है कि किस प्रकार सड़कों एवं यातायात के साधनों के अभाव में एक जनजाति किसी दूसरी जनजाति को अपने से भिन्न ही नहीं वरन् निम्न मनुष्य समझते थे। इस निर्माण कार्य के दौरान शेरदुक्फेन जनजाति और ञीशी जनजाति का आपसी परिचय होता है। ञीशी जनजाति शेरदुक्फेन जनजाति को अपने से कमतर व निम्न मानकर उनका मखौल उड़ाती है जिससे उनके बीच तनाव का माहौल उत्पन्न होता है। इन सारे घटनाक्रमों के बीच एक मौन प्रेमकथा पनपती है। रिनचिन और यामा का मौन प्रेम। चूँकि रिनचिन शेरदुक्फेन है और यामा ञीशी। अतः दोनों एक-दूसरे की भाषा नहीं समझतें। परन्तु प्रेम कभी किसी भाषा का मोहताज रहा है क्या! प्रेम के लिए एक मूक इशारा भर काफी है। उपन्यासकार ने इन दोनों के प्रेम के माध्यम से जातिगत श्रेष्ठता अथवा जातिगत दम्भ पर प्रहार किया है। जातिभेद से ऊपर उठकर मानवीय मूल्यों एवं मानवतावाद को स्थापित किया है।

उपन्यास में थोंग्छी जी ने जहाँ भौगोलिक और सामाजिक समस्याओं को बारीकि से चित्रित किया है तो वहीं अंधाधुंध विकास से होने आसन्न संकटों तथा आगामी खतरों से भी आगाह किया है। यह उपन्यास का सबसे उदात्त पक्ष है। सड़क निर्माण से यातायात के साधन बढ़ेंगे तो निश्चित ही मैदानी या बाहरी लोगों की भी आवाजाही बढ़ेगी। क्या बाहरी लोग इन भोली-भाली स्थानीय लोगों का शोषण नहीं करेंगे? प्रत्येक बाहरी व्यक्ति साफ नीयत से तो आयेंगे नहीं। क्या ये बाहरी लोग इनके पुरखों की वन-संपदा आदि का अविवेकपूर्ण शोषण नहीं करेंगे? क्या ये बाहरी लोग इनकी आदिम संस्कृति को गंदला नहीं करेंगे? क्या इनकी परंपरा, रीति-रिवाज, आस्था-विश्वास आदि अक्षुण्ण रहेगा आदि ऐसे अनेकों प्रश्न उपन्यासकार ने दिलीप सैकिया नामक पात्र के द्वारा उठाया है—''इस सड़क के निर्माण की प्रक्रिया खत्म होने पर, मैदान के साथ पहाड़ के जुड़ने पर, शिक्षा की रोशनी फैलाने के लिए, जनजातीय लोगों को स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने के लिए, उनकी प्रगति के लिए, उनकी भलाई के लिए कई लोग इसी राह से होकर आएँगे। मगर इसी तरह से अनेक शोषक भी आएँगे। चोर-डाकू, मुखौटे वाले भद्रलोक आएँगे। एक दिन इस पहाड़ पर भी अशांति, असंतोष का माहौल तैयार हो जाएगा। बाहरी तौर-तरिके, संस्कृति, भाषा, पोशाक, रीति-रिवाज के हमले से यहाँ की जनजातीय संस्कृति लुप्त हो जाएगी, पोशाक गायब हो जाएगी, अपना धर्म मिट जाएगा, भाषा लुप्त हो जाएगी। बहुसंख्यक जातियों से मुकाबला नहीं कर पाने की वजह से अल्पसंख्यक जनजातियाँ लगभग नष्ट हो जाएँगी। उसी का सूचक यह है सड़क। और अब श्रमदान के नाम पर, भोले-भाले जनजातीय लोगों को प्रगति की दुहाई देकर उन्हें अपनी ही कब्र खोदने के लिए मजबूर किया गया है''।[4] दिलीप सैकिया इस उपन्यास का सबसे उज्ज्वल पात्र है, बाहरी व्यक्ति होते हुए भी आदिवासी हितों के हिमायती। वर्तमान में हमें ऐसे अनेक दिलीप सैकिया की ही आवश्यकता है। ध्यातव्य है कि उपन्यासकार ने जो चिंताएँ दिलीप सैकिया के द्वारा व्यक्त किया है उसे हम कोरी चिंता कहकर नकार नहीं सकते, कारण, कालांतर में ये सारी चिंताएँ सौ फीसद सत्य सिद्ध हुयी हैं। सही अर्थों में थोंग्छी जी यहाँ एक युगद्रष्टा भी हैं। आज प्रत्येक चिंतनशील जनजातीय व्यक्ति यह सोचने को विवश है कि प्रदेश में इनर लाइन परमिट के लागू होने के बावजूद भी क्या जनजातीय संस्कृति सुरक्षित है! क्या वर्चस्ववादी संस्कृति दिनोंदिन जनजातीय संस्कृति को निगल नहीं रही!!

थोंग्छी जी ने अपने तीसरे उपन्यास (सोनाम) में ब्रोक्पा समुदाय के बहुपतिवाद की

प्रथा और उससे प्रभावित मानवीय संबंधों के समीकरणों का गहन आकलन किया है। मोन्पा जनजाति में जो चरवाहा होता है उसे ब्रोक्पा कहते है। चरवाहों का समुदाय साल के छः महीने दुर्गम पर्वतों पर 'याक' पशु के संग प्रवास करता है और जाड़े में पुनः अपने गाँव लौट आता है। इसी ब्रोक्पा समुदाय में बहुपतिवाद की प्रथा प्रचलित है। आलोच्य उपन्यास की नायिका सोनाम है। सोनाम, लोब्साँग और पेमा के प्रेम त्रिकोण पर उपन्यास की कथा बुनी गयी है। लोब्साँग जब याक का झुंड लेकर छः महीने के लिए पर्वत-प्रवास पर चला जाता है तो इधर गाँव में सोनाम अकेली पड़ जाती है। उसके एकाकी जीवन में गाँव का ही एक युवक पेमा का प्रवेश होता है। पेमा के निरंतर प्रेम-याचना के आगे वह लाचार होकर उससे ब्याह कर लेती है। और यहीं से संबंध बिगड़कर द्वंद्वपूर्ण समीकरणों का आकार लेते हैं।

साधारणतः एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ देखी गई है परंतु ब्रोक्पा समुदाय में एक स्त्री के एक से अधिक पति होते हैं। जिस प्रकार बहुपत्नीवाद में पत्नियों का आपस में सौतिया-डाह के कारण गृहकलह होता है ठीक उसी भाँति बहुपतिवाद में भी यही समस्या दृष्टिगोचर होती है। उपन्यास में सोनाम, लोब्साँग व पेमा के आपसी बनते-बिगड़ते संबंधों की पड़ताल की गयी है। इसके साथ ही प्रेम की एकनिष्ठता तथा स्त्री द्वारा इच्छित साथी के वरण की स्वतंत्रता जैसी गम्भीर मुद्दों को भी जटिलता से उठाया गया है।

थोंग्छी जी का समस्त लेखन उत्तरपूर्वी प्रांतों के उपेक्षित एवं हाशिए पर पड़े जनजातीय समाजों की निराली संस्कृति का प्रामाणिक दस्तावेज है। उनकी लेखनी से अरुणाचल में रचनात्मक लेखन की नींव पड़ी। वे न केवल अपने लेखन के द्वारा बल्कि व्यक्तिगत प्रयास से भी प्रदेश की युवाओं को लिखने के लिए प्रेरित व प्रोत्साहित करते रहते हैं। उन्होंने 'अरुणाचल प्रदेश लिट्रेरी सोसायटी' की स्थापना कर प्रदेश में सर्जनात्मक लेखन की मुहिम आरंभ की। वे निरंतर इस बात पर बल देते हैं कि बाहरी लोगों ने अब तक हम जनजातियों पर सहानुभूतिवश लिखा है किंतु समय आ गया है कि हम लोग अपनी कथा स्वयं कहें। जहाँ तक अरुणाचल के साहित्यिक परिदृश्य की बात है तो यह कहने में कोई संकोच नहीं कि साहित्य लेखन अब भी शैशवास्था में है। पर थोंग्छी जी जैसे रचनाधर्मी व्यक्तित्व के प्रयास से उन्नत साहित्यिक भविष्य की कल्पना की जा सकती है।

संदर्भः

1. शव काटने वाला आदमी; प्रो. एम. वेंकटेश्वर ; अरुण प्रभा; अर्धवार्षिक अंक जनवरी-दिसम्बर 2015; पृ. 153
2. वही; पृ 154
3. वही; 154-155
4. मौन होंठ मुखर हृदय; येशे दोर्जी थोंग्छी; साहित्य अकादेमी; रवींद्र भवन, 35, फ़िरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली, 110 001

संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

मीणा[1]

एडमंड कैंडलर
अनु. प्रमोद मीणा

कहीं से कुछ दिनों की यात्रा उपरांत देवली रेजिमेंट के मीणा लोगों से मैं यूफ्रेटीज[2] के बैक वाटर में मिला। वे इतने ज्यादा दूरस्थ थे कि जब हम नदी में एक मोड़ के समीप पहुँचे तो हमारी बेलम[3] से बालू में उनके श्वेत कैम्प और उसके समीप स्थित तोप वाली नौका की छवि से मुझे अहसास हुआ कि हम अंतर्देशीय अन्वेषण की एक समुद्र यात्रा के उपरांत किनारे पर पहुँचे थे। मीणाओं में समावा की कुछ थकावट थी जहाँ कुछ भी नहीं हुआ। वे बिग्रेड में जाना चाहते थे; वे लड़ना चाहते थे; वे कम से कम बगदाद तक चढ़ाई करना चाहते थे। इनमें से किसी भी इच्छा की पूर्णता से पहले उन्हें लंबी प्रतीक्षा करनी थी। फिर भी, हालाँकि उनके पास खुद को भूलने के कारण थे, उनका एक खुशमिज़ाज लश्कर था।

निरूपण : मीणाओं की दो श्रेणियाँ थीं—42वीं देवली रेजिमेंट में उजला, पढ़ि आर और मोटिस मीणा थे जो राजपूत रक्त होने का दावा करते थे और पूर्णतः आदिम वंश के मीणा सिरोही और जोधपुर से 43वीं एरिनपुरा रेजिमेंट में भर्ती किये गये थे। मुझे उम्मीद थी कि देवली के मीणा भील, संथाल या शावाराह जाति के लोगों सरीखे नाटे, चौकन्ने और संदेहास्पद दिखने वाले लोग होंगे। उन्हें लंबा और शांत; प्रीतिकर, ईमानदार और आम चेहरे-मोहरे वाला और प्रजातिगत व्यापक विविधता के साथ पाकर मैं अचंभित था। वे कम से कम आदिम जनों जैसे नहीं दिखते

थे और आप उनमें से बहुतों को डोगरा, जाट, मराठा, राजपूत और पंजाबी मुसलमानों के बीच दोगुना तगड़ा पा सकते थे। यह सामान्य आर्य रूपाकृति आंशिक तौर पर अनुशासन, सैन्य कवायद, आत्मविश्वास और प्रशिक्षण का परिणाम थी। अपनी भर्ती से पहले अपनी पहाड़ियों में वे जंगली और चौंका देनेवाली नस्ल थे। उनके रीति-रिवाज असाधारण थे। उनमें से एक यह था कि अपने पिता के देहांत के बाद व्यक्ति के पास अपनी माँ को बेचने का अधिकार था।[4] जिन दिनों पहली बार जब उनकी भर्ती की गई तो सैन्य कवायद हेतु आने के लिए आपको एक आदमी को चार आना देना होता था। मीणा अपने धनुष और बाण के साथ आता था जिन्हें सैन्य पहरेदारी में जमा कर लिया जाता था। उसे सैन्य कवायद सिखाई जाती थी और दैनिक काम का भुगतान कर दिया जाता था। धीरे-धीरे जब उन्होंने महसूस किया कि यहाँ आने में कोई नुकसान नहीं है तो उन्होंने छावनियों में बसना और अपने परिवार को लाना शुरू कर दिया। किंतु वे आरंभ में हमें लेकर इतने अविश्वासी थे कि हमें दिन भर के काम के बाद हर शाम उन्हें भुगतान करना होता था।

मीणाओं को पालूत बनाना और देवली छावनी का उदय, ये दोनों धीमी विकासमान प्रक्रियाएँ थीं। इसका इतिहास किसी जंगली प्राणी को पालतू बनाने जैसा है। पहले मीणाओं को गृह निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया गया। झोंपड़ियों का एक झुरमुट जल्द ही एक साथ समूहीकृत हो गया और लोग उनमें रहने लगे। हर आदमी ने अपनी झोपड़ी बनाई और जब उसने रेजिमेंट को छोड़ा तो इसे अपने उत्तरवर्ती को बेच दिया। कुछ समय उपरांत उन्होंने पूछा कि क्या वे अपनी घरवालियों और परिवारों को उनमें रहने के लिए ला सकते हैं। यह एक अविश्वसनीय आत्मविश्वास की शुरुआत का संकेत था लेकिन मीणा पहले ही अपने ब्रिटिश अधिकारी के प्रति आस्था से ओतप्रोत थे। बाद वाले दिनों में जब पुरानी झौपड़ियाँ गिरा दी गईं और सैन्यगृहों की पंक्तियाँ निर्मित की गईं तो तब भी मीणा लोग अपने क्वार्टरों में रहते थे। कुछ साल पूर्व तक यह मालिकाना हक कायम था। रेजिमेंट का नीति वाक्य इसके जन्म के तरीके को अच्छे से वर्णित करता है—'ई टुर्बा लेजो'[5] (पगड़ी वाली सेना)।

संदिग्धता मीणाओं की स्वाभाविक विरासत होती है। लोक विश्वास है कि वे मवेशी चुरानेवालों, डकैतों और चोरों की संतानें हैं। शताब्दियों से वे राजपूतों के साथ लूटमार करते थे और उनके द्वारा पकड़े जाते थे। यह अंग्रेज थे जिन्होंने उनके दमन में राजपूतों की मदद की। उनके द्वारा उपद्रवग्रस्त जिले को मुक्त कराने के लिए जंगल को काटा जाना जरूरी था। मीणाओं को धीरे-धीरे घेर लिया गया और एक निर्धारित क्षेत्र तक सीमित कर दिया गया—मीणा खेड़ा जो अंशतः जयपुर में और अंशतः उदयपुर और बूँदी में पड़ता है। यह देवली के पोलिटिकल एजेंट से प्रशासित है। गाँवों में रात को हाजिरी लगाई जाती थी और अनुपस्थित व्यक्ति स्वघोषित चोर होता था। यह व्यवस्था अब भी बहुत ज्यादा नकटे समुदायों को नियंत्रण में रखती है। मीणाओं के आने-जाने पर लगे प्रतिबंध कम होते जा रहे हैं क्योंकि अब मीणा सामाजिक संपर्क की अपेक्षाओं का अनुकरण करते हैं। इस संदर्भ में जो सुखद बात है वह यह है कि उनको साधने में हमने जो भूमिका निभाई, उसको लेकर हमारे साथ मीणाओं के व्यवहार में कोई मनोमालिन्य नहीं है। मेव और मेवात के अपने पड़ौसियों की जैसे वे अंग्रेजों को अपने विश्वसनीय मित्रों के रूप में देखते हैं।

चरित्र : मीणाओं की सादगी, निश्च्छलता और याराना असंदिग्ध है। वे सबसे ज्यादा उत्तरदायी लोग हैं। और सिपाही के रूप में अपने अंग्रेज अधिकारियों के संपर्क में वे जल्द ही शक-संदेह की अपनी आदत छोड़ देते हैं। मैंने आधा दिन भारतीय अधिकारियों के साथ

गुजारा और न तो मैं और न वे ही ऊबे थे। वे बात करना पसंद करते हैं और मुस्तैदी और खुले हास्य-परिहास के साथ बातों को घुमाते हैं। मुझे लगा कि यद्यपि ज्यादातर उनमें शरारतें पछाड़ खाती रहती थीं किंतु उनमें अच्छा-खासा अंधविश्वास और बचपना बरकरार था। अंधविश्वास के साथ आमतौर पर संकोचीपन और तुनकमिज़ाजी अपेक्षित रहती है किंतु कोई भी उनमें इन्हें नहीं पाता था। अपने आम विश्वासों को लेकर वे कौतूहलजनक रूप से स्पष्टवादी और अभिव्यक्तिशील थे। पुराने ठगों की जैसे शकुन में उनका विश्वास था। सूबेदार ने मुझे भाग्यशाली और दुर्भाग्यशाली अंगुलियाँ दिखाईं और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अगर सियार दायीं ओर दो बार हुआ-हुआ करता है तो रात्रि कूच का किसी का लक्ष्य इतना अच्छा होगा कि उसे प्राप्त कर लिया जायेगा; अगर बायीं ओर तीन बार हुआ-हुआ करता है तो सितारे प्रतिकूल हैं और चेष्टा नहीं करनी चाहिए। रेलवे सुरक्षा कार्य करने के लिए नवंबर 1914 में रेजीमेंट को लाहौर प्रस्थान करना था। जिस सुबह पलटन ने रेलवे स्टेशन से प्रस्थान किया, उस सुबह रेल में चढ़ने वाले अधिकांश लोगों ने खुले मुँह के साथ और अपने ललाट को अंगुलियों से थपथपाते हुए इंजन की पूजा की। रेलवे स्टेशन देवली में छावनियों से 58 मील दूर था और यह पहली मर्तबा था जब उनमें से बहुतों ने रेल देखी थी। रेजिमेंट के रवाना होने तक इसे लेकर मत विभाजित थे कि क्या मीणा लोग भर्ती होना जारी रखेंगे। अफगान युद्ध के बाद से ऐसी उथलु-पुथल और देशांतरण नहीं हुआ था। गाँवों के चारों ओर उलटी-सीधी अफवाहें उड़ती थीं किंतु कमान अधिकारी ने एक अक्लमंदी की योजना के तहत कुछ लोगों को छुट्टी पर अपने घर लौटने दिया ताकि वे अच्छी खबरें प्रसारित करें कि रेजिमेंट ठीक थी और खुश थी। अपने संसार के बाहर इतनी दूर रहने वाले वे लोग स्वाभाविक रूप से गोत्र संबंधी थे। उनमें किसी बाहरी टीम के विरुद्ध हॉकी मैच जीतने का जोश इतना ज्यादा होता है जैसे कि एक अंग्रेजी पब्लिक स्कूल में घरेलू कप का निर्णायक मुकाबला हो। और यहाँ मेसोपोटामिया में वे चुनौती से भरे हुए थे। वे दिखाना चाहते थे कि देवली क्या कर सकती थी किंतु जैसा कि भाग्य था, वहाँ डेढ़ सौ मील तक कोई तुर्क न था।

मीणा राजवंश : जो सबसे रोचक कहानी मैंने सूबेदार से सुनी, वह था मीणा राजवंश का इतिहास जिसने देवताओं के प्रतिकूल होने से पहले अच्छे दिनों में राजपूताना में राज किया था। मैंने जाना कि सूरज और चंद्रमा से अपनी उत्पत्ति का दावा करने वाले गर्वीले राजपूत वास्तव में बाहरी हैं जिन्होंने सैकड़ों साल पहले एक कपटपूर्ण कार्रवाई से मीणाओं को बेदखल किया था।

सूबेदार ने मुझे बताया कि ''पंद्रह राजा राजपूत रहे हैं। इससे पहले मीणा लोग राजा थे। अंतिम मीणा राजा अब से सोलहवाँ था।''

मैंने पूछा, ''उसका नाम क्या था?''

''साहिब, मैं उसका नाम भूल चुका हूँ ... किंतु उसके कोई बच्चा नहीं था। एक दिन जब वह बाहर घुड़सवारी कर रहा था तो वह एक गर्भवती राजपूत महिला से मिला। उसने उससे कहा कि 'तुम्हारा बच्चा मेरे दिल का टुकड़ा होगा; और जब बच्चे का जन्म हुआ तो उसने उसका पालन-पोषण किया और अश्व सेना का सेनापति उसे बनाया।''

''क्या उसने उसे गोद लिया?''

''साहिब, वह उसे गोद नहीं ले सकता था। उन दिनों रिवाज ऐसा था कि जब बुजुर्ग राजा मरता था तो नया राजा उसी के वंश क्रम से कोई होना चाहिए। इस प्रकार गद्दी उसके भाई के बेटे को जायेगी अर्थात एक मीणा को ही। कोई राजपूत उत्तराधिकारी नहीं हो सकता

था। तथापि उसने लड़के के साथ अपने बच्चे सरीखा व्यवहार किया और तभी एक दिन वह लड़का दिल्ली में सम्राट से मिलकर आया तो उसने राजा और उसके सभी संबंधियों को और सारी सेना को मार दिया। साहिब, ऐसा हुआ था कि किनाघाट पर्व था जब राजा और उसके लोग बिना हथियारों के नीचे नदी में उतरा करते थे और मृतकों के लिए अर्घ्य देते थे। साहिब, यह एक पुराना रिवाज था और कभी किसी ने गलत इरादे से इसका फायदा नहीं उठाया था। लेकिन उस राजपूत ने गुपचुप तरीके से एक पहाड़ी के पीछे अपने लोगों को जमा कर लिया और जब राजा और उसके लोग अपने हथियार एक तरफ फेंक कर अपनी पवित्र रस्म निभा रहे थे तो वह रिसालदार और दूसरे राजपूत उन पर टूट पड़े और उन्होंने उन सबको मार डाला। इसी कारण क़त्लेआम वाले उस स्थान से दूर-दूर तक कोई मीणा जीवित न बचा था। राजपूत इसी प्रकार मालिक बने हैं और मीणा इसी प्रकार बने हैं उनके गुलाम।

त्रासदी : जब सूबेदार उस त्रासदी के नये पहलू से परिचय कराता था तो उसका जो तकिया कलाम था, वह बड़ा अनोखा था—'हुजूर फिर'। लेकिन इस त्रासदी को कहने के उसके तरीके में कुछ भी त्रासद न था और न ही कुछ नाराजगी ही थी। यह एक ऐसी गाथा थी जो मीणाओं के स्वाभिमान के लिए सुविधाजनक थी। जैसे दुनियाभर में जीवन को आसान बनाने वाली और किसी को मजबूत आधार देने वाली या उसके वंश को ज्यादा सम्माननीय बनाने वाली किंवदंतियों पर विश्वास किया जाता है, वैसे ही इस पर भी विश्वास किया जाता था।

सूबेदार ने मुझे बताया कि मीणा चारणों की पोथियाँ ज़ब्त कर ली गई थीं। उन्हें रणथम्भोर के दुर्ग में तालाबंद कर दिया गया है और कोई भी वहाँ प्रवेश नहीं कर सकता। अगर कोई उन्हें पढ़ लेता है तो राजपूत राज्य समाप्त हो जायेगा और मीणा फिर से सत्ता में आ जायेंगे; इसीलिए राजपूत उन्हें नष्ट करना चाहते थे किंतु इसमें कुछ प्राचीन बाधा है। वे इतिवृत्त जमीन के नीचे लोहे की संदूक में सुरक्षित रखे गये हैं; जैसा कि सूबेदार ने समझाया, अभी तक भी वे दस्तावेज अनश्वर हैं। ये (दस्तावेज) लोगों की स्मृतियों और दिलों में जीवित रहे हैं, नये महाकाव्य गढ़े गये हैं और कहानी पिता से पुत्र को मिली है। दूसरे मीणा ने मुझे बताया कि यह कहानी 'जयपुर में पोलिटिकल एजेंट की पुस्तक में लिखी गई है।' मैं सोचता हूँ कि यह पुष्टि की बजाय संदर्भ ज्यादा था, कारण कि इस कहानी की यथार्थता या प्रमाणिकता पर संदेह करने वाली खोपड़ियों में यह कभी भी नहीं घुस सकता था।

जब राज्य पर जबर्दस्ती कब्जा करने वाले का राज्याभिषेक किया जाता था तो दूर के किसी मीणा को राजा के ललाट तिलक करने या उसे राजा के रूप में मान्यता देने के लिए बुलाया जाता था। और यहाँ फिर एक मिथ्या कहानी आती है कि मीणा के अँगूठे से राजा के माथे पर तिलक लगाया जाता था। सूबेदार ने मुझे आश्वस्त किया कि यह परिपाटी अभी भी है। और उसने मुझे समझाया कि यह राजा के दुर्भाग्य के लिए प्रायश्चित्त स्वरूप पुरोहित द्वारा राजा के ऊपर थोपा गया एक अपमान था। पुरोहित राजा को प्रेरित करता था कि किसी मीणा के अँगूठे का तिलक ही वह एकमात्र रास्ता था जिससे वह अपने ताज को बचाये रखने की उम्मीद कर सकता था। और वह राजा स्वांग करके मीणाओं का मिथ्याभिमान भी तुष्ट कर देता था कि मीणा का अपना अँगूठा उठाना राजा की अधीनता का सूचक था। यह वैसा ही था जैसे यांकी[6] लोग उत्कृष्टता के द्योतक स्वरूप अपना अँगूठा दिखाते हैं।

खजाने के संरक्षक : यहाँ सूबेदार मेरे लिए जटिल बनता जा रहा था और मुझे लगा कि उसे पकड़ पाना मेरे लिए दुर्बोध होता जा रहा है। किंतु एक दूसरा पहलू भी था जो बिल्कुल स्पष्ट और सरल था। इससे वंशानुगत कर्तव्य वाला सिद्धांत निकलकर आया जिसके तहत

राजपूत मीणाओं की पुनःप्रतिष्ठा के माध्यम से उनके प्रति देनदार होते हैं। जयपुर और अलवर में उजला मीणा राज्य के खजाने के संरक्षक होते हैं। मैं सोचा करता था कि उनकी नियुक्ति उसी सिद्धांत के तहत होती थी जैसे कि चौकीदार की नियुक्ति होती थी जो संपत्ति का संरक्षण करने के अपने दायित्व का निर्वाह न करने पर चोर मान लिया जाता था। किंतु इस संदर्भ में मीणाओं को लेकर मैं गलत था। उजला मीणा लोग सम्माननीय पदाधिकारी होते हैं। जब जयपुर के महाराजा गढ़ी में आते हैं तो उन्हें एक शपथ लेनी होती है कि वे अपनी विरासत का ह्रास नहीं करेंगे और वे उजला मीणाओं के प्रति जबावदेह होते हैं कि दुर्भिक्ष या दूसरे आपातकाल में वह जो भी ले, उसे पुनः लौटाना होगा। वह बूढ़ा सूबेदार इसे गर्व के विषय के रूप में लेता था। वह अपनी कुल परंपरा से बिल्कुल संतुष्ट था, किंतु क्या वह वास्तव में अपनी खोपड़ी में कुल मिलाकर मीणाओं की स्थिति को लेकर बहुत चिंतित था? राजहत्या करने वाले रिसालदार की किंवदंती बहुत जानी पहचानी है। जिस तरीके से उसने कहानी सुनाई, आप कह सकते थे कि वह इस पर रीझा हुआ था। होट्टेन्टोट[7], विगवैम्स[8] और ब्लूम्सबरी[9] आवासीय घरों की जैसे दुनियाभर में सुविधाजनक किंवदंतियों के इसप्रकार के किस्से लोग सुनते हैं, किंतु ये किस्से गलत होते हैं। इन किस्सों में अंतर सिर्फ कोटि का होता है। इनसे आत्म सम्मान हेतु कुछ सौम्य शब्द मिल जाते हैं; गर्व के आवरण में दीन-हीन लोगों की पुनः प्रतिष्ठा हो जाती है किंतु प्रत्यावर्तन के चमत्कार की तलाश करते उनमें से बहुत कम लोगों को ही पुरखों से ऐसा मिथक मिलता है।

जैसा आप पा सकते हैं, मीणा लोग वैसे ही दाव करने वाले लोग होते हैं, वे खुशमिज़ाज होते हैं, सरल, मितव्ययी और परिश्रमी होते हैं। बूढ़ा सूबेदार शेखी बघारता था कि उसके आदमी कभी नीचे नहीं गिरते। उसने मुझसे कहा कि ''यहाँ तक कि जब खच्चर धराशायी हो जाते हैं, वे तब भी चलते रहते हैं।'' जंगल में वे बहुत साहसी होते हैं और घायल तेंदुए या शेर के सामने भी खड़े हो जायेंगे। मीणा अच्छे निशानेबाज और बेहतर शिकारी होते हैं। मीणा अँधेरे में कहीं भी अपना मार्ग खोज लेगा और वह कभी नहीं खोता है। मेरा निष्कर्ष था कि वे जल्दी गरम हो जाने वाले लोग हैं। नसीरिया के समीप एक विभागीय युद्धाभ्यास में घुड़सवार सेना खुले मैदान में उनकी एक पंक्ति के ऊपर सीधे सामने से आ रही थी, तो उन्होंने अपनी संगीने निकालीं और चढ़ाई कर दी। अधिकारियों में से एक ने मुझसे कहा कि ''वे बिल्कुल साहसी जन समूह हैं। और मुझे उन्हें कार्रवाई में जाते हुए देखना अच्छा लगना चाहिए किंतु 25 प्रतिशत उनमें से मारे जायेंगे। यही चीज उनका भविष्य बनायेगी।'' लेकिन भाग्य मीणा लोगों के पक्ष में न था। इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर उन्हें एक अवसर दिया जाता तो वे सर्वोत्तम लड़ाकुओं के जैसे लड़े होते। यह उनका दुर्भाग्य था कि वे बहुत देर से आये और कि वे गलत नदी की ओर भेजे गये। इस दौरान देवली में भर्ती जारी है। हर गाँव में वृद्ध पेंशनधारकों की एक अच्छी संख्या है जो मेरे सूबेदार मित्र की जैसे अपनी कार्यवाहियों के बारे में बात करना पसंद करते हैं कि कैसे रेजिमेंट के साथ उन्होंने काबुल की ओर कूच किया था। युवा लोग इधर-उधर खड़े हो जाते हैं और उन्हें सुनते हैं। और बीच-बीच में प्रतिस्पर्धा में उत्साहित होते रहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अगर सरकार चाहे तो मीणाओं की सैन्य टुकड़ी में और इज़ाफा हो जायेगा। वे ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं हैं किंतु वे अटल इरादों के धनी और विश्वासपात्र हैं। वे सम्मान के भूखे हैं और जोखिम उठाना पसंद करते हैं। सैन्य भर्ती के साथ ये चीजें एक विस्तृत जाल की तरह उनमें और भी व्यापक हो जायेंगी। और गाँवों में कोई भी जवान नहीं दिखाई देगा जो छुट्टी पर घर पर हो।

संदर्भ

1. 1919 में छपी एडमंड कैंडलर की पुस्तक 'दि सिपोय' में उद्धृत लेख का अंश।
2. यूफ्रेटीज (फरात) पश्चिम एशिया की सबसे लंबी और सबसे महत्त्वपूर्ण नदियों में से एक है। टिगरिस (दजला) नदी के साथ मिलकर यह मेसोपोटामिया सभ्यता का आधार रही थी।
3. एक प्रकार की नौका
4. एक विदेशी और बाहरी व्यक्ति होने के कारण एडमंड कैंडलर मीणाओं में प्रचलित पुनर्विवाह की एक पद्धति विशेष 'नाता जाना' के अर्थ का कुअर्थ कर गये हैं।
5. यह नीति वाक्य इटालवी में था।
6. यांकी संज्ञा का सामान्यतः इस्तेमाल संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासियों के लिए किया जाता रहा है।
7. यह कालाहारी रेगिस्तान में निवास करने वाली एक प्रमुख जनजाति है।
8. अमेरिका की मूल एल्गोनिकन जनजाति का घर।
9. लंदन में साहित्य, शिक्षा और फैशन के एक केंद्र के रूप में जाना जाता है।

संपर्क : हिंदी विभाग, मानविकी और भाषा संकाय, महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, जिला स्कूल परिसर, मोतिहारी, जिला-पूर्वी चंपारण, बिहार-845401, ईमेल–pramod.pu.raj@gmail.com, मो. : 7320920958

'बहुरंगी' : राभाओं के सामाजिक जीवन का दिलकश नृत्य

मुकुल राभा

असम राज्य में निवास करने वाली जनजातियों में राभा जनजाति के लोग अतिविशिष्ट होते हैं। उनकी पाति-राभा नामक उप-शाखा दक्षिण कामरूप और गोलपारा के कुछ भागों में निवास करती है। वह बहुरंगी (Bahurangee) नामक लोकनृत्य की आनन्द प्रदान करने वाली समृद्ध संपदा से संपन्न हैं। वे बहुरंगी गीतों और नृत्यों को मंच पर प्रस्तुत करते हैं। माघ बिहु और बोहाग बिहु जैसे त्योहारों–दैनिक जीवन के सभी सुखद तथा दुःखद पलों, हँसी-ठहाकों एवं आँसुओं, प्यार और विरह एवं पिकनिक तथा विवाह जैसे अवसरों पर महिला और पुरुष, दोनों मिलकर गाते तथा नृत्य करते हैं। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए वे टूटी-फूटी असमिया भाषा में गाते हैं तथा उन गीतों के संगीत पर नृत्य करते हैं। यह लोकनृत्य कला बहुत समय से राभा संस्कृति का हिस्सा है।

पूर्वी गोपालपारा (दुधोनी से धूपधारा तक) और दक्षिण कामरूप के पाति-राभाओं के बीच गीत और गीतों पर किए जाने बहुरंगी नृत्य प्रचलन में हैं। मौजूदा समय में बहुरंगी नृत्य कला–राभा समाज–जो राज्य के प्रत्येक जिले में निवास करता है, के बीच लोकप्रिय हो रही है। कामरूप के कुछ भागों में बहुरंगी को बोगीजारी गीत (Bogejaree Geet) के नाम से जाना जाता है। बहुरंगी गीतों की विशेषता यह है कि उनकी चार पंक्तियों के छन्द की दूसरी और चौथी पंक्ति के अन्तिम शब्द, भले ही समानार्थी नहीं हों समान लय के होते हैं। दूसरा रुचिकर तथ्य, इस कला के कौशल का वह विवरण है जो गीत के प्रारंभ और अन्त में दिया जाता है। इन गीतों से स्थायी (गीत का प्रथम भाग) और अन्तरा (गीत का दूसरा भाग) अनुपस्थित होते हैं। यद्यपि देखा गया है कि बहुरंगी की प्रस्तुति के समय गायक / गायिका द्वारा समाज के वरिष्ठ जनों के प्रति सम्मान प्रगट किया जाता है। बहुरंगी गीतों का सरस्वती (ज्ञान की देवी) के प्रति समर्पण का भाव गंभीर विचारणीय विषय है। बहुरंगी गीत, ज्ञान की देवी सरस्वती को समर्पित होते हैं :

सरस्वती मोहिनी
गीतार साहिनी
कयु बोजाय धक धोल
कमु बोजाय बान्धी?
.....
फाटा गोले गीत गान
थेगत नासोर सेऊ
देऊ भूतक मुहिबा
खाउन नासोर खेनु
.....
फाटा गोले गीत गान
थेगत नासोर सेऊ,
देऊ भूतक
खाउन नासीर खेनु
.....
ओ बाबा राइज गिलन
नापारबी गाली
नसीबका उथिलुन
तोरेन पागली.....

अर्थात् :

सरस्वती देवी मनोहारी हैं। वे गीतों की साहिना (संगीत बाद्य) हैं। कौन मृदंग बजाता है? कौन बाँसुरी बजाता है?

मैं बेसुरे कण्ठ से गाना गा रहा हूँ और मेरे पैर, मेरे गीत की लय पर नाच रहे हैं...

हे! दर्शकों मुझे गलत मत समझना। मैं (तारेन पागिली) ने नृत्य प्रारंभ कर दिया है।

प्रारंभ में बहुरंगी गीत, बीते प्रेम के दुःखद क्षणों के इजहार, प्रेमिका के असमय निधन या एकतरफा प्रेम या मध्य आयु के विवाहित पुरुषों तथा विवाहित महिलाओं द्वारा गाए जाने वाले गीतों के प्रतीक होते थे। परन्तु जैसै-जैसे बहुरंगी गीत लोकप्रिय हुए राभा युवकों ने भी बिहु की ही तरह उन्हें गाना प्रारंभ कर दिया। इस तथ्य को ध्यान में रखकर बहुरंगी गीतों को अनेक वर्गों में बाँटा जा सकता है : प्रेम गीत, विरह गीत, खुद की आलोचना, खेती आधारित, शिकार, चेतावनी गीत, चिढ़ाना या छेड़ना इत्यादि

कुछ प्रचलित बहुरंगी प्रेम गीत–

युवा गा रहा है :

आगलोटी कोलपात
सिलिक सलक कोरो
तोइतो नाहिली गभीरु
धाने मोनोट घोरो

अर्थात् : केले के वृक्ष के नए पत्ते चमक रहे हैं। मेरी प्रियतमा तुम नहीं आई। मैं पूरे समय तुम्हें याद करता रहा।

मानसेलेंका तिऊ तिऊ
हिन्दर गासोर दालोट
तुके देखी मास मारोन
मुकोल पोथारोट

अर्थात् : सिन्दूरी रंग के वृक्ष की डाल पर बैठी रामचिरैया तिऊ तिऊ कह रही है। मैं तुम्हें देख रहा हूँ। और खुले खेतों में मछली पकड़ रहा हूँ।

लंगा मरार आगोटे
लागी ऐसे बेल
तुक देखा नापई मुर
सोकु बिक्साई जेल

अर्थात् : बैल का फल लटक रहा है। तुम नहीं दिख रही हो अतः मेरी आँखें दुःख रही हैं।

सोना दिलून हँसा दिलून
तुके एनोन बुली
परार कोठा जुनी कोई
बायोक्स कटाली

अर्थात् : मैंने विवाह करने की इच्छा के कारण, तुम्हें, सोना और जेवरात भेंट स्वरूप दिए। तुम दूसरों की बातें सुनती हो और वृद्ध महिला बन गई हो।

लड़की प्रति उत्तर में गाती है :

बानहोर डालोट पोरी कान्डे
कोला धोरा कौआ
बातें बातें जानते
घर धुरी सौवा

अर्थात् : बाँस के वृक्ष के ऊपर बैठकर काला कौआ काँव काँव कर रहा है। जब मैं रास्ते से जाती हूँ तुम मुझे देखते हो।

बीलोर पानिट सिला उरे
मास धोरिबा
एक्सपोनाटे जान अमि
बात फूरिबा

अर्थात् : मछली पकड़ने के लिए झील के पानी के ऊपर चील उड़ रही है। मेरे स्वप्न में हम टहलने गए हैं।

हल वाई हल वाई
गासोर तोले तोले
हलुवारे सिरि अन्धी
मोर हटोट जोले, ओके;

अर्थात् : हल चलाने वाला वृक्षों की छाँव में हल चला रहा है ...

इरी गिली मोरेग मोइ
दिने राति कन्डी
नारी बोधी बुली तोक
जामे निबो बन्धी

अर्थात् : दिन-रात पुकारते हुए मृत्यु को प्राप्त होऊँगा। यमराज (हिन्दू मान्यताओं के अनुसार मृत्यु के देवता) तुम्हें बाँध कर उसके साथ ले जाएँगे।

प्रेम में असफल राभा युवक के भावों का विवरण दिल को छू लेने वाला होता है :

मोकूलारे पोथारोट
धोन धोन अली
धारात आसे अनि धुवा
जोन मदुली

अर्थात् : खुले मैदान में अनेक रास्ते हैं। मैं अपने घर जेवरात लाया हूँ।

पोथारेरे धुली धुली
तुली फूरी दारु,
अमार घराट आहिले
पाबी गामखारु।

अर्थात् : मैं पहाड़ की तलहटी में दवाओं को तोड़ने के लिए घूम रहा हूँ। यदि तुम मेरे घर आओगी तो तुम्हें कँगन (गामखारु) मिलेगा।

मुकालोरे पोथारोट
सोरी असे गोरु,
झोबा सबा जानते
दिन हातोर खारु।

अर्थात् : खुले मैदान में गायें चर रही हैं। जब हम मिलेंगे तब मैं तुम्हें चूड़ियाँ भेंट करुँगा। उसी तरह युवा लड़कियाँ जो कुशल बुनकर हैं, उत्तर देती हैं :

एकु झाक नपाई नोथाई
रान्धी थोसुन जिम,
कारु एगोट नोकोबी
रंगा एगोट नोकोबी।
...
जुटा काटो पेनेनेट
लाही जोटोरोट,
गामसा लागे फाली लागे
दिन बोटोरोट।

अर्थात् : करघे पर काम करते समय वह आवाज करता है। यदि तुम्हें मफलर चाहिए तो मैं तुम्हें वह उपयुक्त मौसम में दूँगा।

अमगासोर तोले तोले
बारित गजे उल,
तुर कोथा भाबोन्ते
भाते नजाई तोल।

अर्थात् : आम के वृक्षों के नीचे अरुम (Arum-large sheat- like white lily) पैदा होता है। तुम्हें याद करने के कारण मैं उसे नहीं खा सकता।

युवा जब विभिन्न कारणों, यथा पारिवारिक दबाव, आर्थिक दबाव इत्यादि के कारण अपनी प्रियतमा से नहीं मिल पाता, तब वह गाता है :

हामफुलिया गोहाय
मोर तेरी बाउ
फूलिए बिसोनिर बाउ
दोल नुजुराय।
...
गौनगुरहार बारीते
बीह धेकिया,
सोकीदरार बेटीटा
पास केतिया।

अर्थात् : ग्राम के मुखिया के बगीचे में सुन्दर हरी पत्तियों वाला जहरीला पौधा लगा है। कब मुझे उसके रखवाले की कन्या मिलेगी?

झोनीबारे मंगलबारे
फँसा पोरे सालोट,
तार हेना तिरि पाया
नाइ कोपालोट।

अर्थात् : शनिवार और मंगलवार को मेरे घर की छत पर उल्लू बैठता है। उसके जैसी लड़की मेरे भाग्य में नहीं है।

उसी तरह, यह अनुभव करते हुए कि वह उम्रदराज हो रही है। युवा राभा युवती दग्ध हृदय से गाती है :

बोयोक्स गेल शेर भौतीयाई
पुकिल माथर सूली
बन्दोर थोगा दिल मुक
बिया दिस दिन बुली

अर्थात् : मैं बड़ी हो रही हूँ और मेरे बाल सफेद हो रहे हैं। तुमने शादी का वायदा कर मुझे बेवकूफ बनाया है।

कोलपात काटोन्टे
अथा सिटकी पोरिल,
तार कोथा भाबोन्टे
क्षुकाई गेल जोरिर।

अर्थात् : केले के पत्तों को काटते समय उनका रस बिखर गया। तुम्हारी याद में मैं दुबला हो गया हूँ।

अकाक्सडी उरई गोल
बोगूलारा जाक
पुरुक्सारे पेतोर कोथा
नुबुजीलुन पाक।

अर्थात् : आसमान से सारसों का झुंड उड़ा। मनुष्य इस बारे में क्या सोचता है। यह मैं कभी नहीं समझ सका।

राभा युवा जो अपनी पसन्द की लड़की को हासिल नहीं कर पाया, गाता है :

कपालियार कपाल हाय हाय
कपालियार कपाल
अहोन बुली क्वा अपि
मोनो मोनो पोलाले।

अर्थात् : मेरा भाग्य। वो लड़की जिसने मुझसे विवाह का वायदा किया था, किसी गैर-मर्द के साथ भाग गई।

प्रेम गीतों के अलावा पारिवारिक गीत भी बहुत हैं। जैसे

जिद्दी बच्चे को समझाने के लिए उनके माता-पिता गाते हैं :
बुरहा बुली नवासिबी
जोमे पाबो लाय,
काले असे सुलिट धोरी
कालोर दोरोट नाई।

लड़ाई-झगड़े के बाद पति-पत्नि द्वारा गाया जाने वाले बहुरंगी गीत :

बीलोरे पारे पारे
उरी फुरे बोक,
किसान गुनार मुनोहिया
देखा पायसुन तुक।

राभा महिला जिसे काम नहीं आता, विवाह के उपरान्त गाती हैं :

लिन लान लाऊ कुमुरा
काई किसान खाबो
फुलिया मेखेला पिन्ढ़ाबो खुजोन
काई पिन्ढ़ाबो।

अर्थात् : राभाओं का शिकार करने का तरीका बिलकुल अलग तरीके से होता है। पहाड़ों की तलहटी के निकट निवास करने वाले राभा पति-पत्नी एक साथ शिकार के लिए जाते हैं। परिस्थितियों से संबंधित कुछ तथ्यों का विवरण बहुरंगी गीतों में मिलता है। उदाहरण के लिए :

साबी ओ सम्फली
हाथी उजाय जाय,
कुबाबाका खुजीलुन
सिफारी नाय।

अर्थात् : यदि कोई व्यक्ति अशुभ संकेत देता है या समाज में अव्यवस्था फैलाता है तो उसकी आलोचना के लिए राभाओं के पास बहुरंगी गीत मौजूद है। महिला गाती है—

एका पोर बाहोरे
पाकन संगिली,
भातार ऐरी भातार बोहे
भातार फालंगी।
.....
रोहेमाली धुन्धदुली
धोमोकोटे लोरे,

धोका भतार सोना दिसे
डोलन डोलन कोरे।

राभा समाज फैशन करने वाली महिलाओं को मान्यता नहीं देता। इस बात का अनुमान व्यंग्यपूर्ण बहुरंगी गीतों से लगाया जा सकता है। बिश्नु राभा ने 'इरा झुर' नामक फिल्म में बहुरंगी गीत को प्रस्तुत कर दुनिया को सरल जीवनशैली का दिग्दर्शन कराया है :

बैंग कन्डे तरत तरत
सपरा मातिर तलत
सिकुन अपिर सौवा कन्डे
सिरा केथर तलत
.....
घर कोरा सौवा पुका
खाबा भात नपाई,
अधा काला कपूर पिन्धी
झोबा सबा जाई।

पुरुष द्वारा महिला को निम्नानुसार चिढ़ाया जाता है :

भीम कोलोर पात पसाला,
अथिया कोलोर पुली,
बाते बाते बेरय फुरान
डंगोई राखक बुली।

बहुरंगी गीतों ने राभा समाज के हर पहलू को छुआ है। चाहे वह दैनिक जीवन में गाँव में आना-जाना हो, सामाजिक कार्य और कार्यकलाप हों, सांस्कृतिक घटक हों या दैनिक जीवन की किसी व्यक्ति की समस्यायें हों, उन सबका बहुरंगी गीतों में उल्लेख मिलता है। इन गीतों ने राभा समाज के उन स्त्री-पुरुषों के जीवन में रंग भरे हैं जिन्होंने समय के हाथों दुर्भाग्य को झेला है। यद्यपि बहुरंगी गीतों को आधुनिक युग के तथाकथित रूप से शिक्षित कहे जाने वाले युवा वर्ग के बीच उचित स्थान नहीं मिला है।

उन्नत तकनीकों के कारण, मनुष्यों को उनके कम्प्यूटर के स्क्रीन पर सूचनाएँ, सरलता और शीघ्रता से उपलब्ध हैं। इसके परिणामस्वरूप वे अनावश्यक रूप से उनके शाब्दिक अर्थ की खोज में लिप्त रहते हैं। इस पृवत्ति ने उन्हें अपनी जड़ों से विमुख किया है और अन्य संस्कृतियों, जिनसे वे जुड़ाव का अनुभव करते हैं, से परिचित कराया है। इस पृवृत्ति के कारण उनकी अपनी जातीय पहचान पर खतरा मँडरा रहा है। मुझे उम्मीद है कि हमारी सांस्कृतिक संस्थाएँ इस अभिनव कला (बहुरंगी) को विलुप्त होने से बचाने का प्रयास करेंगी। जिस प्रकर देश में पद्मश्री तीजनबाई ने अपने आप को गंभीर कलाकार के रूप में स्थापित किया है, उसी प्रकार कोई राभा महिला, अपने लोगों की कथाओं को बहुरंगी गीतों और नृत्य तथा सामान्य वाद्य यंत्रों की सहायता से प्रस्तुत कर सकती है।

('बहुरंगी' गीत जिन्हें इस लेख में लिपिबद्ध किया गया है, को स्थापित लेखक तथा लोक संगीत के संचयकर्त्ता बीरेन राभा की पुस्तक 'प्रोतिसोबी' से लिया गया है।)

भावानुवाद : के. जी. व्यास

संपर्क : 73, चाणक्यपुरी, चूना भट्टी, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.)

आजिलामू लोक नाटक और रंगमंच

तेली मेचा

लोक-साहित्य का इतिहास इतना पुरना है जितना मनुष्य जाति। मनुष्य ने अपने क्रिया-कलापों में उन सभी साधनों व तत्त्वों का प्रयोग किया है जिससे उनके भाव प्रकट हो सके। अन्य संस्कृतियों की भाँति ही हमारे देश में नाट्यात्मक शुरुआत आदिम अनुष्ठानों के अंतर्गत अनुष्ठानमूलक नृत्यों, उत्सवों आदि में ही हुआ। आधुनिकता का जितना भी प्रभाव हो फिर भी कुछ आदिम समाजों में युद्ध, शत्रुओं पर विजय तथा देवी-देवताओं की पूजा के अवसरों पर जिस तरह के अनुष्ठान होते हैं वह महत्त्वपूर्ण। इनमें काल्पनिक स्तिथियों का चित्रण व्यक्तियों के साथ मिलकर अनुष्ठानमूलक लयबद्ध गतियों अथवा नृत्यों तथा मंत्रपाठ, गीत द्वारा किया जाता है। यही कारण है कि लोक साहित्य को कुछ इस प्रकार से परिभाषित किया गया—"लोक" शब्द संस्कृत के 'लोकृ दर्शने' धातु से 'धञ' प्रत्यय लगने से बना है। जिसका अर्थ है 'देखना'। जिसका 'लट् लकार' में अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है। इस प्रकार "लोक" शब्द का पूरा अर्थ होता है "देखने वाला"। अर्थात वह व्यक्तियों या समुदाय जो इन कार्यों को देखता है "लोक" कहलाता है। 'लोक' शब्द का अर्थ ऋग्वेद में 'जन' के लिए उपयक्त हुआ है। परिभाषा को देखे तो सर्वप्रथम आचार्य हजारीप्रसाद जी 'लोक' शब्द का अर्थ 'जन-पद' या 'ग्राम्य' ना मानकर नगरों व गाँवों में फैली उन संपूर्ण जनता को मानते हैं। जिनके द्वारा प्रयुक्त व्यवहार आदि का ज्ञान का आधार किसी भी कागज या पोथियाँ है। ये लोग शहरों में परिष्करित, रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझने वाले उन लोगों की अपेक्षा अधिक सरल व बनावटी जीवन के अभ्यस्त प्रयोग जीव और स्थान दोनों अर्थों में किया गया। अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को 'लोक' कहते हैं जिनका आचार-विचार एवं जीवन परंपरायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।"

लोक नाटक की तत्त्वों पर बात करें तो लोक-नाटकों का कथानक अधिकतर ऐतिहासिक, पौराणिक या सामाजिक ही होता है अर्थात् कथा या तो इतिहास से जुड़ी होती है। जो निश्चित समुदाय के इतिहास को दिखाता है या किसी धार्मिक ग्रंथ में लिखी होती है। या फिर समाज

से जुड़ा हुआ होता है, जिससे समाज विशेष के कल्याण के लिए समाज का नेतृत्व करती हैं।

लोकनाटकों में अधिकतर पुरुष ही विभिन्न पात्रों की भूमिका अदा करते हैं। स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष अभिनेता ही वेश-भूषा बदलकर करते हैं। परंतु कुछ समय से लोकनाटक की मंडलियों ने जनता को आकर्षित करने के साथ ही कुछ धन पाने की लिए इन नाटकों में अत्यधिक खूबसूरत स्त्रियों का भी उपयोग शुरू कर दिया है। लोकनाटक में किसी भी विशेष प्रकार के प्रसाधन, अलंकार, मूल्यवान वस्तु या कपड़े आदि का प्रयोग आवश्यक नहीं होता।

लोकनाटकों के संवाद अत्यधिक छोटे व सरल होते हैं। कई बार प्रश्न और उत्तर दोनों ही दो तीन शब्दों में ही समाप्त हो जाते हैं। लंबें व कठिन संवादों का इनमें अधिकतर अभाव होता है। भाषा अत्यधिक सरल व सीधी-सादी होती है। उस नाटक में उन क्षेत्रिय भाषा का प्रभाव साफ दिखता है। जो साधारण बोलचाल की भाषा में होता है।

प्राचीन काल से समाज में किसी न किसी स्वरूप में मनोरंजन रहा है। दरअसल, भारतीय संस्कृति की जड़े यहाँ के लोक जीवन में निहित है और रंगमंच उसी जीवन का अभिन्न अंग है। समाज में रंगमंच शब्द, दो शब्दों से मिलकर बना है। "रंग" अनेक रंग, तो वहीं "मंच" का अर्थ हुआ "वैसा निर्धारित स्थल स्थल में अनेक रंगों की अनुभूति हो" लोक नाटक का रंगमंच बहुत ही साधारण व सरल होता है। जिसमें ज्यादा चमक दमक नहीं रहती है। मंच किसी भी खुले स्थान को बना लिया जाता है या फिर मंचित स्थान थोड़ा ऊँचा होता है। आज आधुनिकीकरण के इस दौर में लोक नाटकों को शहरीकरण के प्रभाव महत्त्व कम जरूर हुआ है। जिसका संरक्षण आवश्यक है। लोकनाटक अपनी लयात्मकता, संगीत नृत्य प्रधानता एवं तीखे हास्य-व्यंग्य के कारण बहुत सम्मोहक होते है। लोकनाट्यों में जीवन के जीवित प्रसंग की सटीक अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति को लोकनाट्य अपनी विशिष्ट शैली में ढालते रहे हैं जो सूक्ष्म साहित्यिक प्रकार की न होकर दृश्यता की दृष्टि से सुगठित एवं व्यंजनात्मक होती है। प्रायः ध्वनि और प्रकाश के अपर्याप्त साधनों के कारण ये लोकनाट्य बहुत चटक और मुखर होते है। लोकनाट्यों का रंगमंच संस्कृत रंगमंच जैसा कलात्मक और व्यवस्थित तो नहीं होता किन्तु अयथार्थवादी कल्पनाशील प्रकार के शिल्प का अनुकरण जरूर करता है। महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात का भवाई, राज्यस्थान का ख्याल, उत्तर प्रदेश की रासलीला, रामलीला, स्वांग, नौटंकी, कर्नाटक का यक्षगान, असम का अंकिया नाट आदि अपने-अपने प्रदेश और परिवेश में आज भी अत्यधिक लोकप्रिय है।

पूर्वोत्तर राज्यों में असम, मणिपुर जैसे क्षेत्रों में रंगमंच के विकास को हम सुनते–देखते आयें है। जैसे असम की भावना व अंकिया लोक नाटकों को बहुत ही खूबसूरती से प्रस्तुत किया जाता है। इसी तरह अरुणाचल प्रदेश में आजिलामू नामक लोक नाटक बौद्ध धर्म के महायान शाखा में बहुत ही भव्यता से मंचित होता है। इन नाटक का मंचन मोन्पा व शेर्दुक्पेन जनजातियों के लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से करते है। इन सभी क्षेत्रों में आजिलामू नाटक को कब खेला जाएगा इसकी सूचना मठ के लामा ही पंचायत को देते हैं। जो तिब्बती पंचांग की थिति के हिसाब से निश्चित होती है। आजिलामू लोकनाटक का संरक्षण इसलिए अति आवश्यक है।

आजिलामू नाटक बौद्ध समुदाईयों में प्रचलित एक पौराणिक कथा है। जिसकी कथा बौद्ध धर्म से बिल्कुल ही अगल है। आजिलामू लोक-नाटक गाँवो में खेला जाने वाला नाटक है। जिस कारण प्रत्येक गाँव में अलग-अलग कथा प्रचलित है। परंतु इसकी मूल कथा एक ही है। चाहे वह लुम्ला के दुदुंघर क्षेत्र के मोन्पा जाति का हो, या फिर रूपा क्षेत्र के शेर्दुक्फेन

जाति का ही क्यों न हो। आजीलामु लोकनाट्य की सबसे प्रमुख विशेषता है संगीत और नृत्य की प्रधानता और उनका बहुमुखी उपयोग। वस्तुतः इस नाट्य का तो कलेवर ही संगीत और नृत्य का है और वे ही उनकी सम्प्रेषणीयता और लोकप्रियता के आधार हैं और उन्हें एक विशिष्ट रंगशैली का दर्जा देते है। कथानक का संप्रेषण गीतों या कथागायन के माध्यम से, अभिनय अथवा अभिनयमूलक नृत्यों द्वारा होता है। पूर्वोत्तर के कई राज्यों में नाटकों की सुदीर्घ परंपरा रही है पर अरुणाचल प्रदेश के संदर्भ में प्रायः यह भ्राँति फैलाई गई कि यहाँ नाट्य विधा का अभाव रहा है। इसका मुख्य कारण है यहाँ के लोकनाट्य का लोकनृत्य के रूप में विश्लेषण कर उसका प्रचार और प्रसार करना। अब तक अरुणाचल के लोकजीवन एवं लोकसंस्कृति पर जितने भी कार्य हुए हैं अमूमन उन सभी में लोकनाट्य को लोकनाट्य के रूप में वर्गीकृत कर उसका आकलन हुआ है। इस एकांगी एवं एकआयामी समीक्षा से लोकनाट्य विधा को बहुत क्षति पहुँची है।

अन्य पारंपरिक नाट्यों के भाँति आजिलामु का भी प्रदर्शन खुले मैदान में, आकाश के नीचे, सैंकड़ो-हजारों दर्शकों के सामने होता है, जो रात-रात भर चलता है। आजिलामु लोकनाट्य की सबसे प्रमुख विशेषता है—संगीत और नृत्य की प्रधानता और उनका बहुमुखी उपयोग। वस्तुतः इस नाट्य का तो कलेवर ही संगीत और नृत्य का है और वे ही उनकी संप्रेषणीयता और लोकप्रियता के आधार हैं और उन्हें एक विशिष्ट रंगशैली का दर्जा देते है। कथानक का संप्रेषण गीतों या कथागायन के माध्यम से, अभिनय अथवा अभिनयमूलक नृत्यों द्वारा होता है।

आजिलामू नाटक में प्रमुख पाँच पात्र होते हैं, जिन्हें न्यापा, न्योराक, ल्हामू, लुमू व नोर्जांग कहते हैं और करीब तेरह गौण पात्र हैं। प्रमुख पाँच पात्र पुरुष होते हैं जो स्त्री का परिधान पहनकर स्त्री की भूमिका में अभिनय करते हैं। इस लोक नाटक का मंच बहुत ही साधारण होता है। गाँव के खुले मैदान या गोम्पा के बाहर इसका मंचन होता है। आजिलामू लोकनाटक के रंगोपकरण की चर्चा करें तो इस नाटक के मंचन में किसी भी विशेष प्रकार की साज-सज्जा का प्रयोग नहीं किया जाता। न ही किसी प्रकार के प्रकाश का प्रयोग होता है। यह नाटक पूर्ण रूप से दिन के उजाले में, खुले आसमान के नीचे एवं चारों ओर से खुले मैदान में खेला जाता है। अभिनेता अपने पोशाकें या तो झाड़ियों के पीछे या फिर बड़े पेड़ की आड़ में बदलते हैं या फिर कपड़ों की दीवार बनाकर।

नाटक में रंगोपकरणों का बड़ा ही सार्थक प्रयोग हुआ है। जैसे न्यापा व न्योराक 'न्यापा फू' (न्यापा का झंडा) लिए रहते हैं। लामा एक 'फेङा' (माला) को अँगुलियों से फेरकर भविष्य देखने न अभिनय करता है। साथ ही आपा, यूंछिन मु, आबी गारा, कुक्पा आदि बुजुर्ग किरदार अपने साथ हाथों में छड़ी लिए आते है। 'लुमू' परी पानी का एक पात्र प्रयोग करती है। जिसमें वह पानी भरने का अभिनय करती है। 'ङाक्पा' तांत्रिक के पास झील को बाँधने के लिए लकड़ी के पाँच छोटे टुकड़ों के साथ एक रस्सी भी होती है। जिससे 'लिफाबरांग' झील को बाँधा जा सकें। न्यापा नाग देवता से प्राप्त 'नोर्बु गादे कुंजूम' (मूल्यवान मणि) के रूप में शंख का प्रयोग करते हैं। इन सभी उपकरणों की सहायता से आजिलामू लोकनाटक का मंचन सरल हो जाता है।

आजिलामू लोकनाटक की संपूर्ण सफलता इसके रंगमंच पर निर्भर करती है। इसकी सादगी ही इसे आम जनता को आसानी से जोड़ती है। इस कारण आजिलामू इन क्षेत्रों में बहुत प्रसिद्ध है। यह रंगमंच ही है। आजिलामू लोकनाटक तो लोक नृत्य की एक पक्षीय दृष्टि से अलग करती है।

अर्थात लोक नाटक में रंगमंच लोक जीवन की नब्ज़ है। जिससे लोक साहित्य जीवित रहता है और जीवन को गतिशील बनाता है। इसके अभाव में लोक नाटक या लोक जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है। जो आजिलामू लोक नाटक के लिए यह बात बिलकुल सटीक बैठती है। जिसके मंचन में रंगमंच का निर्धारण ही उसकी संपूर्ण कथा या उद्देश को सामान्य लोक जीवन या लोगो तक सरलता से पहुँचती है। लोक साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने का मुख्य कर रंगमंच करता है। इसके अभाव में लोक साहित्य अधूरा है।

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

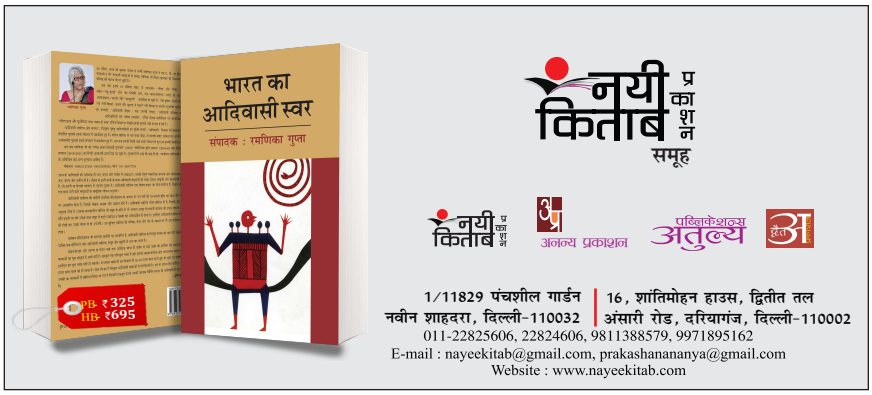

हिंदी सिनेमा और आदिवासी

नीरा जलक्षत्रि

सवाल यह है कि हिंदी सिनेमा में आदिवादी समाज को किस तरह प्रस्तुत किया गया है? इस प्रस्तुतीकरण के पीछे की वैचारिकी क्या हैं?

हिंदी सिनेमा में आदिवासी विमर्श पर बातचीत करने से पूर्व क्यों न हम आदिवासी समाज के बारे में कुछ बात कर लें। आदिवासी जिन्हें हम प्रकृति से अथाह प्रेम करने वाले, प्राकृतिक ज्ञान और आदिम संस्कृति को सहेजे हुए आदि निवासी के रूप में जानते हैं और जो तथाकथित सभ्य समाज से अलग-थलग दिखते हैं, उनके बारे में बहुत पहले जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"आदिवासियों में मुझे ऐसे कई गुण दिखाई दिए जो भारत के मैदानी इलाकों, शहरों और अन्य भागों में रहने वालों में नहीं हैं। इन्हीं गुणों के कारण मैं आकृष्ट हुआ। आदिवासियों के प्रति हमारा रवैया आदानशील होना चाहिए। इन लोगों में बहुत अनुशासन है और वे भारत में अधिकांश लोगों की तुलना में कहीं अधिक लोकतान्त्रिक हैं"[1]

जिन अर्थों में नेहरू इन्हें लोकतान्त्रिक कहते हैं, वो इस समाज में स्त्री और पुरुष की जीवन के हर क्षेत्र में बराबर सहभागिता और सम्मान, श्रम से लेकर उत्सव और पर्वों में बराबरी से सम्मिलित होना, कामों के बीच किसी खास तरह का बँटवारा न होना इसके अतिरिक्त कई आदिवासी समाजों में प्रचलित 'भगोरिया' और 'घोटुल' जैसे पारंपरिक पर्व जो आदिवासी युवक-युवतियों को अपनी मनपसंद का जीवनसाथी चुनने की आज़ादी देते हैं।

अब सवाल उठता है कि प्रकृति को प्यार करने वाले और आज अपने जल, जंगल और ज़मीन की लड़ाई में अपनी जान की परवाह न करते हुए लगातार संघर्षशील आदिवासी समाज को हमारा हिंदी सिनेमा कैसे प्रस्तुत करता है, इसको रेखांकित किये जाने की ज़रूरत है। हिंदी सिनेमा ने आदिवासी समाज की जिस तरह की छवि को गढ़ा है, वह दरअसल एक ऐसे समाज की है जो असभ्य, जंगली, और बर्बर हैं या फिर आग के किनारे घेरा बनाकर नृत्य करते अजीबो-गरीब कपड़ो और रंगों में लिपटा ऐसा मानव समूह है, जिसे तथाकथित सभ्य भारतीय समाज विस्मय की दृष्टि से देखता है। ज़ाहिर है कि आदिवासी समाज को हिंदी सिनेमा में

प्रस्तुत करने वाली दृष्टि दरअसल बाहरी है और उनके इस दृष्टिबोध में काल्पनिकता की उड़ान ज़्यादा और अध्ययन शून्य है साथ ही इस बाहरी दृष्टि में आदिवासी समाज को समझने का धैर्य भी नहीं है।

सच तो यह है कि आदिवासियों के जीवन और संस्कृति को अपवाद स्वरूप ही फिल्मों का विषय बनाया गया है और अगम्भीर फिल्मों की बात छोड़ भी दें तो गम्भीर फिल्मों में भी वे मूलतः अन्य के रूप में महज़ विषय के परिवेश या पृष्ठभूमि के रूप में ही उपस्थित हैं, मसलन, नक्सलवाद पर बनी अधिकांश फिल्मों में आदिवासी समाज की मूल समस्या और उनकी संस्कृति सिरे से गायब है।

दरअसल इसके पीछे तथाकथित मुख्यधारा के समाज की उनके प्रति, प्रायः चरम सीमा पर पहुँची हुई असम्पृकतता तथा उन्हें 'अन्य' समझने की भावना है। इससे इतर उन्हें चित्रित करने वाली फ़िल्मकार की दृष्टि या तो सहानुभूतिपूर्ण रही या उन्हें विकास-विरोधी बताकर पेश करने वाली। और यह बात हाल तक फिल्मों के लिए भी कही जा सकती है। मुख्यधारा के सिनेमा में उन्हें अक्सर ही एक अजूबा किस्म की मानव प्रजाति के रूप में चित्रित गया और उनकी एक अजीब किस्म की 'झिंगालाला' इमेज बनाकर आम दर्शकों के दिलों-दिमाग में बिठाया गया है।

आज के भूमंडलीय बाज़ार के लिए आदिवासी समाज उपेक्षा की वस्तु है दरअसल आदिवासी समाज बाज़ार से मुक्त है और बाज़ार को भी उनमें उपभोक्ता बनाने की सम्भावना सबसे क्षीण दिखती है। दरअसल आदिवासी समाज तमाम तरह की कुंठाओं और हीनभावना से मुक्त है, यह अपने मन, शरीर और आत्मा को लेकर भारतीय मध्यवर्ग की तरह दुविधाग्रस्त या कुंठाग्रस्त नहीं है। वे जैसे हैं, उसमें ही उन्हें सम्पूर्णता दिखती है। वे अपने उत्सवों में तमाम रंगों से अपनी देह को सजाना तो पसंद करते हैं लेकिन त्वचा के रंग को बदलने की मध्यवर्गीय चाहत उनमें नहीं है। वे सामूहिकता में सौंदर्य और आनंद खोजते हैं, इसलिए उन्हें अनेक उत्पादों का प्रलोभन देकर एकांत में घेरना कठिन है। बाज़ार उनसे निराश है इसलिए उनका विद्रूप चित्रण कर मजाक उड़ाता है। दरअसल बाज़ार की इस हँसी में उन्हें विजित न कर पाने की खीज भी शामिल है। इतना ही नहीं उनके अधिकार क्षेत्र में जो जमीन और जंगल है, भूमंडलीकृत बाज़ार की उस पर नज़रे टिकी हुई है, इसलिए यह अकस्मात् नहीं है कि लोकप्रिय संस्कृति का अभिन्न अंग और बाज़ार की वाहक फिल्मों और विज्ञापनों में उनकी विद्रूप छवि जानबूझकर और लगातार गढ़ी गई है।

सही मायनों में हिंदी सिनेमा में आदिवासी समाज का प्रतिनिधित्व करती हुई फिल्मों की संख्या बहुत कम है हालाँकि हिंदी सिनेमा ने स्त्रियों, दलितों, अल्पसंख्यक समाज (विशेष रूप से नब्बे के बाद के) मुस्लिम समाज की जिस तरह की छवि को गढ़ा है, वो एक लम्बी बहस की दरकार रखती है। कुछ लोग सिनेमा के पक्ष में यह तर्क दे सकते हैं कि यह एक कला माध्यम है, पर सवाल यह है कि अगर कोई भी कला माध्यम व्यापक जनमानस को प्रभावित करता है तो वह अपनी सामाजिक जिम्मेदारी और जवाबदेही से कैसे बच सकता है?

हम एक तरफ तो कहते हैं कि हमारी फ़िल्में भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं और दूसरी ओर भारतीय समाज का अभिन्न हिस्सा दलित, आदिवासी और हाशिए के लोगों की कहानियों को हमारी फिल्मों में लगभग न के बराबर जगह मिलती रही है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार देश की कुल आबादी में आदिवासियों की जनसंख्या 8.61% है और अगर मोटे तौर पर कहें तो भारत की लगभग 1 अरब 27 करोड़ की आबादी में 10 करोड़

आदिवासी हैं, पर हिंदी सिनेमा में सही अर्थों में उनकी समस्याओं, रीतिरिवाजों, परंपराओं, स्वभाव और संस्कृति को रेखांकित नहीं किया गया है। मुख्यधारा के सिनेमा से इतर आदिवासी जन-जीवन के इर्द-गिर्द कुछ ऐसी फिल्मों का निर्माण हुआ, जिन्होंने आदिवासी आंदोलन और संघर्ष पर बात किये जाने का माहौल बनाने की कोशिश की, जिनमे प्रमुख हैं—मृणाल सेन की 'मृगया', गोविन्द निहालनी की 'आक्रोश', प्रदीप कृष्ण की 'मैसी साहब', अनंत नारायण महादेवन की 'रेड अलर्ट' : द वार विदइन, प्रकाश झा की 'चक्रव्यूह', इक़बाल दुर्रान की 'गाँधी से पहले गाँधी'(बिरसा के जीवन पर), अशोक सरन की 'उलगुलान-एक क्रांति' इत्यादि। हालाँकि इनमे से कई फ़िल्में सिनेमाघरों तक नहीं पहुँच पाई और कुछ अपनी वैचारिक दकियानूसी के कारण कहीं-कहीं भटक भी गईं हैं।

इन कहानियों पर अगर बात करें तो मृणाल सेन निर्देशित 'मृगया' (1976) फिल्म उड़ीसा के जंगलों में रहने वाले एक आदिवासी शिकारी घिनुआ (मिथुन चक्रवर्ती) की बहादुरी की कथा कहती है। साहूकार भुवन सरदार एक आदिवासी विद्रोही का सिर काटकर ब्रिटिश सरकार को पहुँचाकर इनाम पाता है। प्रतिशोध में नायक घिनुआ उस साहूकार का सिर काटकर ब्रिटिश सरकार के अधिकारी के पास यह कहकर पहुँचाता है कि उसने जंगल के सबसे खतरनाक जानवर का शिकार किया है। उपनिवेशकालीन शोषण के विरुद्ध और प्रकारांतर से आपातकाल के विरोध में खड़ी यह बहुचर्चित फिल्म, दलितों के बाद आदिवासी जीवन और उनके कथावृत्तों को चित्रपट पर उभारने के प्रारंभिक सफल प्रयासों में से एक है।[2]

इसके अतिरिक्त आदिवासी समाज की निरीहता, विवशता और सभ्य समाज द्वारा किये गए शोषण और अत्याचार को गोविन्द निहालनी निर्देशित व विजय तेन्दुलकर कृत फिल्म 'आक्रोश' में स्वर मिलता है। यह फिल्म भीखू लहन्या (ओमपुरी) नामक आदिवासी की व्यथा बयान करती है जो अपनी ही पत्नी नागी लहन्या (स्मिता पाटिल) के कत्ल के जुर्म में मुज़रिम है और अपने बचाव में एक भी शब्द नहीं बोलता। स्थानीय राजनेता, पूँजीपति और पुलिस तीनों ने मिलकर ही उसकी पत्नी से बलात्कार करने के बाद उसकी जघन्य हत्या की है। वह जानता है कि उसे गूँगी और बहरी व्यवस्था न्याय नहीं दे सकती, इसलिए वह न अदालत में एक शब्द बोलता है और न सरकार द्वारा नियुक्त किए गए वकील को कुछ बतलाता है। उसे जब अपने पिता के अन्तिम संस्कार की इजाजत मिलती है तो वह अपनी बहन की हत्या भी कर देता है ताकि उसकी असहाय बहन भी उसकी पत्नी की तरह ही समाज के सफ़ेदपोश दरिंदों की दरिंदगी का शिकार न हो। दलित-आदिवासी जीवन के नग्न यथार्थ को रूपायित करने वाली इस फिल्म में नक्सलवाद की स्पष्ट अनुगूँज है।

एक और फिल्म है 'मैसी साहब' जो आदिवासी समाज को एक अलग दृष्टिकोण से देखती है लेकिन समस्या यह है कि इस फिल्म में भी आदिवासी समाज और इसकी कहानी नेपथ्य में ही रहती है। 'मैसी साहब' (1986) प्रदीप कृष्ण निर्देशित और रघुवीर यादव अभिनीत इस फिल्म में रघुवीर यादव ब्रिटिश शासित भारत में फ्रैंसिस मैसी नामक एक साधारण क्लर्क की कहानी है, 'मैसी साहब' अंग्रेजी चाल-ढाल या रंग-ढंग के आदमी हैं। जिसके चलते लोगों पर रुआब दिखाता है। क़र्ज़ लेता है और एक आदिवासी युवती से विवाह भी करता है। आदिवासी समाज में दहेज युवती को नहीं युवक को देना होता है। दहेज की रकम पाने के चक्कर में फ्रैंसिस से महाजन का खून हो जाता है और उसकी रकम न चुका पाने के कारण उसका ससुर पत्नी बच्चे को वापस घर लिवा ले जाता है। इधर जेल में पड़े कल्पना करते मैसी साहब को भरोसा है कि एक न एक दिन उसके चार्ल्स एडम्स साहब उसे जरूर आकर बचा लेंगे,

पर एडम्स साहब इंग्लैण्ड से कभी नहीं लौटते और मैसी साहब को फाँसी हो जाती है। रघुवीर यादव, बैरी जान, अंरुधती राय, सुधीर कुलकर्णी, लल्लूराम, वसंत जोगलेकर इत्यादि इसके प्रमुख अभिनेता थे।[3] इस फिल्म में भी सभ्य समाज के प्रतिनिधि मैसी साहब, रुपये के बदले आदिवासी युवा लड़की को किसी तरह हासिल करने के जुगत ही पूरी फिल्म में करते रहते हैं। लेकिन उस लड़की के मन की बात समझने में नाकाम ही रहते हैं।

उपरोक्त फिल्मों के अतिरिक्त अनंत नारायण महादेवन की 'रेड अलर्ट : द वार 'विदइन', प्रकाश झा की 'चक्रव्यूह', सुधीर मिश्र की 'हजारों ख्वाहिशे ऐसी' आदि। इन सब फिल्मों में आदिवासी समाज, पृष्ठभूमि और परिवेश के रूप में ही उपस्थित हैं, जिसमे नक्सलवाद की घाल-मेल है और कहानी में आदिवासी समाज की समस्या, सुख-दुःख, संस्कृति सिरे से गायब है। इसका एक कारण उस समाज के के बारे में जानकारी और समझदारी का अभाव है और इसके चलते इस विषय पर फिल्म बनाने की परेशानी तो है ही, साथ ही, उनकी समस्याओं को जानने समझने और उनसे सरोकार एवं संवाद कायम करने में पूरी व्यवस्था की असफलता की काफी बड़ी भूमिका है। चूँकि फ़िल्मकार स्वयं भी इसी व्यवस्था का हिस्सा है इसलिए आदिवासी समाज के बारे में अपनी असम्पृक्तता और परंपरागत सोच से उसे नए नज़रिए से इस समाज को देखने रोकती है।

इसीलिए अधिकांश फिल्मो में आदिवासियों की समस्याओं को रेखांकित करने की जगह आदिवासियों को ही एक समस्या के रूप में रेखांकित किया गया है, जैसे—वो तथाकथित विकास की राह में रोड़े अटकाते हैं, विस्थापन को नकारने की कोशिश में नक्सलाइट बनकर सरकार और व्यवस्था के विरुद्ध हिंसक कार्यवाहियों में लिप्त रहते हैं।

इसी विचार के तहत कई प्रोपेगेंडा फिल्में भी आयीं, जिनमें आदिवासी समाज को एक ख़ास मुहीम के तहत 'नक्सलाइट' के तौर पर चित्रित और चिन्हित करने की भरपूर कोशिश हुई, उनमें प्रमुख है—'बुद्धा इन अ ट्रैफिक जैम'। नब्बे के दशक से हिंदी सिनेमा में देशभक्ति के रूपहले परदे के पीछे से जिस तरह मुस्लिम समाज को आतकंवादी की भूमिका में गढ़ा गया है। उसी तरह आदिवासी समाज को भी मुख्यतः नक्सली और विकास विरोधी के रूप में गढ़ा जाता रहा है। जबकि हर दिन भुखमरी, विस्थापन, अपनी ज़मीन और अपने अस्तित्व को बचाने की लड़ाई से जूझ रहे इस समाज के जीवन में बहुत कुछ ऐसा है। जिसे व्यापक जन-मानस तक सही रूप में लाने की ज़रूरत है।

आदिवासी समाज आज भी हिंदी सिनेमा में ऐसी विषयवस्तु है, जिसे कोई भी फिल्मकार अव्वल तो छूता नहीं, और अगर छूता भी है तो ज़्यादातर कॉरपोरेट और सरकार के पक्ष में जाते हुए कहानी ख़त्म करता है। उनकी मूल समस्या को गंभीरता से फ़िल्माने की कोशिश अपवाद रूप में ही सिनेमा में आई। इस अपवाद स्वरूप वर्ष 2017 में अमित वी. मसुरकर की एक फिल्म आई 'न्यूटन'। 'न्यूटन' वर्तमान आदिवासी जीवन की निरीहता, बेबसी और लोकतंत्र में एक नागरिक की हैसियत से भी न गिने जाने वाले आदिवासी समाज की अनदेखी को बहुत बारीक ढंग से उकेरती है। हालाँकि इस फिल्म में मुख्य कथ्य के रूप में लोकतंत्र के महान उत्सव यानी चुनाव प्रक्रिया के तमाशे को चित्रित करना है, लेकिन इस पूरे तमाशे के घटने की पृष्ठभूमि छत्तीसगढ़ का आदिवासी बहुल इलाका है। जहाँ आदिवासी न तो अपने इलाके के प्रतिनिधि से परिचित हैं, न उसके चुनाव चिन्ह से। इसमें नूतन कुमार उर्फ़ न्यूटन कुमार एक दलित और ईमानदार चुनाव आधिकारी की भूमिका में है। जो इस चुनान को निष्पक्ष तरीके से सम्पन्न करवाना चाहता है। हालाँकि पूरी प्रक्रिया में मतदान सम्पन्न करवाने के तरीके

की पोल खुलती है, साथ ही बेनक़ाब होता है व्यवस्था बनाये रखने और झूठ प्रचारित करने का वो पूरा तरीका भी, जो आदिवासी समुदाय के ख़िलाफ़ एक मुहिम के तौर पर न जाने कब से चला आ रहा है। इस फ़िल्म में मल्को नेताम कहती है, अपने आस-पास गौर से देखो! यही सबसे ज़रूरी बात है। दरअसल आदिवासी समाज को गौर से देखे समझे जाने की ज़रूरत ही है। इस फ़िल्म का आख़िरी दृश्य उन्हीं जंगलों में खनन करती मशीनों का है। दरअसल यही गौर से देखें और समझे जाने की बात पूरी फिल्म करती है। दरअसल इस पूरी फिल्म में संवाद कुछ और कहते हैं और दृश्य कुछ और बोलते हैं। 'बिटवीन द लाइंस' से 'बिटविन द सीन' तक यह फिल्म बार-बार देखे और समझे जाने की माँग करती है। इस फिल्म में भी आदिवासी समाज पृष्ठभूमि में ही है, लेकिन वो मुख्य कहानी से ज़्यादा मुखर है। इसलिए इसे हम हाल की ज्यादातर फिल्मों में निस्सन्देह ऊपर रख सकते हैं।

आदिवासी जीवन संस्कृति के कई और रूपों को भी हिंदी सिनेमा अपना सकता है मसलन—अगर गौर से देखा जाये तो हिंदी सिनेमा के नब्बे प्रतिशत कथ्य प्रेम—विवाह, के इर्द-गिर्द बुना होता है और सारा संघर्ष उसे हासिल करने के लिए होता है और इस प्रेम को हासिल करने में अमीर-गरीब, जाति और धर्म के तमाम बंधन होते हैं और कहीं अगर दलित और सवर्ण का प्रेम दिखाया गया तो यह अपने आपमें एक क्रन्तिकारी फिल्म का कथ्य बन जाता है, जबकि आदिवासी समाज में मनपसंद जीवनसाथी चुनने की न केवल आज़ादी है बल्कि इसे एक उत्सव की तरह मनाया जाता है। "मध्यप्रदेश के झाबुआ और राजस्थान के उदयपुर-पाली अरावली पर्वत श्रृंखलाओं के क्रमशः मामाभील व गरासियों में 'भगोरिया' और छत्तीसगढ़ के मुंडिया और झारखंड के मुंडा व अन्य आदिवासियों में 'घोटुल' जैसी परंपराए उदात सांस्कृतिक जीवन का उदाहरण हैं जो अपनी मनपसंद से जीवनसाथी चुनने की आज़ादी देती हैं।"[4]

आज जबकि इक्कीसवीं सदी में भी हिंदी सिनेमा धर्म और जाति के प्रश्नों को लेकर उलझा हुआ है, वहीं भारतीय समाज की जाति-व्यवस्था से भी यह समाज मुक्त है, यह विसंगति वहीं देखने में आती है जहाँ वे सभ्य समाज के नागरिकों के संपर्क में आये हैं और उन्होंने प्रलोभनवश यहाँ की तमाम परंपराओं को स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में हरिराम मीणा लिखते हैं—"ट्राइब का हिंदी अनुवाद जनजाति गलत है। चूँकि आदिवासी समाज में जाति की कोई अवधारणा नहीं रही। आदिवासियों के भिन्न-भिन्न नाम या संज्ञाएँ उनके अंचल, गणचिन्ह, गोत्र, वंश, प्रजाति आदि पर आधारित रहे हैं। यह एकमात्र समाज है, जो वर्ग व जाति की अवधारणा को अपने यहाँ स्थान नहीं देता।"[5] ये सब भी सिनेमा के विषय हो सकते हैं।

गौरतलब है कि संसार का पारिस्थितिकी का संतुलन बिगाड़ रही विकास की यह तेज़ी जल्द की पर्यावरण विमर्श को स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्श की तरह साहित्य और समाज के केंद्र में ले आएगी और तब आप पर्यावरण के उस विमर्श के साथ अपने पारंपरिक चश्मे को उतारकर दोबारा आदिवासी समाज को नए सिरे से देखे और पढ़े जाने की ज़रूरत महसूस करेंगे।

आज जिस तरह साहित्य में स्त्री और दलित लेखकों ने अपनी बात अपने तरीके से रखी है। उसी तरह सिनेमा में भी आदिवासी समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले उन रचनात्मक लोगों की ज़रूरत है, जो उनके पक्ष को व्यापक जनमानस तक पहुँचा सके। साहित्य की तरह सिनेमा में भी सहानुभूतिपरक कथ्य की जगह स्वानुभूतिपरक अनुभव का स्वर बुलंद किये जाने की ज़रूरत है।

संदर्भ :

1. हरीराम मीणा द्वारा उद्धृत 'आदिवासी संस्कृति : वर्तमान चुनौतियों का उपलब्ध मोर्चा', पुस्तक आदिवासी अस्मिता-प्रभुत्व और प्रतिरोध, संपादक–अनुज लुगुन, पृ. 23, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
2. जीतेन्द्र विसारिया, हिंदी सिनेमा और दलित चेतना, समसामयिक सृजन, संपादक–महेंद्र प्रजापति
3. जीतेन्द्र विसारिया, हिंदी सिनेमा और दलित चेतना, समसामयिक सृजन, संपादक–महेंद्र प्रजापति
4. हरीराम मीणा, आदिवासी संस्कृति : वर्तमान चुनौतियों का उपलब्ध मोर्चा, पुस्तक आदिवासी अस्मिता-प्रभुत्व और प्रतिरोध, संपादक–अनुज लुगुन, पृ. 19, अनन्य प्रकाशन
5. वही, पृ.-25

संपर्क : हिंदी विभाग, दौलतराम कॉलेज, नार्थ कैंपस, मौरिस नगर, दिल्ली-110007, मो. 8800238059

छः कविताएँ (झारखंड)

लीमा टूटी

एक ख़त बाबा के नाम

(हर वर्ष गरीबी से परेशान होकर झारखंड की कितनी आदिवासी बेटियाँ दो पैसे जोड़ने के लिए महानगरों में घरेलू काम करने जाती हैं..। कुछ घरवालों की इजाजत से... तो कुछ किसी के बहकावे में आकर बिन बताये चुपचाप। कुछ अच्छे परिवार में हैं तो...समय पर लौट आती हैं... पर कुछ इतनी खुशकिस्मत नहीं होतीं...। यह कविता उन्हीं लड़कियों को समर्पित है।)

मेरे प्यारे बाबा
गलती हो गई
मैंने एक गैर पर भरोसा किया
भाग आयी चुपचाप
तुम्हें नहीं बताया
माँ को भी नहीं बताया
ये मैंने ठीक नहीं किया
पर अब... घुट रही हूँ यहाँ
ये चारदीवारियाँ
मेरी आजाद साँसों को रोकतीं हैं
मैं बहुत, बहुत मजबूर थी बाबा...क्या करती मैं
हमारी गरीबी ने मुझे मजबूर किया
हमारी भूख और तुम्हारे चिंतित चेहरे ने

मुझे मजबूर किया
तुम्हारी मदद करना चाहती थी
अंजाम सोचे बिना आ गई
पर...अब ...पछता रही हूँ
कैद हो गई हूँ मैं यहाँ
ठगी गयी हूँ बाबा
पता नहीं...तुम मुझे ढूँढ़ पाओगे या नहीं
मैं हर रोज टूट रही हूँ
तन से और मन से भी...
शायद एक रोज...
खत्म हो जाऊँगी...ऐसे ही
मेरे प्यारे बाबा
पता नहीं कभी तुम सभी को
देख भी पाऊँगी या नहीं
अपने गाँव की आजादी को
साँसों में ले पाऊँगी या नहीं
हमारे खेत, नदियाँ, जंगल
बुलाते होंगे मुझे
मेरे भाई बहन और सहेलियाँ
इंतजार करते होंगे मेरा
माँ भी कितना रोती होगी
और तुम... बहुत नाराज हो ना?
मैं बहुत शर्मिंदा हूँ... मुझे माफ कर देना
वापस आना चाहती हूँ
पर... बहुत लाचार हूँ
अब अंतर महसूस हो रहा है मुझे
यहाँ की जटिलता और हमारी सरलता का
यहाँ के छल और हमारे भोलेपन का
एक चेहरे में कितने चेहरे...रोज़ देख रही हूँ मैं
परायों की भीड़ में तुम्हारी बेटी
बहुत अकेली है
इससे पहले कि, ...मैं हिम्मत हार जाऊँ
ये शहर निगल जाय मुझे
हो सके तो मुझे ढूँढ़ लेना बाबा
वापस आना चाहती हूँ मैं
फिर वहीं... अपनी माटी में...

सपनों की बुआई

बारिश में भींगते
सखुऐ के जंगल
घुटने भर कीचड़ में
बच्चों के दंगल
अज़ब सी रौनकें
खेतों में
बेशुमार उम्मीदें
बातों में
ये..मौसम है
भीगने-भिगाने का
हाँ
ये मौसम है
सपने उगाने का...

डर

बिरसा के बाबा
बाजार जाओ
थोड़ा महुआ बेच आना
वापसी में तेल, नून, और चावल
लेते हुए आना
कुछ भी नहीं घर में
पर...देर मत करना
जल्दी लौट आना
बाजार के किनारे
लोग मुर्गा लड़ाते होंगे
बाजी मत लगा बैठना
जल्दी लौट आना
तुम्हारे संगी साथी मिलेंगे
हँड़िया पीने पिलाने की
जिद करेंगे
थोड़ा घुमाएँगे फिराएँगे
पर उनकी बातों में
मत आना
तुम जल्दी लौट आना
बच्चे इंतजार करते हैं
उन्हें बहलाने को

कुछ लेते आना...
नयी बछिया के गले के लिए
एक घंटी और....
अपने लिए एक चप्पल
हो सके तो जरूर ले लेना
और हाँ, सुनो...
अगर देर हो... तो कुछ मत लाना
बस जल्दी लौट आना
गाँव के बाहर
सैनिकों की छावनी लगी है
मेरे पिया
नहीं चाहती मैं
उनसे सामना हो तुम्हारा
नहीं चाहती
तुम पर नक्सल होने का
इल्ज़ाम लगे दुबारा।

सुंदरता

सुंदर सलोने चेहरे
उस पर लाली पाउडर
और शृंगार
बेशक दिल चुरा
लेते हों सबके
लेकिन
जब देखती हूँ
उस मेहनतकश
मजदूर औरत
की तरफ
जो सारा दिन
हाड़ तोड़
मेहनत के बाद
अपना मेहनताना लेती है
और उस वक्त उसके
नमकीन पसीने
से धुले चेहरे पर
जो एक
संतोष भरी
निश्चल मुस्कान

आ जाती है
सच कहती हूँ
तब
वो मुझे दुनिया की
सबसे खूबसूरत
औरत लगती है।

टाँगी-कुल्हाड़ी

सर पर लकड़ी का गठ्ठर उठाये
और एक हाथ में टाँगी लहराती
तेज कदमों से जंगल से
अपने गाँव की तरफ बढ़ती
वो आदिवासी लड़की
जब गुजरती है
उबड़-खाबड़ पगडंडियों और
झाड़ियों भरे सुनसान रास्तों से
तो उसके कदम
और तेज हो जाते हैं
हर आहट पर चौकन्नी आँखें
हो जाती हैं और चौकन्नी
टाँगी पर हाथों की पकड़
हो जाती है और मजबूत
और याद आती है माँ की नसीहत
कि, ''थामे रखना टाँगी
कहीं रस्ते में कोई खतरे से
सामना न हो जाये''
माँ ने कहा नहीं
पर जानती है वो लड़की
माँ का इशारा
सिर्फ जंगली जानवरों की तरफ नहीं
बल्कि...जानवर होते इंसानों की तरफ भी था...।

पुरखे

पुरखे
मरकर भी
कहीं जाते नहीं

वो पहाड़ बन जाते हैं गाँव के सीमांत के
या...हो जाते हैं जंगल
और घेर लेते हैं हमारे गाँव
अपने दायरे में
वे जिंदा रहते हैं...
कच्चे घरों में रहने वालों के...पक्के इरादों में
वे हर बरस लौटते हैं
पलाश और सखुआ की ताजगी लेकर
सरहूल, करमा और सोहराई की उमंग लेकर
बहते रहते हैं
रगों में...संस्कृति बन कर
झंकृत होते हैं...लोकगीतों और
गाथाओं में बार बार, याद दिलाने को
संघर्ष और माटी के मायने
हाँ...मरकर भी नहीं मरते
यहीं रहते हैं
हमारे पुरखे...।

संपर्क : मकान न. 7, नलिनी एन्क्लेव, देवी मंडप रोड, हेसेल, राँची-834005

सात कविताएँ

जसिंता केरकेट्टा

पहाड़ों के लिए

थोड़े से पैसे के लिए
जो अपना ईमान बेचते हैं
वे क्या समझेंगे
पहाड़ों के लिए कुछ लोग
क्यों अपनी जान देते हैं।

ईश्वर और बाज़ार

लोग ईश्वर को राजा मानते रहे
और राजा में ईश्वर को ढूँढ़ते रहे

राजा ने खुद को एक दिन
ईश्वर का कारिंदा घोषित कर दिया
और प्रजा की सारी संपत्ति
ईश्वर के लिए
भव्य प्रार्थना स्थल बनाने में लगा दिया
उसके नाम पर बाज़ार सजा दिया

भूखी, असुरक्षित, बेरोजगार पीढ़ियाँ
अपने पुरखों की संपत्ति

और समृद्धि वापस माँगते हुए
उन भव्य प्रार्थना स्थलों के दरवाजे पर
अब सिर झुकाए बैठी हैं

आदमी के लिए
ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता
बाज़ार से होकर क्यों जाता है?

राष्ट्रवाद

जब मेरा पड़ोसी
मेरे खून का प्यासा हो गया
मैं समझ गया
राष्ट्रवाद आ गया

पड़ोस में देशद्रोही ढूँढ़ते लोग

धर्म, झूठी देशभक्ति
और राजनीति की धूर्तता के नशे में धुत्त
शाम शहर में कोई झुंड निकलता है
जो अभी भी भारत-पाकिस्तान के
उसी विभाजन काल में खड़ा है
पाकिस्तान की सीमा दरअसल है किधर
यह जानने की जहमत नहीं उठाता है
मोहल्ले से बाहर की यात्रा कभी की नहीं
इसलिए अपने मोहल्ले में ही पाकिस्तान ढूँढ़ता है

घर के दरवाजे से कुछ परे
गली के मोड़ पर जिस मुस्लिम बूढ़े का घर है
उसके बच्चे और बच्चे के बच्चों ने
उसी मोहल्ले में दिन गुजारा है
झुंड उसके घर की दीवार को
भारत-पाकिस्तान की सीमा समझता है
और दरवाजे पर
'पाकिस्तान मुर्दाबाद' के नारे लगाता है

मुस्लिम बूढ़े का बेटा चकराता है
जब वापस जाओ, वापस जाओ के नारे सुनता है

वापस कहाँ जाएँ?
यही मेरा घर है! नींद में हो या बेहोशी में?
उठकर कुछ भी अंट–शंट बकते हो? चिल्लाता है
और लाथ घूसों के बीच उसी समय
वह देशद्रोही घोषित कर दिया जाता है।

किसकी भाषा समझते हैं वे?

उन्होंने कहा, तुम जानवरों से अधिक
ऊपर नहीं उठ सके
इसलिए हम तुम्हें आदमी बनाएँगे
मुख्यधारा के करीब लाएँगे

हमने उनके पास
अपनी तरह आँख, कान, नाक देखा
और समझा कि वे भी हमारी तरह इंसान हैं

हम खुशी से उछल पड़े
यह सोच कि तब वे हमारी भाषा ज़रूर समझेंगे
मगर धीरे–धीरे जाना
वे आदमियों की भाषा नहीं समझते
उन्हें बस जानवरों की भाषा ही आती है।

हमने तो जूते पहन रखे हैं

मेरे नंगे पैर देख, उन्हें बहुत तरस आया
वे जो जूते पहनने को अभ्यस्त हैं
एकस्वर में बोले
ओह! कितने अभागे! कितने असभ्य!

पर मुझे उन पर तरस आया
क्योंकि जूते पहनने के अभ्यस्त लोग
यह कभी नहीं जान सकते
कि उनके पैरों तले की ज़मीन कैसी है?

क्या वह साँस ले रही है?
ठीक से जी रही या दम तोड़ रही है?
कहीं उसे बुखार तो नहीं?
या क्यों वह ठंडी पड़ी रहती है?

क्या वह उदास है?
क्या उसे ज्वर है?

वह पुकारती है
कहाँ हैं नंगे पैर चलने वाले किसान?
वे ही तो हैं माटी के डॉक्टर
वे उसकी नाड़ी छूकर देखते और बतलाते हैं
कि उसे आखिर हुआ क्या है

मगर इससे पहले कि वे कुछ बताएँ
जूते पहनने वाले लोग उन्हें
उनकी ज़मीन से बेदखल कर देते हैं
अपने बूटों के नीचे धरती को कुचल देते हैं

हर तरह के नशे के बाद वे उठते हैं
और फेंक आते हैं तेज़ाब उसके चेहरे पर
फिर सारी निशानियाँ छिपाने के लिए
गंदी करतूतों के पैरों में जूते डाल देते हैं

धरती को क्षत-विक्षत करने वाले ये जूतेधारी
अपनी ही फैलाई गंदगी में
जबरन जीने के लिए धकेल देते हैं
उन नंगे पैर वालों को
और चुप रहते हैं अपने सारे कारनामों पर
जो दबे हैं उनके जूतों के नीचे

उजाले में शान से निकलते हुए
इन गंदगियों पर वे नाक-भौं सिकोड़ते हैं
और नंगे पैर वालों को अभिशप्त बताते हैं
यह पूछने पर कि
क्या हुआ है धरती के साथ?
बड़ी सफ़ाई से कहते हैं
हमें नहीं पता
हमने तो जूते पहन रखे हैं...।

आदिवासी लड़कियाँ

किसी आदिवासी गाँव से गुजरती कविता में
कुछ लोग ढूँढ़ रहे हैं

नदी में नहाती किसी आदिवासी स्त्री की नंगी पीठ
एक कपड़े में लपेट अपनी पूरी देह
भीगी-भीगी सी घर लौटती कोई जवान लड़की

कुछ ढूँढ़ रहे कविता में अब घोटुल
धुमकुड़िया, गितिज ओढ़ाः
और आग के इर्द-गिर्द रातभर नाचते लोग
पीली रोशनी में सोने सा चमकता सीना
और चिंगारी सी कोई अल्हड़ हँसी

सुबह चुप सी दीवार के पीछे
डरी लड़की की बाहर झाँकती दो आँखें
जो किसी अजनबी को देख
घुस जाती हैं घर के अंदर

जब वह धीरे-धीरे निकलती है
हँसती है बतियाती है
और बात-बात में हँसते हुए
उसका कंधा छू लेती है
तब वह समझता है
बहुत सस्ती है यह सहजता
और पलटकर फेरने लगता है
अपनी अँगुलियाँ उसकी पीठ पर

सालों बाद भी अपनी भूखी नींद में
वह ढूँढता है उस लड़की की पीठ
बात-बात पर कंधा छू लेते उसके हाथ
कोई अल्हड़पन
कोई सहजता
जिसे वह हमेशा सस्ती ही रहा समझता

नींद से जाग वह चकराता है
अब किसी कविता में उसे
ऐसी कोई लड़की नहीं मिलती
कविता चलाती है उसकी पीठ पर हँसिया
तोड़ देती है उसकी गंदी अँगुलियाँ
और चीख़ती है
बंद करो कविता में ढूँढना आदिवासी लड़कियाँ।

संपर्क : राँची, झारखण्ड, मो. 7250960618

पाँच कविताएँ

पूनम विश्वकर्मा 'वासम'

'मरी नदी' के ताजा झींगे

पाकलू की आँखो में सूरज नहीं समाता
कि चाँद भर रोशनी लिख जाती है
उसके माथे पर रात के बाद का सवेरा
किसी ऐसी भाषा में
जिसकी लिपि समझ पाना संभव ही नहीं कि
स्कूल में कभी पढ़ाया ही नहीं गया
अक्षरों से मिलकर बनने वाले वाक्यों की भाषा

पाकलू पढ़ता है हाथों की लकीरों में उभर आई
अपने दिमाग के नसों में उफन आई
गर्म लहू की भाषा
बचपन से पढ़ता आया है
तीर धनुष को इस्तेमाल करने का पाठ
वह जानता है शिकार के अलावा भी कई काम होते है एक तीर से।

चॉकलेट आइस्क्रीम खाने की उम्र में
उसकी जीभ तलाशती है 'मरी नदी' के ताजा झींगे।

सरगी की छाँव में बैठकर उसके हाथ के नाखून खुरचते हैं

जमीन की मोटी परत
लाखड़ी बोड़ा का स्वाद पाने को
केकड़े को पत्थर से कूटकर
उसका माँस हथेलियों पर रखते ही
नीले रंग में बदल जाती है उसकी आँखों की पुतलिया
वैसे उसकी आँखों का रंग काला ही है।

धर्म-अधर्म की लकीरों का कोई अर्थ नहीं रह जाता
भूख से सिकुड़ती अतड़ियो के लिए
मंदिर में दीये जलाने वाले उसके हाथ
अब चर्च की चौखड़ पर खड़े मोमबत्तियाँ जलाये मिन्नतें कर रहे हैं
अज़ान के दौरान भी खुदा से उम्मीदें बढ़ जाती है उसकी।

उम्र का ख्याल कभी आया ही नहीं
कि कब और कैसे सीख गए उसके पैर जंगल की पगडंडियों की भाषा
मांदर की आवाज भी सुनाई देती है अब उसे
सिर्फ और सिर्फ
घने जंगलों की चौपाल पर।

पाकलू के भूख का इलाज करने वाला वै
जंगल की जड़ी-बूटियों का काढ़ा बनाना जानता है
काढ़े का स्वाद
अब कड़वा नही लगता उसे
भूख से मरता क्या न करता।

कि बहती नाक जब मिल जाती है
उसकी लार के संग
तो जान जाता है पाकलू
खारेपन का स्वाद
पाकलू सोचता है जाने अनजाने
जीभ भी कितना स्वार्थी है
अपनी जीभ पर नमक का स्वाद बनाये रखने के लिए कितनों की जीभ काटनी पड़ती है।

पाकलू नही समझता ज़िन्दगी के मायने
पर बखूबी जानता है लाल स्याही से लिखे आड़े-तिरछे शब्दों का वास्तविक अर्थ
उसे रटाया गया है
'जंग में सब कुछ जायज़ है' वाला जुमला
इसलिए वह समझता ही नहीं

किसी और भाषा में कही गई बात का मतलब।

पाकलू नहीं जानता
रिकार्ड में दर्ज किसी जाति विशेष के बारे में
कि उसके गाँव तक नही पिघल पाई है अब तक डामर

अँधेरों में टटोलते
उसके हाथ कभी नही लगा वह वसीयतनामा
जिस पर उसके पुरखों ने लिखा हो
पूरे होशो हवास में कहीं

पहाड़, नदी और जंगल को
किसी गैर के नाम।

मछलियों का शोक गीत

झपटकर धर नहीं लेती कुटुमसर की गुफा में दुबक कर बैठी अंधी मछलियाँ अपनी जीभ पर
समुद्र के खारे पानी का स्वाद
इनकी गलफड़ों पर अब भी चिपका है वहीं
हजारों वर्ष पूर्व का इतिहास।

कि कांगेर घाटी में उड़ने वाली गिलहरी के पंखों पर
अक्सर उड़ेल आती है मछलियाँ,
संकेत की भाषा मे लिखी अपनी दर्द भरी पाती की स्याही ताकि बचा रहे गिलहरी के पंखों का चितकबरापन।

बोलने वाली मैना को सुबक-सुबक कर सुनाती हैं
काली पुतलियों की तलाश में भटकती अपनी नस्लों के संघर्ष की कहानी।
ताकि मैना का बोलना जारी रहे पलाश की सबसे ऊँची टहनी से

मछलियाँ तो अंधी है पर,
लम्बी पूँछ वाला झींगुर भी नही जान पाया अब तक कुटुमसर गुफा के बाहर ऐसी किसी दुनिया के होने का रहस्य
कि जहाँ बिना पूँछ वाले झींगुर चूमते हैं सुबह की उजली धूप
और टर्र टर्र करते हुये गुजर जाते है
कई कई मेढकों के झुंड

गुफा के भीतर
शुभ्र धवल चूने के पत्थरों से बने झूमरों का संगीत सुनकर
अंधी मछलियाँ भी कभी-कभी गाने लगती हैं
घोटुल में गाया जाने वाला
कोई प्रेम गीत।
गुफा के सारे पत्थर तब किसी वाद्ययंत्र में बदल उठते हैं
हाथी की सूँड की तरह बनी हुई
पत्थर की संरचना भी झूम उठती है

संगीत कितना ही मनमोहक क्यों न हो
पर एक समय के बाद
उसकी प्रतिध्वनियाँ कर्कशता में बदल जाती है।

मछलियाँ अंधी हैं
बहरी नहीं,
कि मछलियाँ जानती है सब कुछ
सुनती है सैलानियों के पदचाप
सुनती हैं उनकी हँसी ठिठोली
जब कोई कहता है
देखो-देखो यहाँ छुपकर बैठी है
ब्रह्माण्ड की इकलौती रंग-बिरंगी मछली।

तब भले ही कुटुमसर गुफा का मान बढ़ जाता हो
अमेरिका की कार्ल्सवार गुफा से तुलना पर कुटुमसर फूला नही समाता हो
तब भी कोई नहीं जानना चाहता
इन अंधी मछलियों का इतिहास
कि
जब कभी होती है एकान्त में
तब दहाड़ें मार कर रोती है मछलियाँ
इनकी आँखों से टपकते आँसुओं की बूँद से चमकता है
गुफ़ा का बेजान सा शिवलिंग।

कोई नही जानता पीढ़ियों से घुप्प अँधेरों में छटपटाती
अंधी मछलियों का दर्द

कि
लिंगोपेन से माँग आई अपनी आजादी की मन्नतें
कई-कई अर्जियाँ भी लगा आई बूढ़ादेव के दरबार में

अंधी मछलियाँ जानती हैं
उनकी आजादी को हजारों वर्ष का सफर तय करना
अभी बाकी है
इसलिए भारी उदासी के दिनों में भी
कुटुमसर की मछलियाँ
सायरेलो-सायरेलो जैसे गीत गाती हैं।

सामान्य सी बात है

नदी समझती है औरत के निर्वस्त्र होकर
उससे लिपट जाने वाली देह की भाषा
नदी के पानी के लिए यह सामान्य सी बात है

एक नन्ही चिड़िया जानती है
नदी में डुबकी लगाती औरत की देह का
प्रेम में टूटकर मकरन्द हो जाने की कथा

फूलों के लिए और भँवरों के लिए भी
यह एक सामान्य सी बात है

आस-पास गोते लगाती मछलियों के लिए
औरत का यूँ नदी से लिपटना कोई नई बात नहीं कि
औरत के लिपटते ही
नदी का पानी किसी पवित्र कुंड जैसा लगने लगता है
जहाँ डुबकी लगा कर मछलियाँ भी ले आती हैं
अपने हिस्से की पवित्रता

सूरज जानता है उसके उगते ही नदी गर्म हो जाएगी
नन्ही चिड़िया फुदकने लगेगी
मछलियाँ भी चहक उठेंगी
और औरत
नदी के पानी से निर्वस्त्र होकर
लिपट जाएगी हमेशा की तरह

जंगल के लिए औरत का नदी से यूँ रोज लिपटना
सामान्य सी बात है
पहाड़ को भी कोई आपत्ति नहीं

नन्हीं चिड़िया, मछली, फूल तितली, भँवरे, जंगल, पहाड़, सूरज
सब मानते है
औरत का नदी से लिपटना सामान्य सी घटना है

औरत को निर्वस्त्र होकर नदी से लिपटते हुए
एक युग बीत गया

तब भी तुम्हारी आँखों में औरत की देह मात्र का प्रतिबिंब उतर आना
समझ से परे है

तुम कब समझोगे कि तुम्हारे गुरूर के तने हुए सागौन वृक्ष के नीचे से
जड़ो को चूमते हुए
धरती के नीचे
बहुत बार चुपचाप गुजर जाती है नदी

तुम्हारा इतराना हमारे लिए एक सामान्य सी बात है

क्योंकि तुम नहीं जानते
तुम्हारा सारा हरापन हमारा दिया हुआ है।

तूम्बा गेला फूटी, देवा गेला उठी

पूजा घर में रखे ताँबे और काँसे के पात्र से
कहीं ज्यादा, यूँ कहे कि
रसोईघर के बर्तनों से भी ज्यादा प्रिय है
हमारे लिए तूम्बा

पेज, ताड़ी, महुआ और दारू
यहाँ तक की पीने का पानी रखने का सबसे सुगम व सुरक्षित पात्र के रूप में
चिह्नांकित है तूम्बा।

तूम्बा का होना हमारी धरती पर जीवन का संकेत है
जब हवा नहीं थी, मिट्टी भी नहीं थी
तब पानी पर तैरते एकमात्र तूम्बे को
भीमादेव ने खींच कर थाम लिया था
अपनी हथेलियों पर

नागर चला कर पृथ्वी की उत्पत्ति का

बीज बोया भीमादेव ने
तब से पेड़-पौधे, जड़ी-बूटियाँ, घास-फूस
इस धरती पर लहलहा रहे हैं

वैसे ही तूम्बा हम गोंड आदिवासियों के जीवन में
हवा और पानी की तरह शामिल है

तूम्बा मात्र पात्र नहीं, हमारी आस्था का केंद्रबिंदु भी है

जब तक तूम्बा सही-सलामत
ताड़ी, सल्फ़ी, छिंद-रस से लबालब भरा हुआ
हमारे काँधे पर लटक रहा है
तब तक हमारा कोई कुछ नही बिगाड़ सकता।

बचा रहेगा तूम्बा, तो कह सकते हैं
कि बची रहेगी आदि-जातियाँ
गोंड, भतरा, मुरिया
और वजूद में रहेगी जमीन और जंगल की संस्कृति

खड़ा ही रहेगा अमानवीयता के विरुद्ध बना मोर्चा
तूम्बा किसी अभेदी दीवार की तरह
कि तूम्बा का खड़ा रहना प्रतीक है मानवीय सभ्यता का।

दुनिया भले ही चाँद-तारों तक पहुँचने के लिए
लाख हाथ-पैर मार ले
पर हमारे लिए सबसे ज्यादा जरूरी है
तूम्बे को बचायें रखना

हर हाल में, हर परिस्थिति में
क्योकि तूम्बा का फूटना
अपशकुन है हम सबके लिए।

देह लेकर गई औरतें लौट कर नहीं आती

इंद्रावती नदी के उस पार
देह लेकर गई औरतें लौट कर नहीं आतीं

हरियल मिर्च तोड़ते कैसे तीख़ा हो जाता है

उनकी देह का स्वाद
समझ से परे है उनके लिए
इस सवाल का जवाब

नहीं पता उन्हें केवरी मिर्चियों का दाम
कि लाल पकी हुई मिर्च भी तोड़ लाती हैं
अचार के नाम पर

उनके मालिक के लिए
मुँह का स्वाद बदलना भी जरूरी है

इंद्रावती नदी के उस पार
देह लेकर गई औरतें लौट कर नहीं आती

धूप, बारिश, गर्मी सब कुछ सोखती इनकी देह
बनाती है खुद को कुंदन की तरह
चिकने डामर के नीचे छुपा कर बिछा आती है
हाथों की लकीरों का दरदारपन
पाटती हैं दिनभर
तगाड़ी भर-भर के सपने मील के पत्थर के नीचे

न जाने कैसे इनकी देह बदलने लगती है
मील के पत्थरों में
जिनकी पीठ पर लिखा होता है
देह के रास्ते होकर गुज़रने वाली रोटी के
चूल्हें की दूरी शून्य किलोमीटर है

इंद्रावती नदी के उस पार देह लेकर जाने वाली औरतें
लौट कर नहीं आतीं

गुस्से के गुब्बार को हवा में नहीं उड़ातीं बल्कि
भद्रकाली के संगम पर खड़े होकर लेती हैं शपथ
अपनी आजादी का।
टँगिया की धार तेज करते शेरनी की तरह भरती है हुँकार
काटती हैं गाँव घर के नक़्शे पर उग आई
कँटीली झाड़ियों के जंगल

अपनी ही माटी पर भूख से जंग लड़ना
कोई आसान काम नहीं

कि देह के साथ-साथ अब इनकी आत्मा पर भी
लाल-सलाम का ठप्पा लग चुका है

घने जंगलों के बीच से आती हैं आवाज़ें
हमें रोटी दो
हमें पानी दो
आखिर कब तक हम रहेंगे भूखें नंगे खून के आँसू पीते

इंद्रावती नदी को इंतजार है उन औरतों के लौट आने का कि उनकी चिंता में
सूखकर काँटा हुई जा रही है नदी
किसी माँ की तरह

संपर्क : साईंस म्यूजियम के सामने, ब्लॉक कॉलोनी, बीजापुर-494444, छत्तीसगढ़, मो. 9424292757

आदिवासी होस्टल के बच्चे

धर्मपाल महेंद्र जैन

घर की कच्ची दीवारों में कभी गूँजी नहीं कोई प्रार्थना
यहाँ सुबह शाम ज़ोर से गानी होती हैं प्रार्थनाएँ
ताकि मास्टरजी को लगे बच्चे संस्कृति से जुड़ रहे हैं
आदिवासी बच्चे हैं उनको रहना है भगवान भरोसे ही।

घर के आँगन में कभी नहीं साधी
योग-मुद्रा पेट सिकोड़ने की कला
मास्टरजी यहाँ अपना थुलथुल पेट अंदर खींचते हैं
सभ्यता की हवा बाहर निकल जाती है दुर्गंध के साथ
आदिवासी बच्चे हँसने के अपराध में मुर्गे बन जाते हैं।

घर में दूध और नाश्ते के चोंचले नहीं थे
यहाँ कड़ाह भर पनियल दूध रोज उबलता है
मास्टरजी रजिस्टर में दूध, शक्कर, नाश्ते और
खाने की जितनी खपत चढ़ाते हैं वह
बढ़े हुए बजट से ज़्यादा हो जाती है हमेशा
कमेटी का दाना-पानी पहुँच जाता है समय पर
कमेटी मान लेती है आदिवासी बच्चों की खुराक
तगड़ी होती है।

हम रोज ही घिसी-फटी यूनिफॉर्म में स्कूल जाते हैं

हमें पहचान बताने की ज़रूरत नहीं होती
ब्लॉक शिक्षा अधिकारी जानते हैं
आदिवासी बच्चे कभी भी, कहीं भी धूल में लोट जाते हैं
कपड़ा है मैला होगा, घिसेगा, फटेगा भी।

किताबें, कापियाँ, बस्ता बराबर मिलते हैं
सुना है ऊपर वाले ऊपर ही ऊपर सुलटा लेते हैं टेंडर
वे आते हैं उपहार बाँटने
हम उनके चरण छूते हैं, फोटो खिंचवाते हैं और
आशीर्वाद पाते हैं—आदिवासी बच्चे अमर रहें।

नई चादरें और बिस्तर
सालों-साल टेंट हाउस वाला बदल लेता है
उसका और होस्टल का मार्का एक जैसा है
हम तो डट कर खाते हैं, पसीने-पसीने हो खेलते हैं
देवी-देवताओं को याद करते-करते सो जाते हैं
कोई नहीं कहता पुराने चादर और कंबल बास मार रहे हैं
आदिवासी बच्चे हैं बास तो इनके शरीर में बसी है।

संपर्क : 1512-17 Anndale Drive, Toronto M2N2W7, Canada, फ़ोन : +416-2252415, ईमेल : dharmtoronto@gmail.com

तीन कविताएँ

वसीम अकरम

बाज़ार

तुम्हें थोड़ी सी गर्मी लगी
तुमने पंखा लगा लिया
और बिजली खाने लगे
थोड़ी और गर्मी लगी
तुमने कूलर लगा लिया
और फिर कुछ बिजली खा गए
फिर थोड़ी और गर्मी लगी
तो तुमने ए सी लगा लिया
फिर और बिजली खाने लगे
पर्यावरण गर्म करने लगे
और नदियों का पानी पीने लगे
तुम यहीं कहाँ रुकने वाले थे
तुम जंगल की तरफ मुड़े
और वहाँ अपने बाज़ार रख दिए
फिर तुम पहाड़ों पर चढ़े
कीर्तिमान रचने के लिए
और पहाड़ों से उतरते हुए
अपना सारा मलबा वहीं छोड़ आए
मेरे जल, जंगल और जमीन को

बर्बाद करके पूरी तरह से
अब तुम ग्लोबल देवता बन गए हो
और अब तुम यहाँ से भागकर
चाँद पर जा रहे हो
उसे भी बरबाद करने के लिए।

जंगल

एक, दो, तीन, चार,
और बेशुमार।
बेशुमार पेड़
यानी जंगल पेड़ों का;
बेशुमार घर
मतलब, शहर
यानी जंगल घरों का।

हमने, एक जंगल काटकर
दूसरा जंगल बनाया है
यानी
एक को बनाने के लिए
एक को काटना पड़ता है।

एक तो लगभग
कट ही चुका है
और दूसरे का कटना
शुरू हो चुका है।

आखिर जंगल में आदमी
कब तक रहेगा?

भूख

आज़ादी से पहले आज़ादी की भूख थी
आज़ादी मिलते ही
रोटी कपड़ा और मकान की नई भूख जगी
रोटी के लिए
हज़ारों-लाखों, नर्म-सख़्त हाथों ने
कुदाल उठाये

फसल उगाये और ज़मीनें पैदा कीं
कपड़े के लिए
अनगिनत मीलों, कारखानों में
मेहनत की एक शोर बुलंद हुई
और मकान के लिए
और पहाड़ों की
दूर-दूर तक खाक छाने गये
मगर भूख अभी कम नहीं हुई
बल्कि और बढ़ने लगी।

अब आगे बढ़ने की भूख जगी
क्योकि हम ज़माने से पीछे थे
हम आगे बढ़े और बढ़ते रहे
इस आगे बढ़ने की भूख ने
ला खड़ा किया हमें
वैश्वीकरण के उस पड़ाव पर
जहाँ से भूख की किस्मों का
एक अंबार नज़र आता है।

हमने इतने कपड़े बनाये
कि पहनने से उबन सी होने लगी
इस उबन ने
देह दिखाऊ संस्कृति की भूख पैदा की
और इस भूख ने नारी को
विज्ञापनों की नंगी दुनिया में झोंक दिया
धर्म की भूख जगी
जिसने कट्टरता को जन्म दिया
और इस कट्टरता ने
फसलों की जगह
बम और बंदूकें उगाने शुरू कर दिये
फिर क्या
आसमां से आतंकवाद की बारिश शुरू हो गयी
ये देखे बगैर कि
कौन बेकसूर है
और कौन कुसुरवार।

अब सबसे आगे निकलने की
और सबसे ऊपर पहुँचने की भूख जगी
जिसने संस्कृति, परंपरा और

संवेदनाओं की लाश का सहारा लिया
और विकास की उस छत पर पहुँच गये
जहाँ विज्ञान ने
खड़खड़ाती मशीनों, बिषैली कम्पनियों,
बम, हथियार
और ज़हर उगलती फैक्ट्रियों का
एक खतरनाक तंत्र बिछा रखा था।

वहाँ एक और भूख नज़र आयी
आधुनिकता की भूख
जिसने सारी हदें तोड़कर
संवेदनशीलता का ही अंत कर दिया

मनोरंजन की भूख
सूचना की भूख
ग्लैमर की भूख
फैशन की भूख
मोबाइल की भूख
तकनीक की भूख
और हर उस चीज़ की भूख
जो हमें वैश्विक बनाता हो
अब हम वैश्विक हो चुके हैं
इतने वैश्विक
कि भारत में नहाते हैं
और अमेरिका में बाल सूखाते हैं
वैश्वीकरण के इस भूख ने
लोगों की सोच को ही खाना शुरू कर दिया
संवेदनशीलता के अंत ने
इस भूख को और बढ़ा दिया
आज हम इतने भूखे हो चुके हैं
कि गाँधी जी के उस कथन को भी भूल गये
''जीने के लिए खाओ, खाने के लिए मत जियो''

भूख चाहे जिस चीज़ की हो
मौत से पहले शांत नही होती
अब एक और नई भूख तुमने पैदा कर ली है
जल, जंगल और जमीन को
नष्ट कर चाँद पर जाने की भूख
जाओ जाओ जल्दी जाओ
और चाँद पर जाकर चाँद को खा जाओ

संपर्क : नयी दिल्ली, मो. 9899170273

चार कविताएँ

जमुना बीनी तादर

कब समझोगे

अनंत काल से
चली आ रही
परंपराओं
और
आदिम आस्थाओं में
छिपे दर्शन को
तुम कब समझोगे।

पर्व-त्योहार में
शस्त्रों से
सुसज्जित होना
तुम्हें बर्बर लगता।

बीहड़ जंगलों में
दुर्गम पहाड़ों में
चौड़ी बहती
नदियों में
मौन ठहरती
झीलों में

आत्माएँ निवास करती हैं
उन्हें
सताते नहीं
यह सुन
तुम्हारी आँखें
विस्मय में
फैल जाती हैं!!

ओझा के
मंत्रोचारण में
चूजे की
कलेजी-निरीक्षण में
अंडे की जर्दी में
स्वप्नों के रहस्य में
गुँथित जो श्रद्धा है
तुम्हें अर्थहीन लगता।

मृत पूर्वजों की कथा में
हास्य है
रुदन है
जन्म का उल्लास है
मृत्यु का मातम है
युद्धों का विजय-घोष है
पराजय का विलाप है
पूरा एक इतिहास है
इतिहास को
परखने की
एक दृष्टि है
तुम उसे देखना
नहीं चाहते।

तुम्हारे लिए
आदिम आस्था
और
श्रद्धा का
अर्थ ढकोसला है।

तुम अपने बचाव में
आधुनिक शिक्षा का

तर्क देते हो
मात्र
तर्क के लिए तर्क
प्रश्न के लिए प्रश्न

बिना उस दर्शन को जाने
जो तुम्हारे
पूर्वजों की
विश्वदृष्टि हुआ करती थी

बिना उस पथ को चीह्ने
जिस पथ पर चलकर
तुम्हारे पूर्वजों ने
अतीत से
वर्तमान की संघर्षशील यात्रा
तय की थी।

बचे रहने की उम्मीद

जब नदी
तुम्हें लीलने के लिए
आगे बढ़ी
तुम ऊँचे पहाड़ों में
भाग गए
घने जंगलों के
लम्बे
और
चौड़े पेड़ों पर
चढ़ गए
स्वंय को डूबने से बचाने
और
अपनी नस्ल को
विलुप्ति से।

तुम्हारे
आदिवासी-बोध ने बतलाया
तुम्हें पहाड़ों
और
जंगलों की ओर

भागना चाहिए
वहाँ ऊपर
दुश्मनों से
महफूज रहते आए
अनगिनत काल से

तुम भागते जाते हो
जब तक
तुम्हारी साँसें नहीं रुकतीं
पैर जवाब नहीं देता
फिर
तुम आश्वस्त होते हो
कि
तुम्हारे लोग
तुम्हारे बाद भी जीयेंगे
तुमसे अधिक जीयेंगे
संसार को बतलाने
तुम्हारी अद्‌भुत-अनोखी संस्कृति
आदिवासी संस्कृति के बारे में।

परीकथा

मटमैली शाम की
धुँधुआती रोशनी में
एक और बुरी खबर मिली
वह नहीं लौटी
लौटी उसकी खामोशी
उसकी सिसकियाँ।

कुछ दिन पहले
सरकार आयोजित
ताम-झाम
टिम-टाम भरे
जॉब मेला में
कई घरों की
बेटियाँ चुनी गईं।

बेहतर कल की
कल्पना के

परों पर सवार
ये परियाँ
दूर अजनबी
जगहों को
उड़ गईं।

पर जैसे
होता है न
परियों की
कथा में 'दानव'
सही सुना दानव!
इस पात्र के
बिना तो
हर परीकथा
होती अधूरी।

देश की
तथाकथित मुख्यधारा में
तैरने वाला
भीमकाय
नुकीले पंजों वाला दानव।

यह मुख्यधारा
एक बड़ी-सी
धारा
जहाँ तैरते
अनगिनत दानव
चारे की
तलाश में।

रोजगार का
सब्जबाग दिखा
ये दानव
इन परियों को
नकली स्वर्ण-पिंजरों में
करते कैद।

और शुरू
कैदी परियों की
अनवरत यातना

शोषण
पर
शोषण
आर्थिक
मानसिक
दैहिक।

शोषण के
इतने चेहरे
देख चुकीं परियाँ
बाट जोहती
किसी राजकुमार का।

इस परीकथा में
राजकुमार नदारद
यह वर्तमान की
परिकथा है
जहाँ कोई
राजकुमार नहीं होता।

लुटी-पिटी
एक परी
जब घर लौटी
अपने अनुभव के टुकड़े
परी बहन से बाँटी
तब बहन
तपाक से बोली-
"ये दानव
हमारी लोककथाओं के
बाकोक* सा है
जिनकी डरावनी कहानियाँ
दादी और नानी
सुना-सुनाकर
हमें भेजा
करती थी
निंदिया रानी
के पास।"

* बाकोक—न्यीशी लोककथाओं में वर्णित जलाशयों में निवास करने वाला दानव

लौटने के इंतजार में

मैं वाङपान की
बूढ़ी माँ से मिली
हिम्मत बटोर कर
पूछ ही लिया-
'वाङपान की
याद नहीं आती?'

नम आँखें
मुझे देर तक
ताकती रहीं
एक अर्थपूर्ण
गहरी साँस भरकर
फिर बोली—
'अरसा हो गया
उसे देखे
कलेजे पर
पत्थर रखकर
यहाँ से भगाया था
जंगल-आदमी उसे
जबरन उठाकर
ले जाते
अपने दल में
शामिल करने।

हो न हो
मुंडा-आखेटकों की
वीर भूमि को
जरूर किसी का
अभिशाप लगा है।

बरसों से
शांति
और
प्रगति
इस भूमि से
रूठी हुई है।'

मैंने उनकी
झुर्रियों से बनी
नक्काशीदार हाथ को
थाम उन्हें बतलाया-
'वाङपान घर
लौटना चाहता है'
वह सकपकाकर बोलीं—
'नहीं, नहीं!
उसे पूछो
जंगल-आदमी[1]
या
भारतीय आर्मी
दोनों में से
किसकी गोली का
स्वाद पसंद है?

बेटा मेरा
दूर सही
पर है जिंदा
माँ के
मन को
इतनी तसल्ली
काफी है।

इधर मुक्ति कहाँ
जंगल-आदमी का शिकंजा
और
भारतीय आर्मी का चँगुल
इनके बीच
पीसने को अभिशप्त
हमारा युवा'

वापसी में
बार-बार
मैं
उन तमाम
नोक्टे-वांचो[2]

1. जंगल आदमी—एन. एस. सी. एन. उग्रवादी
2. नोक्टे-वांचो—नोक्टे और वांचो आदिवासी

युवाओं के बारे में
सोचे जा रही थी
जिनको इंतजार है
अमन बहाली का
घर लौटने का।

संपर्क : असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112, मो. 9436044327

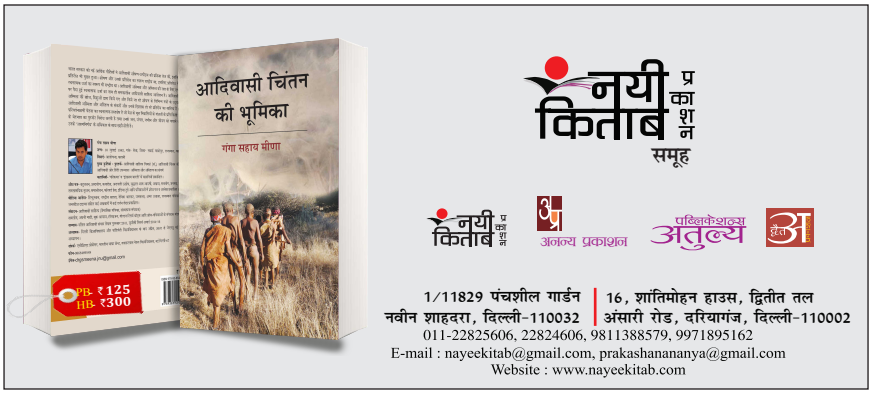

तीन कविताएँ

तुनुङ ताबिङ

क्या तुम्हें दिखाई देता है?

क्या तुम्हें दिखाई देता है?
अटल पर्वत पर खड़े वृक्ष
हरियाली लिए पवन संग झूमता है
सभी जीव-जंतुओं को वह अपनी
छत्र-छाया प्रदान करता है
जीवन का हर संभव सुख
वह जीवों को देता है
फिर भी देखों कितनी बेरहमी से उन
पेड़ों को काटा जाता है
क्या तुम्हें दिखाई देता है?

जिसके चलते वातावरण में
प्रदुषण को बढ़ावा मिलता है
कारखानों के काले धुँओ से,
वाहनों की ध्वनियों से,
विनाश की ओर जीवन
धीरे-धीरे बढ़ता जाता है
क्या तुम्हें दिखाई देता है?

ट्रक भर नदियों में

फेंके गए कचरों से
चारों ओर बहती
धुल-धूसरित हवाओं से
कई बीमारियाँ उत्पन्न होती है
क्या तुम्हें दिखाई देता है?

एक दिन ऐसा आएगा
प्रकृति बेरंग हो जाएगी
जो सुख आज भोग रहे हो
वह कल सपने रह जायेंगे
जैसी करनी–वैसी भरनी कथन
प्रकृति हम पर आजमायेगी
वर्तमान की इच्छाओं के आगे
भविष्य का गला घोंटा जाता है
क्या तुम्हें दिखाई देता है?

तितली

प्रकृति की ख़ास रचनाओं में
गणना की जाती है इसकी
अपनी चंचलता के कारण
कही जाती यह तितली

आयु है यूँ तो कुछ ही दिनों की
पर खुशियाँ ही फैलाती
जो भी देखे इसकी सुंदरता को
मुग्ध सी हो जाती

न ही उसको घमंड होता
न चोट किसी को पहुँचाती
अपनी धुन में सदा रहती
उड़ती-फिरती इतराती

मधुर फूलों पर मँडराती
सदा उसका रसपान करती
इस दृष्टि से भी
वह एक संदेश दे जाती

जीवन की आयु चाहे जो हो
पर वही जीवन का आनंद पाता
जो जीवन की मधुरता को
परखता और अपनाता

प्रकृति ने जो गुण तुम्हें दिए
बनाओं उसे सदा उपयोगी
अपने भीतर की सुन्दरता से
फैलाओं चारों ओर सुख शांति।

सत्ता का पद

सत्ता का पद!
जो एक अमूल्य सिंहासन है
जिस पर बैठने को
बेक़रार सभी
मगर बैठ पाना आसान नहीं,
देश को चाहिए एक अच्छा नेता
जो करेगा देश का हित
मगर ऐसा करने वाला कोई नहीं।
कई नेता आए
पद पर बैठ भी गए, मगर सच्चा नेता कभी बन नहीं सके
विकास के नाम पर पैसा लुटाया,
मगर विकास देश का नहीं उनके महल का हुआ।
सड़क बन रही है,
देखने में पक्की सड़क है, मगर सड़क सत्ता के समान खोखली है।
अब तो सत्ता कपड़ों सी हो गई है
जिसने चाहा पहन लिया, पहनकर रोब लोगों पर जमा लिया
रोब जमाना ही तो आता है बस और कुछ नहीं आता है।
हर कोई अपने सत्ता बचाने में व्यस्त है
गरीब इस दुःख को ढोने को मजबूर है
कब होगा बंद इन ढोंगियों का तमाशा
पीसना तो आखिर जनता को ही है।

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय रोनो हिल्स, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

आठ कविताएँ

प्रेमी मोनिका तोपनो

चुनावी खुशी

कुछ लोग बहुत खुश हैं
कि चुनाव की घोषणा हुई
कमाने का एक अवसर
और ठगने का एक मौका हाथ में आया
जब भोले-भाले और पीने वाले लोग सामने हों
तो ठगना और भी आसान हो जाता है
नेता कोई भी हो पार्टी कोई भी हो
हम जो कहेंगे नेता वही होगा
हर आदिवासी गाँव में हैं कुछ ऐसे ही लोग
जो वोट की कीमत पैसा और नशा में तय करते हैं।

राँची स्टेशन

राँची स्टेशन से
सिर्फ राजधानी एक्सप्रेस ही नहीं छूटती
यहाँ से छूटती है मजदूरवाहिनी ट्रेनें भी
इधर गाड़ी स्टेशन से छूटी
और उधर मजदूर अपने घर से छूटा

इस छूटा-छूटी के खेल में
कई जिंदगियाँ भी छूट गयी
मौका रहा तो घर लौट आए

नहीं तो अपने घर को ही ले गए बाहर
ऐसा नहीं है अपना गाँव
कि रोटी के लिए चला जाता है
परदेश मेरा गाँव...।

जंगल की आग

कल शाम
जंगल में खाना बनाने के लिए
किसी ने आग सुलगाई थी
जंगल के बाहर के लोगों को लगा कि
जंगल में आग लग गई है
आग बुझाने सरकार के कई ठेकेदार गए
कंपनियाँ गयीं, स्वयंसेवी गए
पूँजीवादी गये, समाजवादी गए
सुबह
देखा तो चूल्हा गायब था
आग और भी धधक रही थी
और ये लोग आराम से हाथ सेंक रहे थे।

मँगरा दादा

कुछ लोग सरकार को गिराने में लगे थे
कुछ लोग सरकार को उठाने में लगे थे
कुछ लोग आदमी बेच रहे थे
कुछ लोग धरम बदलवा रहे थे
कुछ लोग पत्थल गाड़ रहे थे
मंगरा दादा हल जोत रहा था
और अपनी पानी बचा रहा था।

अबकी बार

हमने अब तक
दूसरों को बहुत गरियाया
पूँजीवाद, बाजारवाद, ब्राह्मणवाद
पर बड़बड़ाते रहे
अबकी एक गाली मैं अपने लोगों पर फेंकती हूँ
उनपर जो शहरों में सेटल हैं

जिनके पास दो-दो गाड़ियाँ हैं
जिनकी बेटियाँ प्राइवेट स्कूल में पढ़ती हैं
जो अपने भाइयों की जमीन को
बोली में लगाते हैं
मँगरी को दिल्ली भगाने में
इनका भी हाथ है।

मुरहू बाजार

मँगरी को खोजते-खोजते
दिल्ली तक आयी हूँ
जो बिछड़ गयी थी हमसे
सत्रह के उम्र में
मुरहू बाजार में
किताब और कविता ने
थोड़ा सा होश दिया
तो समझ पा रही हूँ
किसी ने मँगरी के घिसे चप्पल
और महक वाले साबुन न खरीद पाने की
बेबसी को भँजाया है मुरहू बाजार में
कल मुझे मँगरी मिली थी
दिल्ली के बाजार में
मैं उसे घर ले जाना चाहती हूँ
लेकिन मँगरी आज एक नहीं है
हजारों हैं इस शहर में
जो फँस चुकी हैं मजबूरी और
जबरदस्ती के मकड़जाल में...।

चट्टान की हथेली पर

आज जब चारों ओर
पत्थरों में सिर्फ साजिश नजर आ रही है
और गीतों में राजद्रोह
मैं पत्थरों से
इतिहास खींच लाना चाहती हूँ
और गीतों से समाजदर्शन
कि जब—
झारखंड को सींच रहे थे हमारे पुरखे
उन्होंने नहीं लिखा कोई बाइबल, रामायण या कुरान

उन्होंने तो बस झूमते गाते चट्टान की हथेली पर
लिख दिया पुरखों का एक नाम, एक गाँव
कि लिखित में यही तुम्हारी पोथी, पतरा, वर्ष, आयत है
हम भी इन दिनों में
करते रहे कुछ ऐसा ही
बहुत बार हमसे हमारे होने का
सबूत माँगा गया और बार-बार
हम यही पत्थर दिखाते रहे
और हाकिमों ने न्यायालय के
चौखट से ही धकेल दिया बार-बार...।

चाँदो, हिरनी और सारंडा

हिरनी का पानी कह रहा था
दोपहर में मछुए के रस से लथपथ
चाँदो और बेंदो जब उसके तट पर आते थे
उनकी उन्मत्त किलकारी से झरना का पानी
और भी मीठा हो जाता था
लेदरा फींचते हुए फगुआ की तान
जब दोनों छेड़ते थे
उन्हें देखने के लिए सैकड़ों गरई मछलियाँ
हुलुक डुबा करती थीं अठखेलियाँ
हद-हद-हद-हद
की आषाढ़ी ध्वनि से जब समूचा सारंडा
गूँज उठता था
इस मधुर ध्वनि के आगोश में
चाँदों और बेंदो
खुखड़ी, रुगड़ा खोजते थे
छहो ऋतु, हिरनी और सारंडा
चाँदो, बेंदो, हिरनी और सारंडा
आपस में बँधे थे
इधर कुछ दिनों से गाँव वाले कह रहे हैं
हिरनी का पानी घट रहा है
सारंडा सिमट रहा है
चाँदो और बेंदो का पता नहीं मिल रहा है।

संपर्क : द्वारा : रवि बखला, प्रभा अपार्टमेंट, पटेल चौक के नजदीक, तीसरा तल्ला, कमरा संख्या-302, न्यू गार्डन सिरोम टोली, राँची, डाक-चुटिया, राँची, झारखण्ड, 834001, मो. 9534200461

तीन कविताएँ

आशुतोष कुमार झा

दातून बेचनेवाली के बहाने

अधेड़, आदिवासी स्त्री
सिर पर दातून का बोझा लिए,
जा रही है जमशेदपुर के बाजार
आज है इतवार
होगी बाबुओं की छुट्टी
खूब सजेगा बाजार

ट्रक के घिसे टायर सी देह
जरूरत का चौथाई कपड़ा
नंगे पाँव
आस-पास के इलाकों
या जंगल धँसे गाँवों से
पैदल ही चली आती हैं
दस-पाँच मील।

सखुआ, नीम, करंज
रुपये में चार-तीन-दो के भाव
बिकेंगे साकची बाजार में।

हाँफती-भारी गट्ठर लिए
बढ़ाती जाती हैं पाँव
पीछे-पीछे
सखुआ के पत्तल, ठोंगा लिए बेटी
और खटिया लिए पति भी
धकेली जाती हुई-सी गति में
बढ़ रहे हैं साकची की ओर
साढ़े सात बजे सवेरे ही
अपना खौफ दिखा रहा है
जेठ का सूरज
पसीने और थकान के बावजूद
इन तीन जोड़ी कदमों को डर है
देर होने पर
नहीं मिलेगी साप्ताहिक बाजार में
अच्छी जगह
और बिक नहीं पाएँगे
खटिया, दतुवन, पत्तल और ठोंगे।
बिना पैसों के
न भात, न हँड़िया।

सौ साल पहले कोई शहर नहीं था
जमशेदपुर-
गाँवों का समूह था, जो उजाड़ डाले गए
विकासपुरुषों की मर्जी पर
जहाँ बसते थे
इन जैसे आदिवासी-वनवासी।

आज हर इतवार
उन मूल निवासियों के वंशज
खोजते हैं
जमशेदपुर में
दातून, पत्तल आदि बेचने की
सर्वोत्तम जगह।

पिछले सौ सालों में
सारे देश में
पैदा हो चुके हैं
सैकड़ों जमशेदपुर
और विकास के नाम पर

उजड़ने को अभिशप्त
आदिवासी परिवारों की फेहरिश्त
सभ्यता की चौहद्दी से
ज्यादा बड़ी हो गई है।

बनफूल

अग्निशिखा-सा
दमकने लगा है
ढाक के फूलों का रंग।

डायनामाइट लगा कर
तोड़े गये चट्टानों
के हृदय
आपस में रगड़ खाकर
सूखे पत्तों पर
बरसा रहे हैं
पलाश की सुर्ख लाली।

कोयले, लोहे और अभ्रक
की विस्थापित संतानें
पूछने लगी हैं
अपने घर का पता।

खनिज खोदकर
बन्ध्या बना दी गई धरती
महसूसने लगी है
चैत्र की रजस्विता।

माँदर की थाप पर थिरकती
स्वर्णरेखा
नगाड़े की ध्वनि सुनकर
तजने लगी है
कलाई की कोमलता।

सुगबुगा रही है प्रश्नाकूल
राजमार्ग 33 के दोनों ओर
हरियाली के टेन्ट में छुपी

अनगिनत पहाड़ियों की
अचल सहजता।

अपने बीजों में
वसंत का उन्माद लिए
चमक उठे हैं
ताजा-कोमल पत्तों से ढँके
साल के जंगल।

पठारी वक्ष पर
छटपटाहट
और आतुरता से
काँप उठा है दामोदर,
विशाल जलराशि का
आरोपित करने को
कालाशोक—
हो रहा सन्नद्ध।

बाँस कुछ और लचीले हो गए हैं
ताकि बन सके
सबसे उम्दा धनुष
संसार के सबसे सुघड़
हाथों से।

तीर के चमकीले फलक
सुनिश्चित करने लगे हैं
अपनी दिशा
और बटोरने लगे हैं
लक्ष्य वेधन की ऊर्जा।

विकास के आँकड़ों पर
धराशायी कर दिए गए
आदिम पुरखों के वंशज
घिस-घिस कर
कुल्हाड़ी की धार
पूछ रहे हैं
हर जनविरोधी मौसम
का पता।

स्वयं देखा है मैंने
सदियों से सूख कर
झड़ जाने वाले बनफूल
झारखंड की मिट्टी में मिल कर
महाविस्फोटक बारूद में ढलने लगे हैं
हूल-उलगुलान के नारे गढ़ कर
मिलने लगे हैं,
चलने लगे हैं।

पैग़ाम

हवा बदल रही है
फूली महतो
मौसम बदल चुका है
सूरजमनी हाँसदा
सेंदरा को पहुँच चुके हैं शिकारी
इस बार निशाने पर तुम हो
घेर रहे, मिल कर
सभी दिशाओं से

नहीं चलेगा काम
साल के पत्तल बनाने से
पलाश के फूल,
शहतूत, केंदू, महुआ चुनने से
हँड़िया बनाने
शब्जियाँ बेचने से
नहीं चलेगा काम

तुम्हारे जंगल
तुम्हारे ही हाथों कटवा कर
तुम्हारी जमीन पर
खदानें खुदवा कर
तुम्हारे गाँवों को
बाँधों में डुबा कर
तुम्हें उद्योगों का
सस्ता श्रम बना कर
सभ्यता के जालसाज
विकास की धारा से

जोड़ने के नाम पर
जीवन और पहचान से
तोड़ने में लगे हैं
और तुम
पहले से निर्धारित कर दी गई
जगहों,
हाटों और बाजारों
महाजनों-ठेकेदारों के पास
बिकने को तैयार माल बनने पर
आमादा हो

यह समय
अंधकार की ऐसी गुफा है
जहाँ मशाल जलाने की
सख्त मनाही है

वे हाथ
जिन्हें मजबूत करने को
खड़े हो जाते हों कतार में—
हर पाँच साल बाद,
तुम्हारी नियति पर
सबसे बड़ा ग्रहण हैं
वे हाथ

सच तो यह है
कि बाकी लोगों की तरह
तुम्हें भी भ्रम हुआ है
कि एक देश के रूप में
हम भी आज़ाद बाशिन्दे हैं

दरअसल
तुम्हारे चेहरे की
मेहनतकश रंगत
चरित्र की दृढ़ता
व्यवहार का भोलापन, निश्छलता
नए जमाने को सूट नहीं करती

इसलिए बिजूका की तरह
दुनिया भर की सरकारें

तुम्हें अलग खाँचों में रखती हैं
ताकि तुम्हारी पीड़ा और कराह
का हिसाब-किताब
दर्ज हो
अ-सभ्यता की भाषा में

माँदर की थाप को
एक नई धुन चाहिए
भेंगना सोरेन
पानी-भात को
नया स्वाद
फटिक हेम्ब्रम
कब तक मुर्गों को आपस में लड़ा कर
दर्शक बनी भीड़ का हिस्सा
बनते रहोगे
आखिर कब तक तुम्हारे भुखाए बैल
छोटे पठारी खेतों को
जोत कर
मुँह से फेन टपकाएँगे

तुम्हें याद होगा
तीन सौ साल पहले
साम्राज्यवाद के खिलाफ
मुट्ठियाँ भींचने और
धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने का साहस
करने वाले हाथों के
वंशज तुम्हीं हो

भूले तो नहीं
जंगलमहाल की माटी का रंग बदलने वाली
लहू की वह धार
जो तुम्हारे अपने पुरखों के घावों से
निकलकर
इतिहास के पन्नों पर दर्ज हो गई

हजार सालों में भी
तुम किसी के अधीन नहीं हुए
क्या यह बात
अब भी चौड़ी नहीं करती

तुम्हारी छाती

तो फिर क्यों नहीं
बदलते गीतों का स्वर
नगाड़े की ताल
सिंगा की धुन

तुम दुनिया के
सबसे सिद्ध शिकारी हो
मुझे समझाओ
आज ऐसा क्यों है
कि संसार में
तुम सबसे सुलभ शिकार
बना दिए गए।

संपर्क : के/2, 205, ट्यूब कॉलोनी, पो.-बारीडीह, जिला-जमशेदपुर-831017 मो. 09431372098, ई-मेल akjha2307@gmail.com

संताली (झारखंड)

तीन कविताएँ

चन्द्र मोहन किस्कू

जंगल में अब

लड़ाई चल रही है
सखुआ के पेड़ में
मनुष्य का खून लगा है
और जमीन पर तो–
मनुष्य का सर लुढ़क रहा है।

जंगल को गुलाम
करने की लड़ाई
जमीन के अंदर की दौलत
लूटने की लड़ाई
अब जोर पकड़ रही है।

उस ओर से कमांडो
इस ओर से कॉमरेड
उनके बीच
सखुआ की आड़ में
आदिवासी रो रहे हैं।

उस ओर से कमांडो के

हिप-हिप हुर्रे
इस ओर से कॉमरेडों के
हुल गीत से
जंगल भर गया है—
और
आदिवासियों के
रोने की आवाज़
लड़ाई के शोर से
दब गयी है।

जंगल महल की लड़कियाँ

घने जंगलों के बीच
घुटनों के ऊपर कपड़ा लपेटकर
सर पर सूखी लकड़ी लेकर
मुस्कराती हुई
आँखों से इशारा करती हैं
जंगल महल की लड़कियाँ।
देखा है
उनकी उँगलियों को, हथेलियों को
उनकी दरिया समान
आँखों को।
वे जानती नहीं
पढ़ना-लिखना
उनको है नहीं पोथियों का ज्ञान
काले अच्छर
उनके लिए
काले दानव के समान।
उन्होंने नहीं सुनी हैं
प्रथम और द्वितीय
विश्वयुद्ध की
भयानक कहानियाँ
किसी से भी
नहीं सुना है उन्होंने
धरती से चन्द्रमा पर
मनुष्यों के जाने की बातें।
बस सलवा जुडूम और माओवादी
शब्द और उनके अर्थ

बार-बार उन तक पहुँचते हैं।
हर बार
बहुत लोगों के
जान-जाने के बाद ही
जाना है उन्होंने
अपना अधिकार।
एक ही तरह के ड्रेसवाले लोग
गाँव में आते है
अधिकार देने की या तो
छीनने की बात कर
छोटे-छोटे बच्चों के
गलों में
प्यार से हाथ फेर कर
ले जाते हैं अपने साथ।
इनकी देह-चमड़ी
और चेहरा हूबहू
मिलते हैं माओवादियों से
सलवा जुडूम लोगों के साथ
इसलिए प्रत्येक बार ही
सामने हो जाते हैं
बंदूकों के सामने
और मरते हैं अनगिनत
चाहे गोली सरकार की हो
या चाहे माओवादियों की हो।
फिर भी आगे बढ़ते ही रहते हैं
जंगल-पहाड़ के
घुमावदार पगडंडियों से
और मुस्कान के साथ
अधिकार के गीत गाते जाते हैं।

पेट की आग से धुआँ निकलता नहीं

हाँ, महाशय!
आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं
इस गरीब बस्ती में
प्रदूषण तो नहीं है
धुआँ का तो नाम ही नहीं है
क्योंकि

लोगों के पेट में आग जलने पर भी
चूल्हा तो बिल्कुल ठण्डा है।

आप छाती फुलाकर सुना सकेंगे
अपने 'मिशन' की सफलता के किस्से
अब गन्दी बस्ती के लोग
पहले जैसे नहीं हैं
स्वच्छ और सभ्य
हुए हैं
जंगल-पहाड़ के पेड़ और लता
अब वे छूते नहीं हैं
प्रकृति के दुश्मन
अब नहीं रहे।

आप निकाल सकते हैं
प्रेस नोट
अख़बारों में
छपने के लिए
नगर के चौराहों में
बड़े-बड़े होर्डिंग टाँग सकेंगे
पा सकेंगे इसके लिए
बड़े-बड़े बहुत सारे पुरस्कार।

महाशय! आप अच्छे से जानते हैं
इस बस्ती में
बहुत दिनों से जला नहीं है
चूल्हा
इसलिए तो लोगों की पेट में
अब जल रहा है।

महाशय! डरने की कोई बात नहीं है
पेट की आग से
प्रकृति का दूषण नहीं होता
काला धुँआ नहीं निकलता
आसमान की ओर।

संपर्क : दुर्गचक रेलवे टेलकॉम रिपीटर स्टेशन, दुर्गचक रेलवे स्टेशन के नजदीक, गाँव-पुरवा रघुनाथचक, डाक-भुनियाराय चक, जिला-मिदनापुर, हल्दिया-721635, प.बंगाल, मो. 9732939088

मुंडारी (झारखंड)

चार कविताएँ

जुनास कन्डुलना
अनु. : रेमिस कन्डुलना
प्रस्तुति : खातिर हेम्ब्रम

आदिवासी महासभा ने स्वाधीनता पूर्व एवं पश्चात् राष्ट्रीय राजनीति में आदिवासियों की भागीदारी और उनके अधिकारों के लिए व्यापक जन-आंदोलन चलाया। जयपाल सिंह मुंडा इसके नेतृत्वकर्त्ता थे। आदिवासी महासभा एवं जयपाल सिंह मुंडा के आंदोलनों का व्यापक असर आदिवासी लेखकों एवं संस्कृतिकर्मियों पर पड़ा है। यहाँ प्रस्तुत जुनास कन्डुलना एवं लॉरेंस सिलास हेम्ब्रम की मुंडारी कविताओं पर उक्त प्रभाव को सहज ही देखा जा सकता है।

हाथ में तीर-धनुष पकड़

हाथ में तीर धनुष पकड़ और सिर पे पगड़ी लपेट
डंडा-उन्डा टाँग, भारी मोटरी कंधे पर,
कंधे के पीठ पर बराबरी का बासी भात ढोकर,
निकल घर से मेहमानी के लिए,
अकेले ही राह में चल पड़े।

राह बड़ी दूर, जल्दी चल,
तम्बाखू की पोटली, छोड़ आये तो,
फटा-टूटा छाता पीछे छूट जाने पर
माँ दौड़ते हुए आएगी छाता पकड़कर
और पकड़ाकर राह के लिए तुम्हें बिदा देगी।

पहाड़ों का रास्ता सँकरा और अति सँकीर्ण
चलते ही रहना तुम अपने पथ पर आगे,
और पीछे भी पलट कर देखते रहना,
सूरज को भी देखना कितना हुआ है समय,
फिर कभी चट्टान पर कर आराम।

खाने का समय हो गया तू रुक जा
माँ का दिया हुआ बासी भात,
बहन का बाँधकर भेजा हुआ इमली तियन
क्या, सब रस चूकर खत्म
है तो किसी प्रकार समाप्त करो खाकर।

क्या सोच रहे हो पेड़ की छाया में?
याद आ रही है भाई-बहनों की।
व्याकुल हो रहे हो प्रिय लोगों की याद में,
तरोताजा हो और तम्बाखू फाँक!
और कदम बढ़ाके आगे चल।

आ जा हे आर्य लड़का

आ जा हे! आर्य लड़का
देवता तेरा काली माँय, दशहरा में भैंस,
हम दोनों नहीं देते हैं क्या?
हम दोनों भैंस बलि नहीं चढ़ाते क्या?

अरे भाई! क्यों रे लड़का? खुरदरा मेंढक,
मेढक बलि, हम दोनों किसको दे रहे हैं?
हम दोनों में से कौन किसको बलि पर चढ़ा रहा है।

तुम तो भाई! बर्मा लड़का! हाट-बाजार में
सूप से रगड़ते हुए महिमा गाते हो।
मिठास रूपी मधुर कुत्ता को,
हम दोनों में से कौन किसके लिए खोज रहा है?
कौन किसके लिए बलि चढ़ा रहा है?

तुम हो गोरा साथी
विलायती बिल्ली, घोड़ा हुंडा, कुत्ता हाथी।
कैसे सोच लिया?

कैसे शुरुआत और प्रचलन कर दिया ऐसा?

जंगल के बीच दुनिया के चारों ओर
रंग बदलने वाला गिरगिट,
रस्सी रूपी साँप और पिशाच बलि माँग रहा है।
हमें बलिदान के लिए जंगल-पहाड़ों में खोज–फिर रहे हैं।

तुम बाड़ंदा महादेव, जरा-व्याधि
भूख-प्यास से मरोगे ही,
मुर्गे गीत गा रहे हैं और मुर्गियाँ इस पर बहस छेड़ दी हैं।

बिरसा सभा

उस रात्रि के प्रकाशमय चाँदनी रात को
बैठ गया बिरसा जवान बीच पत्थर पर,
उस रात्रि को, डुम्बारी बुरु पहाड़ में।
लड़ेंगे, देखेंगे दिकुओं को सुकन पहाड़ में
दृढ़ संकल्पी अगुआ ने गर्म जोशी से कहा–
हे साथियो!

किस किस प्रकार के दुःख तकलीफों से,
जूझ रहे हो, मुझे बताओ!
यह कुत्ता दिकु जाति! हमारे बीच,
चाट रहा है मानव लोहू को।

उस समय बसिया के आदमी ने कहा
कन्धे से टपक रहा है, पसीना जैसे खून
बेगारी ढोने की वजह से।

उसी क्षण बेलसियाँ के आदमी ने बताया
एक औरत जात को, कल ही एक बनियाँ लड़के ने,
बाजार टाँड़ में लाभ मारा।

इसके तुरंत बाद सिमडेगा के आदमी ने सुनाया
तेली लड़का मुझे मेरी जमीन से बेदखल कर रहा है।
और कहता है, तुम्हें ठोकेंगे कील।

इसके बाद एक आदमी, खड़िया लड़के ने कहा,

जमीन का मालगुजारी, नहीं दे सकने के कारण
तहसीलदार ने पीट-पीटकर मार डाला।

पहाड़, पर्वत, जंगल-झाड़ झारखंड को किनारे से, बाँध रहा है
मालगुजारी
एक-एक जगह-जमीनों को नापने वाली रस्सी रूपी सिकड़ी से
बाघ खा जाय ऐसी दिकु सरकार को!

जंगल-झाड़ को काट-झोंप साफ कर आबाद किया हमारे पुरखों ने
जगह-जमीन टाँड़ बना कर दिया हमारे बुर्जुगों पुरखों ने
इसलिए न्योच्छावर होंगे हम सब।

भूख-प्यास सहते जमीन पर पंच-पड़हा है स्वर्गीय ईश्वर,
अपने जातियों के विरुद्ध लड़ाई के लिए
आपस में जातीय स्वीकृति हुई।

तीर-कमान हम सब तैयार कर लें
देखेंगे और सामना करेंगे, उस राक्षस दिकु को;
दृढ़ मन से चिल्लाकर लोगों ने समर्थन किया।

तीर-धनुष-तलवार और युद्ध का अस्त्र-शस्त्र लाकर
चौबीस दिसंबर को गाँव-गाँव से एकत्र होंगे,
इस डुम्बारी पहाड़ पर हम सब।

सच्चा साथी आदिवासी

पहाड़ों में है कि, जँगलों में है
खाई खोह में हैं, सच्चा साथी आदिवासी।

आदिवासी, आदिवासी, कहते हो तो
सच्चा साथी आदिवासी,
चलो हम देख आएँ
सच्चा साथी आदिवासी।

गाँव-गाँव रति क्रीड़ा
क्या कर रहा है आदिवासी?
झगड़ा तकरार का फूल खिल रहा है
सड़ा, सड़ांध रहा है,

क्या यही है, आदिवासी?

झाखंड, झारखंड चाहते हो तो,
एक मुट्ठी बालू झारखंड का,
क्या नहीं रख पाओगे?
एक मुट्ठी बालू झारखंड का।

ढोते हो, सिर पे उठाते हो, बनियाँ नमक!
तुरुक साथी! दिकु नौकर,
साँप पालते हो! पागल जात आदिवासी!

गाँव-गाँव, झारखंड का प्रेम गीत गाकर
खुशहाल पापी, ख्रीस्तान साथी
जाति को, दोगला कर रहा है
ख्रीस्तान साथी आदिवासी।

तुम्हारे एक नहीं होने और सु-सुप्त बुद्धि के चलते,
इस सुन्दर झारखंड को कुत्ते खा रहे हैं।
इस स्वादिष्ट झारखंड को।

आर्थिक रूप से मजबूत बनो, एक जुट होओ,
समर्थ रूपी विशाल बाँध बनाकर,
उसमें डुबा कर ही मार सकोगे?
काटिए, बींधिए बंनिया जाति को,
सच्चा साथी आदिवासी।

दो कविताएँ

लॉरेंस सिलाल हेम्ब्रम
अनु. : रेमिस कन्डुलना

नहीं छोड़ूँगा

नदी-नालों से रेखांकित देश,
पहाड़ों के हार-माला से शृंगारित देश,
वृक्ष की पत्तियों से घूँघटा देश
प्रणाम करता हूँ मेरे देश, तुम्हें नहीं छोड़ूँगा।

नदी-नालों में मछलियाँ अठखेलियाँ कर रही हैं,
पहड़ों में बाघ, भालू और सियार कुलाँचे भर रहे हैं;
पेड़ पर चिड़ियाँ गीत गा रही हैं।

पहाड़ी की तलहटी में गायें चर रही हैं।
टीलहा-टका-टुकू पर भेड़ बकरियों के साथ
छोटी-सी लड़की गीत गा रही है।

आँगन में चटाई बीन रही है
गंदुर गढ़ा में सुअर के बच्चे और मुर्गी के चुज्जे
एक दूसरे को प्यार करते हुए झगड़ रहे हैं।

वन पतरा के किनारे मैंने जोत कोड़ किया
घर में एक पायदान गहरे पानी में

और दो पत्ते सब्जी के साथ माँड़-भात के लिए।

लाह-महुँआ ढोने वाले
चढ़ाईदार सरबोह की घटियों में अदम्य साहस से हाँफते हुए
अपनी अदम्य शक्ति को तौल रहे हैं, युवक युवतियाँ।

भूमि लुटा रहा है

ओह रे! देश,
भूमि लुटा रहा है, गिर रहा है,
और चला जा रहा है, कुत्ते के मुँह में।

गाँव-गाँव एक-एक मुंडा-पहानों
क्या कर रहे हो? पहड़ा राजा गण।

गाँव-गाँव, एक-एक बन्धु जन
क्या कर रहे हो? चट्टनी सिर वाले मुण्डा।

सु-पुत्री एक एक बाजार टाँड में
चढ़ाते हो पागल दास सब।

घर में है नहीं एक दाना भी
बाजार में पहने हो जूता, पगला बुद्धि में।

क्या खरीद बिक्री के लिए युवतियों को बाजारों के
अखड़ा में भेज दिया, कुत्ते के घर में।

ख्रिस्तान कहते अपने को, शैतानो
रीति-प्रीति में ही उपदेश करते हैं,
हाय! हाय! हाय!

उपाय खोजिये, उपाय खोजिये!
कोई तो बैठकर अगुवाई कीजिए
सुअर के घर से, मुंडा आदमियों।

सभा-पंचायतों में विचार कीजिए,
कि कैसे हम खड़ा करें, कोई एक मुंडा खंभा।

गुंगु पत्ता इकठ्ठा करने चले हम दोनों
कोमल पत्ता घने जंगल के खाईयों के नीचे
बिक्री के लिए बाजारों में एक मुट्ठा चवन्नी टका के लिए

गोड़ा धान पक कर तैयार हुआ है
किसी प्रकार गिरते पड़ते पहुँचाया हूँ मैं
माँस-मदिरा कर रहा हूँ नया खानी के दिन।

माघ-पुस का महीना पहुँचा है
खलिहानों में धान वृक्ष की अटियाँ खड़ी हैं,
बुढ़ा आदमी रक्षा कर रहा है,
कुम्बा के पास टुकुर-टुकुर।

चटाई में भरे-पूरे बच्चे मेरे
रात को चटाई के नीचे पुआलों में,
सोते हैं सपनों में मीठी-मीठी नींद।

देख देखकर चिन्तित हूँ
दिल मेरा इमली पत्ती जैसे
और नदी के जीमतू घाँस व
नागरमोथा घाँस के जैसे काँप रहा है।

संपर्क : खोरहा टोली, कोकर, राँची, झारखण्ड, मो. 8002837671

पाँच कविताएँ

वीरा राठोड

मैं रोटी कमाता हूँ तुम गाना बुनती रहना

इतना मन मसोसकर क्यों बैठी हो
यहाँ कौन हमेशा के लिए रहने आया है
जैसे कि दुःख घर बाँधकर बैठनेवाला है तेरे आँगन में
रहेगा चार दिन अपना समझकर
वैसे भी तेरा आँचल बहुत बड़ा है
जानता है वह भी
तुम मात्र यूँ ही बच्चो की तरह बहाती हो आँसू
कितनी बार समझाया है तुझे
कि इस तरह नहीं उडाते मेहनत की कमाई
भागते-भागते गिरनेवाले बच्चे को
तुम्हीं तो समझाती रही हो कोशिश का अर्थ
चींटी जितने सपने पर काले बादलों की भीड़
चिल जैसे मँडराती है
और हमारा संघर्ष चल रहा है निरंतर
सनातन भूख के साथ
यह कोई नयी बात नहीं है हमारे लिए
बाबा मर मिटा रोटी के लिए
तब माँ ने पाला पोसा जिंदगी को
लोरियाँ कहानियाँ गुनगुनाकर
घने अँधेरे खेतों में
बोया करती सपने, चाँदनी
और भूख को उलझाती रही गीतों से

तब पता चला कि
क्या मोल होता है भूख का बाजार में

रोटी गाने जैसी सहज नहीं होती कि
पकड़ ली जाए सुरों की तरह जब मन करे
लेकिन गाना भी बड़ा होता है भूख से
जिसमे समा जाती है भूख सहजता से
यह बात नहीं भूला हूँ
तुम भी याद रखना
यातनाओं, पीड़ाओं की
गुम हुऐ अतीत की कौन करता है परवाह
जब चलने की ठान ली है तो
ठेस तो खानी ही पड़ती है
ऐसा है ही क्या तेरे मेरे पास
जो छीन ले जाएगा वह
हाँ तेरा विश्वास मात्र रहने दे मेरे सिरहाने
हमें खत्म करने की सोच रहे जो पिशाच
सपने में भी नहीं छोड़ते पीछा
फिर भी हम आस लगाये बैठे हैं
लुढ़कते सपनों को खड़ा करने की
पी लेते हैं आँसुओं को इसलिए कि
सपने आँखों से ओझल न हो जाएँ
भरोसा रखना
हमारी झुग्गी-झोपड़ियों के भी निकल आएँगे
पंख मैं रोटी कमाता हूँ
तुम गाना बुनती रहना...
तुम गाना बुनती रहना...

(अनु. : सुधाकर सेंडगे)

लहू रिसते सलीब की टीस

एक बडा भारी सलीब
आन पड़ा है मेरे कंधे पर
और धीरे-धीरे ठुकी जा रही है
एक-एक कील
मेरे हाथ, पैर, सीने, माथे में
मैं लहुलूहान हो रहा हूँ
बहते-बहते मेरा लहू
खत्म हो जाएगा शायद

किंतु बर्फ नहीं बनेगा वह
भय के मारे
क्योंकि मैं निकल पड़ा हूँ
सुकरात के छंदशास्त्र की टोह लेने
मेरे भीतर का इंसान
त्याग देना चाहता है
जात-पात, धर्म-पंथ और ऐसे ही बहुत सारे भेद
लेकिन परंपरा के दायरे को
तोड़ पाना मुश्किल हो रहा है
पता नहीं
और कितनी पिढ़ियों तक
ढाती रहेगी कहर छाती पर
भूत बनकर
वैसे सहते-सहते फौलाद बन गया है सीना
ढाल की तरह
आँखो की गहराई से
मस्तिष्क के कीड़े तक
और संपूर्ण अंग अंग में फैली धमनियों में
समाया है
तुकाराम का महामंत्र
समूचे बदन मे
येशु की तरह
कीलें ठुकवाने की जुर्रत
कर रहा हूँ मैं
मै जानता हूँ कि
बुद्ध के ध्यान पथ से बेहद
सहमा हुआ है
परंपराओं का यह गुँजलक
इसीलिए मेरे भीतर के निर्झर को
बहने नहीं दिया जाता मुक्त रूप से
और नहीं पहुँचने दिया जाता मुझे
बुद्ध की गया
किंतु मैंने भी ठान ली है
किसी भी कीमत पर
इंसानियत को जीवित रखने की
इसलिए आनेवाली ऋतुओं को
कबीर बनकर बरसने का
आवाहन किए जा रहा हूँ
वह आकाश की नीलिमा को धारण करे

और गले लगाएँ
इंसान के भीतर की
इंसानियत को।

(अनु. : प्रकाश भातांब्रेकर)

सेनं सायी वेस[1] के राही

तुमने
कभी न मानी जाति
न खड़ी की धर्म की दीवार
न किए चालाकी से षड्यंत्र
मनुष्य की राह में
सत्ता, सिंहासन, जमीन-जायदाद के लिए।
तुमने
मनुष्य के लिए मनुष्य
इस परंपरा का किया पालन
फिर कैसे भूलूँ तुम्हें।

तुमने गायी लोकमंगल की
आदिम आरदास[2]
'सेन साई वेस'...
पूरे करो सभी के मनोरथ
दुनिया के लिए माँगते-माँगते
भूल गए स्वयं के लिए माँगना

'मुयेन मटी अन जिवतेन बाटी[3]
यही जीवन का अंतिम सत्य
गोदकर गये बाप-दादा
जीभ से लेकर कलेजे तक
जीवन का शीर्षक बनाकर
'मेरा' माँगनेवाली छोरियाँ
घने अँधेरे में भी हिम्मत नहीं हारती हैं
गीत गाती हैं
'रात अँधेरी ये दिवलो बाळदीलो'[4] की

1. सभी का मंगल करो ऐसी लोकमंगल की भावना।
2. बंजारा प्रार्थना
3. 'जो मर गए उन्हें भूलकर जीवितों की रोटी का इंतजाम करो'
4. दीपावली में टांडा की लड़कियाँ हाथ में दीपक लेकर रात को घर-घर जाकर प्रकाश के गीत गाती हैं। 'मेरा' एक बंजारा लोकगीत।

उजाले पर भरोसा रखने की सीख
वो देती हैं
घर-घर में
मन मस्तिष्क में युगों-युगों से
भुलाये नहीं भूलती
तुम्हारी छोरियों की अमृतबेल विरासत
तुमने जन्म दिया
तपसू भिल्लक को,
लखखी बंजारा
गोविंदगीर,
भाई मनसुख, मक्खन, मनिया
हजारों बंजारों को
'जाति झूठी रीति बड़ी' कहते हुए
रॉबर्ट के रंग में रंगी
पारो के प्रेम प्रताप को।

तुमने प्रेषितों का सदेश पहुँचाया
गाँव-गाँव
देश-विदेश में
सत्य की राह पर चलते हुए

तुम्हारा डिंगल-डंका
घूमा हजारों मील तक
गूँज उठा
कभी एक दौर था
तुम्हारे गीत ही थे गीता, बाइबल, कुरान

युद्ध के
हार-जीत के
किसी भी क्षीण वस्त्र
नहीं ओढ़े तुमने
किसी लोभ के बहाने
तुमने ढोए हैं
दुनिया के रंग अपनी लदेणी[1] से किसलिए
दुनिया को मिलाया ठेठ?
व्यवस्था ने मात्र
स्वार्थ के लिए तुम्हें ही चढ़ाया भेंट!

1. बंजारों का गाय, बैल की पीठ पर सामान लादकर चला आया व्यापार।

अभी हम इंसान में शुमार नहीं

चोरी हुई चोरी
पकड़ो-पकड़ो
हथकड़ियाँ पहनाओ अपराधियों को
चोर डाकुओं को पकड़ना ही चाहिए
साहब का ऑर्डर है

कोल्हाटी की रगी
नाचकर
पेट पालती थी
अब धंधा करने जाती है
रंडी कहलाती है

वासुदेव का पिता
और उसका छोरा
भगवान का नाम लेकर भी
भगवान की ही कृपा से
सड़ रहे हैं
घरबार और बीवी-बच्चों की
जिंदगी की हो गई बरबादी
और वह आशीर्वाद के नाम पर नाच रहा है

गोंधली ने गोधल किया
जहाँ-तहाँ
हर जगह
लेकिन घर-गृहस्थी
बीवी-बच्चों में
जागृति लाना ही भूल गया
बहुरूपी का महादू
मनुष्य नहीं रहा
हिजड़े का स्वाँग लेते-लेते हिजड़ा ही बन गया
दो बच्चों का बाप होकर भी
अब 'हिजड़ा' ही कहलाता है

अभी हम मनुष्य में शुमार नहीं
हमारी बस्ती बहिष्कृत है
कब हमें मनुष्य में शुमार करोगे?

माय बाप सरकार
'खानाबदोश को दाखिला कब दोगे'

टांडा[1]

रंग थिगलियों के बारह
बारह थिगलियों का अंग
कुरेदी नक्काशी दुःख की
जन्म से टूटे हुए बिंब
भले जीते कोई चाँद
हम जुटा न पाये मेल
जन्म से चल रहे हैं
लेकर टूटे जूतों का तल

पलकों के पानी से
भरी हुई खाली झोली
ओयासिस सी जिंदगी
पीछे गृहस्थी की होली
देह बनाई पाषाण
काफी सहकर पीड़ा
लेकिन जल न पाया
कभी हमारे घर का चूल्हा

कैसे यतीम हैं ये आँगन
नहीं सुख-दुःख का त्राता
दूर से ही जाती छाँव
रोज बैसाख ही बसता
और कितने दिन सहे
जीने की अतृप्त प्यास
यहाँ अँधेरा चीरकर
कब निकलेगा दिवस।

(अनु. : गिरीश काशिद)

1. बंजारों की भटकती बस्ती या कारवाँ

संपर्क : पी-10, अमर हाऊसिंग सोसायटी, एन-8, सिडको, औरंगाबाद, 431003, महाराष्ट्र, मो. 8888228335

बंजारा

शीरगानहली शांतनायक
अनु. : नामदेव एम. गौड़ा

एक

पांडुरंग मास्टर के एक स्कूल में
मैं एक ठेठ मूर्ख
लोवर केजी की कक्षा में दाखिल हुआ
फटा शर्ट, बटन की स्थिति
जर्जरित झोंपड़ी की छत की तरह
नीक्कर के बिना अर्ध नग्न देह
फुजला (रिंट) से सना ताड़पत्री समान
भाई, उसके साथी पिटाई से डरकर
स्कूल छोड़कर मजदूरी करने लगे
वे पेशाब को रोक न सके थे
पलटकर पूछने का साहस न था,
दुर्गम्मा देवालय की जमीन गोबर से
सनी हुई भीगो दी थी उन्होंने;
अरे, बाहर जाऊँगा मत बोल?
उत्तर देने की हिम्मत न थी
माँ ...कहकर जोरों से
रोना शुरू हुआ तो
मास्टर का मुँह बंद हो गया

दो

पांडुरंग के बाद
देवालय की दीवारे गिरी
पढ़ने वाले बच्चे
बुल्लापुर, केंचनल्ली, कोंडज्जीगे की ओर मुँह किए
भाई की पढ़ाई स्कूल जाने में मेरा आधार बनी
गाय डोंगर के पीछे घूमने के बजाय
छाया के नीचे बैठकर अक्षर सीखना
बेहतर लगा।
बिना दीवार के देवालय के बीच
पढ़ाने आए नए मास्टर किट्टपा
हर वक्त हाथ में छः हिस्सेवाला
बड़ा-सा टिफिन कैरीयर लेकर
दाखिल।
द्रोणाचार्य-एकलव्य के आत्मीयतापूर्ण
रवि के बगीचे चला पाठ
साल के प्रारंभ से
अंत तक हमारे मास्टर जी ने
रवि को कभी बगीचे भेजा ही नहीं!
रवि! शुरू करते ही
गाँव के लोग दृश्य के बीच पात्र प्रवेश करते
'मास्टर' का राग पकड़कर (आलाप)
उत्तर की प्रतीक्षा न कर
घुस जाते।
हे 'खेलने चलो' अनुमति मिलते ही।
बँधे हुए जानवरों के गले से डोर खुला हो जैसे
सायकिल के टायर को ही बस बनाकर
खेलने में मग्न, साथियों के झुंड में मिलकर
करग से त्रिदल पेड़ के दुर्गम्मा के
देवालय तक एक ही साँस में दौड़कर
मास्टर की बातें समाप्त हुई
सोचकर स्कूल वापिस आये तो,
'खाना खाके आओ' की घोषणा।
हमारे मास्टर खाने के बाद
धोने को देते अपना कैरीयर
तल में बचा हुई
चावल सांबार का स्वाद
खानेवालों के चेहरे देखते

पूँछ हिलाने वाले कुत्ते के पिल्ले जैसे
मुट्ठी भर चावल साँबर के स्वाद के लिए जीभ
मेरी बात सुनने तैयार नहीं थी।

तीन

आसानी से दिमाग में न जाते वर्णाक्षर (खड़ीपाई)
सिखाने बैठे पिता
अपढ़ पिता ब्राह्मण दोस्त से सीखे दो-एक अक्षर
सिखाने...
लिखाई न जानते मुश्किल में था
बेंत से जान जाने तक मारते
कुएँ के चारों ओर घुमाकर...
हाथ आते ही, मारकर मूर्छित किया था।
मास्टर भूसा ही भर देते हैं...
बच्चों को कुछ नहीं पढ़ाते क्रोधित होते पिता जी
स्कूल से मुझ अकेले को
चार मील दूर गाँव को
चलते...गाँव के बच्चों के साथ मिलाया था।
बच्चे खेलने चले तो
उनके बटुवे से मैं
स्याही, कलम निकालकर
फटे बैग में डालकर
घर चल पड़ा था।

चार

गाँधी मैदान के स्कूल में
शुरु हुई शिक्षा।
जीवन की विरोधाभासी कल्पनाएँ
अर्थवान होने लगी थीं
नयी सांसारिकता बसाने वालों के बीच
अपनी कोई जगह नहीं थी
जीवन के ताल-मेल में
हाथों-हाथ जुड़ने तक
तीन दिन चूल्हा जला नहीं
भूखे पेट को पानी ही अमृत।
मालिक के होटल में चपाती पलटनेवाले

काने मामा पर भार
एक आँख से मुझे देखकर, बीड़ी को तोड़ते
दाँतों पर दबाव डालते
क्यों आया रे?
मेरी चुप्पी से ही समझकर रात का बचा परोठा, सोरबा देकर
कोना दिखाता।

पाँच

पड़ोस के घर में रखी सूखी मिर्ची
चुराने के लिए
चुपके से गया
सूखी मिर्ची के खरखरे आवाज से।
कौन आवाज आई
सारा शरीर ठंडा पड़ा, चोरी भूलकर
घर के अंदर दौड़ा
न किये अपराध पर, क्रोध के ताप से
गाल लाल हो गये
आज भी वे निशान इतिहास के समान शाश्वत बने हुए है।
लगातार झगड़ों के बीच
जर्जरित था मैं...
एक दिन दिये हुए
बीस रुपयों में
कम दाम के चावल-ज्वार लेकर
बचे कुछ पैसों से भूखे पेट को
शांत करने मिक्स चावल खाए थे।
ज्वार के लिए बने दूसरे दिन के झगड़े में
झूठ काम न आया
ज्वार के थैली के साथ
दिन भर दुकान-दुकान घूमता रहा।

छः

मेरी दयनीय दशा देख माँ रोई
स्कूल छुड़ाने के लिए पिता पर दबाव डालती
किसी ने शहर में प्री हॉटल
का नाम बताया
मुझे ले जाकर दाखिल कर दिया।

खराब ज्वार से बने भेला
अनगिनत अंकुर फूटे कुलथी के साँबर में
कीड़े के साथ बना हुआ बैंगन का साँबर
भेला ठंडो पड़कर आकार विहीन
बीरकल बिरप्प के समान
जिह्वा अपनी स्वाद भूलकर
तरसती थी।

सात

शनिचर-मंगलवार
मास्टर का पाठ भेजे में न उतरता
हास्टल में मिलनेवाले थोड़े से चावल के पीछे
मन घूमता
महीनों में एक बार मिलने वाले अमरीकी आटे की चपाती के लिए
महीनों से सपना संजोता।
अमरीका से आए दूध पाउडर में
दही मिलाकर...भेला के साथ खट्टा-खट्टा घोल
उसके साथ चमड़ी से निकलती खुजली
दोनों हाथों की उँगलियों से चमड़ी घिसते
मिलने वाला सुख...
खुजली से...सारा शरीर घाव युक्त
हम जैसे भिक्षुक बच्चों को
अस्पताल ले जानेवाला कोई नहीं?
गर्वनमेंट अस्पताल के सफेद द्रव से
टी. टी. इंजेक्शन से
सारे शरीर में घाव...
न भरा घाव लेकर गाँव आते
नमक युक्त चिकनी गिली मिट्टी लगाकर
तालाब में उतरते
पानी में मछलियाँ
शरीर का घाव मवाद चूसतीं
हफ्ते भर में घाव सूख जाते।

[बंजारा जनजाति के लेखकों में इधर आत्मवृत्तान्त को कविता की शैली में अभिव्यक्त करने की पहल देखी जा सकती है। 75 खंडों में बँटी 84 पृष्ठों की लम्बी कविता का यह अंश आत्मकथात्मक काव्य-शैली का एक बेहतरीन नमूना है।]

संपर्क : L-8, 7th Cross, Opp. J.C.E. College, Manasagangothri Quarters, University of Mysore, Mysore-570006, Mobile : 9449021006

दो कविताएँ

हेमंत दलपति
अनु. : कार्तिकेश्वर बेहरा

शेमल का फूल

पिछले फागुन में कुछ लोग
एक बढ़ी हो रही लड़की को दो स्तन समझकर
दो पहाड़ों के बीच ले गए तब से वह लौटी नहीं,
उस दो पहाड़ों के बीच में बाँध बनने से पहले
बुद्धिजीवी, सरकार, अखबार सबकी बयानबाजी
लिखी नहीं जा सकती इस कविता में।

पानी से भरी होगी रवाँ की हुई जमीन
बिजली से सिर्फ घर में ही नहीं उजाला होगा
उजाला होगा आदमी के जीवन में भी
तुम चले जाओगे तो क्या हुआ
खूबसूरत घर दिए जाएँगे
दिए जाएँगे बाँध के तले जमीन
बेटों बेटियों के लिये नौकरी
तुम्हे सही श्रम में सही मजदूरी।

उपत्यका के शेमल के पेड़ तले
कुछ कवि शेमल के फूल के सौंदर्य में व्यस्त
फूलों को चूमते काले कीड़े की

खुशनसीबी पर क्षुब्ध कुछ कवि
कुछ शेमल के काटों से जख्मी।

आखिर बाँध बन गया
विदेशी कंपनी ने देशी मिट्टी में जड़ जमा लिया
जिसकी जितनी जमीन
उसको मिला उतना जल माने धन माने सम्मान
जिसकी कमीज पर जेब
उनके घर में उजाला
टीवी पर रामायण बिपाशा बसु सावरकर कोकाकोला

उपत्यका के अट्ठावन गाँवों में जब उठ गया
लोग मन ही मन खींचते थे
सुंदर-सुंदर घर की तस्वीरें
बृहत स्वार्थ के लिए
केवल बलि चढ़ेंगे गरीब
खाली वादों को सर पर ढोकर
अब चलना होगा ईंटभट्टी, खदान, शहर दर शहर।

फागुन के फाग के भीतर
छुप जा रहे हैं खून के धब्बे
बसंत की आड़ में चुपके से चला आ रहा है बैसाख
बाहर का पल्लू पकड़ कर लू
रैली का सामना कर रही है गोली
अदालत की राय में छुपकर आ रहा है संत्रास
उपत्यका के गाँव को डूबा दे रहा है नीला जल।

इस गाँव से बहत दूर
शेमल के पेड़ तले
रह गए हैं खूबसूरती निहारते बेहाल कविकुल।

धर्म

पहले तुम गेरुआ वस्त्र मैं उस दिन आए
'गाय को मारना हिंसा' कहकर
गाय मारने को मना किया
हिंसा क्या है हम जानते नहीं थे
फिर भी हमनें त्योहार में

गाय मारना बंद किया।

तुम फिर से आये
और आँगन में तुलसी लगाने की बात कही
हम खुश हुए;
पेड़ पहाड़ मिट्टी की पूजा करने वाले लोग
तुलसी के तले संध्यादीप, त्रिनाथ मेला, शनि मेला को भी जोड़ दिए
बाजार की ओर, ब्राह्मण की ओर बढ़ गया हमारा धर्म।

और एक दिन राम कृष्ण शिव हनुमान के फ़ोटो लाए
हमारे भीमा करमा दुआर्शनी पाटखंडा धरनी
सारे के सारे छोटे लगे
उनके सुंदर मंदिर,
इनके पहाड़ों में,
पेड़ के नीचे घर।

फिर सत्यसाई गायत्री अनुकूल चंद्र आशाराम बापू
हम सबसे गरीब अस्वस्थ अवहेलित सरल लोग
इसलिए हमारे इतने त्राणकर्ता, इतने ईश्वर
सोचा हमारी मिट्टी महुआ डूमा पितृ-पितरों को भुला
ऐसे हम आदिवासी से एक दिन हिन्दू बने
हम एक विराट स्रोत का अंश समझकर खुशी से नाचे
इस बीच तुमने हमें पहचनवाया था गाय हमारा माँ है
और गाय को मारने वाला हमारा दुश्मन है।

पिछली रात
तुमने आकर गाय को मारने की खबर दी
हम शिकार में जैसा जाते लिए बाजे गाजे
धनुष तीर लाठी फरसा अपने साथ लिए हमनें
गाय मारने वालों को मारा, घर जलाया,
हाँ हिंसा किया;
सुबह हमने देखा वे हमारे भाई, हमारे सहोदर थे।

तुम्हें उनका लहू पीते हुए देखकर हम समझ गए
की धर्म-फर्म झूठ है तुम्हारी प्यास सच है
हिंसा करने के लिए अहिंसा मुखौटा है।

संपर्क : जिला शिक्षा व प्रशिक्षण प्रतिष्ठान, चित्रकोंडा, जिला-मालकानगिरी-764052, उड़ीसा, मो. 9437639668

पके फसलों में खोता मैं

(प्रख्यात असमिया कथाकार येशे दोर्जी थोंग्छी को समर्पित)

अन तेरन
अनु. : हाँमिजि हाँसे

सोचता हूँ आप हैं कौन?

कोहरे से रंगरलियाँ मनाते
मागही का चाँद तो नहीं।

आप आए कहाँ से हैं?

पृथ्वी के रंगों की बहार में
सावन के बारिश में
अरमानों से आलाप करते
इंद्रधनुष से तो नहीं?

इन सवालों का मेरे पास कोई जवाब नहीं

लेकिन
कोई अगर पूछे कि आप कहाँ हैं?
खुशी के आँसू बहाकर
मेरी कविताएँ इसका जवाब देंगीं
आप
आप
मेरे दिल के कोने में रहते हैं।

आपके 'मौन होंठ मुखर हृदय'* के
पके हुए फसलों के बीच
ख्याल नहीं रहा कब सो गया

यहीं से
आनेवाले दिनों में आपके शस्य भंडार तक
चिड़ियों के बीच में रहूँगा।

आपके कलम से खोदी हुई
नदियों से उड़ती कोहरे के बादल
आपके खेतों में नाचती ओस की बूँदें
वाह! क्या कहना।

मुझे पता ही नहीं चला
कोहरे कि आड़ में
चुपके
चुपके
आपके खेत के बीच में कैसे खो गया

आज तो शर्म छोड़कर
कहना ही पड़ेगा
मेरी सारी कविताएँ
आपके नाम से ही शुरू होती हैं।

मेरी हर साँस में
आपका सलाह-मशवरा है
काले बादल छाते वक्त भी
मुस्कुराना आपने सिखाया है।

आपके खेत में जबसे खोया हूँ
आप ही आप
मेरे दिल के सरताज आप।

* मौन होंठ मुखर हृदय–थोंग्छी जी का बहुचर्चित उपन्यास

राज्य की ओर जाती एक सड़क

लोंग्बिर टेरांग
अनु. : मणि मोहन

चल रहे हैं...
चल रहे हैं...
और और आगे बढ़ रहे हैं,
एक सड़क जो पकड़ के रख सकती है
तुम्हारी तड़प और तुम्हारे सपने
स्वप्न में जीते हुए कभी नहीं मिटेंगे
कार्बियों के कदमों के निशान
हालाँकि अभी हम मंजिल पर नहीं पहुँचे हैं;
पिछले छप्पन वर्षों से
हिंसा और संघर्षों से जूझते हुए
अनगिनत लोगों ने अपनी प्राणों की आहुति दी;
हमारे दादा-दादी, हमारे माता, पिता;
हमारे भाई और बहन;
आह! जब कभी यह सब याद आता है
तो हृदय में टीस सी उठती है
क्योंकि एक लम्बे समय से
हृदय इस सबका साक्षी रहा है,
कभी अशक्त की तरह
आँसू बहे, रक्त बहा
अस्तित्व ने प्रताड़ना सही, गला फाड़कर चीखे-चिल्लाए
कोई नहीं सुनता हमारी आवाज,

पर कोई हमें दुर्बल नहीं कर सकता
कि अब बीच रास्ते में नहीं रुकेंगे, कभी नहीं;
जब तक कि हमें दिख नहीं जाती नए दिन की सुबह
हम थमेंगे नहीं,
चिंता की कोई बात नहीं
अब हम ज्यादा दूर नहीं
एक लम्बी दूरी हम पहले ही तय कर चुके हैं,
बाधाओं से तो सामना करना ही होगा
क्योंकि यह सड़क कंटकों से भरी पड़ी है
पर जब तक साँस है रुको नहीं,
चले चलो! संघर्ष की राह पर,
एक 'नए राज्य' की राह पर चलते हुए
एक दिन हमारा सब
शांत और सुकून से भरा पहाड़ हमारा होगा
कार्बी की धरती पर स्थिर शांति होगी।

मुझे और नहीं जीना इस पृथ्वी पर

रमेन इंगति

पाइ और पो...
मुझे और नहीं रहना इस पृथ्वी पर
ले चलो ले चलो...
जल्द ले चलो मुझे
वहाँ आप लोगों के पास।
बहुत मिला है मुझे औरों से प्यार
पर आपके प्यार जैसा नहीं,
आपके प्यार की तुलना मैं किससे करूँ!
आज मैं और शर्मा नहीं सकता
अब तक अपने पैरों पर खड़ा न हो सका
लोग और मेरी कितनी मदद करेंगे?
जन्म दिया, बड़ा किया और पढ़ाया।
आप दोनों की इच्छा थी मुझे अच्छी नौकरी मिले
पर आप मुझे छोड़कर क्यों चले गयें इतने दूर?
इस कारण मैं और लाचार-परेशान
अपने पैरों पर खड़ा होना तो दूर
अब बन गया हूँ रिफ्यूजी की तरह
आज आप जहाँ भी हो
जल्द बुला लो मुझे
आप दोनों के पास
जल्द लेके चलो मुझे।

सुहाने सपने पर सच से परे

वेलसिंग हाँसे
अनु. : मोनजिर इंगति

उन्होंने कहा—"जंगल छोड़ो, शहर में आओ"
आज्ञा मान निर्विवाद और हम चल पड़े
दिलों में अरमान और महत्त्वाकांक्षा के धुन में
यशस्वी कल की मदहोशी को भर आँखों में
हम चल पड़े पीछे-पीछे जब तक
वन बचे नहीं अपने ही पशु-चारे के लिए।

हमें चाहिए था क्या?
बस वह दावत बुलाने पर
समय बिना धीरे-धीरे
जहाँ नर हुए आलसी और बिगड़े
वही नारी रुखे कामों के बोझ के मारे
दो वक्त की भूख मिटाने को
युवा पीढ़ी ने अपना ली वेश्यावृति बहुत पहले

"यह विशाल भूखंड तुम्हारा था"—यह अब आप बतलाते हो

समय के महाखेल में
कुछ नहीं बचा अब हमारे हाथों में
सारे उनके हाथों में
बस कुछ सपने है इन आँखों में
जो अधूरे ही बंद होने को है।

बोडो (असम)

दो कविताएँ

रश्मि चौधरी
अनु. : बिजित गोरा रामसियारि

नये रास्ते

सूखी दुनिया में
खंगार पेड़
धीरे-धीरे सूख रही जड़ों में
काला पड़ गया है

बेखबर दुनिया
खाद का अकाल है जहाँ
अनगिनत हालातों से
खो गई है मौसम की दौड़ भी

पौधे सूख गए
पत्ते गिर गए
फिर भी जड़ ढूँढ़ रही है
ठंडा पानी और हवा

मौसम ठंड है
खामोश बैठी हैं हालातें
देर से गिरी हुई खाद की बारिश से
खड़ा हुआ है

सूखा जड़
रिमझिम बारिश से
बह रहा है दरिया
ढूँढ़ रही है मिलन को आतुर
एक अपनापन विस्तार

मजबूत जड़
पी रहा है
चाहत की सूखी होंठ से
बारिश की बूँदे

मगर वक्त ने तो
निगल लिया है
और तूफानों से बिखर रही है
पत्तियाँ
फिर भी ढूँढ़ रही हैं एक नया खेत
और एक नया बीज
नया बागीचा बनाने की खातिर

मगर तुम वापस आना
सिर्फ तुम

बेखबर वक्त

उबलते हुए पानी की आँधी में
जब तूने मेरे जिस्म को पकड़कर
उस गर्म पानी में डाला

शब्दों के जड़ों ने उखाड़ लिया था
इक नई जड़ को
और मार डाला था जकड़-जकड़ कर
सपनों में न आने वाली इस पार हकीकत

तेरे बेखबर सुराग का
उस मुसीबत की घड़ी को
खबर न मिल पाने से
पिघल गया था तुम्हारा तोहफे का अग्निकुण्ड

इधर जिंदगी का दस्तावेज
खुद बार-बार पढ़ रही हूँ
ख्यालों के मेले में

उधर वक्त के इंतजार में
लटकी हुई इक जान
जिसकी लापरवाही ने मुझको
शब्दों से निगल लिया

नेटवर्क की दौड़ में
गुमशुम सी आवाज
कभी सुना सा और कभी अनसुना सा
सच और झूठ भी

जहाँ पछतावे
अभिनय दिखाते हैं
सन्नाटों से भरे अँधेरों में रोशनी जलाकर
कल की इक नई रोशनी के इंतजार में।

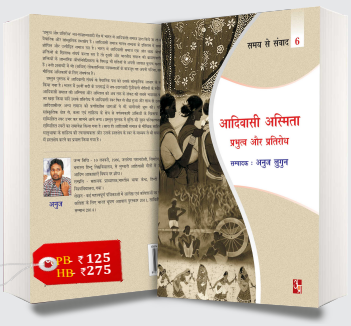

नयी किताब प्रकाशन समूह
नयी किताब प्रकाशन
अनन्य प्रकाशन
अतुल्य
1/11829 पंचशील गार्डन
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
16, शांतिमोहन हाउस, द्वितीत तल
अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002
011-22825606, 22824606, 9811388579, 9971895162
E-mail : nayeekitab@gmail.com, prakashananya@gmail.com
Website : www.nayeekitab.com

दो कविताएँ

मिनिमोन लालू
अनु. : तेली मेचा

स्त्री के विरुद्ध अपराध

स्त्री के विरुद्ध बढ़ रहा अपराध
कई राज्यों से आ रही खबरें
लोमहर्षक ऐसी घटनाओं पर
शोक-संतप्त सारे नागरिक

बच्चियों को भी नहीं बख्शते
युवा हैं या वृद्ध इसकी भी परवाह नहीं करते
ज़मीर उनकी मर चुकी
वे फैलाते अराजकता चारों ओर

भय पनप रहा परिवारों में
परिजनों के मन में बढ़ रही व्यग्रता और अकुलाहट
मानिसक शांति रूठी सी
और बढ़ रहा आक्रोश, आतंक।

अंधविश्वास

रखा है कदम इक्कीसवीं सदी में हमने
घोषणा कर दी नव तकनीकी युग की

आधुनिकता के साथ कदम मिलाकर
पुराने सिद्धांत भूलने की कोशिश कर
शिष्ट बनने के फ़िराक में
विचारों की तारतम्यता की खोज में
कुछ घुसपैठी अटके दिमाग में आज भी
जो बढ़ी पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में
यह आस्था के साथ आमना-सामना
काला जादू, जादू-टोना या अपशकुन
चुड़ैल-डायन और साँपों की कथा
सत्य है या मिथक
रह जाएगा क्या रहस्य अनसुलझा!

गारो (मेघालय)

दो कविताएँ

कोल्नाट बी. मराक
अनु. : तुनुङ ताबिङ

भयंकर बीमारी

जब सल्ग्र (सूर्य देव) अपने फाटक खोलता है
हर दिन
अजीब गंध
समुद्र के एक ओर से बहकर आती है
पश्चिमी देश की ओर से
जैसे लहरें
जैसे वर्षा ऋतु की मूसलाधार बारिश
यह चिपचिपा, यह नम
समुदाय के लिए बीमारी
और मातृभूमि के लिए भी।
चाहे वयस्क, युवा
किशोर, बच्चे
कोई इससे बच पाया है, अपना हाथ उठाओ?
अब कहीं भी बातें करने में वह आनंद नहीं
अब कहीं भी संस्कृति में उल्लास नहीं
क्या तुम इसे झूठ कह सकते हो?
गर्भपात,
मात्र औरत की शादी
आसानी से किसी पुरुष से
धागे सी पतली समस्या के लिए

साथी एक-दूजे के छोड़ देते
एक बुर्जुग आदमी
एक सफ़ेद बालों वाली औरत
क्या वे भी महसूस करते हैं?
बूढ़े चाचा, सबसे बड़े भैया के लिए
क्या वे सुनते हैं और हाँ कहते हैं?
यह बेशर्मी की भयानक बीमारी
नदी के उस ओर से
पश्चिम देश की ओर से
जैसे पशुओं की महामारी
जैसे गाय के पाँव में बढ़ती सड़न
यह सारे समुदाय में फैल गया है
मेरी दादी की मातृभूमि में
मेरे दादा के देश में
समुदाय का गौरव खो रहा
घर की रीढ़ की हड्डी को दीमक खा गए
इसे बचाना चाहते हो?
अच्छी दाई की तलाश करो
अच्छे डॉक्टर की खोज करो
अगर कल नहीं
पक्का वे मर जायेंगे
सड़े हुए बदबू की गंध चारों और फैलेगी!

मेरा मूल्यवान ख़जाना

मेरा मूल्यवान ख़जाना
न सोना है न चाँदी
मूल्य इसका सोच से परे
वह है मानसिक शांति।

संसार के सभी राजाओं को
चाह तुम्हारी है,
मालिक हो या सेवक
रोते सभी तुम्हारे लिए।

संसार की सारी धन-संपत्ति का
मैं गुलाम नहीं होना चाहता
मुझे चाहिए केवल भर पेट खाना

लेकिन भीख नहीं।

शांति, छिपी कहाँ हो तुम?
सामने आओ जरूरत मुझे तुम्हारी
ईर्ष्या, तुम क्यों आये?
मुझे जरूरत नहीं तुम्हारी।

ईश्वर तुम राजाओं के भी राजा
प्रार्थना मैं केवल एक चीज की करता,
न हीरा न मोती
चाह मुझे मानसिक शांति।

कोकोरबोरोक (त्रिपुरा)

पाँच कविताएँ

बिकास रॉय देबबर्मा
अनु. : जुमनु कामदाक

आमने-सामने

निद्राविहीन रात;
अँधेरे की सुंदरता को बाहर लाता,
साथ बैठने के लिए पर्याप्त जगह बनाता
और स्वयं से साक्षात्कार
मुझे निर्जन वनों में आदम बनाता
अकेले टहलते हुए
सितारों से घिरे आकाश में।

प्यास

पूरे दिन बरसती रही;
और पूरी रात,
जैसे घड़ा उल्टा रखा हो,
लेकिन प्यास बुझी नहीं,
क्योंकि यह बारिश नहीं थी
जिसकी मुझे चाह थी।

आप और मैं

मैंने लाखों वर्षों तक आपकी रक्षा की
और कई शताब्दियों तक रक्षा करते रहेंगे;
क्योंकि आप इसके हकदार हैं

खून की हर एक बूँद;
साँसों की हर एक गिनती गाती चली जाएगी;
हाँ मैं तुमसे प्यार करता हूँ
और उस दिन से,
एक और महाविस्फोट तक।

प्रतिशोध

प्रतिशोध की भावना रखने वाले;
जरूरी नहीं कि कहने के लिए कुछ न हो;
मौन का अर्थ यह नहीं है कि सब शांत है।
सौम्य ज्वालामुखी भी, जानता है;
कौन सा समय अनुकूल है
बात करने के लिए।

दोपहर की उमस भरी गर्मी में गीत

मैंने कभी शाही दावत का सपना नहीं देखा था
जैसे परियों की कहानी में सुन रखा था
न ही एक महल का
जो दूर पश्चिम के
अनमोल पत्थरों से निर्मित हों
न ही ऐसे भव्य छत का सपना देखा था
जहाँ झाड़-फानूस लटके हों
और हाथियों के स्तंभ
विशाल फाटक के सामने खड़े हों।

मैंने जो सपना देखा था
वह मोटे चावल का एक विनम्र भोजन था
जंगली सब्जियों और बाँस के नमकीन सूप में डूबा
तीखा और लजीज
सूखी मछलियों से मिश्रित।

और सिर पर एक छप्पर
पैरों के नीचे बाँस से बना फर्श;
और सभी अजनबियों के लिए खुला दरवाजा;
कभी दोपहर की तेज गर्मी में
उदासी भरी कोई लोरी;
पहाड़ों और घाटियों के लम्बे रास्ते में बहती हुई
जैसे एक शराबी हवा।

गालो (अरुणाचल प्रदेश)

दो कविताएँ

ताकोप ज़ीर्दो
अनु. : अशोक कुमार पाण्डेय

एक सपना जरूर देखूँगा

मैं हरा लाल नीला सफेद
सभी रंगों को सपने में स्पष्ट देख लेना चाहता हूँ
चश्मा पहनकर
किंतु चश्मा पहनकर सोना अत्यंत कठिन है!
मैं सपने में देख लेना चाहता हूँ
जीवन जीने के लिए उत्तम से उत्तम
साधनों को,
किंतु नींद के दस्तक देने के पहले
लोग अपने दुःख-दर्द समेटे
मुझे सपनों के पास पहुँचने से
रोक देते हैं;

मैं सपने में देखना चाहता हूँ
कि मेरे कौन से संबंधी
मेरे खिलाफ साजिश रचना चाहते हैं
किंतु मेरे सिरहाने लटकता
मुझे तरावट देता पंखा
अचानक बंद हो जाता है
(क्योंकि) बिजली के चले जाने से

और मैं सपने से वंचित रह जाता हूँ।

मैं सपने में देखना चाहता हूँ
कल को मेरे साथ घटने वाली
घटनाओं को
कल को मेरे पास आने वाली
विपदाओं को
और इसके लिए निद्रा देवी को
आगोश में भरकर सो जाना चाहता हूँ
किंतु हलक में हलचल करते थूक
और त्वचा में उठती बेचैन करती सिहरन
मुझे निद्रा देवी को आगोश में भरने से
रोक देती है;

मैं एक ही करवट में लेटकर
सपने देखना चाहता हूँ
किंतु बहुत कठिन है एक करवट में लेटना
इसलिए मैं रात भर करवटें बदलता रहा
झींगुरों और पतंगों के संगीत सुनता रहा
पर पलकों पर निद्रा देवी का
असर नहीं हुआ
और चश्मा लगाये
बिना सपने के
रात गुजार दी।

एक संवाद फूलों से (जिज्ञासा प्रकट की)

सुंदर खिले हुए फूलों से मैंने पूछा
आप इतने सुंदर क्यों हो, कैसे हो
पर
पुष्प मौन रहे
मुझे कोई उत्तर नहीं मिला
मुझे प्रतीत हुआ कि
सुमन मुझे देखकर मुस्कुरा रहे हैं
अतः मैंने फिर पूछा
आप इतने सुंदर क्यों हो?
और इतने खुश क्यों हो?
किंतु

पुष्प शांत रहे
मेरा प्रश्न अनुत्तरित रहा
मैं प्रसून के सौंदर्य को देखकर
संगीतमय गीत लिखना चाहता हूँ
किंतु
पुष्प के सौंदर्य सागर को
मैं शब्दों की गागर में भरने को असमर्थ हूँ
पुष्पों की सौंदर्य माधुरी को
शब्दों में गुनगुना चाहता हूँ
पर
मेरे स्वर का माधुर्य इनके लिए अपर्याप्त है
हे प्रसून!
तुम्हारा बाहरी रूप
इतना मोहक और अप्रतिम है
तो अंतस तो और खूबसूरत होगा
जिसमें शांति, सृजन, संवेदना और प्रेम भरा होगा
निवेदन है कि तुम भले ही
मेरे प्रश्नों के उत्तर न दो
पर
अपनी आंतरिक सौंदर्य के रंग से
मेरा जीवन अवश्य भर दो।

कहानी (हिंदी)

बदरू हांसदा

विश्वासी एक्का

रजिस्टर में कक्षा पाँच के बच्चों का नाम देखते हुए, रघुवर सिंह की नजर एक नाम विशेष पर ठहर गई। रघुवर सिंह ने स्कूल में कुछ दिन पहले ही कार्यभार ग्रहण किया था, नई जगह पर अपनी पहचान बनाने और तालमेल बना पाने में थोड़ा समय तो लगता ही है। रघुवर सिंह पिछले चार-पाँच दिनों से यही कोशिश कर रहे थे। रघुवर सिंह ने स्कूल के चपरासी को पास बुला कर पूछा—"सुनो तुम्हारा नाम क्या है?" चपरासी ने जवाब दिया—"केंदा मुंडा।" रघुवर सिंह—"हाँ, ठीक है, मैं बार- बार तुम्हारा नाम भूल जाता हूँ, चलो कुछ दिन में याद हो जायेगा। वैसे तुम लोगों के नाम भी तो अजीब होते हैं, किसने तुम्हारा नाम रखा? केंदा मुंडा ने सकुचाते हुए कहा—"पता नहीं मास्टर साहब, माता-पिता ने ही रखा होगा।" चल अच्छा है नाम बड़ा या काम कहते हुए मास्टर साहब मुस्कुरा दिए। केंदा मुंडा पाठशाला में अपनी नौकरी के साथ अपने अनुभव का खजाना भी जमा करता जा रहा था, लोगों की आढ़ी- तिरछी बातों का जवाब देना भी सीख लिया था। उसने रघुवर सिंह से कहा- "हाँ, मास्टर साहब, लेकिन मुझे लगता है कि यदि नाम बड़ा होता तो शायद काम भी बड़ा कर जाता। देखिए न, चपरासी की नौकरी करते हुए आधी उम्र गुजर गई, पत्नी भी जवानी में ही साथ छोड़ गई, अगर अच्छी नौकरी होती तो शायद इलाज कर उसे बचा लेता।" रघुवर सिंह ने केंदा मुंडा को चश्में के ऊपर से घूरते हुए कहा- "ठीक है, अलादीन हंसदा को जरा बुलाओ तो।" केंदा मुंडा, जी मास्टर साहब कह कर उस कक्ष की ओर बढ़ गया, जिसमें कक्षा पाँच के बच्चे बैठे थे।

कक्षा तीन के बच्चे पहाड़ा रट रहे थे, दो एक एकम दो, दो दूने चार, दो तिया छै केंदा मुंडा के चेहरे पर एक संतोष झलक आया, आखिर एक स्वर में, गा-गाकर पहाड़ा याद करना उसी ने तो सिखाया था। स्कूल में दो ही तो शिक्षक थे, वे भला पहली से पाँचवीं तक के बच्चों को कितना पढ़ा पाते। क्लास खाली होने पर जब बच्चे शोर मचाते तो केंदा मुंडा चपरासी से शिक्षक बन जाता, एक कड़क शिक्षक। जब वह गा-गाकर पहाड़ा सुनाता और कहता कि

उसने बस पाँचवीं तक की पढ़ाई की है, लेकिन जो कुछ पढ़ा था उसे आज भी याद है, पच्चीस तक का पहाड़ा वह बिना अटके एक एक स्वर में सुनाकर जैसे अपने कहे को सच साबित कर देता। जब वह हँसता तो सामने के दो टूटे दाँतों की खिड़की से चेहरा कुछ ऐसा दिखता कि बच्चे जोर-जोर से हँस पड़ते।

अलादीन हंसदा, रघुवर सिंह के सामने अपने दोनों हाथ पीछे मोड़कर खड़ा था। जब मास्टर जी ने चश्मा उतार कर टेबल पर रख, सफेद भौंहों के नीचे से अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से उसे देखा तो अलादीन जैसे घबरा कर, तन कर सीधा खड़ा हो गया। उसके हाथों की बंद मुट्ठियाँ खुल गईं और वह लगभग सावधान की मुद्रा में खड़ा हो गया। रघुवर सिंह मुस्करा दिया और कहा—"डरो मत, आराम से खड़े रहो।" वैसे तो अलादीन हंसदा किसी से नहीं डरता, उसकी माँ उसकी हिम्मत थी, वह कहती—बेटा, किसी से मत डरना, मैं हूँ न, और फिर तुझे खुद ही तो सब कुछ करना है, मुझे अगर कुछ हो गया तो, तुम्हें खुद अपना ख्याल रखना होगा, मेरे सिवाय दुनिया में तुम्हारा और कौन है?"

मास्टर जी ने पूछा—''तुम्हारा नाम अलादीन हंसदा है?'' अलादीन ने संक्षिप्त उत्तर दिया-"जी"। तुम्हारी माँ का क्या नाम है? अलादीन -"बदरू हंसदा"। अब रघुवर सिंह की उत्कंठा और बढ़ गई, लेकिन उन्होंने खुद को संयत करते हुए पूछा-"तुम्हारे पिता का क्या नाम है? जवाब मिला -"बदरूद्दीन"। रघुवर सिंह -"वो तुम्हीं लोगों के साथ रहते हैं? अलादीन- "नहीं"। अंत में एक और सवाल अलादीन के कानों में सुनाई दिया -"क्यों? जवाब भी सधा और सपाट था- "वो मर गये।" पकी उम्र का सारा अनुभव जैसे व्यर्थ हो गया, रघुवर सिंह को जैसा लगा था वैसा बिल्कुल नहीं था। कोई डरपोक बच्चा, निर्विकार भाव से इन कठिन प्रश्नों के उत्तर इतनी सरलता से कैसे दे सकता है। मास्टर साहब ने कहा-"ठीक है तुम अपनी क्लास में जाओ।"

कुछ देर तक रघुवर सिंह का सिर, अपने बाएँ पैर के अंगूठे के साथ ऊपर-नीचे उठता-झुकता रहा, उन्होंने टेबल पर रखे बॉटल से दो घूंट पानी पिया और केंदा मुंडा को आवाज दी। केंदा मुंडा एक मिनट बाद सामने आकर खड़ा हो गया। रघुवर सिंह ने नाराज होते हुए कहा- "तुम छुप कर मेरी और अलादीन की बातें सुन रहे थे? केंदा मुंडा ने बनावटी हँसी के साथ जवाब दिया-"नहीं मास्टर साहब ऐसा नहीं है, मैं तो दरवाजे के पास खड़ा यही सोच रहा था कि इस बच्चे को और कितने लोगों के सवालों का जवाब देना पड़ेगा। आप तो उसके शिक्षक हैं, आपको सवाल करने का अधिकार है, यहाँ तो जाने, कितने लोगों ने अनधिकार, चुभते सवालों से बार-बार अलादीन के मन को चोट पहुँचाई है। पहले तो अलादीन खूब रोता और माँ को बताता लेकिन अब वह जैसे पूछे जाने वाले सवालों के जवाब अपने भीतर ही ढूँढ़ लेता है और उन जवाबों से खुद को मना लेता है।" रघुवर सिंह बोले-"तुम उसकी माँ को जानते हो? केंदा मुंडा-"हाँ मास्टर साहब वो हमारे गाँव की ही बेटी है, मैं फिर कभी आपको सारी बातें बताऊँगा।" जैसे केंदा मुंडा ने रघुवर सिंह के भीतर उठते सवालों को पढ़ लिया हो। रघुवर सिंह बोले—"ठीक है, जाओ घंटी बजाओ, स्कूल की छुट्टी का समय हो गया है।

बरवाडीह एक खूबसूरत रेलवे स्टेशन है, कुछ दूरी पर खेत, जंगल और पहाड़ों में फैली हरियाली यात्रियों के मानस में भी विस्तारित हो जाती है। ज्यादा बड़ा स्टेशन न होने के कारण यात्रियों की भीड़भाड़ भी कम ही होती। स्टेशन के बाहर एक सूखा पेड़ था वहीं स्टेशन से होकर जाने वाली सड़क में कुछ दूरी पर जामुन का एक बड़ा पेड़ था, उसकी घनी और ठंडी छाँव तले बदरू हंसदा हँड़िया बेचती जैसे वह तपती दुनिया के लू के थपेड़ों से थोड़ा निजात

पा लेती। हंड़िया को कुछ लोग राइस बियर कहते, इस राइस बियर को पीने के शौकीन लोग, बिना किसी शर्म-लिहाज के जामुन के छाँव तले गटागट एक-दो गिलास पी लेते, उबले चने का चखना भी बदरू हंसदा के पास उपलब्ध होता। कुछ लोग बॉटल और जरकिन में हंडिया भर कर ले जाते।

बदरू हंसदा ने ये कभी नहीं सोचा कि लोग क्या कहेंगे न आज न पहले, अपने और अलादीन का पेट भरने के लिए कोई और चारा भी तो नहीं था उसके पास। एक भाई था रीझन, अपढ़ था। रोजगार की तलाश में मुंबई गया था, वहाँ समुद्र से बालू निकालने का काम मिला, साथ में कुछ और लड़के भी थे जो पहले ही आसपास के गाँव से गये हुए थे। रीझन समुद्र में डुबकी लगाता, कमर में रस्सी बँधी होती जिसका एक सिरा एक बड़े नाव से बँधा होता। जब रीझन पानी से बाहर आता तो साथ में बाल्टी भर रेत होती, एक बार तो बाल्टी में फँस कर एक नर खोपड़ी आ गई, पानी से बाहर आ कर जब उसकी नजर उस खोपड़ी पर पड़ी तो मुँह से एक चीख निकल गई उस चीख में भय कम और विनोद ज्यादा था।

समुद्र से रेत निकालने में रीझन बड़ा कुशल था, इस काम के बदले उसे पैसे भी तो ज्यादा मिलते थे। उसका बचपन गरीबी और अभाव में बीता, अब एक मौका मिला है तो रीझन माथे पर लगे गरीबी के कलंक को धो डालना चाहता था। लेकिन एक दिन उसकी तबीयत ऐसे बिगड़ी कि ठेकेदार ने उसकी गाँव वापसी का टिकट ही कटवा दिया। ठेकेदार भला कोई जोखिम क्यों उठाता, आदमी काम का है तो ठीक नहीं तो उसे चलता करो। गुमला के सरकारी अस्पताल में बहुत इलाज कराया, जितने पैसे कमाये थे, खर्च हो गये, पर बीमारी का ठीक-ठीक पता नहीं चल सका। डॉक्टर ने इतना ही बताया कि समुद्र के पानी से संक्रमण हो गया है। रीझन के मरने के बाद उसके बिस्तर पर कुछ कीड़े रेंगते हुए दीख पड़े थे। किसी ने बताया कि वे कीड़े रीझन की नाक से निकले थे, पता नहीं यह यह सच था या अफ़वाह। जस्सी हंसदा के लिए उसका भाई रीझन ही तो एक सहारा था, पिता तो बचपन में ही गुजर गये थे। माँ बीमार ही रहती थी।

रीझन मुंबई से साल-छः महीने में घर आता तो माँ के हाथों में कुछ रुपये रख देता, पर वे रुपये भी माँ-बेटी के गुजारे के लिए कम ही पड़ते। एक दिन माँ ने जस्सी से कहा- "जस्सी हमें मन दो-चार ठे बकरी पाल लेई का।" जस्सी ने हामी भर दी, यह काम बहुत कठिन नहीं था, चराने के लिए पास में ही जंगल और खेत थे। अगले ही दिन जस्सी की माँ गाँव के मुखिया के घर से एक हजार रुपये में एक बकरी खरीद कर घर ले आई। बकरी के साथ घर मे जैसे एक उम्मीद भी आ गई। बकरी को चराने का जिम्मा जस्सी पर ही था, कभी अगर वह दूसरे काम में उलझीं रहती तो पेड़ की छोटी पत्तेदार डालियाँ काट कर ले आती और बकरी के पास रस्सी के सहारे टाँग देती, बकरी एक-एक पत्ती नोच कर खाती जाती, जब पेट भर जाता तो टाँगों के बीच मुँह घुसा कर सो जाती। झरबेरी के पत्ते बकरी को खूब भाते। एक साल बाद बकरी ने दो छौनों को जन्म दिया, जस्सी और उसकी माँ बहुत खुश थीं, दो वर्षों में ही जस्सी के घर बकरे-बकरियों का एक छोटा कुनबा पलने लगा।

बकरियाँ खेतों में चर रही थीं, धान की फसल कट चुकी थी, खेतों के बीच छोटे-छोटे घास हरियाने लगे थे, बकरियों को छोटे घास ही ज्यादा पसंद आते हैं। दूर से कुत्तों के भौंकने की आवाजें आ रही थीं। जस्सी को पता था कि पास के जंगल के रास्ते दूर की पहाड़ियों से छुपते-छुपाते अक्सर भेड़िए आ जाते हैं, बकरियाँ उन भेड़ियों का आसान शिकार थीं। चरवाहे के साथ होते भी कोई बकरी जरा नजर से ओझल हुई कि भेड़िए उसको अपना शिकार बना

लेते, अगर चरवाहा अकेला हुआ तो खुद भी भेड़ियों की लाल डरावनी आँखों, लपलपाती जीभ और पैने दाँतों को देख कर घबरा जाता और अपनी बकरियों को भेड़ियों का शिकार बनते लाचार हो बस देखता रह जाता। अगर चरवाहे की घुटी चीख गाँव तक पहुँचती तो चरवाहे की पत्नी चूल्हें में कलछी डाल कर एक टोटका करती जिससे वह गर्म कलछी की ताप भेड़िए के मुँह में जा लगती और भेड़िया शिकार को वहीं छोड़ कर अपने झुण्ड सहित भाग खड़ा होता, लेकिन चिल्लाने के लिए चरवाहे के पास हिम्मत बची हो तब न।

जस्सी ने अपने चारो ओर नजर घुमा कर देखा, जब वह आश्वस्त हो गई तो सोचा ढोढ़ी में नहा ले फिर कुछ देर बाद बकरियों को हाँक कर घर ले जायेगी। जस्सी ने पोटली से झावाँ निकाला और रगड़-रगड़ कर एड़ियों को साफ करने लगी। बीच- बीच में वह बकरियों को देख लेती और आवाज भी दे लेती। नहा लेने के बाद वह गीले कपड़ों को बदल कर, मिट्टी से धुले बालों की लटों को उँगलियों से सुलझाते हुए ढोढ़ी के शांत हो चुके पानी में अपना चेहरा निहारने लगी। बिल्कुल साधारण रंग- रूप, गाँव की दूसरी लड़कियों से भी उन्नीस। अपनी ही धुन में खोई जस्सी अचानक चौंक गई। "ऐ सहिया! बकरी बेचबू का?" किसी पुरुष की आवाज सुन कर जस्सी पीछे मुड़ कर देखने लगी। कुछ ही दूरी पर एक पुरुष सिर पर गमछा बाँधे, सफेद कुर्ता और चौखाना छाप लुंगी पहने खड़ा है। जस्सी समझ गई ये बकरियों का खरीददार है, जस्सी ने अनमने भाव से जवाब दिया—"मोर माय जानी, माय से पूइछ लेबू तअ बताबूँ।" इतना कह कर जस्सी दूर बहकती बकरियों को लौटा लाने के लिए दौड़ पड़ी। दो दिन बाद शाम को अपने घर के बाहर उसी पुरुष को देख कर जस्सी चौंकी नहीं लेकिन उसे आश्चर्य जरूर हुआ क्योंकि उसने जस्सी से घर का पता तो पूछा नहीं था। जस्सी ने माँ को आवाज दी—"माँ बकरवाल आइ हिक, बात कइर ले।" इतना कह कर जस्सी घर के भीतर चली गई। थोड़ी देर बाद जस्सी अपनी माँ के साथ बाहर आई, बकरवाल ने ज्यादा मोल-भाव नहीं किया और दो बकरों का पाँच हजार में सौदा तय हो गया। जस्सी पैसे लेकर जल्दी से भीतर चली गई, वह अपने पाले हुए बकरों को ऐसे दूसरों को ले जाते हुए भला कैसे देख सकती। जाते हुए बकरवाल ने जस्सी की माँ से कहा- "मोर नाम बदरुद्दीन अंसारी हिके, अम्मा अउर बकरा बढ़ाये रखबे लेहे के आबूँ।"

जस्सी ट्रेन के आगे कूद कर मर जाना चाहती थी लेकिन उसे अभी और दुनिया देखना शेष था, अपने हिस्से की गरीबी का दंश और झेलना था, शायद इसीलिए तो किसी अनजाने व्यक्ति ने उसे ट्रेन के सामने कूद जाने से रोक लिया था। उस भले आदमी ने सायकल से जाते आदमी को रोक कर कहा—"सुनिये आप इन्हें पहचानते हैं, मैं तो यात्री हूँ, गाड़ी आने में एक घंटा देर है सो इधर टहलने चला आया, ये ट्रेन के सामने कूद जाना चाहती थीं, मैं इन्हें काफी देर से देख रहा था और इनका इरादा भाँप गया था।" जस्सी नजरें नीची किये चुपचाप खड़ी रही एक मिनट बाद उसने पलकें उठाई तो सामने केंदा मुंडा को देख, फफक कर रो पड़ी। केंदा मुंडा ने कुछ नहीं कहा, उसे रो लेने दिया फिर उस अनजान आदमी को हाथ जोड़ कर धन्यवाद दिया और जस्सी को सायकल में बिठा कर घर तक छोड़ दिया। उसने रास्ते में जस्सी से बस इतना ही कहा—"तोंय तो मइर जाते, तोर मरे के बाद तोर माय के का हाल होतक।"

बदरुद्दीन, बकरी खरीदने के बहाने एक दो महीने में गाँव आने लगा और हर बार वह जस्सी के घर भी पहुँच जाता, जबकि जस्सी के घर बेचने लायक बकरियाँ भी नहीं होतीं। गाँव के लोगों से यह बात छिपी न रह सकी, लोग ऐसे मामलों में पहले तो चुप ही रहते हैं

लेकिन जब उन्हें लगता है कि पानी सर से ऊपर चला गया है तब उनकी चुप्पी टूटती ही नहीं, जहरीला तीर बन जाती है। बदरुद्दीन ने जस्सी और उसकी माँ को बताया था कि उसकी पत्नी मर चुकी है, दो बच्चे हैं, बस अपना और बच्चों का पेट भरने के लिए वह दर-दर भटक रहा है। जस्सी को बदरुद्दीन पर तरस आता लेकिन उसने कभी कुछ कहा नहीं, लेकिन उसके बिना कुछ कहे ही बदरुद्दीन उसके मन के भाव समझने लगा था। ऐसा नहीं कि जस्सी के मन ने उसे चेतावनी न दी हो, लेकिन मन में जागते संदेह को उसने यह सोच कर दरकिनार कर दिया कि आखिर बदरुद्दीन के मन में भी तो कहीं उसके लिए जगह है तभी तो वह बार-बार यहाँ चला आता है, माँ और जस्सी का हाल-चाल पूछ लेता है। फिर मन में उठते भाव को संयत कर खुद को तसल्ली देती कि अगर उसकी पत्नी जीवित होगी तो भी क्या मुसलमान तो एक साथ कई पत्नियाँ रख सकते हैं, जब मन किसी की ओर झुक जाता है तो उसके दोष देख सकने की दृष्टि भी जैसे मंद पड़ जाती है, वैसे भी गरीब और अतिसामान्य दिखने वाली जस्सी से कौन विवाह करेगा? उसके समाज में लड़कों से ज्यादा लड़कियों की संख्या थी, कई लड़कियाँ तो बिन ब्याही ही बूढ़ी हो चली हैं।

बदरुद्दीन माँ-बेटी को भरोसा दिलाता कि जब वह ज्यादा रुपये कमा लेगा तो उन्हें अपने साथ ही रखेगा, गुमला में एक छोटा सा घर भी बनवा लेगा। जस्सी जाने क्यों उसकी बातों पर भरोसा कर लेती, वह खुद नहीं समझ पाती। एक दिन जस्सी ने बदरुद्दीन को बताया कि वह पेट से है। पहले तो बदरुद्दीन चुप रहा फिर कुछ देर बाद जस्सी को समझाने की केशिश की, कि अभी ठीक समय नहीं है, अभी बच्चा गिरा देना ही ठीक रहेगा। जस्सी असहाय हो बदरुद्दीन का चेहरा देखती रही, मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। जब जस्सी की माँ को पता चला तो पहले तो उसने जस्सी को खूब गालियाँ दी, जब गुस्सा ठंडा हुआ तो उसने भी बेटी को वही नेक सलाह दी, लेकिन जस्सी किसी की बात मानने को तैयार ही नहीं हुई। तीन महीने बाद बदरुद्दीन वापस आया लेकिन एक घंटा ही वहाँ रुका, वापस जाते समय वह जस्सी के हाथ पाँच हजार रुपये रख गया। इसके बाद कई महीने बीत गये बदरुद्दीन लौट कर नहीं आया, जस्सी ने भी जैसे उसका रास्ता देखना छोड़ दिया।

वह अमावस की अँधेरी रात थी, झींगुर और अनजाने कीड़े-मकोड़ों की आवाजें अँधेरे को और घना कर रही थीं। जस्सी की माँ की अनुभवी आँखों ने शाम से ही भाँप लिया था कि आज माँ-बेटी की कठिन परीक्षा की रात है, उसने केंदा मुंडा से कह कर जचकी कराने वाली सुखो दाई को भी बुलवा लिया था। जस्सी जब दर्द से कराहने लगी तो उसकी माँ अँधेरे में टटोलती हुई बाहर निकली और सुखो दाई की बाट जोहने लगी, साथ ही वह बड़बड़ाती जा रही थी—"केतना समझालों, जस्सी कुछो सुनलक नहीं, अब मैं ई बुढ़ौती में एकला का करबूँ, जस्सी तो मोके मरे से पहिलहे माइर देलक, हे भगवान मोय का करों।" उसी समय टार्च की मद्धिम रोशनी दिखाई दी, जैसे असीम समुद्र के बीच डूबती नौका को कोई बचाने वाला मिल गया हो। केंदा मुंडा ने पास आते ही फुसफुसा कर कहा—"काकी जा, सुखो दाई के भीतर ले जा, मोय बहिरहें बइठल हों।" सुखो-"दीदी तोय कहबे होले रातों राइत मोय बच्चा के ठिकाने लगाय देबूं, नहीं त राँची में अनाथ आश्रम में छोइड़ आबूं।" अशक्त जस्सी की आँखें अधमुंदी थीं, लेकिन चेतना तो थी, उसने माँ और सुखो दाई की ओर कातर दृष्टि से देखते हुए लड़खड़ाती ज़बान से कहा-"नहीं, मोर बच्चा हिके आजी, मोय पालए-पोसइ लेबूं, मोर बच्चा दे,दे।" आखिर माँ का दिल कब तक कठोर रह सकता है, सुखो भी तो एक औरत ही थी, माँ की ममता उसे भी तो पता थी, आखिर उसने थक हार कर बच्चे को जस्सी के

बगल में सुला दिया।

कई महीने बीत गये, गाँववालों ने जस्सी को नहीं देखा। वह भोर में ही उठ कर ढोढ़ी में नहा कर आ जाती और रात के अँधेरे की प्रतीक्षा करती और आस-पास टहल आती, नमक-तेल जैसे जरूरी सामान लाना माँ के जिम्मे आ गया था। एक दिन चिंतातुर हो जस्सी की माँ ने बेटी को सीख देने के अंदाज में कुछ ऐसी बातें कह दी जो जस्सी को सीख के साथ बड़ा हौसला भी दे गई। आज जस्सी हिम्मत जुटाकर दिन के उजाले में ही घर से बाहर निकली, स्टेशन की ओर जाने वाली कच्ची सड़क के किनारे एक छोटी सी दुकान थी, जस्सी ने जरूरत का कुछ सामान खरीदा और वापस जाने जाने के लिए मुड़ी ही थी कि एक मनचले की आवाज जस्सी के कानों में टकराई—"बदरू केर जस्सी।" एक पल को जस्सी के कदम ठिठक गये लेकिन वह रुकी नहीं और न ही पीछे मुड़ कर देखा, जस्सी को इस स्थिति का अंदाजा पहले से ही था। नामकरण तो बच्चे का होना था लेकिन लोगों ने जस्सी का नया नामकरण कर दिया। अब जस्सी हंसदा बदरू हंसदा के नाम से पुकारी जाने लगी। पहले लोग पीठ पीछे कहते थे, अब तो सामने ही इस नाम से पुकारने लगे, जस्सी ने कभी प्रतिकार नहीं किया, करती भी कैसे दुनिया से अकेले टकराना क्या इतना आसान होता है। या कौन जाने वह इसी रूप में बदरुद्दीन अंसारी से बदला लेना चाहती हो, उसने शायद इसीलिए बच्चे का नाम अलादीन रख दिया, जो प्रत्यक्ष था उसे ढँकने का क्या फायदा।

देखते ही देखते अलादीन तीन साल का हो गया। एक दिन उसने माँ से पूछा—"माँ, मोर अबा कहाँ हिके? जस्सी को पहले से ही अंदाजा था कि लोग अलादीन के माध्यम से इस प्रश्न का उत्तर पाना चाहेंगे, उसने अलादीन की ओर देखे बिना कहा—"तोर अबा मइर गेलक।" जिस बच्चे ने कभी अपने पिता को देखा ही न हो, उसके लिए उसका मर जाना क्या अर्थ दे सकता था। अब गाँव वालों को भी बदरुद्दीन के बारे में जानने की इच्छा नहीं होती, शायद वे अलादीन के माध्यम से जान गये कि बदरुद्दीन कम से कम जस्सी के लिए तो मर ही चुका है। जस्सी की अब दोहरी जिम्मेदारी थी बीमीर माँ की देखभाल और अलादीन की परवरिश। सर छुपाने के लिए एक टूटा-फूटा मकान था, छोटी सी बाड़ी थी और चार बकरियाँ थीं जिन्हें वह रोज चरवाहे के हवाले करती और शाम को बगल वाली कोठरी में बाँध देती। हँड़िया, जस्सी की छोटी सी कमाई का जरिया थी, वह भी गर्मी के दिनों में। जस्सी दोपहर से शाम तक जामुन की छाँव तले बैठी रहती, अलादीन भी वहीं खेलता रहता।

केंदा मुंडा ने एक दिन मौका देख कर कई दिनों से मन में चल रही गुप्त इच्छा को जस्सी की माँ के सामने प्रकट कर ही दिया—"काकी, जस्सी का एकले जीवन बिताय देवी, तोंय कह तो, मोंय ओके रइख लेबूं, अलादीन हूँ, पइल-बइढ़ जई।" जस्सी की माँ को केंदा मुंडा का प्रस्ताव ठीक लगा, क्या हुआ कि वह जस्सी से उम्र में बारह साल बड़ा था, पर आदमी तो अच्छा है। "ठीक कहथिस बाबू, मोंय कोनों दिन मइर जाबूं होले जस्सी केर का होई" कह कर जैसे उसने अपनी सहमति दे दी। एक दिन जस्सी की माँ ने जस्सी को समझाने-मनाने की कोशिश की लेकिन जस्सी खुद को इस फैसले के लिए नहीं मना सकी। जबकि जस्सी को पता था कि उम्र से ज्यादा बीमारी उसकी माँ पर हावी होती जा रही है। जीवन के दिन तो बीतते ही जाते हैं चाहे वे सुख के हों या दुःख के, एक दिन जस्सी की माँ रात को ऐसे सोई कि सुबह उठी ही नहीं, माँ के मरने पर जस्सी को जोर-जोर से रोते हुए किसी ने नहीं देखा।

जस्सी अब पहले से ज्यादा शांत रहने लगी थी, अलादीन भी माँ को चुप देख कर

बस टुकुर-टुकर देखता रहता, थोड़ा खेलता फिर माँ के पास आकर बैठ जाता तो कभी एक-एक कर टपकते जामुन को अपनी नन्हीं हथेलियों में भर लेता, ट्रेन के भोंपू की आवाज सुन उसकी नकल करने की कोशिश करता। एक दिन कुछ अधेड़ पुरुष हँड़िया खरीदने आये, उनमें से एक ने कुटिल मुस्कान के साथ—"क्यों बदरु चखना भी खिलाओ, बिना चखना के हंड़िया का स्वाद कैसे मिलेगा।" फिर वे आपस में एक दूसरे को देख कर मुस्कुराने लगे। उनके जाने के बाद जस्सी ने अलादीन को अपनी गोद में बिठा लिया, उसकी आँखों में आँसू भर आए।

केंदा मुंडा स्टेशन की ओर जा रहा था, सामने से सिर में हँडिया की देगची रखे, अलादीन की उँगली थामे जस्सी आती दिखाई दी, केंदा मुंडा ने सायकल रोक कर पूछा—"स्टेशन जा थिस का? जस्सी—"हाँ" केंदा मुंडा—"जस्सी तनि होशियार बन, एतना बड़े जिंदगी है, कइसन बीती, और सुन अलादीन के स्कूल में भर्ती करइ दे, पढ़-लिख लेवी तो तोर सहारा बइन जई।" जस्सी को केंदा मुंडा की बातें ठीक लगी। हिरणी को शिकारियों से बचने के लिए, चकमा देना सीखना पड़ता है, गुजरे समय से भी जस्सी कई-कई सबक सीख चुकी थी, लोग कहते—"जस्सी बहुत बदल गई है भाई, कोई उसके मुँह मत लगना।" जस्सी एक दिन अलादीन को स्कूल ले गई, मास्टर साहब से प्रवेश संबंधी जरूरी बातों की जानकारी लेकर जब वापस जाने लगी तो बरामदे में केंदा मुंडा मिल गया, उसने मुस्कुराते हुए पूछा—"कोई दिक्कत तो नई है?" जस्सी ने जवाब दिया—"नहीं ददा, सब ठीक है।" जस्सी आज बहुत खुश थी।

जस्सी अलादीन को डॉक्टर बनाना चाहती थी, भाई और माँ को उसने ठीक इलाज न करा पाने के कारण ही तो खोया था। पखेरू की तरह उड़ते दिनों को जस्सी ने पकड़े रखने की चाह कभी मन में नहीं रखी आज इतने वर्षों बाद, जस्सी का सपना साकार हो गया, उसकी तपस्या जैसे फलीभूत हो गई। उसके बेटे ने सफलतापूर्वक डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी कर ली। जस्सी इस सपने को प्रत्यक्ष देख कर भी विश्वास नहीं कर पा रही थी। केंदा मुंडा की आँखें भी भीग गईं, अलादीन केंदा मुंडा की आँखों को पोंछते हुए कहा—"काका, अब मैं तुम्हारा इलाज करूँगा, तुम न होते तो क्या मैं डॉक्टर बन पाता, देखना अब तुम्हारे घुटनों का दर्द बिल्कुल ठीक हो जायेगा।" केंदा मुंडा ने अलादीन के हाथों को कस कर पकड़ लिया और कहा, "मेरा इलाज तो ठीक है लेकिन तुम बताओ, इस बीमार समाज का इलाज करने वाले डॉक्टर नहीं होते क्या, मुझसे ज्यादा इस समाज को इलाज की जरूरत है।" जस्सी जैसे बुत बनी खड़ी थी, उसकी आँखों से दो मोटी धार निकल कर उसके पैरों को भिगोने लगी।

संपर्क : महारानी लक्ष्मीबाई, वार्ड क्र.09, न्यू कॉलोनी, पटेलपारा, अम्बिकापुर, जिला-सरगुजा (छ.ग.), मो. 9340382843

मैं हमेशा साथ हूँ

तेली मेचा

भोर होने की आतुरता कभी इतनी नहीं जगी जितनी आज हुई। इस इंतज़ार में मैं मुर्गे की पहली बाँग पर ही उठकर जाग गई। बहुत ज्यादा बेचैनी थी। आज आने (माँ) अस्पताल से वापिस घर आ रही है। पता नहीं आज मुझे किस नाम से पुकारेगी?

आने की उम्र काफी हो चली थी, जिस कारण वे बहुत ज्यादा भूलती थी। मुझे कभी अपनी बहन 'यारिन' कह कर बुलाती तो कभी अपनी आने(माँ) कहकर खुद बच्ची बन जाती। मेरे पति हमेशा मुझे चिढ़ाते। "आज तुम्हारा कौन-सा रूप दिखने वाला है?" और खूब ज़ोर-ज़ोर से हँसते। बेचारे, आने की गिरफ्त से वो भी भला कैसे बच पाते? आने तो उन्हें आबो (पिता) कहकर ही बुला लेती थी। बहुत ही मज़ेदार माहौल बन जाता था। पर आने पर उन सबकी हँसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। वो तो उसी लहजें में परिवार के सदस्यों को कोई न कोई उपाधि दे ही देती थी। मुझे बुरा तो बहुत लगता पर इस कारण परिवार में एक अच्छा माहौल बनने लगा था। कई बार नींद से अचानक आने, बेटा नगा (लड़के बच्चो को प्यार से बुलाना), बेटा आबू (बेटे को प्यार से बुलाना), कहकर दरवाजे से बाहर निकल आती। उनकी ये छटपटाहट देखकर मैं कई बार डर कर उसके पास भी नहीं जाती थी पर मेरे पति उन्हें बड़े प्यार से मनाकर वापस उनके कमरे में सुला कर आते। कभी-कभी तो वो 'तागिन-तागिन' कहकर बेहोश ही हो जाती थी। ऐसी हालत देख, मैं कुछ नहीं कर पाती और खुद को बहुत बेबस महसूस करती।

कई बार मैंने अपने बड़े चाचा से पूछा भी कि आखिर आने इतनी बेचैनी से बेटा नगा, बेटा आबू, भला किसे पुकारती हैं? और हर बार की तरह वे यही कह कर टाल देते कि "तुम्हारी आने की बड़ी इच्छा थी पुत्र प्राप्त करने की, परंतु तुम्हारे जन्म के बाद ही पिताजी चल बसे। इस कारण कई बार ऐसी हालत में वे यूँ ही बेटे की चाह में बड़बड़ाती रहती है।" और 'तागिन' के बारे में पूछने पर इतना ही कह देते हैं "पता नहीं सपने में क्या देख लिया हो? वो ही बोल रही होगी।" मैं सब जानती थी। परंतु सच्चाई की गहराई से मैं कोसों दूर थी। इतना

मुझे जरूर पता था कि आने का पहले किसी 'तागिन' नाम के पुरुष से विवाह हुआ था और उनसे दो बेटे थे जिन्हें वे नगा और आबू कहकर बुलाती थी।

करीब साढ़े दस बजे आने घर आ गई। बिलकुल हड्डी का ढाँचा मात्र ही शरीर के नाम पर था। वे तब भी कुछ न कुछ बुदबुदा रही थी। उसको नहला कर मैं उसके पास ही बैठने वाली थी कि उन्होंने मेरे चेहरा को देखते हुए बोली "तुमने शादी कर ली और मुझे आमंत्रित तक नहीं किया? तू कितनी मतलबी निकली 'यारिन' मैं भी तुम्हें अपनी शादी में नहीं बुलाऊँगी।" इस बार पूरा परिवार उस कमरे में पहले से ही इस घटना को देखने के लिए मौजूद था। सभी पेट पकड़-पकड़ कर हँसने लगे। मुझसे भी रहा नहीं गया और मैं भी हँस दी। शाम तक न जाने कितने ही लोग आने का दर्शन करने आते थे। सभी की खातिरदारी करते मेरा पूरा दिन निकल जाता। डॉक्टर का कहना था कि आने चंद दिनों की मेहमान है। गुवाहाटी, वेलोर या कहीं बाहर इलाज के लिए ले जाना बेकार है। इस कारण उनकी आखिरी साँसों का इंतज़ार सभी कर रहे थे और शायद मैं भी। क्योंकि और कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था। रात होते ही मेरे पूरे शरीर में दर्द होने लगता। यही क्रम करीब एक सप्ताह तह चलता रहा। मेरे पिताजी गाँव के बहुत ही प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनकी तीन पत्नियाँ थीं जिनमें मेरी आने तीसरी थीं। जिस कारण लोगों का घर पर ताँता लगा रहना स्वाभाविक था।

आज आने की बाहों में सिर रखकर सोने का मन था। पर कैसे सोती? छोटी बेटी अभी सिर्फ एक साल की थी। मैं आने को सुलाकर उसे दुःखी मन से विदा कर अपने कमरे में आ गई। पर नींद कोसों दूर थी। आने ने बताया था कि वो अपनी जवानी के समय बहुत ही खूबसूरत थी। गाँव का हर युवक उसे पाना चाहता था। पर उसे तो सुलूङ् (छोटे कुल) तागिन से प्रेम हो गया था। आने का संयुक्त परिवार था। उसके पिता की आठ बीवियाँ थी। जिनमें वह दूसरी बीवी की पहली बेटी थी। खूब चंचल, गोरी-लंबी, चिट्टी। जिस कारण उसका नाम 'युपू' (गोरी) रखा गया। शायद कोई जोरम बस्ती नाम था उनका। मुझे कुछ ढंग से याद नहीं। आने सही प्रकार से बोल भी नहीं पाती थी उन दिनों। आने तब उन बीती बातों को बताती थी। जब हम खेतों में जाते थे। वहाँ भी छोटे चाचा के आस-पास आ जाने पर आने कोई दूसरी बातें बोलने लगती। घर पर तो इस विषय पर बात करना गुनाह था। एक बार मैंने गलती से आबो (पिता) के सामने 'तागिन' का नाम लिया कि आने को इतनी मार पड़ी कि तीन दिनों तक वह बिस्तर से उठी ही नहीं। तब से मैं ऐसी गलती कभी नहीं करती।

आने ने बताया कि दूसरे गाँव के किसी प्रतिष्ठित आदमी के साथ उनका रिश्ता पाँच मिथुन के साथ तय कर दिया गया है। यह जानकार 'तागिन' के साथ वह भाग गई थी। जिस कारण उन दोनों को गाँव और परिवार से बाहर निकाल दिया था। वे तो बहुत खुश थे। अपने प्रेमी के प्रेम को पाकर वे तो संसार के सारे दुःख दर्द भुला चुके थे। जंगलों में रहकर पहाड़ों में खेती कर वे दोनों ही खानाबदोश की जिंदगी अच्छे से जी रहे थे। फिर उनके दो बेटे हुए जिन्हें वे नगा और आबू कहकर प्यार से बुलाते थे। फिर ईटानगर के गंगा बस्ती में आने का कारण पूछने पर कुछ देर शान्त रहकर बताती है। तागिन ने फैसला किया कि इस साल कहीं दूर और बड़ा खेती काटेंगे। क्योंकि अब उनकी ज़रूरतें भी बढ़ गई थीं। मैंने मना किया की इतना लालच ठीक नहीं आने दोनी की कृपा से हम साथ हैं। और कुछ ज्यादा नहीं चाहिए। पर वे सुने नहीं। उसने करीब एक पूरा पहाड़ के पेड़ों को काट दिया था। अब केवल उसमें आग लगानी ही बाकी थी। समय तय हुआ और पाँचवें दिन हम उस कटे पेड़ों में आग लगा देंगे। आग बहुत तेज़ी से बढ़ी और देखते ही देखते पूरा पहाड़ एक दिन में ही साफ़ हो गया,

परंतु खेती के आखिरी छोरों पर अभी भी आग की लपटें सुलग रही थी। हमदोनों ने उसे बुझाना जरूरी नहीं समझा और वैसे ही छोड़ घर लौट आये। आधी रात को इतनी तेज़ हवा चली कि तोकों पत्तों की बनी छत के उड़ जाने का डर सताने लगा। आने बच्चों के साथ घर के भीतर ही थी। आचनक से तागिन ने बहुत ही दुःखी स्वर में बोला। "युपू! अब क्या होगा हमारी बची राख़ ने विशाल आग का रूप धारण कर दूसरे पहाड़ पर धावा बोल दिया। हम चाह कर भी इसे नहीं बुझा सकते। अब क्या होगा?" तागिन के चेहरे का रंग उड़ गया था। आने ने धीरज बँधाते हुए उसे समझा कर सोने के लिए भेज दिया। उस रात दोनों ही नहीं सोये थे। सुबह की लालिमा ही दिख रही थी। आने खाना बनाने के लिए चावल साफ कर रही थी की करीब दर्जनभर लोग शोर मचाते हुए घर की ओर नंगे दाव लहराते हुए आ रहे थे। उनमें आने का छोटा भाई कान्या भी शामिल था। वही सबसे आगे चल रहा था। तागिन और बच्चे शोर सुन कर बाहर आ गए। उस झुंड से छोटे कद का एक आदमी सामने आकर तागिन पर लात-घूसों की बरसात करने लगा। आने उन्हें रोकने कि नाकाम कोशिश करने लगी। उनकी बातों से पता चला कि कल रात की आग ने उनके खेत को ही नहीं खेत में बना 'ताबो' (खेत में आराम के लिए छोटा घर) में रखे मिथुन की दस सींगें भी जल गई। मिथुन की सींगों तो धान लगाते समय लोगों को खिलाने के लिए रखा गया था क्योंकिं सिंग एक बार सुख जाए तो उसमें बची मीट कई दिनों तक खाई जा सकती है।

किसी तरह मैंने सबके पैर पकड़ कर बात को शांति से बैठकर सुलझाने की विनती की। सभी मेरे पिता के रुतबे को ध्यान में रखते हुए बात करने पर राज़ी हो गए। हम चारों को जोराम बस्ती घसीटते हुए ले जाया गया। दोनों बच्चे लगातार रोये जा रहे थे। करीब एक घंटे बाद मेरे घर के आँगन में सभी जमा हो गए। मेरे पिताजी बाहर आए और पूरी बात उस नाटे आदमी से सुनने लगे। जब उनकी बात खत्म हुई तो मैं पिताजी के पैरों में पड़ कर गिरगिड़ाने लगी। तब उन्होने बड़े ही रौबदार आवाज में कहा "जो भी नुकसान हुआ है, इसकी भरपाई मैं और मेरा पूरा परिवार करेंगे। आप सभी लोग अपने-अपने घर चले जाएँ हम दो परिवार आपस में सुलह करेंगे। सभी लोग चले गए। मैं अपने पिता के इस निर्णय से अंदर से गद-गद हो गई और उन्हें धन्यवाद करने गई तो उन्होंने डोए से ही मुझे रुकने का इशारा किया। मैं वहीं खड़ी रही। शायद वे और कुछ कहना चाहते थे। उन्होंने मेरी तरफ देखा और बोले "तुम हमारी नाक पहले भी कटवा चुकी हो। इस सुलूङ् के साथ शादी करके। हमारी बिरदारी में हमारी हर जगह थू-थू ही हो रही है। ऊपर से दूसरे गाँव से तुम्हारा रिश्ता तोड़ने के कारण उन्होंने दोस्ती ने दुश्मनी का रास्ता अपना लिया है। तुम और तुम्हारा ये सुलूङ् चैन से कैसे जी सकते हो? ऊपर से तुम दोनों ने किसी की जीविका मिथुन के सींगों को ही जला दिया। इसकी सज़ा तुम सभी को मिलेगी। ले जाओ युपू को ईटानगर, इस सुलूङ् को कहीं ओर और इन दोनों नालायक सुलूङ् की बच्चों को कहीं और और बेच दो।" मैं इस निर्णय के सकपका गई। बच्चे मेरे पास आना चाहते थे। वे चिल्ला चिल्ला कर रो रहे थे। तागिन ने तो मेरे पिता के पैर ही पकड़ लिए। पर उन्होंने किसी की नहीं सुनी। तागिन के पैरों में लकड़ी का बड़ा टुकड़ा बीच में छेद करने उसमें उसके दाहिने पैर को डाल दिया गया और हम तीनों को ले जाने के लिए वही नाटा आदमी आगे आया। मैंने उससे विनती की कि हम सारे नुकसान कि भरपाई धीरे-धीरे चुका देंगे। उसके जवाब में उसने कहा कि यह सब हमारे बस की बात नहीं है। मैंने आखिरी बार तागिन को देखा जो अभी भी मेरे पिता के पैरों में गिड़गिड़ा रहा था। अपने सारे दर्द भूलकर उसका आखिरी शब्द केवल यही सुनाई पड़ा, "तुम

बच्चों का साथ कभी मत छोड़ना।" इसके आगे कुछ सुन पाना मुश्किल था। मैं तब तक उसे देखती रही जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया।

हमें जंगल के रास्तों से ले जाया जा रहा था। मेरे हाथ बँधे थे। दोनों बेटे मेरे साथ चल रहे थे। बिना कुछ बोले। जैसे सब समझ गए हों। करीब कई मील चलने के बाद हम एक नदी किनारे रुक गए। मैं मान चुकी थी कि तागिन से अब किसी और दुनिया में ही मिलन हो पाएगा। और मैं फूट-फूट रोने लगी। मेरे रोने से दोनों बच्चे भी मुझे कस कर पकड़ कर रोने लगे। जैसे हम जुदा होने वाले हों हमेशा के लिए। अचानक किसी की बातें करने की आवाज़ें सामने आने लगी ये दोनों मेरे छोटे भाई लान्या और कान्या थे। उन दोनों के हाथ में बेट और रस्सियों को देख मैं समझ चुकी थी कुछ बुरा होने वाला है। उन दोनों ने मेरे दोनों बेटों को जबर्दस्ती उठा लिया मैं पागलों को तरह उन दोनों को उनसे अलग करने की कोशिश करने लगी। जब बात जबर्दस्ती से नहीं हुई तो मैंने हाथ जोड़ कर उन दोनों से विनती की। "जहाँ चाहों बेच दो, जो करना है कर लो, पर मुझे मेरे बच्चों के सथा ही रखो। मैं जी नहीं पाऊँगी।" उनके कानों में जूं तक नहीं रेंगी और मेरे बेटों को चीखते-चिल्लातें हुए मुझसे दूर लेकर चले जा रहे थे। मुझे उस नाटे आदमी ने दबोच कर रख लिया था। धीरे-धीरे बच्चों की आवाज़ सुनाई देनी कम होने लगी। वे अब दूर जो चले गए थे। मुझे अब उस नाटे इंसान से डर लागने लगा था। उसका इरादा कुछ गलत लग रहा था। थोड़ी दूर चलने पर दो औरतें मेरे सामने आ गईं। शायद वे दोनों उस नाटे आदमी की पत्नियाँ थीं। आने दोनी का बहुत शुक्रगुजार थी कि ये दोनों मेरी कुछ तो मदद करेंगी पर कुछ खास न सही अपने पति को मेरे करीब आने नहीं देती थीं।

शायद हम बीस दिन चले या फिर एक महीना कुछ ठीक से याद नहीं। पर बहुत चले थे। इतना चलने के बाद हम यहाँ ईटानगर पहुँचे थे। यहाँ पहुँचते ही मुझे तुम्हारे पिता के साथ सौदा कर दिया गया। मेरे पास और कोई रास्ता नहीं था। मैंने सब कुछ भुलाकर उसे अपना नसीब मान कर यहाँ बस गई। क्योंकि वापसी का कोई जरिया नहीं था। हर दिन आने दोनी से प्रार्थना करती कि तागिन और दोनों बेटे सही सलामत रहे। फिर मेरे आ जाने से उनकी ऊर्जा फिर से जग गई और उन्होंने अपने को संभालना सीख लिया।

आधी रात मुझसे रहा नहीं गया, मैं बेटी और पति को कमरे में अकेले छोड़ आने के कमरे में चली आई। आने को शायद विश्वास था कि मैं आऊँगी। मेरे आते ही उन्होंने मेरी ओर दोनों बाहें फैलाकर मुझे बेटी 'आन्या' कहकर बाहों में भर लिया। और कहा "मैं हमेशा साथ हूँ" उन्होंने मुझे पहचान लिया था। मैं भी सुकून से साँस में साँस मिलाकर वहीं सो गई। सबेरे आने का शरीर ठंडा पड़ चुका था। वो अब किसी और दुनिया में तागिन और दोनों बच्चो से शायद मिलकर खुश थी। मैंने आखिरी बार उसकी हथेली को चूमकर इस दुनिया से उसको अलविदा किया।

संपर्क : शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

लाशें

लक्ष्मण प्रसाद

केवल आदमी-मानुख ही नहीं, बल्कि गाय-गोरु, झाड़-झंखार, पठार-पहाड़, नदी-नाला, पेड़-पौधा और खेत-खलिहान सहित पूरा इलाका कान खड़काये किसी अनहोनी की आशंका से डरा-सहमा हुआ था। कौवे तो रात से ही काँव-काँव करके बबाल मचाये थे। सुबह होते ही सवाल और संशय सबको परेशान कर रहे थे। मौका मिलने पर हर आदमी एक-दूसरे से पूछ रहा था, बतलाने की हालत में कोई नहीं था। वैसे अधिकांश जवान-जोग तो घर छोड़ चुके थे। कोई-कोई बैल-बकरी, गाय-भेड़ी के बहाने कमर, कंधे अथवा माथे पर घास-भूसे की टोकरी लेकर गली पार कर रहा था। कुछ तो पता चले या यों ही हवा उड़ रही है। ऐसा कई बार हुआ है। बात कुछ रहती नहीं है, लेकिन गूँजती है बहुत। कभी जंगल की ओर से हवा बहती है तो कभी शहर से उठकर मैदानी इलाका पार कर जंगल में घुसती है। वैसे में आदमी का सारा कारोबार थम जाता है और वह सहमा-सहमा रहता है। खेत-खलिहान, झूरियों-पत्तियों और दतुवन-पत्तलों पर निर्भर लोग क्या करें? कितनी बार तो ऐसा हुआ कि कई-कई दिनों तक आदमी अपने ही घर से बेघर होकर भागता फिरा। दिन-दहाड़े अथवा रात-विराते पुलिस के आ घमकने और पूछ-ताछ, धड़-पकड़, मारपीट की आशंका से खाये-अधखाये लोग इधर-उधर भटकते रहे। जवान लड़के-लड़कियों पर आफत। पता नहीं, पुलिस कैसे मालूम कर लेती है कि जंगल के अमुक गाँव में अमुक दिन बगावती जत्था की बैठक होनेवाली है। बगावती भी कम नहीं हैं, उन्हें भी सारी बातों की जानकारी हो जाती है कि किस दिन, किस समय पुलिस की गाड़ी या गाड़ियाँ किधर से कहाँ तक जाएँगी। बात चाहे इधर की हो या उधर की, हवा है कि उसे सूँघ ही लेती है। फिर तो कभी मंद-मंद या कभी तेज आँधी की तरह बहने लगती है।

सोमेश के पहुँचने पर कुछ लोग दरवाजे से बाहर झाँकने लगे। उसके साथ पूरी टीम थी। संपादक की ओर से उसे ही भार सौंपा गया था कि घटना की सच्ची रिपोर्ट मिलनी चाहिए। वह चालक और अपने साहसी जांवाज कैमरा मैन नीतू के साथ चला था। कहीं पगडंडीनुमा,

कहीं कच्ची और कहीं खौरियाही दिखनेवाली सड़क, नदी, झरना, झाड़,-जंगल, पठार पार करता हुआ बड़ी मुश्किल से बंकाडीह पहुँचा था। सड़क, गाँव और खेत-खलिहान को देखकर उसे सरकारी एजेंडा और सरजमीनी यथार्थ का आँखों देखा सच समझ में आ रहा था। पुलिस की गाड़ियाँ तो कल शाम से ही मौजूद थीं। सोमेश की प्रेस गाड़ी कई जगहों पर रुकी थी। वह ठहर-ठहर कर लोगों से बंकाडीह का रास्ता पूछता। वैसे रास्ते का पूरा नक्शा उसके पास था, लेकिन इस बहाने वह रुकना चाहता था। लोगों से पूछ-ताछ के क्रम में वह स्थिति को भाँपना चाहता था। उसके रुकते ही लोग पास आ जाते और तब तो नीतू आगे बढ़कर कैमरा ऑन कर देती। लोग थे कि सोमेश के सवालों में कम और नीतू से तस्वीरें खिचवाने में अधिक दिलचस्पी लेते।

बंकाडीह पहुँच कर सोमेश अभी गाड़ी से उतरा ही था कि कई लोग पास आ गये। गाड़ी पर पुलिस या प्रेस लिखा होने से यही होता है। लोग दूर या पास आ जाते हैं। उसी समय दूर के किसी गाँव से नगाड़े पर तीन-चार ढब पड़ने की आवाज आयी। सोमेश ने खामोशी साध ली, लेकिन नीतू की सवालिया निगाह पर एक ग्रामीण ने उत्तर दिया, ''अइसन कुछ नहीं है, पास के गाँव में नगाड़ा बनावइवाला और नगड़ची के घर हैं।''

गाँववालों को समझते देर नहीं लगी कि उसकी बात से सोमेश सहमत नहीं हो सका है। होना भी नहीं चाहिए था। सोमेश और नीतू हवा सूँघने का प्रयास करते रहे, परन्तु अनुमान पर ही भरोसा करना पड़ा।

डीह क्या थी, करीब चालीस-पच्चास छोटे-मँझोले घरों और कुछ झोपड़ियों की बस्ती थी। पहाड़ों से घिरी, जिसके उत्तर की ओर नदी थी। पहाड़ से उतर कर नदी दूर तक जाती है। बरसात में उफनती है और शहर-बाजार का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। गर्मियों में धारा तो नहीं चलती, लेकिन बालू हटाकर या कहीं-कहीं खोदकर लोग प्यास बुझाते हैं। धान की अच्छी खेती होती है। धान के बाद कुछ लोग गेहूँ, टमाटर, व सब्जियाँ उपजाते हैं। इसके लिए उन्हें कड़ी मेहनत-मशक्कत करनी पड़ती है। खेतों को बाड़ से घेराबंदी करनी पड़ती है। इसलिए लोग एक ही बघार में ऐसी खेती करते हैं, चाहे अपने खेत में हो या बटाई-ठेका लेकर। इस समय यह बघार गाँव की तरह घेरेबंदी के भीतर दिखता है।

गाँव के चारों ओर भी बाड़ लगा हुआ था। मजबूत और टिकाऊ। पहले तो जंगली जानवरों से बचाव का उपाय था। रात-बिरात खटास, गीदड़, हुँड़ार, कुतलाकड़ गलियों में आ जाते और मुर्गियाँ, बकरियाँ, भेड़ों या उनके बच्चे उठाकर भाग जाते। कभी-कभी तो गाय के बछरु पर भी धावा बोल देते। बाघ कभी-कभी आता। पहरा देना पड़ता था। वैसे मुश्किलें आज भी कम नहीं हुई हैं। फर्क इतना है कि अब धड़-पकड़ और तलाशी के लिए पुलिस की गाड़ियाँ आती हैं। पुलिसवाले दिन में भी आते हैं। लेकिन जब रात में आयेंगे तो खतरा ही समझिए। जवान-जोग को उठा ले जाएँगे। औरतें-युवतियों को तो कैंप से ही छोड़ देते हैं, लेकिन मरदों का चलान कर देते हैं। कैंप से लौटी हुई युवतियाँ कई दिनों तक सिर नहीं उठा पाती हैं। बहुत दौड़-धूप करनी पड़ती है। कचहरी तक जाकर मदद करनेवाले नहीं मिलते। उन पर शक न हो जाय, इसलिए चाह कर भी लोग साथ नहीं देते। भला हो पार्टीवालों का, जो वोट के लालच में ही सही, कोर्ट-कचहरी, आवाजाही और दौड़-धूप तो करते हैं। लेकिन वे भी बहुत महँगे पड़ते हैं।

प्रायः घरों की दीवारें लाल या स्याह रंग से पुती हुई हैं। दो-चार घर ईंटों के भी हैं तो दस-पाँच झोपड़ीनुमा भी। पूर्वजों के जमाने में दूर-दूर पर घर थे, लेकिन बढ़ती जनसंख्या और

संगठित रहने की मजबूरी ने घरों को पास-पास और साथ-साथ रहने के लिए बाध्य कर दिया। तब भी गलियाँ काफी चौड़ी हैं। शाम के समय लोग अपने दरवाजे पर खटिया या चटाई बिछाकर सुस्ताते हैं। गाँव के बीच में बरगद, पीपल और पाकड़ का पेड़ है। तीनों काफी पुराने, झमटगर और छायादार। गर्मियों का दालान, जहाँ दोपहरिया में जन्नी-मरद, बाल-बच्चे से लेकर गाय-बैल, बकरी और कुत्ते भी छाया पाते हैं। मैना, सुग्गे व चिड़िया फलों को चुग-चुग कर ऊपर से गिराती हैं और नीचे बकरियाँ उन्हें चुनती रहती हैं। खलिहान और बथान गाँव के उत्तर तरफ हैं। दोनों के बीच से बधार जाने का निकास है। गाँव के आस-पास ही महुआ के कई पेड़ हैं, जो ऋतुराज बसंत के समय इलाके को मदमस्त कर देते हैं।

सोमेश की आँखें एकदम आधुनिक तकनीक वाला कैमरा बन रही थीं। एक-एक दृश्य का स्नैप खींचा जाता और उन्हें मस्तिष्क में भेज दिया जाता। जुबान रिपोर्टिंग के लिए सवाल करते और कान घड़ल्ले से नोट कर उसे विचार के पन्नों पर डाल देते। अजीब से हालात थे। तीन-तीन लाशें गाँव से थोड़ी ही दूर नाले में गिरी हों और वहाँ 'हाय-हाय' की आवाज अथवा देखने की आपाधापी एकदम नहीं। पड़ताल के लिए किसी तरह की दौड़-धूप भी नहीं। एकदम सन्नाटा पसरा था। बंकाडीह सहमा हुआ था और आस-पास के गाँव सशंकित। पुलिस की अतिरिक्त गाड़ियाँ पहुँच गई थीं। रात वाली ठाँय-ठाँय की आवाज के साथ उनकी साँसे रुकी हुई थीं। गोलियों की चिग्घाड़ के बाद का सन्नाटा पूरे गाँव में पसरा हुआ था। अधिकांश युवक-युवतियाँ गाँव छोड़ चुके थे।

वैसे तो इलाके के बहुत लोग विस्थापित होकर अन्यत्र दूसरी-दूसरी जगहों पर जा बसे हैं। ऐसा उन लोगों के लिए आसानी से संभव हुआ जिनके पास केवल समाँग था अथवा जो सम्पन्न थे। समाँगवाले लोग दिहाड़ी के लिए कहीं भी चले गए, चाहे वह खेत से जुड़ा हो अथवा निर्माण से। झाड़-पहाड़ के लिए प्रसिद्ध क्षेत्रों के पेड़-पौधे कट रहे हैं और उधर यहीं के लोग ईंट-पत्थर व कंकड़ीट के जंगल तैयार करने की मजबूरी झेल रहे हैं। सम्पन्न लोग धीरे-धीरे अपने बाल-बच्चों को शहर भेजते रहे और बाद में वहीं बस भी गए। रह गए इन दोनों के बीच वाले, जिनका जमीनी मोह और इलाकाई पहचान उनके मन-मस्तिष्क से होकर पैरों की जंजीर बने रहे। अपनी-अपनी जगह के यही मध्य निम्न/वर्ग के लोग विकास या विनाश की राह में सबसे बड़ी बाधा बनकर खड़े रहते हैं। सोमेश को समझते देर नहीं लगी। नीतू इस संबंध में कई आलेख पढ़ चुकी है। पत्रकारिता के क्षेत्र में नीतू का कदम पहले पड़ा है, जबकि सोमेश अभी नया-नया है। वैसे सोमेश का पूरा परिवार आज भी खेती पर निर्भर है। भला हो दिवंगत भतन महतो और भीम महतो जैसे पटवारियों का, जो उससे महाभारत और सुखसागर का भाष्य सुना करते थे। तब वह स्कूल में ही पढ़ता था। घर से निकल कर बाहर जाने का वही एक रास्ता था जहाँ शिवाला के सामने बरगद के नीचे दोनों बैठे मिल जाते और फिर उसे अपने पास बुलाकर पहले तो बड़े प्यार से दुलारते और बाद में सामने दालान से कभी पोथी तो ग्रंथ मँगाकर उसे पढ़ने के लिए कहते। उन्होंने ही बताया था कि नारद और संजय दुनिया के आदि पत्रकार रहे हैं। उन दोनों की ईमानदार पत्रकारिता पर वे दोनों कितनी कहानियाँ सुनाया करते थे। शायद वहीं से सोमेश में भी पत्रकारिता की नींव पड़ी थी।

विकास के नाम पर फैलती औद्योगिकी ने देश-दुनिया का मंजर ही बदल दिया है। पूँजी के लिए 'सिस्टम' उद्योग है और सरकारी एजेंडा उसका उत्पाद। उधर सामयिक जागरुकता अपना काम कर रही है और लोग व्यवस्था के खिलाफ बगावती मुहिम लेकर खड़े हो रहे हैं। विकास-विस्थापन, उद्योग-उत्पादन और जल-जमीन से लेकर जोरू तक का सवाल खड़ा रहता

है। इस इलाके के लोग ऐसे ही सवालों के भीतर की सच्चाई से पिसे जा रहे हैं।

सोमेश के सामने कई तरह के सवाल खड़े थे और नीतू का कैमरा ऑन था। जबाव देने में बेचारे ग्रामीण लाचार नजर आ रहे थे। चाहकर भी खुलकर बोल नहीं पा रहे थे। आखिर लुरका ने मुँह खोला, ''साब, मुठभेड़ के आवाज तो कत्तेक बार पहाड़ों पर से या जंगलों से सुनल गेल हे। मुदा ई बार कुछ वैसन आवाज न होलय। गोली जब दुन्नू ओर से चलो है तब...।'' पीछे खड़ा जेठा ने उसकी पीठ में उँगली सटाई और लुरका खंखार कर चुप हो गया। मानो गले में कुछ अंटक गया हो, जिसे निकाल पाना संभव नहीं।

''हाँ... हाँ, बताओ, क्या कहना चाहते हो?'' सोमेश ने बात आगे बढ़ाने की कोशिश की। इस पर लुरका ने इधर-उधर देखा। आस-पास कई लोग थे। कुछ की आँखें चढ़ी हुई थीं तो कुछ की भवें। उसने लक्ष्य किया और चुप्पी साध ली। सोमेश और नीतू उसके असमंजस को ताड़ रहे थे। कैमरे का पूरा फोकस उसी के चेहरे पर था। इसी समय भीड़ से किसी ने कहा, ''मुँह मत खुलवाओ बाबू... कहीं अगली बेर एकरे ने नम्बर आ जाय।''

''आपलोग इतना डरेंगे तो कैसे होगा। आखिर सामने तो आना ही होगा। बगावती आपके गाँव-घर आते हैं। सुनते हैं, आपलोगों को उनके खाने-पीने की व्यवस्था करनी पड़ती है और रासन-पानी भी तसीलते हैं। क्या बात है?''

अन्य लोग चुप रहे गए, लेकिन एक नेता तरह का आदमी बोल बैठा, ''साबजी, हम कर भी क्या सकते। वे तो इतना ही करते हैं। कैम्पवाले तो क्या-क्या नहीं करते। रासन-पानी तो नहीं, लेकिन मुर्गा-मुर्गी से लेकर बकरी-पठरु तक... कभी-कभी जब कैम्प में इस्पीसल फोर्सवाले आते हैं तब तो हमें अपनी बहू-बेटियों को रिश्तेदारों के यहाँ दूरदराज भेजना पड़ता है।''

इतने में पीछे से आवाज आयी, ''कि अनाप-सनाप बोलइत हें रे...।'' बोलने वाला अध ोड़ सामने आ गया और सोमेश की ओर देखकर कहा, ''साब, हमरा सब के जेहल भेजवइवा की?

''नहीं-नहीं, ऐसा नहीं होगा। आप डरते हैं क्यों?... तो हाँ, यह बताइए कि आप लोगों ने लाशें देखीं? आप ही के गाँव के लोग... या पहचान तो गये ही होंगे।'' सोमेश कुरेदना चाह रहा था। बहुत ही तेज-तर्रार पत्रकार है। जीभ पकड़कर कर बात उगलवा लेना जानता है।

''नयं साब, हम सब वहाँ नयं जा सको ही। पुलिसवलन तोहरा से जादे पूछ-ताछ करो हथिन।''। लाठी के सहारे झुका हुआ एक बुजूर्ग ने कहा।

''आप लोगों से पुलिवाले कुछ पूछ रहे थे क्या? आप लोगों ने उनसे क्या बताया।'' सोमेश ने कहा।

''नहीं।'' पीछे खड़ा लड़का सामने आ गया और उसने कहा, ''सुनने में आया है कि पुलिस वाले नाले के उस पार वाले किसी गाँव से कुछ को गाड़ी में बैठाकर कहीं ले गए थे।'' वह लड़का बुसर्ट और जींस पहने था। देखने से लग रहा था कि वह स्कूल या कॉलेज में पढ़ता है। उसे देखकर पत्रकार की भूमिका में आकर नीतू ने उससे पूछ ही दिया, ''तुम पढ़ते हो?''

''हाँ दीदी।''

''किस क्लास में?''

''बारहवीं में। तीन दिन पहले घर आया हूँ। छुट्टी है। लेकिन आज ही वापस चला जाऊँगा।''

''अच्छा, तुम पढ़ते हो। वैरी गुड। क्या पुलिसवाले भी घायल हुए हैं? सुनने में तो ऐसा ही आया है।'' सोमेश ने कहा।

''कहीं और घायल हुए होंगे। इधर यहाँ हम लोग तो कुछ भी नहीं जान पाये हैं।''

''पुलिस तो अपनी बहुत बड़ी कामयाबी मान रही है। आज के सभी पेपर रँगे हुए हैं।'' सोमेश उस लड़के से सहज होना चाह रहा था।

लड़के के होठों पर मुस्कान आ गयी मानो कह रहा हो, 'पेपर की व्यवस्था ही कुछ ऐसी होती है कि चौंककर पढ़ो और उदास होकर समझो'। फिर उसने नीतू की ओर देखते हुआ कहा, ''हाँ, हाँ पुलिस तो कामयाब हो ही जाती है। खबरों में तो अवश्य ही। परेशान तो हम लोग होते हैं न। हम तो दोनों ओर से...'' उसकी आवाज में मायूसी थी। वह वाक्य को अधूरा छोड़कर चुप हो गया।

''तुम लोग...?'' सोमेश ने तपाक से पूछा।

''हाँ, हमलोग, देखते नहीं, बथान और खलिहान दोनों खाली-खाली से हैं। हमारी गलियों तक में खौफ पसरा है।'' इतना कहकर वह चुप हो गया। सोमेश उसे उत्सुकता से देखने लगा। अन्य लोग भी प्रसन्न थे। उन्हें लग रहा था कि गाँव का ही एक लड़का शहरवासियों से बोल-बतिया रहा है। ऐसे अवसरों में गाँववाले बड़े भोले, सहज और सरल हो जाते हैं। उन्हें अपने बीच किसी के होने का एहसास होने लगता है। बावजूद इसके, उनके भीतर का डर नहीं निकला था। एक अधेड़ ने उससे कहा। ''देखो... यह गाँव है, तोर कौलेज या होस्टल नयं। साब आउ मैडम तो चल जइथिन। तों भी... हम सब के तो यहीं रहना हइ।'' फिर सोमेश की ओर मुखातिब होकर बोला, ''साब, तों छाप देवा। एन्ने पुलिस आउ बगावती दुन्नू हमरा सब से पूछत... तंग करत।''

''तो समझे न। इनकी बातों से कुछ तो मिला होगा। बात यह है कि गाँव-गिराँव के लड़के-लड़कियाँ शहर में जाकर दिहाड़ी कमाने में ज्यादा सुरक्षित महसूस करते हैं। देखते नहीं, इस भीड़ में कितने युवा हैं! गाँव में सुमार कर लीजिए युवतियाँ...।'' वह बीच में ही चुप हो गया।

''हाँ, हाँ'' कहकर नीतू ने अपने थैले से पानी की बोतल निकाली और टेप खोलकर गटागट पीने लगी।

लड़का चुप था। वह अपने लोगों को देख रहा था। उसे लगा, शायद इतना नहीं बोलना चाहिए था। इतने में एक बुजूर्ग ने पास आकर सोमेश से बोलना शुरू किया, ''साब, ये जो सामने बघार देखते हो, वहाँ अभी ढ़ेर सारे गाय-बैल और बकरियों को चरते देखते। गाँव में बहुत कम जानवर रह गेलइ हे। अब ऊ दिन कहाँ। समाँगवाला शहर चल जा हथ। घर के घर। जे घर में जवान लड़की हे, ऊ तो अवस चल जाहे। बात रोजी-रोजगार के ओतना न, जेतना कि निहचिंत और निरभय होके रहे के हे। हियाँ तो रात में कान आउर दिन में आँख खुलल रहे हे...। कब बगावती आ जाय या कब पुलिस...।''

उधर नाले की ओर पुलिसवालों की चहल-पहल बढ़ गई। गाड़ियाँ भी इधर-उधर होने लगीं। सोमेश का ध्यान उस ओर गया। अपनी टीम के साथ रवाना होते समय उन लोगों को देखा और ''थैंक यू' कहकर हाथ हिलाया।

नाला क्या था, पूरी तरह से गहरी नहर। दोनों ओर की जमीनें इतनी ऊँची कि नाले का आदमी दिख ही नहीं सकता। चौड़ी पाट, कहीं-कहीं गड्ढे में पानी। अगर झरने के पानी का रुख नहीं बदला जाता तो थोड़ा ही सही, नाले में पानी बहता। नाले के उत्तर खेल का

बड़ा-सा मैदान था, जिसमें झाड़ उगे थे और दक्षिण खेतिहर जमीन। गर्मी के कारण दूर-दूर तक फसलें नहीं। हाँ, झरने का पानी जिस ओर मोड़ा गया था उधर सब्जियाँ लगी हुई थीं और खेतों के चारों ओर झूरियों-लकड़ियों का बाड़ा बना हुआ था।

सोमेश अपनी टीम के साथ पुलिवालों के बीच जा पहुँचा। उसने देखा, कुछ दूसरे-दूसरे पत्रकार वहाँ पहले से ही आ चुके थे। वे लोग कभी पुलिस से तो कभी किसी अफसर से पूछताछ कर रहे थे। पुलिस तो बोलने से इंकार कर जाती लेकिन अफसर उनका जबाव देते। इसी समय एक बड़े अफसर ने कहा, ''देखिए, ऐसे नहीं, आप सभी पत्रकार एक साथ सामने आ जाओ। एक ही बार में सारी बातें हो जाएँगी।'' सोमेश ने देखा। वे वही रणजीत सिंह थे, जिनका भाषण पिछले दिन बुजूर्ग महासम्मेलन में सुन चुका था - ''आपलोगों के पास लम्बा अनुभव है। विभिन्न विभागों, संस्थानों से जुड़े रहे हैं। विविध जाति, धर्म और सम्प्रदाय के लोग हैं। आज की महत्त्वपूर्ण समस्या है उग्रवाद। आप सब समाज को दिशा दे सकते हैं। अपनी सूझ-समझ से सब को समझा सकते हैं। आखिर मारे कौन जाते हैं... हमारे जवान या उग्रवादी। ये दोनों ही गरीब परिवार के होते हैं। इनमें किसी के भी मरने से पूरा परिवार बदहाली झेलता है।'' सोमेश को सारी बातें याद आने लगीं। काफी देर तक बोलते रहे थे। उसने अनुभव किया था कि उनकी बातों में कितनी सच्चाई है। अन्याय और प्रतिकार की लड़ाई आखिर में गरीब और गरीब के बीच बनकर रह जाती है।

उन्हीं के सामने कई लोग आ गये थे। बैठने का तो सवाल ही नहीं था, साहब भी खड़े-खडे बोलने लगे, ''तो देखिए, यह हमारे जवानों की महत्त्वपूर्ण सफलता है। सामने नाले में जो तीन लाशें गिरी हुई हैं, वे खुँखार उग्रवादियों की हैं। उनमें दो पर तो ईनाम घोषित था।

''तो लाशें उठाई क्यों नहीं गई?'' पत्रकारों में से एक ने सवाल किया।

''हाँ, यही तो बात है। लाशें यहाँ से ले जायी जायँ अथवा यहीं जलायी जायँ, इसी पर विचार किया जा रहा था। निर्णय यह लिया गया कि उनको यहीं जला दिया जाय।''

''ऐसा क्यों? एक ने पूछा। अभी जबाव भी नहीं मिला था कि दूसरे ने सवाल ठोंक दिया, ''फिर पोस्टमार्टम सर?''

''सुनिए, सुनिए। मैं सब कुछ बता रहा हूँ। घटना का समाचार तो आप लोगों के अखबारों या चैनलों पर आ ही गया है। आन्तरिक रिपोर्ट यह है कि अगर लाशें उठाकर शहर ले जायी गयीं तो कुछ संगठनवाले, कुछ पार्टीवाले हंगामा खड़ा कर देंगे। आप तो जानते ही हैं कि चुनाव नजदीक है तो लोगों को मुद्दा मिलना चाहिए। हमें उनकी परवाह तो नहीं है, लेकिन देखिए, चारो ओर पहाड़ और जंगली क्षेत्र हैं। खबर यह भी मिली है कि लाशें ले जाना खतरे से खाली नहीं है।''

''इतने में एक दारोगा साहब आये और उन्होंने कहा, ''सारी तैयारी हो गई है। जल्दी चलिए सर। लौटना भी है।''

''अच्छा, हम फिर मिलते हैं।'' इतना कहकर साहब नाले की ओर बढ़ने लगे। पत्रकार सब उनके साथ-साथ। वे कुछ पूछ बैठते कि उसके पहले ही उन्होंने कहा, ''हमने सारी तैयारी कर रखी है। सुबह ही एक गाड़ी लकड़ी मँगा ली है। देखिए, वहीं चिता बनी है। तीनों को एक ही साथ...। हाँ, आपलोग वहाँ मत जाइए। पूरी तरह हिदायत समझिए।'' सभी पत्रकार चौंक गए। फोटोग्राफर तो कई सवाल दाग दिए। उनकी पत्रकारिता का सवाल था। बिछी लाशें... उठती लाशें... चिता पर धराती लाशें... पता नहीं, कितनी और किस-किस ऐंगिल से तस्वीरें लेते।

''नहीं, नहीं, एकदम नहीं...।'' एक-दूसरे साहब ने कड़क आवाज में कहा। ''वहाँ किसी हाल में नहीं जा सकते।'' उनकी बड़ी-बड़ी घनी मूँछें ताव दे रही थीं। श्यामला गठीला टोपीदार शरीर अकड़ा हुआ था।

सोमेश क्या, सभी ने देखा, लाशें सफेद कपड़ों से ढँकी हुई थीं। उठाकर चिता पर रखते समय देखा गया कि उन तीनों के शरीर पर और कुछ नहीं हैं, सिवाय खून से रंगी गँजी व लुंगी के।

चिता धधकते देर नहीं लगी। चट्ट-चट्ट की आवाज के साथ लपटें नाले से इतना ऊपर उठीं कि जैसे वे पूरे इलाके को देखना चाहती हों। धूआँ आसमान छूने लगा। पुलिस की चौकसी बढ़ गई। नाले के दोनों ओर दूर-दूर तक पुलिस ही पुलिस जैसे पूरा इलाका छावनी में बदल गया हो। थोड़ी देर के बाद रणजीत साहब ने कहा, ''अब आप लोग वहाँ चिता के पास जा सकते हैं। तस्वीरें ले सकते हैं।'' बहुत उदास हारे हुए जवान की तरह फोटोग्राफर सब आगे बढ़े। उनके पीछे-पीछे दूसरे भी। पास जाकर तस्वीरें ली गईं।

चलो कुछ तो हासिल हुआ। वैसे भी आजकल खुली लाश को न्यूज के साथ कहाँ दिखाते हैं। कुछ ही देर के बाद पुलिस की गाड़ियाँ खुलने लगीं। बड़े साहब लोग लौटने लगे। उनके आगे-पीछे पुलिस की कई गाड़ियाँ थीं जो कुछ ही देर में झाड़-पठार में समाने लगीं। रास्ता ही कुछ ऐसा था कि गाड़ियाँ कहीं दिख जाँय तो कहीं ओझल हो जायँ। इधर बाकी सिपाहियों और अफसरों के लिए हिदायत थी कि लाशें पूरी तरह जलाकर ही वापस आना है। पुलिसवाले चिता से अलग होकर नाले के ऊपर में खड़े हो गए। चिता की ओर पीठ कर संगीनें ताने वे दूर-दूर तक देख रहे थे। दारोगा या अन्य अफसरों की चौकसी लगी हुई थी। कुछ पत्रकार भी नाले के ऊपर आ गये थे। सब को लौटने की जल्दी थी। ठीक उसी तरह जैसे किसी सभा के उद्घाटन करते समय अतिथियों द्वारा दीपक जलाने अथवा पुस्तक विमोचन के समय किताब सहित मंचासीनों के फोटो खींचने के बाद उन्हें निकल लेने की जल्दबाजी रहती है।

लेकिन सोमेश के पैर उठ ही नहीं रहे थे। उसके साथ कुछ अन्य पत्रकार भी चिता के पास ही थे। वे बार-बार तस्वीरें लेने में लगे हुए थे। लाइव टेलीकास्ट की संभावना नहीं बनी, लेकिन फिल्मांकन चल रहा था। नीतू ने लक्ष्य किया कि सोमेश एक-एक तिनका तक को ध्यान से देख रहा है। जब सोमेश की नजरें उस जगह पर पड़ीं जहाँ लाशें रखी हुई थीं तो आँखें फटी की फटी रह गईं। वह सहम गया। एकदम भौंचक। होंठ भिंच गए। आँखें तन गईं और गंभीरता बढ़ने लगी। मुठभेड़ और इस कदर... क्या इनके शरीर में इतना कम खून था। वह बार-बार उस जगह पर आँखें टिकाता और फिर नाले के ऊपर खड़ी पुलिस को देखता। नीतू उसके करीब आ गई। लेकिन उसे अनुभव नहीं हुआ। वह तो स्वयं जलता हुआ अंगार बन गया था। कभी अपनी कलम की ओर देखता और कभी मुट्ठियाँ भींच लेता।

''कैमरे का फोकस वहाँ डालो।'' सामेश ने चिता की दाहिनी ओर इशारा किया।

''वहाँ तो कुछ नहीं है।''

''इसलिए तो कह रहा हूँ। तुम फोकस तो करो।''

''अच्छा...।'' कैमरे का फोकस वहीं पर पड़ने लगा जहाँ पहले लाशें। किनारे खड़े रणजीत सिंह ने इसे लक्ष्य किया।

चिता अस्वाभाविक रूप से धधक रही थी मानो लाशें लपटों को ललकार रही हों, 'उठो और ऊपर उठो। जंगल के सिंह बोंगाओं तक मुझे पहुँचा दो। चिता की धधक, जलती लकड़ियों

के अंगारें और उन पर लाशों के जलने से खून-माँस गाढ़ा तरल पदार्थ में परिणत होकर लकड़ियों पर पसर कर दाह में उर्जा डाल रहे थे। लेकिन लपटें थीं कि फिर धधक उठतीं। लाल-लाल लपलपाती हुईं लपटें ऊपर उठ रहीं थीं। उसकी रौशनी की ललाई दूर-दूर तक फैल रही थी। किनारे खड़े पुलिसवालों की खाकी वर्दी पर भी ललाई दिख जाती। ऐसा लगता जैसे लपटें खाकी का रंग बदल कर ही दम लेगी। लाशें अंगार में बदलने लगी थीं कि लौटती हुईं गाड़ियों के रास्ते में अचानक जोरदार धमाका हुआ। सब का ध्यान उधर गया। लोगों ने देखा, आगेवाली गाड़ी हवा में उठी। परखचे उड़ गये। नीचे गिरी... दिखाई नहीं पड़ी। धूल और धूआँ...। पीछे की गाड़ियाँ सहम गईं।

नीतू सोमेश से जा लगी। सोमेश ने नीतू की ओर देखा। दोनों की आँखें मिलीं। उधर अंगार होती लाशें। सोमेश चिंतक की भूमिका में आ गया। अक्सर ऐसा ही होता है। परिस्थितियाँ उसे चिंतनशील बना देती हैं। एक ओर हवा में उड़ती गाड़ी और दूसरी ओर जलती लाशें, बगल में नीतू, जिसे धीरज बँधाते हुए उसने कहा, ''नैनं दहति पावकः।''

संपर्क : 106, हिल बिहार, डिमना चौक, पोस्ट-एमजीएम, जिला-पूर्वी सिंहभूम-831018 झारखंड, मो. : 9661504673

वापसी

जोवाकिम तोपनो

जंगल से अभी-अभी आया ही था सिबिलन, पन्द्रह वर्षीय चेहरे पर थकान के लक्षण दिखाई दे रहे थे। कंधे पर से भारी बोझ उतार कर वह पेड़ की छाया में आराम करने लगा। कुछ देर आराम करने के बाद नदी की ओर चल पड़ा।

उन दिनों उसका जंगल जाना दैनिक कार्य हो गया था क्योंकि जब से उसने हाई स्कूल की पढ़ाई छोड़ी तब से अपने को किसी न किसी काम में व्यस्त ही रखता। शायद यही वजह थी कि वह जंगल में ही दिन भर घूमता-फिरता रहता। इस तरह का खालीपन ही शायद उसे स्थिर नहीं रहने देता। कुछ करने की इच्छा उसके मन में बहुत दिनों से थी। परन्तु वह क्या करेगा उसका दृढ़ निश्चय नहीं कर पा रहा था। फिर भी वह तोरपा के पास तपकारा में लगने वाले सप्ताहिक बाजार अवश्य आता। यही एक मात्र बाजार आस-पास में लगने वाले बाजारों से भिन्न था, क्योंकि इस बाजार में बहुत दूर-दूर से लोग आते। इस बाजार को लोग बड़ा बाजार भी कहते हैं। वैसे तो आदिवासी जीवन में बाजार विशेष महत्त्व रखता है। क्योंकि यह सिर्फ खरीद-बिक्री का स्थान ही नहीं होता परन्तु सारे युवक-युवतियों के लिए एक मिलन स्थल भी होता है। यह स्थान इच्छानुसार जीवन साथी चुनने के लिए अच्छा अवसर भी प्रदान करता है।

सिबिलन भी उस दिन बाजार गया। इधर-उधर नजर दौड़ाते ही डेरांग के दुबिया को उसने देख लिया। जल्दी उसके पास जाकर 'जोहार दुबिया' कहा, बहुत दिनों के बाद शायद बाजार आये हो इसी से आज ही दिखाई दिये? क्यों? वह दुबिया को देख मुस्कुराया।

दुबिया ने बहुत खुश होते हुए जोहार का उत्तर दिया और कहा 'कुछ दिनों के लिए मैं दूसरे गाँव काम के लिये चला गया था। धन कटनी का समय था इसलिये। इस सप्ताह कुछ कमा लिया है इसलिए कुछ आवश्यक सामानों की खरीदारी के लिये बाजार आया हूँ। अरे! हाँ! मैं एक बात तो बिल्कुल ही भूल गया, आजकल तुम क्या कर रहे हो? पढ़ाई तो समाप्त हो गई, क्या अब मुंशीगिरी का ही काम करोगे?

''क्या करूँगा? यही तो मैं समझ नहीं पा रहा हूँ?" परेशानी भरे स्वर में उत्तर दिया सिबिलन ने। ''फिर भी कुछ न कुछ तो करना ही है" कहते हुए वह आगे बढ़ा।

धान कटनी का समय भी एक दिन समाप्त हो गया। फिर भी सिबिलन यह निश्चय नहीं कर पाया कि उसे आखिर क्या करना चाहिए। वह सोच रहा था कि इस साल अच्छी वर्षा न होने के कारण फसल अच्छी नहीं हुई। जो कुछ भी हुआ था उसके भरोसे साल भर जीवन बिताना बहुत कठिन था। ऐसी स्थिति में आगे पढ़ना भी सम्भव नहीं था। मन ही मन सोच रखा था कि अगर उसे कहीं से भी किसी तरह का काम मिल जाए तो वह उसे अवश्य करेगा। कम से कम दो शाम खाने भर का बंदोबस्त तो होगा परंतु काम कहाँ ढूँढ़ा जाए? एक बार तो उसने सोचा कि हटिया ही चल दें। परंतु उसके पास वहाँ ठहरने और खाने-पीने लायक पैसा भी तो नहीं। फिर एक दिन में काम मिल जाए सो बात भी तो नहीं, सप्ताह दो सप्ताह या महीनों दिनों तक तो वहाँ रहना ही होगा। इतने दिनों तक रहने के लिए कहाँ से पैसा लायेगा वह? उसका यह प्रश्न अनुत्तरित रह गया।

समय आखिर किसी तरह धीरे-धीरे खिसकता ही गया। किसी न किसी दिन वह जंगल से खरगोश, तीतर, कबूतर, बटेर आदि का शिकार कर लाता था। जब किसी दिन शिकार हाथ न लगता तो वह कोई कंदमूल तोड़कर ले आता। उसे ही उसन कर पूरा परिवार खा लेता। इस तरह आधा पेट खाकर जीवन बिताना उनके लिये कोई नयी बात थी, सो बात नहीं। परंतु कुछ करने के लिए उसका मन हमेशा छटपटाते रहता। वह हमेशा सोचता रहता मानो उसके सर पर एक बड़ा बोझ लद गया हो।

एक दिन उसे किसी से पता चला कि तम्बा गाँव के कुछ लोग काम के लिये परदेश जाने वाले हैं। उसी वक्त दुबिया का ख्याल आया। वह भी तो उसी गाँव का है। दूसरे ही दिन वह दुबिया के पास चला गया। सोमा ने भी हामी भरते हुए कहा, हाँ! इस गाँव से भी तो कुछ लोग जाने वाले हैं—शायद 12 लोग होंगे। दुबिया भी जा रहा है सपरिवार अपनी घरनी और लड़का डोम्बा के साथ। एक अजनबी आदमी अपने खर्चे से इतने सारे लोगों को ''काम दिला दूँगा" कह कर परदेश मुफ्त ले जा रहा है ''आखिर, एहे मौका हाइक खय कमाए लान" की भावना से सिबिलन भी उनके साथ हो लिया।

कहाँ जाना है इसका कोई ठिकाना नहीं। सफर सबसे पहले एक ट्रक से शुरू हुआ। रास्ते में सिबिलन ने देखा कि ट्रक स्थान-स्थान पर रुकता और फिर एक दो आदमी सवार हो जाते। इस तरह आदमियों की संख्या बढ़ती गई। अपने ही दिवास्वप्न में खोया वह यह भी नहीं जान सका कि कहाँ पर सबसे अखिरी आदमी चढ़ा था। वह रास्ते भर सिर्फ अपने बारे में सोचता जा रहा था। कभी-कभी उनको भी देख लेता था जिनके साथ वह भी था। वह किसी को नहीं पहचानता था। वह उनसे पूछना ही चाह रहा था कि अचानक ट्रक रुक गया। उसे कहा गया कि उसे रात के लिए यहाँ ठहरना होगा।

दूसरे दिन सबेरे उसने देखा कि दुबिया और उसका परिवार वहाँ नहीं है। किसी से पूछने की हिम्मत नहीं हुई। साथी से बिछुड़ने का दुःख वह पी कर रह गया। उसे कुछ लोगों के साथ चलने के लिए कहा गया, तो वह चुपचाप उसके पीछे चलने लगा। वे सभी 'उस अजनबी' के साथ रेल में चढ़ गए। रेल में उसने खूब गहराई से सोचा। वह यह फैसला नहीं कर पा रहा था कि उसके साथ अच्छा किया जा रहा है या बुरा? उसकी सोच उस समय भंग हुई जिस समय उसे 'उतरो चलो' कहा गया। एक सरदार जी ने उसे अपने साथ चलने को कहा। आखिर वह सरदार जी के पीछे-पीछे चलने लगा। इसी समय उसे मालूम हुआ कि वही सिर्फ

अकेला है, अपने घर से, गाँव से दूर बिल्कुल अनजान देश में।

उसे एक खेत में काम के लिए लगा दिया गया। खाने के लिए दो रोटियाँ और थोड़ा सा गुड़ मिलता था। उसे कठोर शब्दों में समझा दिया गया ''तुम्हें यहाँ सिर्फ काम करने के लिये लाया गया है, खिलाने के लिए नहीं, इसलिए तुम्हें केवल काम ही करते रहना है और यदि भागने की कोशिश की तो समझो गरदन साफ कर दी जाएगी।"

सिबिलन के लिए यह जितनी नयी बात थी उतनी घृणित भी। वह अपने को बिल्कुल असहाय समझ रहा था। उसकी आत्मा ही जान सकती थी कि कैसी हालत में उसने इस हालत को स्वीकारा है।

एक महीने तक बराबर कठिन मेहनत करते रहने से वह कमजोर होता गया। अब वह चिड़चिड़ा सा हो गया। सिबिलन का शरीर इस तरह दीखने लगा जैसे उसके शरीर में खून ही न हो। जैसे सारा खून जोंकों ने चूसकर छोड़ दिया है। उसका काला गठीला बदन पीले पत्ते की तरह दीखने लगा। दिन भर तो वह अपने शरीर को खेत में काम करके गला रहा था और रात को सपनों में छोटा नागपुर के पहाड़ों, घाटियों और जंगलों में उड़ता फिरता था। उन मनोरम घाटियों, पहाड़ियों तथा जंगल की गुफाओं में जहाँ से वह अति दूर था। वह कड़ुवे यथार्थ को भुगत रहा था जिससे उसका दर्द बढ़ता ही जा रहा था। वह अनुभवों को किसी तरह भी शब्दों में नहीं बाँध पा रहा था। उसका भविष्य उलझन बनकर रह गया था। उसकी दबी हुई इच्छा सिसक रही थी, फिर भी उसने सपनों के बीज संजोये रखे। वही बीज अंकुर बन अपने आप फूटा मानो जंगल में साल के सड़े पत्तों पर बरसात में कुकुरमुत्ते उग आये हों।

पिछली कई रातों में वह अपना निर्णय कई बार बदल चुका था। उसके अंदर दबी हुई बलवती कामना शरीर को स्पन्दित करने लगी। उस रात खूब जोरों से बारिस होने लगी। सभी लोग ठंड से दुबके सो रहे थे। एक काली छाया भींगते भागी जा रही थी। ऐसा लग रहा था कि बरसाती नालों की रफ्तार उसके पैरों में समा गई हो।

आगे सिर्फ अँधेरा, घनघोर अँधेरा। फिर भी वह भागा ही चला जा रहा था। कभी-कभी वह गिर पड़ता तो कभी लड़खड़ा जाता। करीब कोस भर ही वह भागा था कि सवेरे के सूर्य की ललिमा दिखाई देने लगी। राहत की साँस लेते हुए सिबिलन सोचने लगा कि अब तो कम से कम कैद से तो निकल गया। लेकिन फिर भी वह डरा हुआ था कि कहीं दुबारा पकड़ लिया न जाए।

थक कर चूर हो एक स्थान पर सुस्ताने के लिए वह बैठ गया। पोटली से रोटी और गुड़ निकाला। धीरे-धीरे खाने लगा और चैन की साँस लेने लगा। वहाँ ठहरने से खतरा हो सकता था। अतः वह फिर आगे बढ़ने लगा। करीब एक घंटा चलने के बाद रेल लाइन दिखाई दी। वह उसी रेल लाइन के किनारे-किनारे चलने लगा। चलते-चलते कपड़े सूख गए थे। आँखें थकी हुई थीं परंतु वह फिर भी देख रहा था। दोपहर ढलने तक वह एक छोटे रेलवे स्टेशन तक पहुँचा। थैले में कुछ पैसे थे उसी से भरपेट खाना खाया। बहुत इंतजार के बाद पैसेंजर गाड़ी आयी तो वह बिना टिकट कटाये ही चढ़ गया। उस समय वह इस तरह लग रहा था मानो सचमुच का भिखारी हो। वह एक कोने में दुबक कर बैठ गया परंतु थका हुआ होने के कारण तुरंत नींद आ गयी। वह काफी दिनों से सोया न था। न जाने वह कब तक सोया रहा।

उसकी नींद तब टूटी जब रेलवे के सफाई कर्मचारी ने उसे जगाया। वह चौंक कर इधर-उधर देखने लगा, फिर अपनी पोटली समेटे चुपके से नीचे उतर गया। बाहर सुबह होने वाली थी।

उसने पाया कि वह एक बड़े जंक्शन पर खड़ा है। वहाँ की बोली, वहाँ के लोग उसे अपने जैसे लगे। वह उस बच्चे की तरह खुश हो गया जो कई दिनों के बाद माँ की गोद में आया हो। वह बच्चे की तरह रो पड़ा। आस-पास के लोग उसे घूरने लगे। वह सकपका कर चुप हो गया। सामने उसने काले कोट में कुछ लोगों को आते देखा। वह डर कर एक ओर भागा। किसी तरह वह स्टेशन के बाहर बस पड़ाव तक पहुँचा। अपने गाँव जाने वाली बस पर वह बैठ गया। अब वह निश्चिंत था। परंतु उसके दिमाग में काफी उथल-पुथल मची थी। वह सोच रहा था अगर उसने अपने खेत में भी उतनी ही मेहनत की होती तो आज ऐसी नौबत तो न आती। उसका मन कसैला हो गया। भूख और थकान ने उसकी तबियत खराब कर दी थी। शायद उसे थोड़ा-थोड़ा बुखार भी था। उसके मुँह में थूक भर आया। जोर से उसने खिड़की के बाहर थूका। बस चल पड़ी थी। उसने सोचा यह थूक उसने उस गुलामी के मुँह पर फेंकी है, जिसने उसे अपनी मिटट्री से अलग किया था। सामने नये सवेरे का नया सूरज चमक रहा था, जिसकी रोशनी में उसका लोहित चेहरा रक्त कमल की तरह खिल उठा।

सिबिल जोहार!

संपर्क : मरंगटोला तोरपा 'गुग्गु', प्रेमनगर, काँके, राँची, झारखंड-834006, मो. 99340873030

कहानी (मलयालम)

डॉक्टर नकली है

नारायन

परंपरागत रिवाज के उल्टे, पुरखों का मकान कुंजप्पन को दिया गया। वह उतना अच्छा मकान नहीं था, एक पुराना-सा घर। अप्पा-अम्मा तो बड़े भाई के साथ रहते हैं। घर में बहन करूलाई और दादा कुंजन रहते हैं। उनके लिए रखी जमीन भी घर के बगल में ही है। हर एक को अलग अलग बाँटकर रहने की जमीन तो नहीं है।

दादा के गुजर जाने के बाद उनकी जमीन भी कुंजप्पन को दी जाएगी। उसने सोचा, बहन की तो शादी नहीं हुई, उसको जमीन की जरूरत ही क्या है? उसकी मेहनत का भी वही फायदा उठाता है, मजदूरी दिए बिना, रसोई व घरेलू काम के लिए एक दाई। अपनी सोचकर जमीन पर भी वह काम करती है।

इस घर में तीन-चार पीढ़ियों से लोग रह रहे हैं। समय-समय पर इसकी मरम्मत भी वे ही करते आए हैं। इस मकान का आरंभिक स्वरूप क्या रहा था, इसका दादा को भी कोई अंदाजा नहीं है।

कुंजन जब किसी झाड़ी पर नजरें फेरता हुआ मंत्र फूँकता है तो उस जड़ीबूटी के पौधे सिर हिलाते हैं और कहते हैं कि मैं यहाँ हूँ। कितने लोगों तथा कितनी बीमारियों के लिए उसकी बनी बूटियाँ उपयोग की गयीं। कभी-कभी वैद्य से लोग नकली आदर दिखाते हैं। पहाड़ी जाति का है, वह। नालायक...यही कारण है।

जड़ी-बूटियों के उपयोग के बारे में, मुफ्त में पढ़ने के लिए जो लोग आते हैं, वे इत्मीनान नहीं दिखाते हैं। उनकी चालाकियाँ समझनेवाला वैद्य हँसता है। चेहरा देखे बिना उसने कई लोगों से बताया भी थाः ''मैं एक पहाड़ी, तुम लोगों ने ठीक सोचा है। पहले यहाँ पर जंगल था। अस्पताल और डॉक्टर नहीं थे। फिर भी लोगों को बीमारियाँ होती थीं। दवाईयाँ जरूरी थीं। कुछ लोगों के पास खास जानकारियाँ थीं। सब असरदार हैं, यह बताना भी मुश्किल था। परदादाओं की जानकारियों में कुछ मेरे पास भी हैं। वे सब आपको कैसे बताऊँ? मेरा चेला

बनेंगे तो अपमान हो जाएगा न?''

करूलाई का पिता, इन दवाईयों व इलाज विधियों पर कोई रुचि नहीं दिखाता है। वह कहता है : पौधे व झाड़ियाँ, जो आँखों के सामने पड़ी रहती हैं, उन्हें पीसकर चूर्ण सेवन से बीमारी खत्म होती है क्या? उनसे क्या होता है?

बीच-बीच में बस्ती में आनेवाले कोच्चालन को भी गाँव के डॉक्टरों व अस्पतालों पर ही भरोसा है। साथ ही बाप के कहे पर बेटे की जीत है, बेटे के मन की यह तसल्ली है।

करूलाई के भाईयों को भी अप्पा की इलाज विधियों पर उपहास करना है। पुरानी विधियाँ बताकर वे उसका उपहास करते हैं। उसे परिष्कार मालूम नहीं हैं। परंपरा का नाश किया, नया कुछ ईजाद भी नहीं किया।

बेटे के इन बेटों पर कुंजन का कोई अच्छा मंतव्य नहीं है। अपने को परिष्कृत कहते हैं, बाप के पास अच्छे कपड़े नहीं है और बोली पुरानी है, इसलिए वे उसे अप्पा पुकारने तक झिझकते हैं। पर ये उसी पहाड़ी और जंगली पौधों की नवेलियाँ हैं। उन्हें मालूम नहीं है कि उनके ये परिष्कृत पहनाव-ओढ़ावे, दूसरों के पहने हुए हैं। मैले बने तो उतार फेंक दिए। उनमें उन्हीं के पसीने की गंध है। ये खुजली और बदबू सहते हैं। इनका बदलाव उतना आसान नहीं है।

कुंजन को मालूम है, अपने साथ ये जानकारियाँ भी मिट्टी में मिल जाएँगी। उसके लिए अब ज्यादा वक्त बचा नहीं है। वैसे ही ज्यादातर जानकारियाँ कालकवलित हो गयीं, जो हैं, सिर्फ अवशेष हैं। पीढ़ियों से गुजरने पर रह जाने वाली, उसे समझने व उपयोग करने में नई पीढी को कोई रुचि नहीं है। जाने दें।

करूलाई अकेली है, क्योंकि जन्म से उसकी दायीं टाँग भीतर की तरफ मुड़ी हुई थी। मालिश व दवाई से कुंजन ने उसे कुछ तो ठीक कर दिया। फिर भी पैदल चलने पर अब भी वह पीछे रह जाती है। लंगड़ी बुलाने पर, वहीं रुक कर सिसकती भी है। स्कूल कुछ दूर पर है। घाटी के रास्तों में उछलते, कूदते आना जाना होता है। पढ़ने जाते बच्चों में कोई करूलाई का साथ नहीं देता है, उसकी तो कई कमियाँ हैं। नाम भी बुरा है। दिखने में असुंदर, बोलने में अच्छी नहीं है। दुःख में आँखें व मन भरने पर वह रो पड़ती है। द्रवित होकर दादा बुलाता है, ''बिटुआ, आ जा, रोना नहीं।''

आँसू पोंछते हुए वह उसके बालों व कंधों को सहला देता है, गोद में बिठाता है। पाँचवीं कक्षा में उसने विद्यालय से विदा ली। अब उस तरफ नहीं जाती है।

कभी-कभी दादा कहता है—''बिटुआ, कुछ दवाइयाँ बनानी है। जड़ों या पत्तों को छाया में सुखाना है, उनका चूर्ण बनाना है। फिर उन्हें मिलाना है। बूटी कच्ची है, तो पीसना है, रस लेना है, दूसरी बूटी को काटना है, मिट्टी के बर्तन में जलाना है। कुछ कंदों पर रेत डालकर, उसके ऊपर आग बनानी है। तीन दिन तक आग को बुझने नहीं देना।'' इस तरह बार-बार करने से अच्छी प्राणौषधि बनती है।

यह उसने कभी नहीं देखा है कि दवाई लेनेवाले लोग, दादा को एक कौड़ी तक की भेंट करते हैं। बुजुर्ग लोग लाठी के सहारे, पसीने से लथपथ आकर बैठ जाते हैं, पीने के लिए पानी माँगते हैं, पान खाते हुए वार्त्तालाप करते हैं। उस समय कोई ऊँच-नीच नहीं होता है। सिर्फ वैद्य और रोगी। वैद्य की जीवनस्थिति पर कोई पूछताछ नहीं होती है।

करूलाई जब बड़ी हुई तो देखा कि माहवारी के दिनों में या किसी रिश्तेदार की मृत्यु के बाद कुछ दिनों में दवाई को छूना मना है, दादा का यह फैसला है—''यह सब हमारी रीत

है छोटू, आज के लोग इसे अंधविश्वास कहते हैं।''

दूसरों के बराबर होने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है, उसने दुःख प्रकट किया और पूछाः ''दवाइयों की बातें मुझे सिखाएँगे?''

वैद्य ने हामी भरी, मुस्कुराते हुए उसके चेहरे पर देखा।

''दवाइयाँ तो ठीक हैं, पर मंत्र नहीं बताऊँगा, तुम तो लड़की हो न?''

''क्यों मुझे माहवारी है? इसलिए?''

''हाँ, पर लोग इसके बारे में कुछ दूसरा सोचते हैं?''

अपनी तसल्ली में करूलाई ने कहा, ''बस दादा, दवाई की जानकारी काफी है।''

दाएँ घुटने के नीचे घाव और सूजन में खुजली के साथ एक आदमी आया। चेहरे से ही स्पष्ट है कि वह बहुत दर्द सह रहा है : ''खुजली व दर्द सह नहीं पाता हूँ। छः-सात साल हो गए। पैसा नहीं है, इसकी चक्कर में फँसा हूँ। अंग्रेजी वाला कहता है, एक्जिमा है, और सूई लगाता है। गोली व मालिश की दवाई दी हैं। उस समय लगा था कि ठीक हो जाएगा। पर अगले दिन दर्द दुगुना हो जाता है। कोई काम कर नहीं पाता हूँ। बदबू के कारण कोई पास भी नहीं आता है। घरवाले डरते हैं कि यह उनको भी हो जाएगा। आयुर्वेद वालों ने भी आसव-कषाय वगैरह खूब पिलाए, तेल व तैल लगाने को दिए। अब गले तक दर्द चढ़ा है, रह नहीं पाता, मेरी रक्षा करो वैद्य।''

दादा के निकट ही करूलाई खडी हुई थी, उसने घाव देखा, देखने में भी दिक्कत आती है।

घाव के आरपार देखता हुए वैद्य ने कहा : ''चलो, ठीक कर देंगे हम। खास तेल बनाना है। उसके लिए गाय के पुराने घी में तीन तरह के तेल सही मायनों पर तैयार करना है।'' जरूरी जड़ी-बूटियाँ खुद इकट्ठा करूँगा।

''तेल तुम तैयार करोगी छोटू?''

''दादाजी बोलिए न।''

इंसानी कदवाले नारियल पेड़ का एक नया पत्ता काट लिया। उसके छोरों को साफ करके उससे नल बनाया। तेल और घी मापकर बर्तन में लिए। बूटियों को पीस कर रस लिया, एक-एक कर मिला दिया और आग की नरमी में रखकर ठीक तरह से मिलाया। उबाल कर तेल तैयार किया फिर उसे नल से दूसरे बर्तन में उंडेल दिया। दूसरी दवाई को भी गरम तेल में मिला दिया। लगाने भर से फैलनेवाला कड़ा तेल तैयार। खुश्बू और हल्का सा हरा रंग। छोटे बर्तन में लेना है और मुर्गी के पंख को उसमें डुबोकर घाव में लगाना है। खुजली व घाव सब ठीक हो जाएँगे।

ठीक हो गया तो रोगी का स्वभाव बदल गया : ''...मैंने काफी इलाज किया था न। पता नहीं, कैसे और किस दवाई से ठीक हो गया होगा, कौन जानता है?''

''ह...ह....ह....'' दादा का ठहाका सुनकर करूलाई चौंक पड़ी। पूछने पर गुस्सा और व्यंग्य। ''उसकी माँ की बीमारी लेकर दुबारा आएगा क्या?''

''नहीं।''

गर्मी का मौसम बढ़ते ही फैलने वाली छूत की विविध बीमारियाँ। डॉक्टरों तथा ग्रामीण वैद्यों को दिखाने से राहत नहीं मिलती है तो लोग यहाँ पर आते हैं, पहाड़ी वैद्य को दिखाने। ''मूत्राशय में सूजन के कारण बहुत दर्द है। सह नहीं पाता हूँ।''

''तो पेशाब करके निकाल दो न? साथ लेकर क्यों चलता है?''

''यह वह नहीं है जो आप बताते हैं। अंदर पथरी जैसा कुछ है। उसे पीस कर खत्म

करने की औषधि लेनी है। मुश्किल है, उस औषधि को खोजना है। जहाँ गाय-भेमना चराए जाते हैं, वहाँ पर ये औषधियाँ नहीं मिलती हैं। जहाँ मिलती हैं, वहाँ पर जाकर उन्हें लेना है, फिर आग में तैयार करनी हैं। पाँच-छः दिन बाद आइए।''

अगले दिन दादा ने छोटी बिटिया को बुलाया। ''घाटियों पर जाना है छोटू''

''हाँ, जाएँगे'' करूलाई खुश हुई।

कठिन ढलान पर, पत्थरों के बीच में एक पौधा खड़ा है। पत्तियाँ हल्के हरे रंगवाली हैं, नुकीला अग्र, भूरे रंग में कड़ी झाडियाँ, खुले और छोटे लाल फूल हैं। एक पत्ती को तोड़ते हुए दादा ने कहाः ''धरती पर फैलने वाली इसकी दूसरी प्रजाति भी है।'' पत्ती को रगड कर उन्होंने करूलाई की नाक की तरफ बढ़ाया। ''हाय, खुश्बू''

''पुराने जमाने में जब पान के लिए सुपारी नहीं मिलता था, उसकी एवज में इसकी जड़ों का उपयोग होता था।''

कच्ची जड़ें चबाने के बाद पानी पी लेने से यौनोत्साह बढ जाता है, वैद्य ने यह बात छोटी बिटिया को नहीं बताया।

काफी थकान के बाद ही माटी खोदकर जड़ें खोदे बिना पौधे को निकाल दिया, घर लाया और काट कर सूखने के लिए छाया में बिछा दिया। ''अब क्या करना है दादा?''

''सूखने दे। तब तक एक नया मटका तैयार रख।

सूखे पौधों की टुकड़ियों से धूल और मिट्टी अलग करके, उसे माटी के नए मटके में डालकर जलाना है। ठंडा होने पर झाड़ियों व जड़ों को फिर से जलाना है। तीन बार ऐसा करने पर राख मिलेगी। ''इसे क्या करना है, पानी में मिलाकर पीना है क्या?'' रात के भोजन के बाद बर्तन साफ करिए, उसी बर्तन में फिर एक गिलास पानी डाल कर उसे ढ़क कर रखिए। सवेरे चुटकी भर राख लेकर उस पानी में डाल दो और खाली पेट पी लो। कुछ ही समय बाद दर्द कम हो जाएगा। इस तरह इक्कीस दिन तक दवाई पीने से मूत्राशय का कंकड़ दूर हो जाता है। दवाई के दिनों में दही, खट्टा, शराब आदि चीजें वर्जित।''

बिटिया एक बात याद रखो, जंगली दवाइयों पर दूसरों का कोई सुविचार नहीं है, अच्छी राय भी नहीं है। पर उनसे अपना उल्लू सीधा करनेवाले चोर बहुत मिलते हैं।

जड़ीबूटियों को दिखाते, औषधियों को बनाते, उपयोग में लाने की विधियाँ बताते वह करूलाई को सिखाता रहा।

उमर बढ़ने पर भी कुंजन को तबीयत की कोई समस्या नहीं थी। रोजाना समय पर उसकी नींद खुलती है, उस दिन करूलाई को जगाने की आवाज नहीं आई। करूलाई की चीख सुनकर लोग दौड़े आए। गोबर से पुती जमीन पर बिछे गद्दे पर अपने बाएँ हाथ पर सर रखा हुआ वैद्य पड़ा है। ठंडी देह। प्राण पहले ही चला गया था।

दुःख और शंका में करूलाई का गुजारा चलता रहा, बीच में सोचती थी कि दादा इतनी जल्दी क्यों चले गए। आने वाली दुर्घटनाओं के आगे वे डर गए क्या? उसको कुछ समझ में नहीं आया। दादा अपना भी रक्षक था। बाबा तो पहले ही बड़े भाई के साथ चले गए। उसे वहाँ जाने का मन नहीं है।

छोटे भाई को उससे कोई लगाव नहीं है, यह वह जानती है। मनमुटाव के अवसरों पर जानबूझकर उसने अपने को दूर रखा। फिर भी शांति नहीं मिलती है। इस तरह कैसे कितने दिन गुजार पाऊँगी? आँखें मूँदने पर ननद का काला चेहरा सामने आता है।

कुंजप्पन के साथ आए एक आदमी ने करूलाई से प्राणौषधि के बारे में पूछा। उसे याद

था। कई लोग दादा से उस औषधि की उपयोगविधि पर पूछने आया करते थे।

आनेवाले लोग चाहते हैं कि एक्जिमा, किडनी स्टोन, बवासीर आदि की प्राणौषधि बनानेवाले पौधों को दिखा दें। कौन-सा पौधा है, कैसे बनाई जाती है, एकबार नमूना बना दें।

एक आदमी बीच-बीच में अस्पताल में भर्ती होता है। उसकी दो बार शल्यक्रिया भी हुई थी। फिर भी बीमारी ठीक नहीं हुई।

कोई जान पहचान नहीं है, इस अंदाजे में बवासीर के इलाज के लिए पहले आया वह आदमी फिर एक बार आया। करूलाई सोचती रही। बाबा की औषधि से इसकी बीमारी ठीक हुई न? उस समय बताया था कि इसने कहीं और इलाज किया था, किसके इलाज का फल मिला है, इसका पता नहीं है। वैद्य को कुछ न देने की उसकी वह चालाकी थी। गुस्से में दादा ने कहा भी था, ''इसकी भीख पर नहीं चलती है मेरी रोजी-रोटी। यहाँ से जाते ही वह खानपान की वर्जना छोड़ देगा, फिर खून बहाकर इधर ही आएगा। आने दो।''

दादाजी, वह आ गया, करूलाई को ऊँचे स्वर में बोलने का मन हुआ।

उसी प्रकार की बीमारी के लिए औषधि लेने दो आदमी फिर आए। उनको यह जानना था कि दवाई कैसे बनाई जाती है। करूलाई कुछ बोलने में झिझकती रही थी तो कुंजप्पन ने दबाव डाला, ''वे तो मुझे सहायता देने वाले हैं, इसमें तो कौड़ी की बात नहीं है न, बता दो।''

करूलाई ने हामी भरी और दवाई बना कर दी।

फिर वे आए। खुद को तहकीकात वाले बताए। छोटे भाई के सामने ले जाकर करूलाई से गंभीर पूछताछ शुरू की।

''दवाई बनाने का लाइसेंस किसने दिया तुम्हें। स्कूल के पास अस्पताल चलाने वाला जो डॉक्टर है, उसने शिकायत दर्ज की है। एक्जिमा, किडनी स्टोन, बवासीर आदि के लिए वे जो दवाई देते हैं, वे तुम नकली बनाती हो। तुम्हारे खिलाफ सबूत हैं। डॉक्टर ने जिन लोगों को यहाँ पर भेजा था, तुम ने उनको दवाई दी न। कम से कम दस साल जेल काटोगी।''

करूलाई ने उन्हें घूर कर देखा। ''हथकड़ी डालकर मुझे ले चलो। जेल में खाने, पीने और पहनने के लिए मिलेंगे ना। मैंने दवाई बनाई, आदमी को मारा तो नहीं न, बताया था, उनको बीमारी है। उसके लिए एक आना तक नहीं लिया। मुझे जेल में डाल कर तुम लोग पौरुष दिखाने फिर मेरे पास आओगे ना? कोई मुझे छुएगा तो फिर वह किसी दूसरे को छूने लायक नहीं रहेगा। उसकी क्षमता खत्म करने की इलाज विधि भी मुझे आती है। तुम्हारा वह डॉक्टर यह सब जानता है क्या? क्या यह पक्का है कि वह चोर नहीं है।''

''तुम यह क्या पूछती हो?''

''मैंने उसे नहीं देखा। पर जाकर एकबारगी पूछो। उसने किस कॉलेज से ऐसी दवाइयाँ बनाने की विधि सीखी है।''

वापस जाते हुए महाशय आपस में कह रहे हैं : ''मेडिकल कॉलजों में यहाँ की वनौषधियों पर कुछ सिखाया नहीं जाता है। मूत्राशय के पथरी या बवासीर के लिए उपयुक्त चूर्ण के एक डोज के लिए हजार रुपए माँगता है वह डाक्टर। एक्जिमा के तेल के नाम पर यहाँ की जड़ीबूटी वाला तेल देता है। आस्थमा के लिए धुआँ लेने को बताता है। कोई कहता नहीं है कि ये सब इन आदिवासियों की इलाज विधियाँ हैं?''

''इसके खिलाफ शिकायत करनेवाला वह कौन?''

''शंका नहीं, डाक्टर नकली है।''

भाषांतरः प्रमीला के.पी.

कोड़ा राज्य

विमल कुमार टोप्पो

आदिवासी साहित्य में नाटकों का विकास आंदोलन एवं संघर्ष के क्रम में हुआ है। कुड़ुख भाषा में लिखित यह नाटक इसका उदाहरण है। यह प्रतिरोध का नाटक है। इसका रंगमंच आदिवासी जीवन का रंगमंच है।

दो शब्द

जन्म के साथ ही समाज की रीति-रस्मों, भाषा-संस्कृति, सामाजिक प्रथा, धार्मिक विश्वास एवं कई प्राकृतिक आर्थिक समस्याओं के साथ सामंजस्य कायम कर सुख-दुःख, हर्ष-विनोद के साथ मानव को जीना पड़ता है। जीवन के इसी चक्र में तीन मौलिक चीजों पर यथा रोटी, कपड़ा और मकान की आपूर्ति हेतु संघर्ष करना अपरिहार्य है। प्रकृति की निर्मम मार, बैठ-बेगार, भुखमरी एवं सेठ साहूकारों के शोषण से मुक्ति की तलाश में अपनी भुँईहारी या खूँटकटी धरती को भी त्याग कर अन्यत्र पलायन को मजबूर होना विडम्बना ही है। परदेश के इस प्रवास काल में मेहनत और इज्ज़त की रोटी मयस्सर हो पाती है? जान-माल एवं इज्जत-आबरू के सुरक्षा की सुनिश्चितता है?

हमारे पूर्वज दो जून की रोटी और मुट्ठी भर सुख-चैन की लालसा में असम, बंगाल, भोटांग (भूटान) की ओर कुड़ुख में जिसे 'कोड़ा राजी' कहा जाता है, दल के दल पलायन करने लगे थे। अंग्रेजों का जमाना और औद्योगिक क्रान्ति का युग था। जंगल साफ कर मिट्टी कोड़ कर नये-नये चाय बागानों की स्थापना का काल था। पक्के मकान एवं कल-कारखानों के निर्माण के लिए ईंट-भट्ठों में ईंटें बन रही थीं। यहाँ कर्मठ ईमानदार और सस्ते कुली या मजदूरों की जरूरत थी जिसे हमारे ही पूर्वजों ने पूरा किया। इस विस्थापित जिन्दगी में दलालों के घृणित हथकण्डों, ठेकेदारों, चाय बागान तथा ईंट भट्ठों के मालिकों की गिद्ध नजर जवान बहन-बेटियों के जिस्म पर पड़ती रहीं। इन्हीं व्यथा कथा के काल्पनिक किरदार के चित्रणों को 'कोड़ा राजी' नाटक में दर्शाने का प्रयास किया गया है। समाज के दैनिक जीवन में सर ऊँचा कर जीने एवं भावी पीढ़ी को समुन्नत दशा और दिशा देने के लिए शिक्षा अनिवार्य है। समय रहते शिक्षित नहीं हो पाये हों तो कम से कम साक्षर तो हो ही सकते हैं। फलतः युनिसेफ जैसे वैश्विक समुदाय ने सबके लिए शिक्षा का अधिकार दिलाया और पठन-पाठन की व्यवस्था की। अतः इक्कीसवीं सदी के पूर्व

तक हर जन को साक्षर बनाने का विश्वव्यापी अभियान चलाया गया।

इसी साक्षरता अभियान पर चाय बागान में कार्यरत निरंतर परिवार को आधार बना कर ''पुना बिल्ली'' एकांकी नाटक की रचना की गई है। आम जनता की जुबान में ज...ज...ज...याने जल, जंगल और जमीन आदिवासियों के सरल जीवन में ही रचा-बसा है। इसमें अग्रणीय है जंगल, जंगल के बिना आदिवासी का जीवन अधूरा है। मगर आज वनों की अंधाधुँध कटाई और दोहन से प्रकृति का भारसम्य खतरे पर है। ग्लोबल वार्मिंग, असमय सूखा, बाढ़, तूफान के दंश का कारण प्राकृतिक प्रदूषण ही है जिससे सारा संसार त्रस्त है। वन सुरक्षा, वन सृजन एवं वृक्षारोपण द्वारा पर्यावरण की रक्षा पर ''नम्हाए ख़ेंस एकांकी नाटक रचाया गया है। खून बहाकर भी पेड़-पौधों की रक्षा करनी है क्योंकि ये सिर्फ भौतिक जरूरतों की पूर्ति मात्र नहीं करते बल्कि देव-देवी के रूप में आदिवासी आस्था से भी जुड़े हैं।

साहित्य के विकास में कथा-कहानी, उपन्यास, कविताएँ एवं अन्यान्य सार्थक रचनाओं के साथ नाटकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। कुड़ुख साहित्य के विकास में ये नाटक किंचित मात्र भी सहायक की भूमिका निभाएँगे तो मैं अपने श्रम और प्रयत्न को सार्थक समझूँगा।

पहला अंक

प्रथम दृश्य

(सुबह का समय-कई किसान हल जुआर कंधे पर लिए हाथ में तुम्बा एवं बैल हाँकने की लाठी लिए मंच पर प्रवेश करते हैं। नेपथ्य में बैलों की घंटी बज रही है। जमींदार का बेटा जगना दतवन चबा रहा है। किसानों को मुड़ कर देखते हुए)

जगना : अरे...रे...रे बैलों की बारात कहाँ जा रही है? रुको जरा! किसान रुकते हैं। ये हल बैल किसके खेत जोतने जा रहे हैं? (सब चुप रह जाते हैं) क्यों तुम्हारे कान नहीं हैं क्या? मैं पूछता हूँ कहाँ जोतने जा रहे हो?

गरजू : हजूर...हमारे खेत जोतने जा रहे हैं।

जगना : तुम्हारे खेत? तुम्हारे खेत क्यों?

गरजू : बिहनी का समय हो गया हजूर! अब जुताई नहीं करेंगे तो कब करेंगे?

जगना : ओ...तुम्हारे खेत जुतेंगे और हमारे खेत परती रहेंगे का?

सोमा : नहीं मालिक, आप के खेत भी जोतेंगे।

जगना : कब जोतोगे? अगले साल?

सोमा : नहीं मालिक...

गरजू : दो-चार दिनों बाद ही आपके खेत जोतना शुरू करेंगे हजूर...।

जगना : ओ...दो चार दिनों बाद? ई जमींदार जगना के आइन-कानून को तोड़ना कब से सीखा बे? तुम्हारे गतर को खुजली हो रही है क्या?

गरजू : आज के लिए हमें जाने दीजिए हजूर!

जगना : क्या बोला? तुम भाषा नहीं समझ रहे हो? लठैतों को बुलाऊँ क्या?

सोमा : क्षमा करें माई-बाप...आप जो बोलेंगे वही होगा।

जगना : हाँ...तुम्हें जानना चाहिए। तुम्हारे बाप-दादाओं के जमाने से ही यह नियम चला आ रहा है कि पहले जमींदार के खेत जुतेंगे बाद में प्रजा के...है कि नहीं?

गरजू : हाँ हजूर, पता है।

जगना : चलो लौटाओ अपना हल-बैल, मेरे खेत ले जाओ।

गरजू : ठीक है हजूर, जा रहे हैं! (किसान लौट जाते हैं)

हरिया : (प्रवेश कर) क्या जगना भाई...का हालचाल है?

जगना : सब ठीक-ठाक है हरिया साहू! सुबह-सुबह कहाँ चले?

हरिया : और हम कहाँ जायें भइया? साहूकार के काम को तो तुम जानबे करते हो। आज इस गाँव तो कल उस गाँव!

जगना : तो इतने तड़के किस गाँव को चले?

हरिया : कोरोंज टोली जा रहे हैं वसूली के लिए! साले आदिवासी लोग लेने जानते हैं देने नहीं जानते!

जगना : वसूली के लिए जा रहे हो और बिना लठैत के? जमाना ठीक नहीं है भइया...

हरिया : मेरे लठैतों को मैं पहले ही गाँव भेज चुका हूँ।

जगना : अच्छा, हवेली चलो...नास्ता पानी कर लेना।

हरिया : नहीं जगना भाई, आज नहीं। फिर कभी इस रास्ते गुजरूँगा तो अवश्य घुसुँगा। (जगना लोटे के पानी से पैर धोने लगता है—सुगिया के साथ कई लड़कियाँ मटके डेगची आदि ले कर प्रवेश करती हैं)

जगना : क्यों रे? तुम इधर कहाँ आ रही हो?

सुगिया : हम पानी भरने आ रहे हैं।

जगना : पानी भरने? तुम लोग किस गाँव की हो?

सुगिया : कोरोंज टोली...

जगना : ओ...कोरोंज टोली...? तुम्हारे गाँव में कुँआ नहीं है क्या?

सुगिया : कुँआ तो है मगर पानी नहीं है।

जगना : पानी को क्या हुआ?

सुगिया : सूख गया।

जगना : च..च..च...कुँएँ का पानी सूखा तो पोखर है...नदी है...

सुगिया : पोखर में भी पानी नहीं है...नदी दूर है।

जगना : तो मैं क्या करूँ? जाओ-जाओ मैं यहाँ का पानी नहीं भरने दूँगा।

सुगिया : क्यों?

जगना : कुँआ गंदा हो जायगा।

सुगिया : कुँआ क्या तेरे बाप का है?

जगना : हाँ...मेरे बाप का है।

सुगिया : और पानी?

जगना : पानी मेरा है। मैं बाम्हन हूँ। तुम्हारे हाथ लगने से पानी अशुद्ध हो जायगा (सुगिया जबरन कुँएँ की ओर बढ़ती है) अरे...रे...रे...तुम मेरी बात नहीं मानोगी? रुको।

सुगिया : हमरे छूने से पानी अशुद्ध हो जायगा क्या?

जगना : हाँ...अलबत होगा। अपवित्र होगा।

सुगिया : हमारे मरद लोग तुम्हारे खेत जोतते हैं तो खेत अशुद्ध नहीं होते हैं? औरतें धान रोपती और काटती हैं तो अनाज अपवित्र नहीं होते हैं? हमारे हाथ के छुए हुए रुपये-पैसे अशुद्ध नहीं होते...?

जगना : बस करो! ज्यादा बड़-बड़ मत करो।

सुगिया : हमारी आदिवासी औरतों से मेल-जोल करते हो उनके अंग छूते हो तो तुम अपवित्र नहीं होते हो तुम्हारी जात भी नहीं जाती है क्यों?

जगना : तुम जो भी कहो मैं पानी भरने नहीं दूँगा।

सुगिया : (मिट्टी के घड़े को जगना के सामने पटक कर फोड़ते हुए) लो...! पानी लेने नहीं देते हो तो इन टुकड़ों को चबा खाओ! चलो रे...इस जमींदार के कुँएँ का पानी नहीं पीएँगे तो आज के लिए नहीं मरेंगे! (सब चली जाती हैं)

हरिया : जगना भाई...ये तो आप के मुँह में थूक कर चली गई। लेकिन भइया इसकी तो बड़ी मस्तानी चाल है। देखा न? कैसे कमर मचका कर चल रही है?

जगना : अरे कौन छोकड़ी है बे? किसकी बेटी है?

हरिया : कोरोंज टोली के गंगू उराँव की बेटी है।

जगना : गंगू की बेटी? साली कब जवान हो गई?

हरिया : लड़की जात की बात मत करो भइया...बाँस की तरह बढ़ जाती है। जवान होने में समय नहीं लगता। अच्छा ठीक है भइया मैं भी चलता हूँ।

(सबका प्रस्थान)

(पर्दा गिरता है)

द्वितीय दृश्य

(आँगन में कम्बल ओढ़कर गंगू बैठा रस्सी बाट रहा है—करमू और धरमू सरदारगण प्रवेश करते हैं)

करमू : क्यों भाई? गंगू उराँव का घर यही है?

गंगू : हाँ, मैं ही गंगू हूँ। क्या बात है?

करमू : ओ...हो...हो...आप ही गंगू हैं? जोहार...जोहार! क्या कर रहे हैं?

गंगू : गाय-बैल के लिए रस्सियाँ बना रहा हूँ। आप लोग कहाँ से आ रहे हैं?

धरमू : दादा, हम आदमी खोजने निकले हैं।

गंगू : कैसा आदमी? कौन आदमी? आइए बैठिए! (सुगिया से) मेहमान आये हैं बेटी, पीढ़ा ला देना। (सुगिया पानी देकर चली जाती है)

करमू : (बैठते हुए) कोड़ा राज में काम करने के लिए आदमी की जरूरत है।

गंगू : कहाँ है कोड़ा राज्य?

करमू : असाम-भोटांग को जानते हैं?

मंगू : हाँ-हाँ सुना तो है। वहाँ क्या काम है?

धरमू : गंगू ददा, भोटांग राज में तुम जो काम चाहोगे, वही मिलेगा। सहज से सहज काम भी है।

गंगू : (साश्चर्य)..अच्छा...?

करमू : सच गंगू दादा, वहाँ दुनिया भर के काम पड़े हैं, कमाने वाला आदमी नहीं है। मैं तो कहता हूँ भइया...मुरगी की तरह खरोचोगे तो भी रुपये मिलेंगे। असाम-भोटांग के कोड़ा राज्य में रुपये बरसते हैं रुपये...!

गंगू : सच...? (तम्बाकू बाँटता है)

करमू : अरे...आज मेरी बात का यकीन नहीं करोगे। एक बार कोड़ा राज्य चल कर तो देखो।

गंगू : जरा काम भी तो बताओ...!

करमू : देखो, चाय बगीचा (बागान) में पत्ती तोड़ोगे महीना हजार रुपये। जंगल में बेगार खटोगे महीना बँधा है। ईंट भट्ठे में काम करोगे महीना हजार रुपये...। सच कहता हूँ भईया...कोड़ा राज्य में रुपये थोक-थोक गंजे हुए हैं। जरा सी ताकत लगा कर काम करो और रुपये को कंधे पर ढोकर लाओ...

गंगू : आप सच कह रहे हैं?

धरमू : ओह रे दइया, आप हमारी बातों का विश्वास नहीं कर रहे हो दादा। हमारे ईंट भट्ठे को ही लो...आदमी कुछ घंटे काम करते हैं और सारे दिन निरदन रहते हैं। काम भी क्या है? 50-60 ईंट ढोया और आपका हाजिरी पक गया। घर लौट कर निफिक्र हँडिया-दारू पीओ और ढोल-मांदर बजाओ।

गंगू : (अचरज से) सच...?

धरमू : आपको यकीन नहीं है तो हमारे हाथ देखो...माँदल बजाते-बजाते हमारी हथेलियाँ फट गई हैं। (हथेलियाँ दिखाता है।)

गंगू : (देखकर)—सच कहते हो धरमू भइया!

करमू : एक बार आप भी कोड़ा राज्य चलिए कमाने को। मैं तो कहता हूँ वहाँ आप रुपयों के बोझ से दब नहीं गये तो मेरा नाम करमू नहीं।

गंगू : मुझे तो सपने की तरह लग रहा है...

करमू : आप ज्यादा नहीं सिर्फ एक माह कमा के देखिए।

गंगू : मगर भइया...गाय-बैल, बकरी-मुरगी और घर द्वार छोड़कर कैसे जाऊँ? एक बेटी है वो भी अकेली हो जायगी।

करमू : अकेली क्यों होगी? उसे भी ले चलो। आप दोनों कमायेंगे तो आपको इतने रुपये मिलेंगे कि घबड़ा जायेंगे। आप का काया पलट हो जायगा, आप मालामाल हो जायेंगे। अब क्या बोलते हैं?

गंगू : अभी मैं कुछ नहीं बोल पाऊँगा भाईयो!

करमू : आप हमारी बातों का विश्वास करो गंगू दादा, तेताइर टोली का एक गरीब आदमी ने हमारे ईंट भट्ठे में सिर्फ छः माह का काम दिया और इतना कमाया कि लोग दंग रह गये।

धरमू : हाँ-बेचारे के पास कुछ नहीं था। पहनना-ओढ़ना, घर-द्वार कुछ नहीं। भूख से बच्चे बिलबिलाते थे, मगर अब? उसके पास क्या नहीं है? दो हल भैंस हैं, उपजाऊ जमीन है, कोठा में भरपूर धान और गाँव में उसका मान है। लोग उसे दूर से ही सलाम ठोंकते हैं।

करमू : तो? ये सब कैसे संभव हुआ? सब हमारे ईंट भट्ठे की कमाई का फल है। आप आगा-पीछा सोचना छोड़ो, कम से कम छः माह कमा कर देखो। पसन्द आये तो करना नहीं तो...

धरमू : आप बाल-बच्चे साथ ले कर चलो, आराम से रहेंगे! छः माह इधर और छः माह उधर कमाओ आखिर पेट ही तो पालना है।

गंगू : घर-द्वार किसके जिम्मे छोड़ूँ?

करमू : देखो गंगू दादा, आज एक टुकड़ी रोटी के लिए मोहताज हो, एक कौर भात के लिए तरस रहे हो मगर कोड़ा राज्य जाओगे तो राजा बन कर लौटोगे। आप की गरीबी चिड़ियों की तरह फुर्र हो जायेगी, आप को पता भी नहीं चलेगा।

धरमू : देखो दादा, लोग अपने एक बित्ता पापी पेट भरने के लिए तो परदेस जा कर कमाते और जीते हैं। आप इस छोटानागपुर की धरती में रह कर कुछ नहीं कर पाओगे। अपनी दशा सुधार नहीं पाओगे। साहू-बनियाओं से बचना चाहते हो और खेत-खलिहान बचाना चाहते हो तो कोड़ा राज्य चलो। हम चोर उचक्के नहीं हैं, हम आपको ठगने नहीं आये हैं। हम वहाँ के सरदार हैं सरदार...समझे?

करमू : आप यहाँ से अकेले तो नहीं जा रहे हैं, और भी करीब 10 गाँव के लोग जा रहे हैं।

गंगू : थोड़ा सोचने समझने का वक्त दो मुझे...।

करमू : सोच-विचार करते तो आप के दिन ही चले जायेंगे। अगर जाना ही है तो नाम लिखा लेना। हम सरहूल परब के बाद ही निकल रहे हैं। अच्छा, आज के लिए चलते हैं हम। अन्य गाँव भी जाना है...। (बिदा लेकर करमू-धरमू का प्रस्थान—गंगू फिर रस्सी बाटने में व्यस्त हो जाता है।)

सुगिया : (प्रवेश कर) ये लोग कौन थे बाबा?

गंगू : भोटांग राज्य के सरदार थे बेटी!

सुगिया : क्या खोजने आये थे?

गंगू : कोड़ा राज्य में काम करने के लिए मजदूर खोजने आये थे। मुझे भी असाम-भोटांग चलो कह रहे थे।

सुगिया : तुमने क्या कहा?

गंगू : क्या बोलूँ? घर-द्वार, गाय-बैल, जमीन-जायदाद छोड़कर क्या परदेस का चक्कर लगाऊँ। तुम्हें कौन देखेगा?

सुगिया : लेकिन बाबा, तुम्हें जाना चाहिए था?

गंगू : परदेस का क्या भरोसा है बेटी, क्या होगा क्या नहीं? ढंग से काम भी मिलेगा कि नहीं? वहाँ मरने को क्यों जाऊँ?

सुगिया : दुनिया के लोग परदेस जा कर कमा-कमा कर ला रहे हैं तुम्हारे जाने से हर्ज ही क्या है?

गंगू : नहीं बेटी, मैं इस धरती को छोड़ कर नहीं जाऊँगा।

सुगिया : इस छोटा नागपुर की धरती में रहकर तुम्हारी जिन्दगी नहीं चलेगी बाबा। यहाँ खेती-बारी अच्छी नहीं होती। साल में छः माह भूख सोने पड़ते हैं। सरई लठा, मडुवा लेटो और गुड़लू भात खा कर कितने दिन जियोगे? मुझ से भूख बर्दाश्त नहीं होती।

गंगू : क्या करें बेटी? हमारे भाग्य ही फटे हैं।

सुगिया : मगर घर बैठे रहने से फटे भाग्य में कभी सुधार नहीं होगा! तुम अपने भाग्य को दोष देते हो ये तुम्हारी भूल है। जरा सवंग लगा कर मजदूरी करके देखो, तुम्हारे भाग्य पलट जायेंगे।

गंगू : पता नहीं। पुराने जमाने से ही हमारे कपाल पर लिखी बातें...

सुगिया : ये कपाल पर लिखी बातें नहीं है बाबा। हमारी कमजोरी है। अज्ञानता है। यहाँ तुम हाड़तोड़ मेहनत कर रहे हो मगर क्या मिल रहा है? न घर-द्वार बना पा रहे हो और न अनाज ही उपजा पा रहे हो। सारी जिन्दगी तो वही ठोकरें खाकर जीना...।

गंगू : तुम जो भी बोलो, मगर मैं इस खुँटकट्टी भूमि को छोड़ कहीं नहीं जाऊँगा।

सुगिया : ठीक है। तुम नहीं जाते हो तो मुझे जाने दो। मैं जाऊँगी कोड़ा राज्य...।

गंगू : (अचरज से) क्या? तुम जाओगी?

सुगिया : हाँ...मैं जाऊँगी। सरदार गण ठीक ही फरमा रहे थे। भोटांग राज्य में काम की कमी नहीं है। जितना काम करोगे उतने रुपये कमाओगे। कहते हैं भोटांग के चाय बगीचे में रुपये फलते हैं।

गंगू : ये सब झूठे सपने हैं।

सुगिया : ऊँ...हूँ...झूठी बातें नहीं हैं बाबा। अगर झूठ ही होते तो लोग कोड़ा राज्य क्यों जाते?

गंगू : (गुस्से से) जाने वालों को जाने दो...।

सुगिया : जरा अपनी हालत पर गौर करो बाबा। काम करते-करते तुम्हारी चमड़ी हड्डियों से चिपट गयी, आँखें धँस गईं, गाल पिचक गये मगर तुम्हारी गरीबी नहीं गई। बाप-पुरखों से ही साहु-बनिया के ऋणों से दबे हो। कब ऋण चुकाओगे और कब बंधक जमीन छुड़ाओगे, बताओ तो?

गंगू : धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा बेटी, तुम अधीर मत होओ।

सुगिया : (तुनक कर) साहू-बनियाकों के आधा पेट भोजन से कभी भला नहीं होगा। धीरे-धीरे हमारा सब कुछ लुट जायगा। हम गरीब हैं और अधिक गरीब हो जायेंगे। एक दिन अपनी जमीन छोड़ कर अन्य देश भागना पड़ेगा समझे? मुझे मत रोको। मैं कोड़ा राज्य जाऊँगी ही।

गंगू : तुम लड़की जात हो बेटी। दूर देश अकेली जाना भी ठीक नहीं है।

सुगिया : मैं अकेली क्यों? मेरी जैसी और भी लड़कियाँ जा रही होंगी।

गंगू : जाने वालों को जाने दो मगर तुम नहीं जाना।

सुगिया : नहीं...नहीं...मैं जाऊँगी ही!

गंगू : (नर्म होकर) देखो बेटी, आज दुनिया बहुत ही खतरनाक हो गई है। हर जगह जान-माल और इज्जत आबरू के खतरे हैं और तुम इन खतरों से बच नहीं पाओगी।

सुगिया : तुम इसकी फिक्र मत करो बाबा। तुम्हारी बेटी सुगिया इतनी कमजोर नहीं है; ताकतवर है।

गंगू : मैं एक बाप हूँ बेटी! इस बूढ़े बाप का जी नहीं चाहता कि जिन्दा रहते बेटी तकलीफ सहे।

सुगिया : अपनी जिन्दगी सँवारने के लिए परिवार के सब लोगों को तकलीफ तो झेलना ही पड़ता है बाबा।

गंगू : हाँ, मगर तुम्हारी उम्र कभी नहीं हुई है तकलीफ झेलने के लिए।

सुगिया : तुम कैसी बातें करते हो बाबा? आज मैं नहीं कमाऊँगी तो कब कमाऊँगी? क्या बुढ़ापे में? (नर्म होकर) बाबा...तुम मुझे शादी कराके ससुराल भेज दोगे। ससुराल में रह के तुम्हारे लिए भला मैं क्या कर पाऊँगी? बोलो।

गंगू : तुम मेरी फिक्र मत करो!

सुगिया : ये क्या बात हुई? बचपन से तुमने मुझे पाला-पोसा। माँ नहीं है पर तुमने मुझे ममता दी! आज मैं कमाने लायक हुई तो काम करने से रोक रहे हो! तुम्हारी

सेवा का एक मौका दे दो। बस एक बार मुझे कोड़ा राज्य जाने दो...मैं हाथ जोड़ रही हूँ।

गंगू : नहीं बेटी नहीं। दूर के ढोल सुहाने लगते हैं निकट जा के देखो तो वही सूखे चमड़े बजते हैं। तुम कोड़ा राज्य के जो सपने देख रही हो ऐसा हरगिज नहीं है।

सुगिया : कोड़ा राज्य कैसा है? एक बार देख तो लेने दो।

गंगू : (गुस्से में) सुगिया बेटी, मैं बोल रहा हूँ तुम भोटांग राज्य, कोड़ा राज्य हरगिज नहीं जाओगी...बस!

सुगिया : (साश्चर्य) बा...बा...।

गंगू : हाँ ...ज्यादा पटर-पटर मत करो। जाओ घर के काम करो।

सुगिया : (गुस्से में) नहीं ...नहीं...में रोज-रोज भूख नहीं सहूँगी। ये फटे लहँगे नहीं पहनूँगी। असाम-भोटांग के कोड़ा राज्य जा कर मरूँगी तो एक बार मरूँगी यहाँ की तरह रोज मरना और रोज जीना तो नहीं पड़ेगा। मैं जाऊँगी ही मुझे मत ढूँढना.. .(रफ्तार से चली जाती है)

गंगू : (सुगिया को जाते देख) अरे बेटी...बात तो सुनो...अब इसके पंख उग आये हैं। आज के बच्चे सयाने हुए तो माँ-बाप को तवज्जो नहीं देते हैं। (गंगू फिर से कम्बल ओढ़ कर रस्सी बाटने लग जाता है—हरिया साहू लठैत लेकर आ धमकता है)।

हरिया : (प्रवेश करते ही धमकाते हुए)—क्यों गंगू बूढ़े? तुम यहाँ इत्मिनान से बैठे हो, मेरे खेत में कौन काम करेगा, तेरा बाप? आँ...?

गंगू : (उठते हुए) आज मेरी तबीयत ठीक नहीं है साहू जी...बुखार-बुखार लग रहा है।

हरिया : जाता है कि, बुखार वुखार मैं नहीं जानता! उधार लेते वक्त तो आगे आगे होते हो, काम के वक्त पीछे-पीछे? ऋण लेना जानते हो चुकता करना और काम करना नहीं आता है। मेरा काम नहीं करोगे तो ऋण कैसे चुकता होंगे जी गंगू? बताओ।

गंगू : बकरी दिया, धान दिया, मुड़वा भी दिया तब भी ऋण चुकता नहीं हुए हैं।

हरिया : कैसे वसूल होंगे जी गंगू बूढ़े? शिक्षित होते तो समझते। मेरा उधार भी नहीं चुकाओगे, मेरा बेगार भी नहीं खटोगे तो भईया, तुम्हारी जमीन-जायदाद, गाय-बैल सब निलाम करा दूँगा, पीछे बुझना...हाँ...।

गंगू : ऐसा मत करना साहू जी...मैं जीते-जी मर जाऊँगा।

हरिया : ओ...अब समझ में आ रहा है? उधार लेते वक्त तो सोचा-समझा नहीं।

गंगू : इस वर्ष गोड़ा धान पकने पर पाई-पाई अदा कर दूँगा साहू जी, आप मुझ पर विश्वास करें।

हरिया : गंगू बूढ़े! तुम मेरे ऋण में इतने डूबे हुए हो कि सात पुरखों तक मेरा बेगार खटोगे तो भी चुकता नहीं कर पाओगे।

गंगू : मगर मैं तो हर साल देते जा रहा हूँ।

हरिया : तेरे बाप का सिर दे रहे हो। कान खोल कर सुन लो—मेरा नकद वसूल न होने तक तुम्हें और तुम्हारे बाल-बच्चों को मेरे पास बँधुआ बन कर रहना पड़ेगा।

एक-एक पाई वसूल करूँगा तब छोड़ूँगा तुम्हें, मेरा नाम है हरिया साहू ... समझे?(धकेलते हुए) चलो...चलो काम करने चलो...!

गंगू : (आज जा नहीं पाऊँगा) साहूजी, कल अवश्य जाऊँगा।

हरिया : आज-कल को मैं नहीं जानता। अभी ही जाना पड़ेगा...(खींचता है) उधार ले सकता है काम नहीं कर सकता। बहानेबाजी मेरे पास नहीं चलेगी। (लठैत गंगू को जबरन खींच-तान करते हैं)

सुगिया : (दौड़कर प्रवेश करते हुए) अरे...अरे...मेरे बूढ़े बाप को क्यों खींच-तान कर रहे हो? छोड़ो...(छुड़ाने का प्रयास करती है) कहाँ ले जा रहे हो छोड़ो...छोड़ो...(गंगू को खींचती है)

हरिया : (सुगिया को धकेलते हुए) अरे छोकड़ी, तमाशा मत करो यहाँ। हमें अपना काम करने दो। (सुगिया गिर जाती है सब चले जाते हैं)

सुगिया : (रोते हुए) हाय रे मेरी तकदीर...हरिया साहू ने मेरे बीमार बाप को भी नहीं बख्शा..उधार लिया है, देह तो नहीं बेचा है। हे भगवान मैंने इस राज्य में क्यों जन्म लिया? इस धरती में सबकी तकलीफ है...सच यहाँ जीना मुश्किल ही है। मुझे कोड़ा राज्य जा कर कमाना ही होगा। जाओ रे बेईमान हरिया साहू! कमा कर आऊँगी तो रुपये तुम्हारे मुँह पर दे मारूँगी। तुम अपने को समझते क्या हो? (उठ कर धीरे-धीरे जाती है)

(पर्दा गिरता)

तृतीय दृश्य

(एक चारागाह का दृश्य—गरजू बाँसुरी बजाते हुए गाय बैल चरा रहा है—उसके हाथ में लाठी और कंधे पर छाता झूल रहा है। वह बैठ कर बाँसुरी की तान छेड़ता है। सुगिया चुपके से उसके पीछे बैठ जाती है)

गरजू : (पीछे मुड़कर) अरे कौन है?

सुगिया : पहचाना नहीं? मैं हूँ।

गरजू : अरे सुगिया तुम हो? तुमने कैसे जाना कि मैं यहाँ हूँ?

सुगिया : साँप के लिए मुरली बजाओगे तो नागिन नहीं आएगी क्या?

गरजू : ओ...मुरली की आवाज सुन कर चली आयी? अच्छा बताओ तुम लकड़ी लेने आयी हो या मेरे पास ही आई हो?

सुगिया : मैं तुम्हारे पास ही आई हूँ।

गरजू : मेरे पास जंगल में क्यों आयी?

सुगिया : तुम्हारे लिए मड़ुवा लेटो लेकर आई हूँ।

गरजू : अच्छा किया, लड्डू रोटी खाते-खाते उब गया हूँ। आज लेटो खाउँगा। (सुगिया बैठती है।)

सुगिया : (पोटली खोल कर कुछ देते हुए)—लो चख कर देखो तो नमक ठीक है या नहीं।

गरजू : (लेकर) तुमने खाया कि नहीं?

सुगिया : तुम पहले खा लो न।

गरजू : सच सुगिया तुम मेरा बहुत ख्याल रखती हो। अपना अंश बचा कर ला देती

हो। मगर कब तक मुझे खिलाते-पिलाते रहोगी?

सुगिया : जब तक मैं जीऊँगी गरजू, अपना अंश तुम्हें देती रहूँगी।

गरजू : बताओ, तुमने खाया कि नहीं?

सुगिया : औरत का अपना धर्म है गरजू! पहले मर्द को खिलाती है बाद में खुद खाती है।

गरजू : बचे-खुचे को?(हँसता है)

सुगिया : तुम तो मर्द हो, औरतों के अन्दर की बात क्या समझोगे?

गरजू : सुगिया अब तुम मुझसे मुलाकात करने जंगल में मत आना। खाने को भी कुछ मत लाना...।

सुगिया : क्यों...?

गरजू : गाँव के लोग हमारे बारे में क्या-क्या बातें करते हैं, मुझे अच्छा नहीं लगता है।

सुगिया : लोग ईर्ष्या-डाह से ऐसी बातें करते हैं। जलने वालों को जलने दो। चलो तुम खाओ।

गरजू : जरा सोचो सुगिया, हमारी शादी भी नहीं हुई है...

सुगिया : शादी नहीं हुई है तो क्या हुआ? औरत जिसे अपना मान लेती है उसे अपना बनाके ही छोड़ती है...समझे?

गरजू : सच कहती हो? तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आती है।

सुगिया : और नहीं तो क्या? गरजू मैं एक बात कहना चाहती हूँ। तुम बुरा तो नहीं मानोगे?

गरजू : बोलो, क्या बात है?

सुगिया : तुम्हारी तकलीफ देख-देख कर मेरा दिल जलता है गरजू।

गरजू : क्या करें सुगिया? दुःख तकलीफ तो जन्म से ही हमारे कपाल पर लिखे हुए हैं।

सुगिया : इस लिखे तकलीफों को मिटाने की कोशिश करनी चाहिए।

गरजू : कैसे करूँ? काम तो कर ही रहा हूँ।

सुगिया : यहाँ रह कर हम अपने दुःखों को हर नहीं पायेंगे। हमें अन्य रास्ते ढूँढ़ने चाहिए।

गरजू : कौन सा रास्ता।

सुगिया : चलो भागकर कोड़ा राज्य चलते हैं...।

गरजू : धत्...पागलों की तरह बातें मत करो...कोड़ा राज्य चले जाने से दुःख तकलीफ मिट जायेंगे का?

सुगिया : तुम जरा सोच के देखो गरजू...हमारा छोटा नागपुर दुःखों का सागर है। यहाँ की मिट्टी, यहाँ की धरती हमें चैन से जीने नहीं देगी।

गरजू : पता है? तुम क्या बोल रही हो?

सुगिया : हाँ... यहाँ शक्ति भर मेहनत करने पर भी भरपेट खाना नहीं मिलता, पहनने ओढ़ने की बात छोड़ो! क्या तुम सारी जिन्दगी मड़ुवा रोटी और गुड़लू भात खाते रहोगे?

गरजू : हमारे भाग्य में यही है तो क्या करें?

सुगिया : ये भाग्य की बात नहीं है गरजू...इंसान की कमजोरी है। आखिर इंसान क्या

नहीं कर सकता? दुनिया के लोग आसमान में उड़ रहे हैं। और हम धरती पर पड़े हैं। जरा अन्य राज्य जा कर भी तो देखना चाहिए।

गरजू : अपना देश छोड़ कर जाना भी तो अच्छा नहीं है, माँ-बाप को क्यों छोड़ें?

सुगिया : (गुस्से से) मैं पूछती हूँ तुम्हारी सारी जिन्दगी क्या माँ बाप से ही कटेगी? तुम जिन्दगी भर चरवाहा बनकर गाय-बैल, भेड़-बकरी चराते रहोगे? मैं तो कहती हूँ गरजू गाय-बैल चराते-चराते मर खप जाओगे। मगर धरती में कुछ कर नहीं पाओगे, अपनी दशा नहीं सुधार पाओगे, समझे?

गरजू : तुम कहना क्या चाहती हो? साफ-साफ कहो।

सुगिया : मेरी बात मानो, चलो कोड़ा राज्य ही चलते हैं।

गरजू : ओह भगवान, तुम्हारी जान तो कोड़ा राज्य पर ही टँगी हुई है।

सुगिया : मैं सच कह रही हूँ गरजू, कोड़ा राज्य में बहुत काम है।

गरजू : (व्यंग्य से) हाँ...हाँ... जरा काम भी बताओ?

सुगिया : देखो, चाय बगान में पत्ती तोड़ना, मिट्टी कोड़ना और ईंट भट्ठों में बहुत काम है।

गरजू : (खड़े होते) नहीं...नहीं... मैं तो राजनी हूँ... परदेस का क्या भरोसा...।

सुगिया : (तमतमाते हुए) गरजू... क्या तुम मुझसे शादी करोगे?

गरजू : हाँ... बेशक...।

सुगिया : तो शादी के बाद मुझे मिट्टी खिलाओगे। मेरे बाल-बच्चों को भूखे नंगे रखोगे?

गरजू : (खड़े होते) ...नहीं ऐसा क्यों करूँगा?

सुगिया : तुम्हारी सारी जमीन तो साहू-बनियाओं द्वारा हड़प ली गई है। दो-चार कट्ठा जमीन की फसल से हमारी जिन्दगी चलेगी? बाल-बच्चों को खिला-पिला और पहना-ओढ़ा पाओगे? देख ही तो रहे हो यहाँ ...पानी ढंग से नहीं, सालों साल अकाल पड़ते हैं। और तुम सूखी-रुखी धरती का मोह लगा कर बैठे रहना चाहते हो।

गरजू : अपनी मातृभूमि को कैसे छोड़ दूँ?

सुगिया : ये मातृभूमि को छोड़ने की बात नहीं है गरजू...तुम समझते क्यों नहीं?'' रुपये कमा कर वापस तो आयेंगे ही।

गरजू : कब लौटेंगे?

सुगिया : एक साल के बाद।

गरजू : एक साल में भला कितनी कमाई होगी?

सुगिया : हम दोनों मिलकर बहुत कमा लेंगे गरजू! धन कमाने के लिए अपने देश के माया-मोह को त्यागना होगा। अपनी दशा सुधारनी है तो छोटा नागपुर की धरती को छोड़ना होगा। आखिर शादी-ब्याह के लिए भी रुपये की जरूरत है। लौट कर शानदार शादी करेंगे। क्या ख्याल है तुम्हारा?

गरजू : मैं और क्या बोलूँ? तुम्हारी मर्जी!

सुगिया : तुम्हारा अगर कोड़ा राज्य जाने का मन नहीं है तो मत जाओ! मुझे जाने दो। मैं अकेली चली जाऊँगी, बाद में मुझे ढूँढ़ना मत...(जाना चाहती है)।

गरजू : (रोकते हुए) सुगिया सुनो, तुम औरत हो कर भी इतनी हिम्मत दिखा रही हो तो मैं क्यों पीछे रहूँ? बोलो कब चलना है?

सुगिया : (चहकते हुए) इस हफ्ते के बाद। सरहूल पर्व के बाद सरदार गण नाम लिखने आयेंगे।

गरजू : जाओ तुम तैयारी करो। सरहूल जतरा जायेंगे उधर से ही भाग चलेंगे।

सुगिया : हाँ ...भाग कर राँची जायेंगे फिर वहाँ से चालान गाड़ी में असाम-भोटांग चले जायेंगे।

गरजू : तुम चलो, मैं सूरज ढलने पर मवेशी लेकर आऊँगा।

सुगिया : आज अखाड़ा में जरूर आना, ठगना मत...

गरजू : हाँ-हाँ जरूर आऊँगा।

(सुगिया खुशी से नाचते चली जाती है।)

(पर्दा गिरता है)

चतुर्थ दृश्य

सरहूल जतरा का दृश्य—लड़के लड़कियाँ माँदर नगाड़े की धुन पर नाच गा रहे हैं। गरजू और सुगिया भी शामिल हैं। कुछ देर नाचने के बाद दोनों इशारों में बातें करके वहाँ से खिसक जाते हैं—योजना के मुताबिक वे कोड़ा राज्य का रुख करते है। अतः अपने निजी सामान का गट्ठर (पोटली) ले कर भाग जाते हैं।

(पर्दा गिरता है)

पंचम दृश्य

(एक डेरे का दृश्य—करमू धरमू सरदारगण कोड़ा राज्य जाने वाले मजदूरों का नाम लिख रहे हैं। कई जोड़े अपने साथ मोटरी, चटाई, तुम्बा, फावड़ा, गिड़वा भार आदि ले कर प्रवेश करते हैं—गरजू और सुगिया भी असाम-भोटांग जाने वालों में अपना नाम दर्ज कराते हैं—सरदार गण सबका हिसाब करके प्रत्येक जोड़े को बारी-बारी से भेजते हैं। कुड़ुख भाषा में आकाशवाणी गीत सुनाई पड़ता है।)

—गुचा जुड़ी कलोत रे...डगरे-डगरे कोड़ा कालोत ...जुड़ी
डगरे-डगरे कोड़ा कालोत जुड़ी...
—डगरे-डगरे कोड़ा कालोत जुड़ी...टटेख़ा मूलीनू डेरा नानोत ..जुड़ी
टटेखा मूलीनू बसा नानोत।
—टटेखा मूलीनू डेरा नानोत जुड़ी...हजारी डबाली नलख नानोत जुड़ी
हजारी डबाली नलख नानोत जुड़ी
—हजारी डबाली नलख नानोत जुड़ी—महिना-महिना तलक झोकओत. ..जुड़ी
महिना-महिना तलक झोकओत।
—महिना-महिना तलक झोकओत...जुड़ी—हँसली तरकुला बाला ख़ेंदोत।
हँसली तरकुला बाला ख़ेंदोत।
—हँसली तरकुला बाला ख़ेंदोत... जुड़ी—नम्है राजी बेंजेरआ किरोंत.. .जुड़ी
—नागपुर बेंजेरआ किरौत।

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

(एक ईंट भट्ठे का दृश्य—औरत मर्द मजदूर ईंट ढो रहे हैं। करमू और धरमू सरदार काम की निगरानी कर रहे हैं।)

करमू : चलो...चलो जल्दी-जल्दी हाथ-पाँव चलाओ। भट्ठा मालिक के आने का समय हो रहा है।

धरमू : जरा जोर लगाओ...धीरे-धीरे से काम नहीं चलेगा।

करमू : सुस्ती मत करो, फुर्ती करो...थोड़ी देर बाद छुट्टी करेंगे।

धरमू : अबे करमू सरदार...

करमू : क्या हुआ धरमू?

धरमू : अरे कितना काम करोगे यार? थोड़ा आराम भी कर लो...

करमू : हाँ भाई ...कितना खटेंगे? आओ बैठो।

धरमू : (बैठते हुए)—करमू भाई मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ...

करमू : एक क्यों? तुम हजार बातें पूछ सकते हो।

धरमू : बताओ तो नशे में लड़कियाँ क्यों सुन्दर दिखती हैं?

करमू : नशे के कारण।

धरमू : सच? अच्छा बताओ तो इतनी सारी लड़कियों में कौन सबसे सुन्दर है?

करमू : (मजदूरों की ओर देखकर) मुझे तो कोई भी सुन्दर नहीं लग रही है।

धरमू : क्यों...क्यों भई?

करमू : क्योंकि मैं पीया नहीं हूँ।

धरमू : लेकिन मैंने तो एक पौआ चढ़ा ली है। इसलिए सब अच्छी लग रही हैं।

करमू : अब तुम बताओ, इनमें से सबसे सुन्दर कौन है?

धरमू : (धरमू ध्यान से देख कर) ओ...ओ...लाल साड़ी वाली...।

करमू : धत् ...तुम्हारी आँख फूटी है क्या?

धरमू : क्यों? ठीक ही तो देख रहा हूँ यार।

करमू : ये तो बूढ़ी औरत है।

धरमू : ऐं...वो नहीं बे...वो पीछे वाली...

करमू : अरे अंधे! वो लंगड़ी भी तुझे अच्छी दिख रही है?

धरमू : ऐं...वो लंगड़ी है क्या?

करमू : और नहीं तो क्या? निकट जा के देखो लंगड़ाती है या नहीं।

धरमू : (आँख मारते हुए कहता है) वो, वो जो उससे थोड़ा हटकर खड़ी है।

करमू : कौन? वो पीली साड़ी वाली?

धरमू : हाँ..वही...वही...

करमू : सच कहता हूँ यार...तुम्हारी आँखें सचमुच फूटी हैं इसलिए वो कानी भी तुम्हें अच्छी दिख रही है।

धरमू : वो वाली नहीं करमू...इधर वाली...गोल-गोल, पोको-पोको गाल जिसके दिख रहे हैं उसे कह रहा हूँ

करमू : कहाँ गोल-गोल, पोको पोको गाल देखा तुमने? वो गाल नहीं हैं बे बाने...वो तो उसका घेंघा है।

धरमू : ऊफ...आँखों के चौंधिवाने की वजह से साफ दिख नहीं रहा।

फकीरचंद : क्यों करमू-धरमू, काम तो सही सलामत चल रहा है न?

धरमू : अच्छा चल रहा है हजूर!

करमू : छोटा नागपुर के मजदूर बहुत बढ़िया काम करते हैं हजूर।

फकीरचंद : अच्छा करमू, तुम एक काम करो, ईंटें वहाँ से हटवा कर वहाँ जमा करा दो।

करमू : ठीक है मालिक...(करमू का प्रस्थान सुगिया सिर पर ईंट उठाए गुजर जाती है। फकीरचन्द सुगिया को ललचाई नजर से देखता है।)

फकीरचंद : अरे धरमू भाई, ये नई लड़की कौन है? बहुत सुन्दर दिखती है।

धरमू : हाँ हजूर लड़की वाकई बहुत चंगी है ....नगपुरिया देह है हजूर और चेहरा बिल्कुल चाँद का टुकड़ा है, चाँद का। माल एकदम उम्दा है मालिक...।

फकीर : कौन सी हूर है? जरा हमसे भेंट करा देना तो।

धरमू : गरजू उराँव की औरत है हजूर!

फकीर : क्या? उसका मर्द भी है?

धरमू : हाँ ...है।

फकीर : तब तो बहुत बुरा हुआ धरमू...फूल के साथ काँटा को तो नहीं होना चाहिए।

धरमू : सेठ फकीरचंद...अगर आप चाहो तो इस काँटे को निकाल बाहर करने का उपाय कर दूँ?

फकीर : धरमू...अगर तुम इस काम में कामयाब हो गये तो मैं तुम्हें रुपयों से तोप दूँगा।

धरमू : हाँ हजूर...मैं सच कह रहा हूँ। काँटा निकाल कर रास्ता साफ करने का तरीका मेरे पास है।

फकीर : धरमू...तुम जल्द से जल्द आदमी को रास्ते से हटाने का उपाय करो।

धरमू : सुगिया को पटाने और गरजू हो हटाने की जिम्मेवारी मुझ पर छोड़ दीजिए, मैं काम करके ही रहूँगा...। मैं सखड़ी बुद्धू (बुधु) का बेटा हूँ हुजूर...मगर आपको एक छोटा सा काम करना पड़ेगा।

फकीर : हाँ...बोलो, क्या काम?

धरमू : थोड़ा मोड़ा (इशारा करके) माल जोगाड़ कर दीजिएगा। चिड़िया फँसाने के लिए फन्दा लगता है कि लासा...इसे मैं समझ लूँगा।

फकीर : क्या बोतल से काम बन जायगा?

धरमू : अरे आखिर ये सब नगपुरिया आदिवासी हैं हजूर...सबके सब हँड़िया-दारू पीने वाले। शराब अगर मिल गई न तो अपनी औरत तो क्या अपनी जान भी छोड़ देंगे।

फकीर : ऐसी बात है? उस आदमी का क्या नाम बताया?

धरमू : गरजू...।

फकीर : ग..र..जू? अच्छा बुलाओ तो उसे, मैं भी देखता हूँ।

धरमू : गरजू...ओ गरजू भाई...जरा आना तो यहाँ।

धरमू : (ईंट के भार सहित प्रवेश करता है)—क्या हुआ सरदार?

धरमू : उधर सुनो...मालिक क्या कह रहे हैं।

फकीर : मैं क्या बोलूँ? देख रहा हूँ कि तुम काम करते-करते थक गये हो। इसलिए आज तुम्हें जल्दी ही छुट्टी दे रहा हूँ। तुम डेरा चले जाओ...और ये लो रुपये थकावट मिटा लेना...(रुपये देता है)

गरजू : (रुपये लेकर) अच्छा हजूर...तो मैं जाऊँ...?

फकीर : हाँ...हाँ जाओ...जाओ...(गरजू का प्रस्थान—कई महिलाएँ सुगिया के सिर से ईंट अपने सिर पर ढो कर प्रवेश करती हैं।)

धरमू : ऐ ...सुगिया बहिन, रुकों तो जरा...।

सुगिया : क्यों...क्या हुआ सरदार जी?

धरमू : हमारे भट्ठा मालिक आज काम देखने आये हैं...सलाम करो!

सुगिया : जोहार मालिक!

फकीर : तुम्हारा नाम का है बहिन?

सुगिया : आपको नाम से मतलब है या काम से?

फकीर : दोनों

धरमू : सुगिया, सुगिया नाम है।

सुगिया : नाम तो सरदार जी आपने बता ही दिया।

धरमू : फिर भी मालिक तुम्हारे मुँह से सुनना चाहते हैं।

फकीर : कोई बात नहीं, नाम मुझे पता चल गया अच्छा जाओ तुम अपना काम करो। ...(सुगिया का प्रस्थान)

धरमू : देखा हजूर...? कैसी है लड़की?

फकीर : सचमुच धरमू...लड़की तो बिजली है...कोकिल की तरह आवाज़ हंस जैसी मस्ती भरी चाल, समुद्र की तरह गहरी-गहरी आँखें...वाह...वाह स्वर्ग की अप्सरा से मुलाकात हो गई धरम...चलो आज सुगिया के नाम से छुट्टी ...ये लो रुपये और जाओ मौज करो...(रुपये देकर फकीरचन्द चला जाता है)

धरमू : चलो रे...आज के लिए छुट्टी...

करमू : (प्रवेश कर) अरे...छुट्टी, अचानक?

धरमू : आज मालिक बहुत खुश हैं?

करमू : खुशी किस बात की?

धरमू : भट्ठा में लाभ हुआ करमू...ये देखो, मौज करने के लिए मालिक ने रुपये भी दिए हैं। चलो पीते हैं—मैं तो आज गले तक पीयूँगा। (धरमू जाने का उपक्रम करता है)

करमू : (रोकते हुए) धरमू जी।

धरमू : हाँ जी...?

करमू : तुम मेरे लिए लड़की दिखाने ले जाओगे बोले थे यार...मगर आज-कल करते-करते बहुत देर कर रहे हो?

धरमू : तुम छटपटाओ नहीं, मैं तेरे लिए एक लड़की देख चुका हूँ।

करमू : कैसी है?

धरमू : मत पूछो! तुम्हारी जीभ और उसकी एड़ी बराबर...। देखोगे तो भकुवा जाओगे।

करमू : तुम तो सिर्फ कहते ही हो दिखाते नहीं हो, सिर्फ जी का ललचाना...।

धरमू : चलो आज ही दिखा देता हूँ। मगर शायद लड़की तुम्हें नापसन्द करेगी।

करमू : क्यों? मुझ में क्या कमी है?

धरमू : तुम्हें पता है? लड़की देखने के लिए अच्छे कपड़े पहन कर जाना पड़ता है। लड़की ने ना कर दी तो बेईज्जत हो जाओगे।

करमू : चलो देखा जायेगा। मैं भी तो किसी से कम नहीं हूँ। लड़कियाँ मुझ से...।

द्वितीय दृश्य

(एक घर का दृश्य–बैंच पर करमू धरमू बैठे हैं)

धरमू : सुनो करमू! मैं जो बात कहूँगा मानना पड़ेगा तुम्हें और देखो ये लड़की का घर है। अपने कपड़े ठीक करो।

करमू : (पहने हुए कपड़े ठीक करते हुए)–हाँ...हाँ...मैं ठीक हूँ। ऐ धरमू तुम्हारी टोपी दो न यार मैं पहनता हूँ।

धरमू : तुम तो हर वक्त दूसरे के भरोसे रहना चाहते हो...मैंने कमीज दी, पैजामा दिया, चप्पल भी दिया...अब टोपी की जिद करते हो...तो पहनो...।

करमू : (पहन कर) अब कैसे लग रहा हूँ?

धरमू : मेरी बात सुनो (चेतावनी देते हुए) तुम बात न करना...मैं अगुवा हूँ इसलिए मैं ही बात करूँगा। तुम चुप रहना, बिल्कुल चुप! बीच में टोकोगे तो बात बिगड़ सकती है। समझे?

करमू : ठीक है।

धरमू : और एक बात और ...अगर हँड़िया-दारू मिले तो बड़े प्रेम से ग्रहण करना मगर पीना मत...सब मुझे देना।

करमू : एक घूँट भी न पीयूँ?

धरमू : (घुड़काते हुए) तुम बात नहीं समझते हो करमू...नशापान को लड़की पसन्द नहीं करती है। तुम्हें पीते देख लिया तो ना कर देगी। पीछे पछताते रह जाओगे।

करमू : ठीक है नहीं पीयूँगा।

धरमू : तुम चुपचाप बैठो।

बुढ़िया : (प्रवेश कर) तुम कौन हो बबुआ लोग?

धरमू : हम करमू-धरमू हैं माँ जी...लड़की देखने आये हैं।

बुढ़िया : किसे? मेरी बेटी को देखने आये हो क्या?

धरमू : हाँ...हाँ...आपकी बेटी को ही...

बुढ़िया : अच्छा बैठो। (प्रस्थान)

धरमू : तुम सावधान रहना करमू...लड़की देख कर बेहोश मत होना।

बुढ़िया : (लोटे में पानी लेकर) लो बेटे... पानी।

धरमू : (संकोच से) पानी रहने दो माँ जी...मुझे पखाना नहीं लगा है।

बुढ़िया : हाथ-पैर धोने के लिए दे रही हूँ।

धरमू : ओ...अच्छा ठीक है लाओ...लाओ...(करमू-धरमू पैर धो लेते हैं)

बुढ़िया : अच्छा बैठो, मैं आती हूँ। (बुढ़िया का प्रस्थान)

धरमू : सुनो करमू...तुम चुप ही रहना। जो भी बात करनी है मैं ही करूँगा...क्यों जानते हो? (करमू 'न' में सिर हिलाता है) अरे मैं अगुवा जो हूँ बेवकूफ।

करमू : ओ...।

बूढ़ा : (प्रवेश कर) तुम लोग कौन हो बाबू लोग?

धरमू : हम लोग आप के होने वाले दामाद हैं 'बाबा'

बूढ़ा : कहाँ से आये हो?

धरमू : हम ईंटखोला के डिविजन से आये हैं।

बूढ़ा : तो बताओ भावी दामाद कौन है?

धरमू : (करमू को दिखाते) आपका होने वाला दामाद ये है। मैं तो उसका दोस्त हूँ। औ...र...ये जो टोपी पहना है न? ये टोपी मेरी है।

बूढ़ा : अच्छा बैठो, मैं चाय की व्यवस्था कराता हूँ। (बूढ़े का प्रस्थान)

करमू : (धरमू को कोहनी मार कर) तुम कैसे आदमी हो यार?

धरमू : क्यों?

करमू : टोपी के बारे में बोलने की क्या जरूरत थी? लो...अपनी टोपी खुद ही पहनो ...(गुस्से से टोपी निकाल कर पटक देता है।)

धरमू : (टोपी उठाते हुए) क्षमा करो...गलती हो गई। अब टोपी के बारे में नहीं बोलूँगा। (टोपी पहन लेता है।)

बुढ़िया : (प्रवेश कर) अच्छा बबुआ लोग? तुम दोनों में से कौन दामाद बनने वाला है?

धरमू : (खुशी से) दामाद? आप का दामाद बनने वाला लड़का तो ये है, मैं तो इसका दोस्त हूँ। औ..र..ये टोपी मेरी ही है।

बुढ़िया : एकाध गिलास हँड़िया बना दूँ पियोगे?

धरमू : अब हम लड़की देखने के लिए मेहमान आये हैं माँजी...कैसे नहीं पियेंगे?

बुढ़िया : थोड़ा इन्तजार करो...अभी बना कर लाती हूँ (बुढ़िया का प्रस्थान)

करमू : (गुस्से से) धत् तेरे की...तुम कैसा आदमी हो धरमू?

धरमू : अब का हुआ?

करमू : टोपी के बारे में बताने की क्या जरूरत थी? टोपी मेरी है टोपी मेरी है कहने लगे हो। अरे टोपी के बारे में बात ही मत करो न!

धरमू : अच्छा चलो, अब नहीं करूँगा।

लड़की : (चाय के साथ प्रवेश) ये लीजिए चाय...(बाँटती है..धरमू पूरे ध्यान से लड़की को देखता है)—बताइए न, आप दोनों में से कौन दामाद बनने वाले हैं?

धरमू : (चहकते हुए)—दामाद? दामाद तो ये लड़का है। मैं इसका दोस्त हूँ और अगुवा भी (सोच कर) और...इस टोपी के बारे में तो बात ही मत करो...। (लड़की इठलाते चली जाती है।)

करमू : ऊ...फ...तुम बहुत ही बेकार हो जी धरमू...मुझ से ज्यादा तो अपनी टोपी का गुणगान कर रहे हो।

धरमू : छोड़ो इन बातों को...पहले बताओ लड़की कैसी लगी? तुम्हें पसन्द आयी या नहीं?

करमू : (अन्यमनस्क भाव से)—देखने में तो ठीक ही है।

धरमू : हाँ...उसकी माँ भी तो कम नहीं है। ए...करमू तुम एक काम करो ..उसकी माँ को तुम रखो बेटी से मैं शादी करता हूँ...

करमू : (अचरज से) ...क्या...?

धरमू : हाँ...मैं ठीक ही कह रहा हूँ यार...जोड़ी अच्छी जमेगी...

करमू : आदमी सुनेंगे तो क्या कहेंगे? तुम बहुत ही धटिया और रद्दी इंसान हो...लोभी कहीं के...(करमू उठकर जाना चाहता है।)

धरमू : (करमू को जबरन बैठाते हुए)—थोड़ा रुको यार...एकाध बाटी पी ही लेते हैं।

करमू : नहीं...नहीं तुम्हारी बात सुन के यहाँ रुकने का मन नहीं कर रहा है।

धरमू : अरे बाबा...इतनी देर रुके...अब हँड़िया आने का वक्त हुआ तो रुक नहीं रहे हो...(बैठ कर खुजलाने लगता है)

करमू : (गुस्से से) बैठना है तो चुपचाप बैठो न भई...खाज से भरे कुत्ते की तरह खुजला-खुजली कर रहे हो...बेशर्म कहीं के...।

धरमू : अरे बर्दाश्त ही नहीं हो रहा है या ...र...।

करमू : पता नहीं तुम्हें क्या काटता है?

धरमू : (खटमल पकड़ कर) ये लो...एक को तो मैंने पकड़ लिया...यही काट रहा था।

करमू : क्या है?

धरमू : पता नहीं...(खटमल को मसल कर सूँघता है) ऊँ...हूँ...ये तो खटमल है यार ...भागो यहाँ से वरना सारे खून चूस लेगा...।

करमू : तुम ठीक कहते हो...खटमल से लड़ोगे या लड़की सँभालोगे? चलो भाग चलें ...(दोनों वहाँ से भाग जाते हैं)

(पर्दा गिरता है)

तृतीय दृश्य

(सेठ फकीरचन्द की कोठी का दृश्य—फकीर अपने हिसाब किताब में व्यस्त है—गरजू घुटनों तक धोती एवं गंजी पहने सहमते हुए प्रवेश करता है)

गरजू : जोहार! सेठ साहब।

फकीर : ओह गरजू? आओ भाई आओ?

गरजू : मुझे किस काम के लिए याद किया हजूर?

फकीर : अरे तुम पहले बैठो तो सही, काम भी बता दूँगा! (गरजू फर्श पर बैठना चाहता है) अरे...रे...गरजू भाई, वहाँ नहीं (कुर्सी दिखाकर यहाँ ...।

गरजू : हमको लाज लगता है हजूर, आप के सामने कैसे माचिया पर बैठूँ

फकीर : मुझसे शरमाओ नहीं...मैं भी तो तुम्हारी तरह ही एक इंसान हूँ। आओ बैठो। (गरजू सहमते हुए कुर्सी पर बैठता है)

गरजू : बताओ हजूर, हमको काहे बुलाया?

फकीर : तुमको हम काम के लिए नहीं बुलाए हैं गरजू भाई...आज मेहमान बुलाए हैं।

गरजू : हमको मेहमान बुलाए हैं? मगर हम तो आपके कुली हैं हजूर...?

फकीर : तुम मेरे मजदूर हो और मैं तुम्हारा मालिक हूँ तो क्या हुआ? तेरे मेरे खून में कोई फर्क है क्या?

गरजू : नहीं...खून तो एक है...लाल..!

फकीर : तब? यहाँ डरने और डराने का सवाल ही नहीं है। अच्छा, मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ कि तुम अपना देश छोड़ के इस भोटांग राज्य, कोड़ा राज्य में क्यों आए?

गरजू : कमाने के लिए।

फकीर : लेकिन तुम्हारी हालत देख मुझे बहुत अफ़सोस होता है गरजू।

गरजू : काहे हजूर?

फकीर : बस इंसानियत की खातिर गरजू...। तुम्हारे तन में फटी कमीज फटी धोती देख मेरा दिल जलता है!

धरमू : (प्रवेश कर) अरे गरजू...तुम भी चले आये हो यार?

फकीर : हाँ ...गरजू को आज मैंने मेहमान बुलाया है।

धरमू : तब तो पीने का भी इन्तजाम होगा...?

फकीर : इतने सारे मजदूरों में गरजू भैया ही सबसे ज्यादा मेहनत करता है, इसलिए इसकी मजूरी बढ़ाना चाहता हूँ; कैसा रहेगा?

धरमू : आप ने बहुत अच्छा फरमाया मालिक लेकिन...लेकिन इसकी औरत के बारे में आप का क्या ख्याल है? मेहनत तो वो भी कम नहीं करती है।

फकीर : (अनजान बनते) क्या गरजू की औरत भी है? तुम शादी सुदा हो क्या?

गरजू : (शर्माते) शादी तो नहीं किए हैं हजूर...?

धरमू : मगर तुम तो सुगिया के साथ पति-पत्नी की तरह रहते हो न?

गरजू : (शर्माते) हाँ...अभी तो एक साथ ही रहते हैं...देस लौट के शादी करेंगे।

फकीर : हाँ...हाँ अब समझा। शादी ब्याह के लिए तो रुपये की जरूरत पड़ती है। इसलिए प्रेमी जोड़े कमाने के लिए कोड़रू राज्य आ गये हैं, है न गरजू?

गरजू : जी हाँ मालिक।

फकीर : ठीक है, तुम घबराओ नहीं। मेरे रहते तुम्हें चिन्ता फिक्र करने की जरूरत नहीं है। मैं दोनों के तनख्वाह में इजाफ़ा कर दूँगा। धरमू मेहमान की खातिरदारी के लिए कुछ व्यवस्था करो...गरजू तुम पीते हो न?

गरजू : (शर्माते) कभी-कभी हँड़िया पी लेता हूँ साहेब...।

धरमू : अरे भईया, हँड़िया पीयो या दारू, नशा तो एक ही है।

फकीर : गरजू हँड़िया तो तुमने पी होगी मगर इसे तो नहीं पीया होगा...(शराब की बोतल दिखाता है)

गरजू : (साश्चर्य) हजूर...इसे तो मैंने जिन्दगी में कभी छूआ तक नहीं।

फकीर : चलो आज पी के भी देख लो। ये विदेशी माल है भाई...चख लो आज। (धरमू तीन ग्लास ले आता है)

धरमू : तुम्हारे सा..ब..दुःख-तकलीफ हवा हो जायेंगे। ये ब्राण्डी है ब्राण्डी...।

फकीर : चलो...चलो बाँटो जल्दी। (धरमू शराब बाँटता है) फकीर गरजू को गिलास थमाते हुए) लो ...पी के देखो कैसा लगता है?

गरजू : (झिझकते हुए पीकर)—गले में नहीं उतरता है हजूर—एकदम कड़क है।

धरमू : इसी में तो मजा है गरजू भैया, शुरू-शुरू में ऐसे ही कड़ुवा लगता है मगर पीते-पीते सब ठीक ही हो जाता है।

फकीर : धरमू...तुम क्या बात बोलने वाले थे? (आँख मारता है)
(बर्तन माँजते हैं, कपड़े धोते हैं, झाड़ू पोंछा भी करते हैं...

फकीर : क्या करूँ धरमू? मजबूरी है।

धरमू : इसीलिए तो कहता हूँ हजूर...सुगिया बहिन आप की मदद करती तो कितना अच्छा होता?

फकीर : हाँ अच्छा तो होता...मगर अब उसका मालिक गरजू क्या कहता है?

गरजू : हम का बोलें हजूर? काम जहाँ भी करे, मुझे रुपये मिलने चाहिए बस।

फकीर : ठीक है। तो बताओ कब भेज रहे हो?

गरजू : आप जिस दिन बोलेंगे, उसी दिन से भेज दूँगा...(नशे में झूमता है)

धरमू : तो देर क्यों? कल ही भेज दो।

गरजू : ठीक है...सुगिया को मैं कल ही भेज दूँगा। मालिक...अँधेरा हो रहा है मालिक! मैं डेरा जाता हूँ...सुगिया मेरी राह देख रही होगी...। (कुर्सी से उठता है)

फकीर : ठीक है...इसे भी ले जाओ...(एक पोटली देता है)

गरजू : का जिनिस है मालिक? (लड़खड़ाता है)

फकीर : घर जा के देख लेना...तुम्हारे लिए धोती और सुगिया के लिए साड़ी है।

गरजू : मालिक...ई सबका का दरकार रहा? हमारा तनखा बढ़ा दिए और फिर ऊपर से ये कपड़े लत्ते...

फकीर : अरे भैया, तुम पराये तो नहीं मेरे खास हो...।

गरजू : (सेठ के पाँव पड़ते) मालिक...आप मेरे लिए भगवान हैं...देवता हैं...

फकीर : अरे रे ...गरजू क्या कर रहे हो? (उठाता है) धरमू, जाओ गरजू को डेरा छोड़ आओ।

धरमू : ठीक है हजूर...(गरजू को सँभाल कर प्रस्थान करता है)

फकीर : कल सुगिया को नयी साड़ी पहन कर कोठी आने को कहना...!

राधा : (प्रवेश कर गुस्से में) फकीरचंद...अब तुम किसका घर उजाड़ने के फिराक में हो...आँ?

फकीर : राधा...तुम यहाँ क्यों आयी हो?

राधा : मुझे रोकने वाले तुम कौन होते हो?

फकीर : मैं तुम्हें पहले ही कह चुका हूँ, मेरे काम में बाधा डालने की कोशिश मत करना, मगर...

राधा : फकीरचंद...तुमने मुझसे धोखा किया...मुझे ठगा, मगर दुनिया को ठग नहीं पाओगे।

फकीर : अरे चुप...।

राधा : मेरी जमीन-जायदाद, मकान-बंगला दखल करके मुझे चुप रहने का आदेश देते हो? मैं चुप रहने वाली नहीं हूँ फकीर...तुम्हारे पाप के कर्मों का ढिंढोरा पीट कर दुनिया को सुनाऊँगी मैं...समझे?

फकीर : अब तुम क्या कर पाओगी राधा? तुम्हारी जमीन-जायदाद, भट्ठा-बंगला के कागजाद मेरे कब्जे में हैं, और इन सब का मालिक मैं हूँ मैं...।

राधा : मेरी दौलत पर तुमने बहुत इतरा लिया फकीर...अब इन्हें वापस कर दो।

फकीर : ऊँ हूँ...ऊँ हूँ...ये हरगिज नहीं हो सकता।

राधा : मैं अपना हक माँग रही हूँ; तुमसे भीख नहीं।

फकीर : हक? हा...हा...हा...तुम्हारे हक और अधिकार को तो तुम्हारा मर्द बिरसा, संग-संग गड्ढे में लेते चला गया। अब मेरे ऊपर तुम्हारा कोई हक नहीं है।

राधा : तुम तो मेरे पति के भागीदार (Partner) थे रे पापी...मगर आज धोखे से मालिक बन बैठे।

फकीर : यही तो कमाल की बात है भाभी...।

राधा : खबरदार...अपने फूहड़ मुँह से मुझे भाभी न कहना! तुम मेरे जैसे विधवा और अनाथ बच्चों का अधिकार छीन कर मौज-मस्ती कर रहे हो, किलकारियाँ भर रहे हो...? एक दिन भगवान तुम्हें अवश्य दंड देगा देखते रहना...(प्रस्थान करती है)

फकीर : जाओ...जाओ...भागो! ज्यादा पटर-पटर मत करो...। हक माँगने आयी है, वो भी सेठ फकीर चन्द के पास? बेशर्म कहीं की...। (गिलास में बचे हुए शराब को गटागट पीता है)

(पर्दा गिरता है)

चतुर्थ दृश्य

(सेठ फकीरचन्द की कोठी का दृश्य—कमरे में सुगिया झाड़ू-पोंछा का काम कर रही है—फकीर कुर्सी पर बैठे अखबार पढ़ने के बहाने बीच-बीच में उसे घूरते रहता है—सुगिया फर्श पोंछ रही है।

फकीर : बस करो सुगिया...तुम्हारे हाथ मैले हो जायेंगे।

सुगिया : हाथ मैंले नहीं करूँगी तो काम कैसे चलेगा?

फकीर : आज के लिए बस करो...मेरे पास बैठो।

सुगिया : नहीं मालिक! बैठूँगी तो देर हो जायेगी...बहुत काम पड़े हैं...जल्दी करूँगी तब डेरा लौट पाऊँगी। (खड़ी हो जाती है)

फकीर : क्यों? आज की रात यहीं रुक जाओगी तो क्या होगा?

सुगिया : धत्...मेरे मरद के लिए खाना कौन पकाएगा? और मैं एक नारी हूँ...आप की कोठी में कैसे रह सकती हूँ?

फकीर : वैसे ही जैसे मैं रहता हूँ।

सुगिया : धत्...नहीं-नहीं मैं नहीं रहूँगी।

फकीर : अच्छा, एक बात बताओ...तुमने शादी की है मगर तुम्हारी माँग में सिंदूर नहीं ... क्यों?

सुगिया : (शर्माते) सिन्दूर पहनने का समय नहीं हुआ है।

फकीर : मतलब, तुम लोगों ने अब तक शादी नहीं की?

सुगिया : (सिर झुका कर आँचल ऐंठते हुए) नहीं...।

फकीर : अब तक कुँवारे हो तो शादी कब करोगे?

सुगिया : (पैर से फर्श रगड़ते)—देस लौट के शादी करेंगे।

फकीर : सच बताना सुगिया....क्या तुम गरजू को सचमुच प्यार करती हो?

सुगिया : (सिर झुका कर शर्माते हुए) हाँ।

फकीर : झूठ तो नहीं बोल रही हो?

सुगिया : उसे प्रेम नहीं करती तो उसके साथ भागकर नागपुर से कोड़ा राज्य क्यों आती?

फकीर : क्या वो भी तुम्हें इतना ही प्यार करता है?

सुगिया : (सकुचाते)—हूँ-म्म...(सिर झुकाती है)

फकीर : क्या मुझसे भी ज्यादा...?

सुगिया : साश्चर्य...क्या...?

फकीर : हाँ सुगिया! तुम यकीन मानो...मैं भी तुम्हें दिलोजान से चाहता हूँ...मगर कैसे कहूँ? तुम अपनी कंचन जैसी काया को मेहनत-मजदूरी में व्यर्थ गला रही हो। इस भरी जवानी में तुम्हें तकलीफ झेलने नहीं बल्कि आराम फरमाने का सुनहरा अवसर है। च..च.... हालत देख कर तरस आता है।

सुगिया : पेट पालने के लिए काम तो करना ही पड़ता है हजूर...हमारी मजबूरी भी है. ..कैसे कहूँ मैं?

फकीर : मजबूरी? हा-हा-हा...मजबूरी किस चिड़िया का नाम है मुझे नहीं पता। लेकिन अगर तुम जिन्दगी में सुख-चैन और आराम की जिन्दगी जीना चाहती हो तो मेरा साथ देने के लिए तैयार हो जाओ।

सुगिया : क्या? क्या कहा आपने?

फकीर : अरे तेरा मर्द गरजू भी कैसा घटिया इंसान है?

सुगिया : (डर कर)—क्या कहा आपने?

फकीर : तुम्हारे फूल जैसे बदन को काम कराते-कराते मसल कर रख दे रहा है। इस वक्त तो तुम्हें सोलह शृंगार करके रानी की तरह रहना था मगर छि...छि... छि...! मजदूरी कर रही हो। कितने अफसोस की बात है।

सुगिया : मेरी गरीबी का मजाक मत बनाओ मालिक...।

फकीर : गरीबी क्या है जानती हो? गरीबी अभिशाप है सुगिया...तुम्हारी तरह सुन्दर नारी के लिए तो गरीबी की जिन्दगी नरक की जिन्दगी है। जरा सोच के देखो... तुम्हारा वो खूसट गरजू तुम्हारी क्या मनोकामना पूरी करता होगा? न खुद के रहने का ठिकाना है और न खाने-पीने का। आधा पेट खाना और फटे लहँगे से जिन्दगी बिताना...ये भी कोई जिन्दगी है?

सुगिया : मेरे लिए तो इसी जिन्दगी में सुख-चैन है मालिक!

फकीर : नहीं...नहीं...तुम झूठ बोल रही हो! अगर तुम्हें ऐशो-आराम और धन दौलत का लोभ नहीं है तो छोटा नागपुर छोड़ कर इस कोड़ा राज्य में क्यों आयी? दौलत कमाने और सम्पत्ति जोड़ने के लिए तो?

सुगिया : हाँ...।

फकीर : इसीलिए में कहता हूँ सुगिया...एक रात तुम मेरे संग बिता कर देखो, रातों-रात तुम्हारी मजबूरी और गरीबी कहाँ गायब हो जायेगी, तुम समझ ही नहीं पाओगी।

सुगिया : छि...छि...छि...ऐसा कभी नहीं हो सकता! पराए मर्द के बारे में सोचना भी पाप है मेरे लिए।

फकीर : अरे! गोली मारो पाप और पुण्य को। तुम गरजू को छोड़ मेरे पास आ जाओ।

सुगिया : नहीं मालिक ये सब बातें अच्छी नहीं हैं...मैं चलती हूँ...।

फकीर : (रोकते हुए) मैं सच कहता हूँ सुगिया मैं तुम्हें रानी बनाकर रखूँगा—(सुगिया के कंधे पर हाथ रखता है।)

सुगिया : (घबराते हुए) छी...मुझे मत छुओ...मैं पराए मर्द की औरत हूँ...

फकीर : यकीन मानो सुगिया...मैं तुमसे शादी करना चाहता हूँ।

सुगिया : नहीं हजूर...ऐसा न करो...मैं इज्जत की भीख माँगती हूँ ...मैं आपके पाँव पड़ती हूँ...मुझे जाने दो...(फकीर के पैर पकड़ती है)

फकीर : ऊँहूँ...ऊँहूँ...तुम्हारी जगह मेरे पाँव तले नहीं है मेरी जान...तेरे लिए तो मैंने यहाँ (छाती ठोक कर बताते हुए) जगह रखा है... चलो उठो गले से लग जाओ. ..(लिपटना चाहता है)

सुगिया : (झटकते हुए) आप को थोड़ा भी लाज-शरम नहीं है। बड़ा आदमी हो के नीच विचार रखते हो....पापी हो आप...कुत्ता हो शैतान हो...।

फकीर : (बढ़ते हुए) इंसान हूँ कि शैतान हूँ...अभी दिखा देता हूँ...(सुगिया पीछे हटती है) सेठ फकीरचन्द अपने शिकार को कभी नहीं छोड़ता है, समझी? मेरे हाथ बहुत मजबूत हैं, बच कर भाग नहीं पाओगी...(सुगिया की दोनों बाँह पकड़ लेता है)

सुगिया : (अपने को छुड़ाते हुए)—छोड़ो मुझे...मैं चिल्ला दूँगी...

फकीर : चिल्लाओ...तुम्हारी चिल्लाहट सुनने वाला कोई नहीं है...सुन कर भी बचाने वाला कोई नहीं आयेगा। ये तुम्हारे मालिक की कोठी है, सेठ फकीरचन्द का बंगला...

सुगिया : (जोर से चिल्ला कर) मुझे छोड़ो...पापी...दोगले...।

राधा : (अचानक प्रवेश कर) फकीर...तुम किसके साथ बदतमीजी कर रहे हो...पापी...?

फकीर : (सुगिया को छोड़कर) अरे राधा...तुम्हें मेरे कमरे में आने की क्या जरूरत थी? (सुगिया अपने को छुड़ा कर भाग जाती है।)

राधा : हरामजादे...मुझे पूछते हो? ...तुम भोली-भाली लड़कियों को ठग-फुसला कर कोठी लाते हो और इज्जत बर्बाद करते हो...तुम्हें शर्म नहीं आती शैतान कहीं के?

फकीर : देखो राधा...ये मेरा व्यक्तिगत मामला है, तुम बीच में न पड़ो तो ही अच्छा है।

राधा : अरे पापी...तुम्हारी कोई बहन-बेटी नहीं है क्या?

फकीर : तुम ज्यादा सवाल मत करो...भागो यहाँ से।

राधा : मुझे भगाना इतना आसान नहीं है फकीर...मैं एक-एक पैसे का हिसाब लूँगी तब छोड़ूँगी!

फकीर : भागना है तो भागो वर्ना गोली मार दूँगा मैं...।

राधा : मुझे मारने के लिए अब तक गोली नहीं बनी है फकीर...और थोड़ा इन्तजार करो... जिस दिन तुम्हारे पाप के घड़े भर कर फूटेंगे न, उसी दिन मेरी मौत होगी। तुम्हारी बर्बादी देखने के लिए मैं जिन्दा रहूँगी फकीर...जल्दी मरूँगी नहीं. ..समझे...? बेशर्म...बेहया...(राधा का गुस्से से प्रस्थान)

फकीर : जाओ...जाओ...भागो...(मेज को गुस्से से मुक्के मार कर))...थू जाल में फँसी चिड़िया उड़ गई...जिन्दगी में पहली बार सेठ फकीरचन्द धोखा खाया है...छिः, इस गदही राधा ने सब काम बिगाड़ दिया...। (हाथ मलते चहलकदमी करता है।)

(पर्दा गिरता है)

पंचम दृश्य

(गरजू के डेरे का दृश्य—साँझ का समय—ढिबरी जल रही है—गरजू शराब पीने में मस्त है)

करमू : (प्रवेश कर) अरे गरजू...तुम दारू पी रहे हो यार? रुपये कहाँ से मिले?

गरजू : भट्ठा मालिक ने दिया सरदार....

करमू : (बैठते हुए) अच्छा...? आजकल तो भट्ठा मालिक तुम पर ज्यादा ही मिहरबान है....महँगा और दामी शराब पीने के लिए रुपये भी दे रहा है, क्या बात है?)

गरजू : सच कहता हूँ करमू सरदार...हमारे मालिक देवता हैं, साक्षात् भगवान हैं...

करमू : कैसे भई?

गरजू : देखो न मेरे घर के लिए खरचा-पानी दे रहा है, कपड़े-लत्ते दे रहा है, फिर पीने के लिए बिलाइती दारू भी दे रहा है, उसी को पी रहा हूँ, आप पीयोगे? बहुत कड़क है...।

करमू : नहीं भैया, तुमही पीयो, इसे पीने के लायक नहीं हूँ मैं...। अच्छा, गरजू भाई?

गरजू : बोलो सरदार...।

करमू : तुम्हारी औरत को कहाँ भेज दिए हो बे?

गरजू : काम करने गई है सरदार जी...।

करमू : ऐं...काम करने? और इतनी रात तक? लोगों को तो दिन में ही छुट्टी हो गई...?

गरजू : मेरी सुगिया, मालिक की कोठी में काम करने गई है...।

करमू : (समझाते हुए) देखो गरजू...तुम्हारी औरत तुम्हारी इज्जत है। ऐसी रात-रात को अपनी औरत को खुला छोड़ देना अच्छी बात नहीं है...जमाना खराब है।

गरजू : औरों के पास नहीं सरदार, मेरी औरत तो हमारे भट्ठा मालिक के पास गई है।

करमू : हाँ...हाँ...हाँ... मुझे सब पता है। मगर मैं कहे दे रहा हूँ गरजू एक दिन तुम्हें पछताना पड़ेगा?

गरजू : क्यों...क्यों पछताना पड़ेगा?

करमू : मालिक के चाल-चलन ठीक नहीं हैं। वो दूसरों की बहन बेटियों की इज्जत आबरू पर भी हाथ डालता है...।

गरजू : (गुस्से से) सरदार...तुम मेरे मालिक को गलत मत सोचना...।

करमू : नहीं गरजू...गलत तुम सोच रहे हो, वो तो कब्र की तरह है, बाहर बहुत सुन्दर दिखता है मगर अन्दर सड़े हुए लाश होते हैं।

गरजू : तुम मेरे देवता समान मालिक को भला-बुरा न कहना सरदार...मैं कह रहा हूँ अच्छा नहीं होगा।

करमू : समय आने दो भैया...असलियत से पर्दा उठ जायगा न, तब समझोगे।

गरजू : (उतावलेपन से)—अगर तुम्हारी बात गलत निकली तो मैं तुम्हारा गला काट दूँगा...समझे?

करमू : जब तुम खुद भुगतोगे तो मेरा नहीं अपना गला खुद काट के फेंकोगें और तब करमू सरदार की बात याद आयेगी तुम्हें। मैं तो तुम्हें समझाने आया था, तुम समझना ही नहीं चाहते हो तो क्या करूँ? चलता हूँ मैं। (उठ कर करमू का प्रस्थान) गरजू वहीं बैठे-बैठे सारी शराब पीकर लुढ़क जाता है और गीत-गाते-गाते सो जाता है।)

सुगिया : (हड़बड़ाहट में प्रवेश करके) गरजू...गरजू...ऐ गरजू...(हिलाते हुए) उठो तो जल्दी...।

गरजू : धत् तेरे की...कौन है? (फिर सो जाता है)

सुगिया : (झकझोरते हुए) अरे उठो तो जल्दी...।

गरजू : (लेटे-लेटे) तंग मत करो मुझे...चुपचाप सो जाओ, मुझे सोने दो...(चित लेट जाता है)

सुगिया : तुम अच्छा नहीं कर रहे हो गरजू—रोज-रोज पी कर मतवाला होना मुझे बरदाश्त नहीं हो रहा है। रोज पीने के लिए आखिर रुपये कहाँ से मिलते हैं तुम्हें?

गरजू : मालिक...भट्ठा मालिक देता है। वो बहुत अच्छा इंसान है।

सुगिया : क्या कहा?

गरजू : हाँ जी...मैं सच कहता हूँ। मालिक की मिहरबानी हम दोनों पर है।

सुगिया : ये सब बाहरी दिखावा है गरजू...अन्दर से वो और ही है।

गरजू : हमारा भट्ठा मालिक तो मेरे लिए भगवान से कम नहीं है।

सुगिया : वो भेड़िया भगवान नहीं है गरजू...पापी है...कुत्ता कहीं का।

गरजू : पापी कुत्ता मत कहो सुगिया...वह तो देवता है देवता...।

सुगिया : देवता भगवान नहीं गरजू...पक्का शैतान है, राक्षस है राक्षस...।

गरजू : अरे! तुम पगला गई हो क्या?

सुगिया : मैं सच कह रही हूँ गरजू...तुम तो पी-पी के पड़े रहते हो...तुम क्या जानो मेरे साथ आज क्या बीती? (एक किनारे बैठ कर सिसकती है।)

गरजू : तुम क्या बोलता है जी...? अरे सुगिया...तुम रो रही हो? क्या हुआ? (सुगिया को छूता है)

सुगिया : (झटकते हुए) मत छुओ मुझे...(और सिसकती है)

गरजू : अरे बाबा...क्या बताओगी तब न?

सुगिया : (गुस्से से) मुझे पूछते हो? जाओ अपने मालिक से पूछो...वही तुम्हारा देवता-भगवान है...शैतान कहीं के...।

गरजू : अरे तुम कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हो आज?

सुगिया : मैं पूछती हूँ....क्या तुमने मुझे रण्डी बनाने के लिए मालिक की कोठी पर भेजा था?

गरजू : तुम क्या बक रही हो मेरी समझ में नहीं आ रहा है। विस्तार से बोलो रोने का कारण क्या है?

सुगिया : अपनी मान-मर्यादा गँवा कर रोऊँ नहीं तो क्या हँसूँ?

गरजू : छोड़ो इन बातों को, रोटी कमाने के लिए बहुत कुछ सहना भी पड़ता है सुगिया...।

सुगिया : (गर्म होकर) मगर एक टुकड़ी रोटी के लिए अपनी इज्जत को बेचना नहीं पड़ता है गरजू अपने मान-सम्मान को गँवाना नहीं पड़ता।

गरजू : लो...अब तुम क्या बोल रही हो?

सुगिया : देखो न ...मेरा ब्लाउज फट गया ...तुम्हारा भट्ठा मालिक मुझसे छेड़खानी कर रहा था...पापी कहीं के...तुम तो पी-पी के सूअर की तरह पड़े हुए हो, तुम्हे कुछ होश है?

गरजू : क्या तुम सच बोल रही हो?

सुगिया : मैं झूठ नहीं बोल रही हूँ गरजू...तुम मेरी हालत देख कर भी समझ नहीं रहे

हो? सूअर कहीं के?

गरजू : (सुगिया के फटे ब्लाउज को ध्यान से देख कर) तुम सच बोल रही हो?

सुगिया : गरजू तुम समझते क्यों नहीं? मैं तुम्हें क्यों ठगूँ और मालिक पर मिथ्या दोषारोपण क्यों करूँ?

गरजू : हाँ अब समझ में आ रही है मुझे करमू सरदार की बात! उसने मुझे सही बात ही कही थी!

सुगिया : गरजू...मैं इस कोड़ा राज्य में रह नहीं पाऊँगी! मैं यहाँ मेरे जैसे अबला नारी की इज्जत सुरक्षित नहीं है। चलो आज ही देश लौट जाते हैं।

गरजू : (गुर्राते हुए) मुँह में राम बगल में छूरी? उस हरामखोर मालिक ने मेरी इज्जत पर हाथ डाला? अबे ओ...मालिक...सूअर के बच्चे...। आज तुम्हें मैं कच्चा चबाकर खा जाऊँगा...पापी...(उठने की कोशिश करता है)

सुगिया : (घबड़ा कर) गरजू...गरजू...तुम क्या करना चाहते हो?

गरजू : (खड़ा होते हुए) मैं... अपनी...इज्जत का बदला लेकर ही रहूँगा। आज मैंने उसके सात टुकड़े नहीं किए तो मेरा नाम गरजू नहीं...हाँ...।

सुगिया : नहीं गरजू, तुम चुप रहो, अभी तुम नशे में हो...।

गरजू : नशे में हूँ तो क्या हुआ? वो मेरी इज्जत से खिलवाड़ क्यों करेगा? क्या उसकी बहन-बेटी नहीं है...आह? साला पापी...गद्दार...!

सुगिया : (गरजू को रोकते हुए) चुप रहो...चलो चुपचाप सो जाओ। (गरजू अपना बलुवा उठा लेता है।)

सुगिया : (रास्ता रोकते) तुम लड़ नहीं सकोगे गरजू...। उसके बहुत से लोग हैं। वो रुपये वाला आदमी है। थाना-पुलिस भी उसी के हाथों में है।

गरजू : मैं थाना-पुलिस से भी नहीं डरता। फाँसी पर चढ़ जाऊँगा मगर मैं बदला ले के ही रहूँगा...छोड़ूँगा नहीं।

सुगिया : नहीं...नहीं...चलो चुपके-चुपके देस लौट भागते हैं...।

गरजू : चुपके-चुपके भागना डरपोक लोगों का काम है सुगिया! मैं कायर नहीं हूँ।

गरजू : ये छोटा-बड़ा, धनी-गरीब की लड़ाई नहीं है सुगिया...इज्जत की लड़ाई है इज्जत की...इज्जत सबकी बराबर होती है...(दर्शकों की ओर बलुवा चमकाते हुए)—सेठ फकीर चाँ..द...आज तुम्हें जीने नहीं दूँगा...ज्यादा नहीं ...एक ही बलुवा में तेरा सिर-कलम कर दूँगा...! फकीर...तुम मेरा इन्तजार करो मैं आ रहा हूँ। (गरजा आगे बढ़ना चाहता है, सुगिया उसे खींच कर रोकती है।)

(पर्दा गिरता है)

षष्ठ दृश्य

(फकीरचन्द की कोठी का दृश्य—कमरा सूनसान है—गरजू बलुवा चमकाते हुए प्रवेश करता है—फकीर को इधर-उधर खोजते हुए)

गरजू : (चिल्ला कर)—अरे ओ...शैतान की औलाद...बाहर निकलो...कुत्ते का बच्चा...आज तुम्हारा खून पी जाऊँगा...छोड़ूँगा नहीं...मेरी औरत पर हाथ डालने में शर्म नहीं आयी...पापी?

धरमू : (प्रवेश कर) अरे...रे...रे...गरजू भाई...क्या हुआ? रात का नशा नहीं उतरा है क्या?

गरजू : तुम्हारे लुच्चा मालिक को भेजो...उसी से बात करनी है...।

धरमू : नहीं यार...कुछ बोलोगे भी...क्यों इतने उत्तेजित हो रहे हो?

गरजू : अरे हरामी...तुम्हारी नाक के नीचे ही पाप का नंगा नाच हो रहा है, और तुम्हें पता ही नहीं...मुझे पूछते हो? दलाल?

धरमू : (प्यार से) वैसे नहीं बोलते हैं भैया...जरा साफ-साफ कहो...आखिर हुआ क्या जो तुम बलुवा ले कर आ धमके हो?

गरजू : भागना है तो भागो यहाँ से वर्ना एक ही बलूवा से ठंडा कर दूँगा। (काटना चाहता है)

धरमू : (डरकर) न...न...न...म...म...माफ कर दो मुझे...। (भागता है)

गरजू : अरे अनदेखा...अनजान बन रहे हो? बताओ, मेरी सुगिया पर हाथ क्यों डाला?

फकीर : (अनजान बनते हुए)—हाथ डाला? किस पर? तुम नशे की झोंक में क्या बक रहे हो?

गरजू : मैं सच कह रहा हूँ! ये नशे की झोंक नहीं दिल का दर्द है..दर्द।

फकीर : (प्यार से)—देखो गरजू...तुम अभी पीये हुये हो...तुम्हारा दिमाग वश में नहीं है। तुम चुपचाप डेरा लौट जाओ...बेकार झमेला मत करो।

गरजू : मैंने शराब जरूर पी है, गूह नहीं खाया है...मगर तुम पापी हो...पापी!

फकीर : (घुड़कते हुए) खामोश गरजू...बेमतलब ज्यादा मत चिल्लाओ।

गरजू : क्यों न चिल्लाऊँ? तुम मेरी इज्जत-आबरू के साथ खिलवाड़ करोगे और मैं चुपचाप सहता रहूँ?

फकीर : अबे कंगाल...मेरे ही टुकड़ों पर जी रहे हो और मेरी ही बदनामी कर रहे हो? बेईमान? जिस थाली पर खा रहे हो उसी में छेद कर रहे हो?

गरजू : मैं मेहनत और इज्जत की कमाई खाता हूँ। गरीब भले हूँ लेकिन तुम्हारी तरह बेईमान नहीं। और तुम...तुम शैतान हो...। दूसरों की बहू-बेटियों के साथ रंगरेलियाँ मनाते हो और अपने को इज्जतदार बताते हो...न? तुम्हारी कोई बहन-बेटी नहीं है क्या? पापी कहीं के?

फकीर : देखो गरजू...ज्यादा बक-बक मत करो, नहीं तो, मैं कह रहा हूँ अच्छा नहीं होगा!

गरजू : (तमतमाते हुए)—क्या कर लोगे तुम मेरा?

फकीर : क्या तुम देखना ही चाहते हो?

गरजू : क्या दिखाओगे तुम मुझे? मैं डरता नहीं हूँ!

फकीर : तुम्हें आखिरी बार कह रहा हूँ गरजू...चुपचाप चले जाओ।

गरजू : मैं तुम्हारी धमकी से डरने वाला नहीं हूँ फकीर...।

फकीर : ओ... तो तुम देखना ही चाहते हो?(फकीर ताली बजाता है...मेरी बदनामी का गीत गा रहा है...इसका मुँह बन्द करो तो...!

गरजू : ये क्या कर सकेगा सेठ? तुम्हारे राशन खाते-पीते तो इसके तोंद निकल गई है, मुझ से लड़ पायेगा? क्या ये पहलवान? हिम्मत है तो आओ...एक ही बलुवे में काट डालूँगा...(कटना चाहता है...पहलवान भाग जाता है)

फकीर : (गुस्से से) बास्टर्ड...।

गरजू : देखा फकीर? मेरे बलुवे के सामने तुम्हारा शेर भी टिक नहीं सका...दुम दबा कर भागा है...! (गरजू के पीछे से रस्सी फेंक कर फँसा लेते हैं—उसके हाथ-पैर बाँध कर झुला देते हैं)

फकीर : हा...हा...हा...देखा गरजू? अब तुम मेरी मुट्ठी में हो।

गरजू : डरपोक...धोखेबाज...(छुड़ाने की व्यर्थ कोशिश करता है)

फकीर : अब फड़फड़ाओ ...जी भर कर तड़पो...मगर छूट नहीं पाओगे। अगर तुम बचना चाहते हो तो हजार-पाँच सौ रुपये लेकर चलते बनो।

गरजू : थू...तुम पाप की कमाई से मेरी इज्जत को खरीदना चाहते हो? ये हरगिज नहीं हो सकता।

फकीर : हूँ...ह...छोटा सा मुँह है पर जुबान तो कैंची की तरह चलती है अँ...?(गरजू के बाल खींचते हुए) अरे मरदूद के बच्चे...मालिक से किस तरह बात की जाती है, उसकी भी तमीज नहीं है?

गरजू : तुम मालिक नहीं...शैतान की हड्डी हो।

फकीर : मेरे साथ टकराने वालों के साथ क्या अंजाम होता है जानते हो?

गरजू : जानता हूँ मगर डरता नहीं हूँ।

फकीर : (थप्पड़ मार कर) शट-अप...नॉनसेन्स...। ज्यादा मत बको...नहीं तो तेरी जीभ काट कर कुत्तों को खिला दूँगा...समझे?

गरजू : मेरा हाथ-पाँव बाँध कर अपने को ताकतवर दिखा रहे हो...डरपोक? मुझे थप्पड़ मार रहे हो? तुम इस धरती में मुझ से ऐसा व्यवहार कर रहे हो मगर ऊपर वाला तुम्हें दण्ड देगा। मरोगे तो तुम्हारी लाश को गिद्ध नोच-नोच खाएँगे... सियार...लोमड़ियाँ चबा-चबा...।

फकीर : बदलू सिंह...ये तो बहुत पटर-पटर करने लगा है..बे। पानी पिला-पिला कर ठोको तो साले कुत्ते को!

गरजू : मुझे छूट कर जाने दो फकीर...तुम्हारा खानदान खत्म कर दूँगा।

फकीर : बस..बस..! मेरी बात मानो, सुगिया को मेरे हवाले कर दो।

गरजू : नहीं ये कभी नहीं हो सकता!

फकीर : (बेहयाई से) मैं फोकट में नहीं माँग रहा हूँ गरजू...रुपये दूँगा...एक हजार रुपये...।

गरजू : हजार क्या? लाख रुपये में भी नहीं...तुम मुझे औरत का सौदा करने वाला समझते हो?

फकीर : अरे कंगाल, तुमने तो अपनी तोते-मैना जैसी सुगिया को काम कराते-कराते भिखारिन की तरह बना दिया। अगर वह मेरे पास रहेगी तो रानी बनकर रहेगी। इसलिए कह रहा हूँ अपनी सुगिया को मुझे दे दो...!

गरजू : तुम जैसे पापी के लिए अपनी औरत दे दूँ?

फकीर : देखता हूँ—तुम कैसे नहीं देते हो? बदलू सिंह दिखाओ अपने हन्टर का कमाल! सख्त एक बार जमाओ तो... (बदलू कोड़े चमकाता है) कोड़े बरसाओ कुत्ते पर...। (बदलू एक कोड़ा मारता है)

गरजू : (कराहते हुए) आ...ह...

फकीर : (पुचकारते हुए) अब क्या बोलते हो?

गरजू : (तड़पते हुए) मैं इंकार करता हूँ!

फकीर : बदलू सिंह, मारो हंटर साले को...! (बदलू फिर मारता है)

गरजू : (कलपते हुए) आह...

फकीर : (हँसते हुए)—क्या अब भी स्वीकार नहीं करोगे?

गरजू : नहीं...नहीं...कभी नहीं...सुगिया मेरी जान है...जिन्दगी की साथी है...मेरी साँस है साँस...।

फकीर : ओ...औरत का नशा अब भी नहीं उतरा है तुम्हारा? बदलू... अपनी ताकत भर मारो कुत्ते को! (बदलू कोड़े चलाता है गरजू कलपता है) और मारो...मारते रहो...जब तक स्वीकार नहीं करता, पीटते रहो, छोड़ना मत...(बदलू पीटता है. ..गरजू कलपते तड़पते बेहोश हो कर सिर झुका देता है)

सुगिया : (*बाल बिखेर कर दौड़ते हुए प्रवेश करती है*)—गरजू...गरजू...तुमने क्या किया गरजू...? (गरजू से लिपट जाती है—लठैत सुगिया को घसीट कर अलग कर देते हैं—एक पहलवान सुगिया को पकड़ कर रखता है)

फकीर : हाय...हाय.. अब तो प्रेमिका भी पहुँच गयी...(गरजू की ठुड्डी उठाकर) ये देखो गरजू...अब तुम्हारी सुगिया मेरी मुट्ठी में है।

सुगिया : (रोते कलपते गरजू की ओर बढ़ने की कोशिश करते हुए) हजूर-मालिक...मेरे गरजू ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा? ऐसे तुम क्यों पिटवा रहे हो?

फकीर : अगर कहो तो मैं अभी ही गरजू को छोड़ सकता हूँ।

सुगिया : छोड़ दो हजूर...उसे मत सताओ...उसके गुनाह के लिए मैं क्षमा माँगती हूँ।

फकीर : छोड़ूँगा जरूर, मगर मेरी एक शर्त माननी पड़ेगी..।

सुगिया : हाँ-हाँ...बोलो हजूर..मैं सब मानने के लिए तैयार हूँ।

फकीर : तो सुनो, आज से तुम मेरी हो...(हँसता है)

सुगिया : (अचरज से) क्या...?

फकीर : हाँ...क्या तुम राजी हो?

गरजू : (कलपते)..नहीं सुगिया...तुम उस शैतान की बातों में मत आना...।

फकीर : अरे, मरा मुर्दा बोलता है क्या? मारो साले हरामजादे को...साँस बन्द न होने तक पीटते रहो साले को...(बदलू सरासर कोड़े चलाता है गरजू कराहता है फिर शांत हो जाता है)

सुगिया : (रोते, अपने को छुड़ाने की व्यर्थ कोशिश करते हुए)—नहीं...नहीं...मालिक...मत मारो उसे...मैं हाथ जोड़ती हूँ गरजू की जान की भीख माँगती हूँ...।

फकीर : बस करो बदलू...और छोड़ दो...देखा सुगिया? मेरे साथ टकराने वाले का क्या अंजाम होता है? (पहलवान से) छोड़ दो सुगिया को अपने यार से अन्तिम बार मिलने दो। (सुगिया और गरजू को छोड़कर सब चले जाते हैं)

सुगिया : (पागलों की तरह रोते हुए दौड़ कर गरजू से लिपट कर) गरजू...गरजू...देखो तो...मैंने तुम्हें कितना मना किया...तुम नहीं माने...देखो तो तुम्हारी क्या हालत हो गई? (गरजू को झकझोरते हुए) क्या गरीबों का यही हाल होता है? रोटी कमाने के लिए इज्जत गँवानी पड़ती है? न्याय माँगने पर सजा मिलती है? हे भगवान...तुम्हारी यह क्या लीला है...? (गरजू को हिलाते हुए) गरजू...गरजू तुम बोलते क्यों नहीं? (गरजू के चेहरे को उठा कर गौर से देख, जोर से चिल्ला कर) गरजू...तुम चुप क्यों हो...?

फकीर : (बदलू और धरमू के साथ प्रवेश कर गरजू को ध्यान से देखकर अरे बदलू? ये टें बोल गया क्या बे? (सुन कर सुगिया जोर से चीख पड़ती है)।

धरमू : क्या? आदमी मर गया? हे भगवान...अब हमारी हालत क्या होगी?

फकीर : कुछ नहीं होगा धरमू...तुम डरो मत, मैं हूँ न?

धरमू : (डर से) अब? अब क्या करें?

फकीर : लाश खोल कर नदी गड्ढे में फेंक दो...।

धरमू : नहीं हजूर...हमें पुलिस पकड़ लेगी तो?

फकीर : अबे कुत्ते, चुप...बिल्कुल बात न करना, जाओ रस्सी और बस्ता ले आओ और लाश लपेट कर गड्ढे में फेंक आओ...जल्दी करो..! (फकीर और धरमू का प्रस्थान, बदलू गरजू की लाश खोल कर वहीं लिटा देता है फिर प्रस्थान करता है)।

सुगिया : (गरजू की लाश पर पछाड़ खा कर रोते—गरजू...तुम मुझे छोड़ कर कहाँ चले गये गरजू...? इस पापी दुनिया में मुझे अकेली क्यों छोड़ दिया? अब मैं कैसे जीऊँगी? गरजू...हम क्या सपना ले कर कोड़ा राज्य आये? अब हमारी क्या दशा हो गई रे भगवान...? (शांत हो कर) गरजू...जीते जी तो तुम मुझे सिन्दूर नहीं पहना पाये...मगर आज मैं...तुम्हारे खून का सिन्दूर पहन रही हूँ...(अपनी माँग में गरजू के खून का सिन्दूर भर कर लाश से लिपट कर फूट-फूट कर रोती है)

(पर्दा गिरता है)

संपर्क : जेवियर नगर, कार्तिक, पो. कार्तिक चौपत्ती, जिला-जलपाईगुड़ी (पं. बं.)–736201, मो. : 09593942838

लिखते, पढ़ते, देखते, सीखते रहने के आदिवासी अनुभव

महादेव टोप्पो

जब 'सभ्यों के बीच आदिवासी' छपकर आई और प्रकाशक ने इसकी प्रतियाँ भेजी तो करीब दस दिन तक उन्हें छुआ ही नहीं। ऐसा लग रहा था कुछ कर नहीं पाया। लेकिन एक दिन किताब लेकर देखने लगा तो अपने ही लेख पढ़कर बहुत आश्चर्य हुआ। कई पुराने लेख जिन्हें भूल चुका था, पढ़कर बिल्कुल नया लगा। मन में विचार आया यह सब लेख आदि क्यों लिखा? आगे इसका उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं।

इसलिए कि जब होश सम्हाला तो अखबार, पत्रिकाएँ आदि पढ़ते पाया कि—कभी-कभी आदिवासियों के बारे छापा तो जाता है लेकिन अधूरे मन से। दिल में यह कसकता था। छटपटाता था कि कुछ लिखूँ। मगर क्या लिखूँ यह समझ नहीं पाता था। हाईस्कूल में पढ़ते एक किशोर के मन में तरह-तरह के सवाल उठते थे। आदिवासी समाज में रहते एक दिन अनुभव किया कि मेरे अधिकांश मित्र ईसाई हैं। क्योंकि मिडिल स्कूल के मेरे कई मित्र ईसाई बन चुके थे। स्कूल में सिस्टर मुझसे कभी पूछ लिया करती थी कि—हम कब परमेश्वर के शरण में आ रहे हैं? हालाँकि दादाजी अंग्रेजों के यहाँ काम करते थे लेकिन ईसाइयों के घोर विरोधी थे। आश्चर्यजनक था कि खुद अंग्रेज मेम हमें ईसाई होने से मना करती थी। इस मेम का जन्म भारत में हुआ था इसलिए वह हिंदी अच्छी बोलती थी। वह कभी हाल-चाल पूछने आया करती और माँ से हमें साफ रखने, नहलाने और पढ़ाई आदि के लिए पूछ लिया करती थी। उनका कहना था हम जो हैं, वैसे ही ठीक हैं, चर्च अपनाने की जरूरत नहीं। वह साठ के आस-पास ही रासायनिक खाद प्रयोग न करने की हिदायत दिया करती थी और दादाजी कभी इसकी चर्चा किया करते थे। हाईस्कूल में सभ्य कहे जाने वाले यानी गैर-आदिवासी मित्र इक्का-दुक्का थे, जिनसे पढ़ाई के अलावा कुछ और बात की जा सकती थी। बाकी समय आदिवासी बच्चों, साथियों के साथ बीतता था जिनसे वे बातें कर सकना मुश्किल था जो मैं उनसे करना चाहता था। पढ़ाई के अलावा दुनिया भर की बातें विज्ञान, साहित्य, सामान्य ज्ञान, दुनिया देखने की

नई बातें करना चाहता था, वह मैं कर नहीं पाता था। 1966 में भूटान में रहते पिताजी ने रेडियो खरीद दी और एक दिन अचानक बीबीसी हिंदी सर्विस सुनते दुनिया की खबरें सुनने लगा। लेकिन, तब भी अपनी जिज्ञासा को पंख देना चाहता था, वह मुहल्ले के आदिवासी परिवेश में बंद लगता था और जिस तरह से सोचना या बात करने की कोशिश करता वैसे मित्र दुर्भाग्य से नहीं थे। पड़ोस में शराब पीकर, शोर मचाते लोग, सबेरे ही शराब की तलाश भटकते साथी। कई बार शराब पीकर लगभग रात भर गाना गाते, शोर मचाते, झगड़ा करते। अपने टोले के बाहर अधिकांश ईसाई मित्र थे, हमसे ज्यादा पढ़े-लिखे। ज्यादा साफ-सुथरे। हमलोगों की तुलना में स्कूल कॉलेज में अधिक पढ़नेवाले। हम लोगों ने देखा आरंभ में करम, सरहुल में वे साथ नहीं होते थे। लेकिन 1966-67 के बिरसा सेवा दल के आंदोलन ने युवाओं को प्रभावित किया। एक नई तरह की चेतना और परिवर्तन आदिवासी युवाओं में दिखा। हमारे उस शहरी गाँव में भी सरहुल, करम, क्रिसमस त्योहारों में अब लोगों का मिलना-जुलना शुरू हो गया। इन त्योहारों में कुछ ज्यादा ही उत्साह होता था। जिस आँगन में करम मनाया जाता था उसी आँगन में क्रिसमस भी। बीच-बीच में दारू पीकर अनावश्यक लड़ाई-झगड़े, मार-पीट। पढ़ाई की अहमियत को नकारते हमउम्र दोस्त। जिन्दगी के भविष्य के बारे में बेफिक्र दोस्त। सभी कहते—अरे, बाप दादा के पास इतनी जमीन है उसका क्या होगा? लेकिन पराग, नंदन, चंदामामा, इन्द्रजाल कॉमिक्स, जासूसी दुनिया आदि पढ़ते सारिका, धर्मयुग, दिनमान के अलावा भी कुछ पत्रिकाएँ खोज-खोजकर पढ़ने लगा। इससे लगता है कहीं पर मेरी मानसिक दुनिया बदल गई। छुट्टियों में पिताजी के पास जाता और जितना हो सके जंगल घूमता। अपने गाँव हुलसी से लेकर सारंडा, कोल्हान, भूटान की तराइयों तक जंगल घूमा। इस आदत ने लगता है, शराब में लिप्त मित्रों से बचा तो लिया लेकिन रिजर्व कोटा के होने की कुंठा में फँस गया और इससे पढ़ाई में अधिक अंक प्राप्त करने के प्रति एक उपेक्षा भाव बन गया। हालाँकि साहित्य आदि पढ़ना जारी रहा। स्कूल में मित्र उत्तम सेनगुप्ता की संगति से कुछ सीख सका तो कॉलेज में राजीव रंजन सिंह की मित्रता ने साहित्य से कुछ ज्यादा ही परिचय करा दिया। स्कूल, कॉलेज की लाइब्रेरी और फादर कामिल बुल्के की लाइब्रेरी से काफी कुछ पढ़ने को मिला। कॉलेज में मोहन राकेश के नाटकों में सहभागिता ने मन एक नया विश्वास दिया। तब भी मैं अपनी बहुत सारी आदिवासी परिवेश के प्रभाव में ही रहा और लगता है शिक्षित एवं आधुनिक होने के द्वंद्व में फँसा रहा। लेकिन कई सारी आदिवासी परंपराएँ मुझे बरबस अपनी जड़ों को ओर आकर्षित करती रहीं। बी.ए. के बाद दिल्ली जाकर पढ़ने की इच्छा हुई लेकिन इमरजेन्सी की काली छाया ऐसी पड़ी कि दिल्ली जा नहीं सका। एम.ए. की पढ़ाई छोड़ नौकरी कर ली क्योंकि मुझे साबित करना था कि कॉमर्स की पढ़ाई किए वगैर भी नौकरी पा सकता हूँ। और एक दिन सारिका (अक्टूबर 79) पढ़ते अटल बिहारी बाजपेयी का संस्मरण पढ़ा "सिस्टर टोपो"। अटल जी ने संस्मरण में सिस्टर टोपो को केरल का बताया था। एक तो टोप्पो की वर्तनी में भूल थी दूसरे अटल जी उसे केरल का बता रहे थे। अटल जी जैसे सजग, संवेदशील हस्ती से मुझे इस प्रकार की गलती की आशा नहीं थी। फलतः, एक पत्र सारिका, संपादक को लिखा। तत्कालीन संपादक कन्हैयालाल नंदन ने इस पत्र को एक पूरी रचना के तौर पर पत्रिका के बीच के पृष्ठ में "आस-पास बिखरी गलतियाँ" शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित कर दिया। नंदन जी ने पत्र भी लिखा कि कुछ लिखिए सारिका के लिए। पत्र में जो कुछ लिखा था उस पर मेरे कुछ गैर-आदिवासी मित्रों ने इतनी बुरी टिप्पणी की कि उससे बहुत ज्यादा अपमानित अनुभव किया। मन घृणा से भर गया। लेकिन, उन्हें उत्तर देना था। अतः, एक लेख हिम्मत करके धर्मयुग को भेजा क्योंकि

मित्र राजीव हमेशा चुनौती देते कहा करते थे, छपना है तो धर्मयुग में छपो। धर्मयुग, दिनमान, सारिका और कुछ पत्रिकाओं में तीन चार पत्र छप चुके थे जो उस समय बड़ी बात थी। अतः, एक ऐसे माहौल में जहाँ पढ़ना-लिखना अत्यन्त कठिन काम माना जाता था, वहाँ की पृष्ठभूमि में रहकर धर्मयुग के लिए लेख लिखने का सपना देखना, एक असंभव और कठिन काम के सिवा कुछ नहीं था। तब हाथ से लिखे और बिना किसी की सहायता लिए, उन्नीसवीं बार संशोधित, पुनर्लिखित लेख को किसी तरह धर्मयुग को भेजने का साहस जुटाया और काँपते हाथों से एक दिन लेख पोस्ट कर दिया। वह लेख धर्मयुग के 28 अगस्त 1981 के आदिवासी असंतोष विशेषांक में प्रकाशित हुआ। तब राँची में लोग पूछने लगे, खोजने लगे तो अच्छा लगा। मित्र उत्तम सेनगुप्ता का अंग्रेजी साप्ताहिक न्यू रपब्लिक छपता था। उनके दफ्तर में आना जाना होता। वहाँ के माहौल से काफी कुछ सीखने का अवसर मिला। उत्तम ने मेरे कुछ हिंदी लेखों का अंग्रेजी अनुवाद छापा तो उनको भी अच्छी प्रतिक्रिया मिली। लेकिन, नौकरी के चक्कर में लिखना बाधित होता रहा। अतः कभी-कभी लिख पाता था, और कई अधूरे लेखों, रचनाओं का मालिक बनता रहा। सन् 1983 में एक दिन मित्र सोलेन कुजूर ने एक व्यक्ति से परिचय कराया जिसका नाम—हैरॉल्ड सैमसन तोपनो था। कुछ दिनों बाद लगा कि यही वह शख्स है जिसकी तलाश में मैं था। तब वह पहला आदिवासी था जिसे आदिवासी जीवन पर लिखने का भरपूर आत्मविश्वास था। इस तरह अब हम दो ऐसे लोग थे जो मुख्य धारा की बड़ी पत्रिकाओं में आदिवासी जीवन के बारे लिखने का साहस और इच्छा रख रहे थे। चार-पाँच साल बाद पता चला कि एक और शख्स—बासुदेव बेसरा भी हैं जो लगातार आदिवासियों के बारे लिख रहे हैं। वह हमसे ज्यादा काम कर रहे थे क्योंकि वे हिंदी के अलावा संताली और अंग्रेजी में भी लिख रहे थे। उनके कुछ लेख, रिपोर्ट आदि तब कमलेश्वर (सलाहकार संपादक) संपादित मासिक गंगा के अलावा अंग्रेजी में हिन्दुस्तान टाइम्स और टाइम्स ऑफ इंडिया में प्रकाशित हुए थे। बासुदेव बेसरा ने दैनिक जनशक्ति, पटना में लगातार आठ-नौ साल तक आदिवासी भाषा, संस्कृति, इतिहास, कला, भूमि-समस्या तथा कानूनी मुद्दों पर लिखा। लेकिन, किसी ने नोटिस नहीं लिया। आज भी शायद ही कोई इसके बारे कुछ कहता है। वैसे संताली में उनकी कई किताबें प्रकाशित हैं।

तब तक हम लोगों ने राँची में कुछ काम शुरू किया ही था कि मेरी पदोन्नति हो गई और मैं गया चला गया। तब फोन की सुविधा न थी अतः, हम लंबे-लंबे पत्र लिखते थे। शायद ये पत्र हमारे भविष्य के लिए खाद-पानी का काम कर रहे थे। बाद में हैराल्ड का पहला लेख भी जंगल एवं पर्यावरण के बारे में धर्मयुग में प्रकाशित हुआ तो यकीन हुआ कि अच्छे लेखन की, विषय की पूछ हर जगह है। हमने अनुभव किया कि धर्मयुग का ठप्पा लगने के कारण लोग हमारी पहले जैसी उपेक्षा नहीं करते थे। वरना इसके पहले मुझे एक स्थानीय अखबार के उप संपादक ने तो टोप्पो सरनेम हटाकर लेख लिखने की ही सलाह दे डाली थी। तब राँची से—धर्मयुग में प्रकाशित होनेवाले गिने-चुने विशिष्ट लोगों में हम भी शामिल हो गए थे। तब तक यह माना जाता था कि आदिवासी लिख नहीं सकते। लेकिन, काम इतने से नहीं होना था। हम और कुछ करना, लिखना चाहते थे। इस बीच प्रभात खबर राँची का प्रबंधन बदल गया और उसे एक आदिवासी लेखक, पत्रकार की जरूरत थी। हैरॉल्ड की बातचीत हरिवंश जी से हुई। हरिवंश जी संपादक बनकर राँची आ रहे थे। उनके आने के बाद प्रभात खबर एक नये तेवर का अखबार बनकर उभरता चला गया। स्थानीय आदिवासी, सदान से लेकर देशभर के लेखक, विद्वानों के लेख रचनाएँ, टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं। साथ ही हैरॉल्ड

का जंगल-गाथा इस अखबार का लोकप्रिय व नियमित स्तम्भ बन गया। हरिवंश जी ने प्रभात खबर को विशिष्ट छवि प्रदान की थी। गया में मित्र संजीव नयन आदिवासी लोकगीतों पर लिखने और संकलन प्रकाशित करने लिए बार-बार प्रोत्साहित कर रहे थे। बाद में कर्मेन्दु शिशिर ने भी ऐसा करने लिए प्रोत्साहित किया। गीत जमा भी किया लेकिन कुछ कुँड़ुख एवं मुंडा गीतों का ही संकलन कर सका। अब कभी-कभी मुझे भी इसमें लिखने का अवसर मिलने लगा तब (1990 में) हिंदी पत्रकारिता के बारे में प्रकाशित लेख "हिंदी पत्रकारिता का अंतर्विरोध" को कई मित्रों ने सराहा था।

बचपन में लिखने के लिए प्रोत्साहन सबसे पहले पिताजी ने दिया। मेरी निरक्षर माँ को मेरा पढ़ते रहना अच्छा लगता था। बड़े भाई श्याम टोप्पो, कुशल टोप्पो एवं चर्वा चाचा ने लिखने-पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। लिखने के क्रम में कई लोगों से मुलाकात हुई। महाश्वेता देवी से सन 1981 में, पलामू में मुलाकात हुई। पलामू के प्रसिद्ध पत्रकार रामेश्वरम जी के साथ हमने बँधुआ मजदूरों के गाँव सेमरा गाँव की 01 मई 1981 को यात्रा की। महाश्वेता देवी ने कुछ लेखों में मेरे नाम का उल्लेख किया तो अच्छा लगा। महाश्वेता देवी ने हमेशा कहा—अपने लोगों के लिए कुछ लिखो टोप्पो! उनका यह कथन मेरे लिए बड़ा प्रोत्साहन था। क्योंकि तब तक मेरे लेखन को कुछ लोग सीमित नजरिए से आदिवासी कोकून में बंद, आत्मकेन्द्रित लेखन कह रहे थे क्योंकि जो भी लिखता वह आदिवासी विषय, समस्या, मुद्दे से जुड़े होते थे। यह मेरे लेखन के लिए एक बड़ा प्रश्नचिह्न था। महाश्वेता दीदी कहती थीं कुछ न कुछ छोटा बड़ा लिखते रहो। आज महसूसता हूँ उनकी सलाह से खुद को तराश पाया। लेकिन, इसी बीच डालटनगंज में प्रगतिशील लेखक संघ के त्रिदिवसीय कार्यक्रम में प्रसिद्ध लेखक भीष्म साहनी से लगातार दो-तीन दिन मिलने बैठने का मौका मिला। एक दो बार अकेले उनसे बात करने का भी अवसर मिला। उनसे बातचीत एवं बाद में उनसे किए गए पत्राचार ने मुझे यह बल दिया कि मुझे वही लिखना चाहिए जो मैं आस-पास देख रहा हूँ और महसूस कर रहा हूँ। मेरे सवाल के जवाब मिलने लगे। यहीं अरुण कमल एवं खगेन्द्र ठाकुर को पहली बार देखने सुनने का मौका मिला।

एक परिचर्चा प्रभात खबर (29 दिसंबर-1991) के लिए आयोजित किया और कई विद्वानों से पूछा—"आदिवासी साहित्य का विकास कैसे हो?" तब कुछ ने लोगों ने इसे मजाक समझा। कुछ अग्रजों ने कहा—"साहित्य में अलगाववादी तत्त्व क्यों ला रहे हो?.....तुम महादेव, कभी नहीं सुधरोगे!" तो किसी ने कहा कि—"यह सराहनीय और नया काम है।" इस परिचर्चा के लिए अंततः मुझे तीन लोगों के ही विचार मिले थे—प्रसिद्ध कथाकार संजीव, गहन शोधकर्ता व विद्वान कर्मेन्दु शिशिर एवं तब के सबसे प्रखर संताली लेखक बासुदेव बेसरा। संजीव जी ने उस परिचर्चा में ही स्पष्ट कर दिया था कि आदिवासी इलाके अब साहित्य के नये शिकारगाह के रूप में विकसित हो रहे हैं साथ ही तीन स्तरों पर इसके विकास की बात कही थी—उच्चमान साहित्य सृजन व लोकसाहित्य का आकलन दूसरा—सरकार, समाजसेवी एवं राजनीतिक संगठनों से प्रोत्साहन और तीसरा श्रेष्ठ साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करना, साक्षर बनाना। ये तीनों बिन्दु आज भी आदिवासी साहित्य के विकास के लिए प्रासंगिक हैं। कर्मेन्दु शिशिर ने आदिवासी साहित्य के विकास के लिए अपनी समझ व संवेदना को सही परिप्रेक्ष्य में विकसित करने के लिए कहा था और सावधान किया था कि एक ओर प्रगति विरोधी परंपराएँ हैं तो दूसरी ओर अति आधुनिकता का विकृत प्रभाव। वहीं बासुदेव बेसरा ने संताली भाषा को कई लिपियों पर लिखने पर चिन्ता व्यक्त की थी। साथ उन्होंने सरकारी पुस्तकालयों द्वारा आदिवासी भाषाओं

की किताबें न खरीदने पर चिन्ता पर रोष प्रकट किया था।

बचपन में पढ़ा, साहित्य समाज का दर्पण है। तब से मन में एक सवाल कुलबुलाता रहा इस दर्पण में हमारी तस्वीर कहाँ है और क्यों नहीं? जाहिर है इस सवाल के कारण कई बार अपमानित भी हुआ। लेकिन हिंदी, अंग्रेजी, बंगला, ओडिया, संताली, उराँव, हो, खड़िया, मुंडा, असमिया, मैथिली, नेपाली, बोड़ो, खासी, राभा, कार्बी, मिजो, पंजाबी, मराठी, तमिल, मलयालम, कन्नड़ आदि के कई ऐसे संपादक, विद्वान, लेखक, पत्रकार मिलते चले गए जिनसे लिखते रहने की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलता रहा।

एक दिन पढ़ते-पढ़ते पाया कि जिस समय, श्रेष्ठ-सभ्यता के अहंकार में यूरोपियनों द्वारा अमेरीका, अफ्रीका में निर्दोष नेटिव, इंडीजेन, अबोर्जिनल, इंडियन, नीग्रो कहे जानेवाले आदिवासियों का जानवरों की तरह निर्दयतापूर्वक शिकार किया जा रहा था या बंदूक के बल पर गुलाम बनाया जा रहा था लगभग उसी समय भारत में शूद्र और नारी को भी ताड़न के लायक बताया जा रहा था। आज विश्व भर में आदिवासी, नेटिव, इंडीजेनस, अबोर्जिनल, इंडियन आदि भावी पीढ़ी के लिए पृथ्वी, प्रकृति, हवा, वनस्पति, पशु-पक्षी आदि बचाने के लिए लगातार संघर्षरत हैं। जबकि सभ्य जातियाँ—पूँजी की अँधी ताकत, मुनाफा कमाने के लालच, आध्यात्मिक उच्चता-बोध के अहंकार में सराबोर, नस्लीय-श्रेष्ठता का दंभ भरते, पूरी पृथ्वी व मानव जाति को विकास के नाम पर विनाश के गर्त में धकेल रही दिखती हैं। पृथ्वी पर इस मुनाफाखोर, अंधे, संवेदनहीन, बेलगाम विनाशकारी-विकास के नकारात्मक प्रभावों का अनुमान कर ही स्टीफन हॉकिन्स कह चुके हैं—अगर मनुष्य ने अपने जीवन-शैली में परिवर्तन नहीं किया तो भविष्य में पृथ्वी की उम्र सौ साल से अधिक नहीं है। वे इसके लिए सावधानी बरतने के लिए दुनिया को पहले चेता चुके हैं।

आदिवासियत के ऐसे व्याख्याकार भी आज हमारे बीच उपलब्ध हैं जिन्होंने कभी एक पेड़ नहीं लगाया, कुदाल, हल या खुरपी नहीं चलाई वे उन्हें पौधा रोपना सिखा रहे हैं, जंगल से कभी कोई गहरा आत्मीय रिश्ता नहीं रहा, जंगल में कभी खुखड़ी, रूगड़ा, फल, फूल, पत्ते के लिए भटके नहीं, लेकिन वे जंगल के बारे में आदिवासियों को बहुत कुछ बताते हैं, पढ़ाते हैं, वन-संरक्षण करना सिखाते हैं, यह उनकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। शायद आदिवासियों को पढ़ाने या बताने के लिए उनकी निगाह में जंगल के अनुभव की जरूरत नहीं है, किताबी ज्ञान ही काफी है। विश्व भर में फैले ऐसे तमाम विद्वानों का विशेष आभार व्यक्त करते हैं। लेकिन, अक्षर-ज्ञान से वंचित आदिवासी, जंगल बचाने के कारण नियमगिरि में अपने खेत, खलिहान, पेड़ पौधे बचाने के कारण आतंकवादी घोषित कर दिये जाते हैं। क्यों? वे उनकी खुशहाल जिन्दगी को तबाह करने पर तुले हैं। क्योंकि कंपनियों व सत्ता के समर्थकों की जिद्द है कि सबकुछ वे ही जानते हैं।

लोग कहते हैं विकास होगा तो किसी का विनाश होगा ही। लेकिन सवाल है विवेकशील प्राणी होकर हम धरतीखोर, आदमखोर-विकास को नियंत्रित क्यों नहीं कर पा रहे हैं? याद रहे, किसी समय दुनिया की सबसे बड़ी समस्या युद्ध थी। आज काफी हद तक मनुष्य ने इस पर नियंत्रण पा लिया है। इसी तरह क्या वे आदमखोर और आत्मघाती विकास पर नियंत्रण नहीं कर सकते? और अगर रास्ता नहीं ढूँढ़ सकते तो हम बुद्धिमान, विवेकशील सहृदय, समझदार प्राणी कैसे? सोचें!

आज कला, साहित्य, फिल्म, खेल, औषधि-ज्ञान, नया स्वाद, नेशनल ज्योग्राफी, डिस्कवरी चौनल टी.वी. के कार्यक्रमों की जरूरत, सैनिकों द्वारा विपरीत व कठिन परिस्थितियों को झेलने

के लिए कठिन प्रशिक्षण, पौधा, जीव संरक्षण, से लेकर—फूड, फैशन, गीत-संगीत के म्यूजिक चैनल, नृत्य, भाषा-शिक्षण, औषधि, जीवन-शैली की व्याख्या करते टी.वी. चैनल देख लीजिए सभी जगह आदिवासी पद्धति, शैली, तरीके, परंपराओं को लोग पूरे उत्साह और तत्परता से अपनाते हुए दिखा रहे हैं। वे इसे इस तरह दिखा बता रहे हैं मानो यह तरीका उन्होंने ही ईजाद किया। इतना ही नहीं पेरिस के फैशन एवं कला जगत में नया कुछ दिखाने के लिए कलाकारों एवं फैशन डिजाइनरों को आदिवासी परंपरा से ही नवीनता की ऊर्जा प्राप्त हो रही है। नया स्वाद चाहिए तो शैफों के लिए आदिवासी भोजन कला से नया तरीका और नई प्रेरणा मिलती है। मैन वर्सेस वाइल्ड, शेफ ऑन व्हील आदि अनेक विदेशी, देशी टी.वी. कार्यक्रमों में आदिवासियों के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। दुनिया भोजन, परिधान से लेकर गहनों तक के डिजाइनों तक के लिए आज आदिवासी कला, परंपराओं का धड़ल्ले से उपयोग कर रही है। लोग इसे आधुनिक तरीके से अपना रहे हैं। आज प्रबंधन-विशेषज्ञों को सामूहिकता का पाठ पढ़ाने के लिए आदिवासी जीवन पद्धति, शैली का उदाहरण आधुनिक संदर्भों में किया जाता है। तो वहीं दूसरी ओर एक वर्ग उन्हें धरती का बोझ साबित करने में तुला है। दरअसल यह वर्ग चाहता है कि आदिवासियों की हर समृद्ध परंपरा को वह आत्मसात कर ले और उसका पुनरुत्पादन कर बाजार में नई उत्पाद के, नए स्वाद, नए आकार, नए डिजाइन, नए रंग-रूप और लुक में बाजार में उतार सके और उसके स्रोत आदिवासी-ज्ञान-परंपरा का उल्लेख किये बिना खुद को उसका सर्जक बता सके। लेकिन, अब जब पृथ्वी और मनुष्य को बचाने की एक नई कवायद शुरू हो चुकी है। सिंगापुर और कुछ यूरोपीय देशों में ऐसे भवन बनाए गए हैं जहाँ बड़े वृक्ष भी रोपे जा रहे हैं। यह एक तरह से जंगल को शहर में लाने जैसी प्रक्रिया है। संभव है, भविष्य में ऐसा हो कि हम इसी की अनुकृति देखें। क्या यह आदिवासियों की जीवन-शैली का अनुकरण नहीं? जब भी जरूरत होती है जल, जंगल, जमीन के अलावा भी सभ्य-समाज का प्रेरणा स्रोत आदिवासी इलाका, आदिवासी-जीवन-शैली और आदिवासी ज्ञान-परंपरा ही है, तब भी इन्हें सबसे पिछड़ा और अज्ञानी क्यों माना जाता है? पिछले दिनों एक बड़ी कंपनी में कार्यरत एक समाजसेवी ने बताया कि सच तो यह है कि जिसके पास पैसा है उसके पास कुछ नहीं है। उनसे पूछो तो वह कहता है—सबकुछ तो आदिवासियों के पास है। लेकिन, आदिवासी से पूछो तो जैसाकि परिस्थिति पैदा कर दी गई है वह कहेगा कि—साहब, मैं तो नंग-धड़ंग मेरे पास क्या है? कुछ नहीं। जबकि पूँजीपति को पता है यह आदिवासी कितना हुनरमंद और दौलतमंद है और उसके जीने की कला विपरीत स्थितियों को झेलने में कितनी सक्षम है। लेकिन, यह उसकी व्यावसायिक विवशता है कि वह ऐसा कह नहीं सकता। मुनाफे की अंधभक्ति में डूबा वह आदिवासियों का शिकार दुनिया के अधिकांश हिस्सों में जारी रखे हुए है। कोलंबस की नई दुनिया की खोज के समय से आज तक विश्व भर में सभ्यता, तथाकथित आधुनिक-शिक्षा और विकास की ओट में आदिवासियों का बर्बरतापूर्ण निर्मम संहार जारी है।

आदिवासी भले मार दिए जायेंगे लेकिन उनका जीवन दर्शन—प्रकृति का सम्मान, जंगल के पेड़-पौधों की तरह एकजुट होकर अपनी रक्षा करना—मिल बाँटकर भोजन करन, हवा के झोकों से हिलकर साथ-साथ झूमना, एक दूसरे से लिपटकर साथी पौधों की रक्षा करना, जैसे काम महत्त्वपूर्ण बने हुए हैं। आदिवासी साहित्य विश्व-समुदाय का ध्यान इस ओर भी आकृष्ट करना चाहता है। आप देखें कोई नया कुछ कर रहा है तो वह आदिवासी दुनिया से ही प्रेरित है। सभ्य आदमी उतना ज्ञानी है तो उसे तुच्छ, पिछड़े, अज्ञानी, अविकसित माने जानेवाले आदिवासी समुदाय की ओर जाने और ताकने की जरूरत क्यों होती हैं?

हर कोई आज आदिवासी की खिल्ली उड़ाता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई से लेकर सरकारी अधिकारी तक सभी उससे पूछते हैं—तेरा धर्म क्या है? परंतु दुनिया भर में आदिवासियों के संघर्ष को देखकर लगता है—एक आदिवासी का धर्म शायद जल, जंगल, जमीन बचाना ही तो है। साथ ही वह धरती की उर्वरता, उत्पादन क्षमता, हवा की शुद्धता, जल की निरंतर पर्याप्त-उपलब्धता, धरती की हरियाली बचाना भी उसी का कर्तव्य है और धर्म है। और देखिए कि आदिवासी इसके लिए कटिबद्ध भी दिखता है। न्यूजीलैंड में माओरी आदिवासियों के 160 वर्षों से चल रहे संघर्ष के कारण पिछले वर्ष व्हांगानुई नदी को इंसान का दर्जा दिया गया और उसके कुछ दिनों बाद गंगा नदी के लिए भी यही निर्णय लिया गया। साठ सत्तर के दशक में नासा में कार्यरत अश्वेत महिला वैज्ञानिकों के नाम से कुछ सड़कों के नाम रखने की घोषणा हुई है। वहीं भारत में कोयल-कारो, नियमगिरि, बैलाडीला आदि के आदिवासी संघर्ष, मनुष्य और धरती के पक्ष में जारी हैं। यह सभ्य कहलाने वाले मुनाफाखोर, व्यवसायी एवं वोट-बैंक से जुड़े उपभोक्तावादी और बाजार के संपोषक सत्ताधीशों को कतई मंजूर नहीं।

लाभ-लोभ व उपभोक्तावादी मानसिकता में लिप्त ज्ञानी, सभ्य समाज के पास क्या योग्यता है? बेहतर शब्द-ज्ञान, बेहतर गणितीय क्षमता, कुछ शातिर चालाकियाँ, मुनाफा कमाने और ऐशो-आराम की जिंदगी जीने के लिए उपभोक्तावादी मानसिकता व अदमित महत्त्वाकांक्षा, तकनीक को बेहतर बनाने का कौशल, पूँजी को बहुमुखी तरीके से उपयोग करने की घाघ अंतर्दृष्टि, व्यवसाय, बाजार बनाने व धन कमाने की योग्यता। इसके अलावा एक खास योग्यता है—सत्ता, कानून व सेना का अपने स्वार्थ व व्यापक हित में उपयोग करने की अदृश्य-क्षमता।

आज देखें कि वह व्यक्ति जिसे कुछ नया कर दिखाने की इच्छा होती है वह आदिवासियों के बीच ही जाता है। वह उनसे सीखता है और बाद में उनका गुरु या नेता होने की प्रसिद्धि पाता है। ऐसे कई लोग जानबूझकर आदिवासियों के शरण में ही जाते हैं लेकिन कोई आदिवासी से प्राप्त ज्ञान, प्रेरणा, तरीका के प्रति आभार व्यक्त नहीं करता। वह ऐसा व्यवहार करता है मानो वही इसका अन्वेषक या शोधकर्ता है। एक उदाहरण ही काफी होगा 1990 के आस पास संयुक्त राष्ट्र संघ में स्पेन, पुर्तगाल व कुछ यूरोपीय देशों ने कोलंबस द्वारा अमेरिका खोज की पांच सौंवी विजय उत्सव मनाने का प्रस्ताव रखा जिसका कि लैटिन अमरीकी देशों, अफ्रीकी देशों ने विरोध किया। उनका तर्क था यह कोई खोज नहीं है क्योंकि अमेरीका में पहले से ही लोग रहते थे। दूसरा कि उस खोज से वहाँ के बाशिन्दों का, जानवर की तरह शिकार किया गया। इस तरह खूनी व जघन्य अपराध को कम से कम संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था द्वारा उत्सव मनाने की अनुमति देना उचित नहीं। लंबी बहस के बाद 1993 से इंडीजेनस डिकेड (आदिवासी दशक) मनाने का निर्णय लिया गया। आज विश्व भर में 9 अगस्त को इंडीजेनस डे (आदिवासी दिवस) के रूप में मनाया जाता है।

आज हर कोई आदिवासी समुदाय, समाज से लेना बहुत कुछ चाहता है लेकिन दुनिया की अधिकांश सरकारें उसे वंचित, उपेक्षित, भूखा, नंगा, अशिक्षित ही रखना चाहती है। परंतु देखा जा रहा है कि पृथ्वी और मनुष्य को बचाने की एक नई कवायद शुरू हो चुकी है। सिंगापुर, स्वीटजरलैंड में ऐसे भवन बनने लगे हैं जहाँ बड़े वृक्ष भी रोपे जा रहे हैं। क्या आदिवासियों की जीवन शैली का अनुकरण नहीं?

आज दुनिया भर में अनेक सम्प्रदाय एक दूसरे को नीचा दिखाने और अपना वर्चस्व स्थापित करने में संघर्षरत दिखते हैं और अपने साम्राज्य स्थापित करने के लिए एक दूसरे पर खूनी हमले भी कर रहे हैं। तो दूसरी तरफ विज्ञान एवं तकनीक के विकास ने पृथ्वी के अनावश्यक

खुदाई, कचड़ा-जमाव, कार्बन डायक्साइड की बढ़ती मात्रा, पेड़ों की अंधाधुंध कटाई, पानी के लिए गहरी खुदाई, भवन निर्माण के लिए—झील, तालाब, नदी का अधिग्रहण ; आदि ज्यादतियों से आदमी का साँस लेना कठिनतर होता जा रहा है। ऐसे में सवाल है भावी पीढ़ी के लिए हम और कितने दिनों तक प्यारी धरती को बचाए रख सकेंगे? हम अपने-अपने ईश्वर के घरों के लिए लड़ें या समस्त मनुष्य-जाति को बचाने के लिए हरी-भरी धरती को संरक्षित करने के कारगर उपाय क्यों न करें? यह फैसला सभ्य समाज को लेना है क्योंकि विश्व भर में मुनाफे के गणित ने उन्हें इतना अंधा बना दिया है कि वे आदिवासियों का ही नहीं समस्त पृथ्वी को नष्ट करने के लिए हर प्रकार की ताकत का इस्तेमाल कर रहे हैं।

सभ्यता, विकास, तकनीक, पूँजी और सत्ता का साथ पाकर राह भटकते विज्ञान पर आज पूरी दुनिया में आदिवासी सवाल खड़े कर रहा है। वर्तमान हिंदी कविता के परिदृश्य को देखें तो यह स्पष्ट होता है। आज हिंदी साहित्य के बदलते स्वर में कहीं न कहीं आदिवासी सवालों से प्रभावित होता दिखता है और वहाँ धरती, प्रकृति, मनुष्य पर खतरे तथा इसकी अंतरंगता व अंतर्संबंधों को समझने के प्रयास कई रचनाकारों द्वारा किये जा रहे हैं। आदिवासी-साहित्य के माध्यम से उभरे सवालों और मुद्दों को व्यापक तौर पर और गंभीरतापूर्वक समझा जायेगा तो भविष्य में नई सोच और अंतर्दृष्टि भी पैदा हो सकती है जो मानव पर आसन्न संकट को गहरे समझने में सहायक हो सकते हैं। आदिवासी परिवेश से प्रेरित रचनाओं को देखकर इसकी संभावना बढ़ती दिखती है। आदिवासी रचनाकार कहानी, उपन्यास, नाटक आदि और अधिक मात्रा में प्रकाशित करेंगे। कुछ ऐसे उपन्यास अगले कुछ वर्षों में प्रकाशित होनेवाले हैं जो मील के पत्थर साबित होंगे। आशा है, पृथ्वी और मनुष्य को बेहतर बनाने के लिए आदिवासी-मन और आँखों से भी हम देख, महसूस कर सकें तो आनेवाली पीढ़ी के लिए हम हरी-भरी जमीन, शुद्ध हवा, झील-झरने, पेड़-पौधे, सुन्दर जीव-जंतु, उर्वर-भूमि बचा लेंगे।

संपर्क : हरमू हाईकोर्ट कॉलोनी के पीछे, कार्तिक उराँव चौक के निकट, बाई पास रोड, डाकघर–हीनू, राँची, झारखंड–834002, मो. 7250212369, ईमेल–mahadevtoppo@gmail.com

18वीं सदी के आदिवासी प्रतिरोध की चेतना का नया रूप प्रकट हो रहा है

रामशरण जोशी से अनुज लुगुन एवं अजय आनंद की बातचीत

आप आदिवासी समाज से कैसे जुड़े और आपने उनके बीच रहकर क्या महसूस किया?

'दिनमान' के लिए पत्रकारिता करते वक्त सन् 1971 ई. में लोकसभा चुनाव का कवरेज लेने के लिए मैं पहली बार बस्तर गया था। मुझे आदिवासी समाज और चुनाव के संबंध को समझना था। संयोग से उस समय जिलाधीश डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा थे। उन दिनों बस्तर एक था, आज की तरह कई संभाग में नहीं बँटा था। उन दिनों मुझे डॉ. शर्मा के साथ बस्तर घूमने का अवसर मिला। अपनी पुस्तक 'यादों का लाल गलियारा' में मैंने इस पर विस्तार से लिखा है।

आदिवासियों से पहला साक्षात्कार मेरा उस समय हुआ जब औद्योगिकीकरण का पहला चरण पूरा हो चुका था। दक्षिण बस्तर यानी दंतेवाड़ा के बैलाडीला में दुनिया का शुद्धतम लोहा मिलता है। इसके खनन के लिए नेहरू ने जापान से समझौता किया था। इसके लिए बस्तर से विशाखापत्तनम तक ब्रॉड गेज बिछाई गयी। पहली बार जब विकास की इन परियोजनाओं को लेकर कथित मुख्यधारा के लोग आदिवासी समाज के बीच पहुँचे तो इसका आदिवासी समाज के मनोविज्ञान पर क्या असर पड़ा इस पर विचार करना चाहिए। उस वक्त बस्तर के लोग हमसे दो सौ साल पीछे थे। ब्रॉड गेज यानी लम्बी लाइन की वजह से हजारों लोग विस्थापित हुए। शंकिनी और डंकिनी नदी का पानी लोहा अयस्क से लाल होकर गंदा हो गया। वहाँ के आदिवासियों की खेती नष्ट हो गयी। इसने आदिवासी समाज की संस्कृति पर घातक हमला किया। उसकी संस्कृति का उपभोक्ताकरण शुरू हुआ। बाहर से आयी पुरुषवादी सामंती प्रवृत्ति ने आदिवासी युवतियों को उपभोग की वस्तु की तरह देखना शुरू किया। आदिवासी स्त्रियाँ इंजीनियर, डॉक्टर और अन्य अधिकारियों की कुंठाओं का शिकार होने लगी। उस दौरान डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा ने इनके खिलाफ अभियान चलाया था।

दूसरी बार आपातकाल के दौरान मुझे बस्तर जाने का अवसर मिला। मेरे ऊपर मीसा का वारंट लगा था, जिसे डॉ. शर्मा ने हटाया। उस वक्त मैंने बहुत करीब से आदिवासी जीवन,

समाज व्यवस्था, इतिहास और उनकी आर्थिक प्रक्रिया को देखा, जाना और समझा। इसके साथ ही मैं 1975 ई. से 'औद्योगिकीकरण का आदिवासी सभ्यता पर प्रभाव' प्रोजेक्ट पर काम कर रहा था। जब मैं बस्तर आया था उसी वक्त संजय गाँधी बस्तर आ रहे थे और तब मुझे वहाँ से बाहर निकाल दिया गया। फिर मुझे दिल्ली लौटना पड़ा। मेरा प्रोजेक्ट पूरा नहीं हुआ।

इस बीच मैंने जाना कि आदिवासी समाज को समझने के लिए अपनी दुनिया के संस्कार और ज्ञान को छोड़कर सब कुछ भूलना होगा और वहाँ नयी शुरुआत करनी होगी। मैंने यही सीखा। मैं ऐसी सभ्यता का सदस्य था जिनकी विश्व-दृष्टि उपभोक्तावादी और प्रतिस्पर्धावादी है। हमारी मूल व्यवस्था विषमता और उत्पीड़न पर आधारित है, वर्चस्ववादी है। यह कहना कि हम आदिवासियों से ज्यादा विकसित हैं यह पुरानी सोच है। वह हेट्रोजीनियस है। वहाँ भी श्रेणियाँ हैं लेकिन उनकी विशिष्टता हमसे अलग है, वह स्वाभाविक है। हमारी श्रेणियाँ अर्थ आधारित हैं। 1978 ई. में तीसरी बार बस्तर फिर गया और लगातार काम करते हुए प्रोजेक्ट पूरा किया। लेकिन तब में और अब में बहुत अंतर है। अब बस्तर में उपभोक्तावादी संस्कृति हावी हो गयी है। ये राँची में भी हो गया है। अब उनकी आंतरिक संरचना अक्षुण्ण है ऐसा नहीं है, लेकिन बहुत कुछ सुरक्षित है।

मुख्यधारा क्या है? इसकी अवधारणा क्या है?

राजेन्द्र यादव ने मेरा लेख 'हंस' में छापा में था। मुख्यधारा प्रेस कौंसिल ऑफ़ इंडिया में खाना खाना है या आदिवासी क्षेत्र के ढाबे में? इसकी कसौटी क्या है? यह अब तक तय नहीं हुआ है। राष्ट्र कहता है कि आदिवासियों को मुख्यधारा में शामिल होना चाहिए। राष्ट्र द्वारा निर्मित विकास की कसौटी, उसकी संस्कृति, आर्थिक प्रक्रिया, सीमेंट के जंगल, बुलेट ट्रेन इत्यादि मुख्यधारा है? या, हाशिये के समाज द्वारा निर्मित मूल्य मुख्यधारा है? इसके संबंध में विश्व के किसी कोने में दो टूक बात नहीं आई है।

यही बात दक्षिण अमेरिका के 'नेटिव' के बारे में है। उपनिवेशवाद के दौर में श्वेत लोगों ने 'नेटिव' का सफाया किया। शेक्सपियर के टेम्पेस्ट के अंदर इसका पूरा डिस्कोर्स दिखता है। उसने 16 वीं शताब्दी में कल्पना की थी कि आने वाले दिनों में पूरी दुनिया में उपनिवेश कायम होगा। इसमें कैलीबान और प्रोस्पेरो का मुठभेड़ है। यह स्थिति भारत में अब भी हो रही है। क्या सभी नेटिव आदिवासियों को मार दिया जाएगा? इसमें जबरदस्त टकराहट है। कुल मिलकर तथाकथित मुख्यधारा आर्थिक उन्नति और टेक्नोलॉजी और उसकी उपलब्धि से निर्धारित होता है।

अंग्रेजों ने कहा था कि काले लोग हमारे लिए बर्डन हैं, उन्हें सभ्य बनाना है। यही बात हम काले लोगों में आ गयी है। हम आदिवासियों को सभ्य बनाना चाहते हैं। यह दो सभ्यताओं की टकराहट है। आदिवासी समाज और कथित मुख्यधारा के बीच समता के लिए विकास की न्यायोचित परिभाषा और कसौटी निर्धारित किया जाए। मैं डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा को याद करूँगा वे कहते थे—आदिवासियों को मुख्यधारा में लाने से पहले उनमें प्रतिरोधी क्षमता विकसित की जाए, काउंटर वैल्यू विकसित हो। इसमें मैं जोड़ना चाहूँगा कि इसमें विवेक और विवेचना भी हो। क्या अच्छा है, क्या बुरा है इसके आधार पर प्रतिरोधी चेतना विकसित हो। इस समय इसकी बहुत ज्यादा जरूरत है। 19 वीं सदी से 21 वीं सदी में कई सौ गुना ज्यादा इसकी जरूरत है।

लेकिन क्या मुख्यधारा के लोग क्या यह स्वीकारते हैं कि उनकी अपनी विशेषता भी होती है?

क्या आदिवासियों को म्यूजियम की वस्तु बनाया जाए या उनका समायोजन किया जाए? समाज का शक्तिशाली वर्ग यह मानता है कि आदिवासी समाज अंततः मुख्यधारा में विलीन होगा। उसे संसदीय व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था में शामिल होना होगा। उसे कंपीटीटिव पॉलिटिक्स में उसकी प्रबंध शैली को स्वीकारना होगा। लेकिन अब लोग यह मानने लगे हैं कि मुख्यधारा ही सबकुछ नहीं है। आदिवासियों ने अपने मूल्य का वस्तुकरण होने नहीं दिया है। लेकिन हमारी दुनिया में संवेदना, राष्ट्रवाद सबका वस्तुकरण हो गया है। मुस्लिम से वोट मिलेगा तो वह वस्तु बन जाता है। यही बात आदिवासी-दलित के साथ हो रहा है। संसदीय व्यवस्था में वोट के आधार पर 'वोट कमोडिटी' में बदल रहे हैं। दूसरी बात, आज की कॉरपोरेट पूँजी को कच्चमाल चाहिए। इस समय कच्चामाल पूरी दुनिया में आदिवासी क्षेत्रों में मौजूद है, जितने खनिज हैं सब आदिवासी क्षेत्रों में ही हैं। उस पर कब्ज़ा करने के लिए कॉरपोरेट पूँजी का राज्य पर दबाव बढ़ रहा है। आज राज्य कॉर्पोरेट पूँजी के चंगुल में है। इससे राज्य का आतंक बढ़ेगा। कनाडा में सुप्रीम कोर्ट ने फैसला दिया कि खनन के लिए आदिवासी ग्राम सभा की स्वीकृति जरूरी है। भारत में भी ऐसा ही होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। लोकतंत्र में पूँजी की घुसपैठ हो गयी है। इस तरह आदिवासियों के दमन को मैं आंतरिक उपनिवेशवाद के रूप में देखता हूँ। आदिवासी समाज को मुख्यधारा में घसीटने के बजाय उसके जीवन मूल्यों पर गौर करना चाहिए।

समाज के शक्तिशाली लोग आदिवासी मूल्यों को उसी सीमा तक स्वीकार करेंगे, जहाँ तक राज्य के निहित स्वार्थ नहीं टकरायेंगे। पहले आदिवासी–दलित दया पर निर्भर थे, अब उनमें अस्मिता बोध पैदा हो गया है। यह बहुत गुणात्मक परिवर्तन हुआ है। वे अपने हक़ की बात करते हैं। 18 वीं सदी में आदिवासी संघर्ष का जो सशस्त्र प्रतिरोधी स्वर उठा था, प्रतिरोध का वही स्वर 21 वीं सदी में नए रूप में पुनर्जीवित हो रहा है। यह आज माओवाद या अन्य संघर्ष के रूप में मौजूद है। 18-19 वीं सदी की चेतना नए ढंग से पुनर्जीवित हुई है। अब उसके पास तीर-कमान की जगह रायफल है। इसकी मूल चेतना को समझने की जरूरत है। लेकिन इसके साथ ही यह भी समझना होगा कि आज का राज्य 19 वीं सदी का 'प्रिमिटिव स्टेट' नहीं है। वह बहुत शक्तिशाली है। ऐसे में आदिवासी प्रतिरोध कैसे रचनात्मक बने? यह सवाल है। संसदीय राजनीति का इस्तेमाल कितना हो, भूमिगत राजनीति का कितना हो इस पर सबकुछ निर्भर करेगा। अंतर्विरोधों की सही पहचान पर आधारित परिवर्तन की रणनीति बनानी होगी।

आपने कहा कि 18 वीं सदी के आदिवासी प्रतिरोध की चेतना पुनर्जीवित हो रही है। क्या इसको व्यापक भारतीय समाज भी उसी रूप में देख रहा है?

नहीं, वह इसे समझ नहीं रहा है। इसका वह सरलीकरण कर रहा है। इसे वह नक्सली, माओवादी कहकर नकार रहा है।

ऐसी स्थिति में आनेवाला समय कैसा होगा?

इस संबंध में मैं खुद निश्चित नहीं हूँ। इस पर भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। इसके लिए मनन-चिंतन की जरूरत है। लेकिन इतना निश्चित है कि भविष्य का समाज इतना अन्यायपूर्ण तो नहीं होगा। तथाकथित आधुनिक सभ्य समाज को आत्मरक्षा और अस्तित्व रक्षा के लिए हाशिये के समाज के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करने के लिए मजबूर होना होगा।

आज जो आदिवासी अस्मिताबोध खड़ा हो रहा है, यह वस्तुपरकता और उपभोक्तावाद का विरोध कर रहा है। इस दौरान नेहरू युगीन विकास की परिकल्पना पर भी सवाल खड़े किये

जा रहे हैं। देश के विकास की परियोजनाओं में चूक कहाँ हुई?

नेहरू अपने उत्तराधिकारियों को मूल्य व्यवस्था से लैस नहीं कर सके। उन्होंने राज्य सत्ता का काफी विशिष्टीकरण किया। समाजवादी डिस्कोर्स में वे हाशिए के समाज को सहभागी नहीं बना सके। उनके उत्तराधिकारी नेहरू युगीन मूल्यों से पूरी तरह असंपृक्त हो गये। नेहरू के समय की कल्याणकारी व्यवस्था आज ध्वस्त हो चुकी है और मुनाफाखोरी व्यवस्था आ गयी है। यही 'पीपीपी' है। यहाँ कॉर्पोरेट, पूँजी को पिछवाड़े से शेष राष्ट्र पर लाद रही है।

नेहरू–वेरियर एल्विन की योजना, पंचशील सिद्धांत, पाँचवी-छठी अनुसूची का क्या हुआ?

नेहरू-एल्विन के दर्शन में 'संरक्षणवाद' था। उसमें उन्हें अस्तित्वमान बनाने की योजना नहीं थी। एल्विन आदिवासी प्रतिरोध के प्रति उदासीन दिखाई देते हैं। नेहरू ने उनके प्रभाव में आरक्षण और सुरक्षा की व्यवस्था की। नेहरू या तो बेखबर थे या उदासीन थे। जयपाल मुंडा ने नेहरू से काफी बात की। लेकिन नेहरू ने नहीं माना। जयपाल ने संविधान सभा के सामने आदिवासी हित की बात रखी। नेहरू कितने दोषी हैं यह मैं नहीं कह सकता, लेकिन उनके लिए काफी चुनौतियाँ थी देश निर्माण की। आजादी के बाद कई चुनौतियों के साथ आदिवासी चुनौती भी थी, जिसपर वांछित ध्यान नहीं दिया गया।

अमेरिका, यूरोप में जैसे आदिवासियों को ख़त्म किया गया और अब वहाँ डाइवर्सिटी इंडेक्स निकाला जा रहा है। क्या ऐसा ही भारतीय राज्य भी करेगा?

अब अमेरिका, कनाडा में 'रेड इंडियन्स' को 'फर्स्ट नेशन' कहा जाता है। अब वहाँ हर साल 'थैंक्स गिविंग' चल रहा है कि हम आपकी (आदिवासियों) की वजह से हैं।

मैं यही कह रहा हूँ कि भारतीय स्टेट भी पहले आदिवासियों को ख़त्म करेगा, फिर 'थैंक्स गिविंग' करेगा?

यह तो बहुत सामंती तरीका है कि पहले जूता मारो फिर उनसे माफ़ी माँगो।

भारत और यूरोप के 'थैंक्स गिविंग' के पैटर्न में क्या अंतर होगा?

यह आंतरिक उपनिवेशवाद है। माफ़ी माँगना तो छोटी गली से बाहर निकलना है। मूल बात है उत्पीड़न को समाप्त करना। समतामूलक समाज की बात करना।

माफ़ी माँगना तो मजाक है?

हाँ, यह निहायत मजाक है।

यह कैसे बदलेगा?

प्रतिरोध जितना सघन होगा, दबाव जितना होगा, यह इस पर निर्भर करेगा। इसका कोई यांत्रिक उत्तर नहीं होगा। अब तक संघर्ष का नेतृत्व गैर-आदिवासी कर रहे थे, अब आदिवासी खुद नेतृत्व कर रहे हैं। पहले सवर्ण के हाथ में नेतृत्व था, अब वह दौर बदल रहा है। यह सकारात्मक है।

आखिरी सवाल, आप आदिवासी समाज के अनुभव को लेकर सारांशतः क्या कहेंगे? आदिवासी समाज का भविष्य क्या होगा?

सबसे पहले तो मैं आत्मलोचना करना चाहूँगा कि मैं पलायनवादी हूँ। मैं संघर्ष नहीं कर सका। निम्न मध्यवर्ग का हूँ। मैं भगोड़ा हूँ। संघर्ष की यह धारा अभी बुझी नहीं है। विभिन्न बाधाओं के साथ यह चल रही है। मेरे पराजय का अर्थ यह नहीं कि यह सामूहिक पराजय है। यही सारांश है।

संपर्क : 105, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-1, एक्सटेंशन दिल्ली 110091, मो. 9810525019

आदिवासियों से सीखे बिना मुख्याधारा के लोग सभ्य नहीं हो सकते

गुंजल इकिर मुंडा से मनोज कुमार की बातचीत

(पद्मश्री डॉ. रामदयाल मुंडा के पुत्र गुंजल इकिर मुंडा जी युवा आदिवासी चिंतक, विचारक, संस्कृतिकर्मी एवं लेखक हैं। वर्तमान में झारखंड केंद्रीय विश्वविद्यालय में लुप्तप्राय भाषा केंद्र में सहायक आचार्य पद पर कार्यरत हैं)

प्र. भारत को बिरसा मुंडा जैसे लोकनायक देने वाले मुंडारी आदिवासी समुदाय की भाषा, परंपरा एवं संस्कृति के बारे में बताएँ तथा आदिवासी संस्कृति में इसका क्या योगदान है?

देखिए, भारतीय इतिहास में बिरसा मुंडा एक ऐसे आदिवासी लोकनायक हैं जिन्होंने भारत के झारखंड में अपने क्रांतिकारी चिंतन से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आदिवासी समाज की दशा और दिशा दोनों को बदलकर एक नवीन सामाजिक और राजनीतिक युग का सूत्रपात किया। बर्बर ब्रिटिश साम्राज्य के काले कानूनों को चुनौती देकर उसे साँसत में डाल दिया। उन्होंने आदिवासी लोगों को अपने मूल पारंपरिक आदिवासी धार्मिक व्यवस्था, संस्कृति एवं परंपरा को जीवंत रखने की प्रेरणा दी। और जहाँ तक प्रश्न मुंडारी भाषा का है तो अभी देखने में लगता है कि ये भाषा एक छोटे दायरे में ही सीमित है, झारखंड के कुछ एक हिस्से में है, किंतु अगर भाषा परिवार की दृष्टि से देखें तो 'मुंडारी', 'संथाली' या 'हो' आदि भाषाएँ ये सभी एक ही परिवार की भाषाएँ हैं, जिसे 'आस्ट्रो-एशियाटिक' परिवार की भाषा कहा जाता है। इस विषय पर हमें याद आता है कि एक बार हम पुणे में एक कॉन्फ्रेंस में गये थे तो वहाँ एक बंगाली लड़की से मुलाकात हुई जोकि शायद 'संथाली भाषा' पर शोध कार्य कर रही थी। उसका विषय इस तरह का था कि 'बंगला भाषा ने संथाली भाषा को किस तरह प्रभावित किया है'? हमनें उस से प्रश्न किया कि क्या इसका उल्टा भी हो सकता है क्या संथाली भी कभी बंगला को प्रभावित की है? तब उसने कहा, नहीं ये कैसे हो सकता है? बंगला तो बहुत बड़ी भाषा है और संथाली एक छोटी भाषा है तो निस्संदेह बड़ी भाषा ही छोटी भाषा पर इफ़ेक्ट करेगी। लेकिन अगर इस पर गहराई से देखा जाये तो इसमें हम मुंडारी

भाषा का उदाहरण लेंगे कि मुंडारी भाषा में लिंग विभाजन नहीं होता है। संस्कृत भाषा में भी तीन तरह के लिंग हैं, हिंदी में दो लिंग हैं, बंगला में एक ही है तो भले ही शब्दावली में इफेक्ट नहीं पड़ा हो लेकिन व्याकरणिक संरचना ने उसे अवश्य प्रभावित किया है। हमारी शब्दावली में 'हम' शब्द का प्रयोग होता है जोकि पूरे समुदाय को रिप्रजेंट करता है। ये आदिवासी समाज की विशेषता है जिसे हम 'सामूहिकता' के तौर पर देख सकते हैं। अगर हम रामायण व महाभारत को भी देखते हैं तो वहाँ भी आदिवासी समाज का विशेष योगदान रहा किंतु दुर्भाग्य से यह सब कुछ नकार दिया गया और जहाँ तक संस्कृति की बात है मुंडारी संस्कृति आदिवासी संस्कृति ही है जिसकी एक लंबी एवं प्राचीन परंपरा है। जिस तरह अन्य आदिवासी रहते हैं मुंडा लोग भी वैसे ही रहते हैं। किसी समय में हम लोग शिकारी समूह थे फिर एग्रीकल्चर में एडोप्ट हुए, अभी हंटरगेदर्र कोई है नहीं है, मुंडा समुदाय में अब सभी एग्रीकल्चर में ही शिफ्ट कर गये हैं। सभी पर्व-त्यौहार इसी के इर्दगिर्द घूमते हैं। पुरानी परंपरा में शिकार का पर्व आज भी मनाया जाता है। शिकार और खेती के बीच का पर्व 'सरहुल' के नाम से जाना जाता है। कर्मा है, 'कर्मा' तो विशुद्ध रूप से खेती का ही त्यौहार है।

प्र. आदिवासी समाज सदैव ही संघर्षरत रहा है और आज भी वह संघर्षरत है। उसके संघर्ष के इतिहास की लंबी परंपरा रही है, इसे आप किस रूप में देखते हैं?

आदिवासी क्षेत्र में शासन व्यवस्था बहुत ही डीसेंट्रलाइज्ड थी। अंग्रेजों के जो काम करने का ढंग था वो ये था कि आप जाइये और जो विद्रोह करने वाले समाज का मुख्य आदमी है उसे पकड़ लीजिए आपका काम खत्म। तो भारत के बाकी इलाकों में हुआ ये कि आप राजा को पकड़िये जनता अपने आप आपके पीछे-पीछे घूमे। लेकिन आदिवासी क्षेत्र में ऐसा था नहीं यहाँ पर कोई पर्टिकुलर एक नेता नहीं था। यहाँ तो सामूहिकता वाली बात थी तो शायद इसी वजह से आदिवासी समाज ने सबसे पहले अंग्रेजी हुकुमत का विरोध किया और हम आज तक विरोध करते आये हैं। आदिवासी समाज में सामूहिकतावादी भावना उस समय भी थी और आज भी है। इससे उन्हें लगातार विरोध करने की एक शक्ति मिलती थी। यहाँ हर व्यक्ति अपने आप में एक नेता है। इससे कुछ-कुछ घाटा भी होता था कुछ-कुछ फायदा भी होता था लेकिन लगातार विरोध करने की जो परंपरा रही है मुझे लगता है यह उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है। हमारे समाज में जो नेतृत्वकर्त्ता रहे हैं उनका भी कोई अलग लाइफ़ स्टाइल नहीं होता था। जो लीडर है वो भी आम जन की ही तरह खेती करता है, आमजन की ही तरह रहता है। अगर कोई बाहर से आक्रमण भी करता है तो उस व्यक्ति विशेष को पहचानना आसान नहीं होता था। आदिवासी समाज कभी भी दब कर नहीं रहा है इसीलिए समय-समय पर वह अपना विरोध दर्ज कराता रहा है।

प्र. झारखंड राज्य में आंदोलन की एक लंबी परंपरा रही है तथा भारत का स्वतंत्रता आंदोलन भी इससे अछूता नहीं रहा है। ऐसे में प्रायः देखा जाता है कि इतिहासकारों ने आपके योगदान को भुला दिया है, इस विषय पर आपका क्या मत है?

इसके लिए हमें भानु सोनमरे जो भील आइकॉन हैं उनका कथन याद आ रहा है। वो बोलते हैं कि इतिहास हमेशा एक प्रोस्पेक्टिव में लिखा जाता है। इसको इस तरह से देखिए इतिहास सदैव युद्ध जीतने वालों का ही लिखा जाता रहा है। मैं मेन स्ट्रीम कहे जाने वालों से पूछता हूँ क्या आदिवासियों को आपने अपना दुश्मन समझा था, उनके बारे में आपने कभी कुछ नहीं लिखा। ये अपने आप में एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि भारतीय समाज हमको किस तरह से देखता है? अगर वो हमें अपने एक पार्ट के रूप में देखता है तो निस्संदेह हमारा साहित्य

उनके साहित्य में आना चाहिए। जो हमको लगता है अब धीरे-धीरे आ रहा है। एक समय था जब मेनस्ट्रीम की मानसिकता सिर्फ यही थी कि हम सिर्फ़ गरीब लोग हैं, हमको बहुत आवश्यकता है मार्गदर्शन की बगैरा-बगैरा। लेकिन अब आदिवासी साहित्य अपने पैरों पर खड़ा हो रहा है तो लोग इसकी अहमियत को समझ रहे हैं और इससे भी हम लोग कुछ सीख सकते हैं, ये भावना अब लोगों के बीच आ रही है तो हमकों लगता है कि इस तरह और आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

प्र. भारत में आम तौर पर देखा जाता रहा है कि मौखिक एवं लिखित दोनों ही साहित्य की एक लंबी परंपरा रही है। इस दृष्टि से देखा जाये तो आदिवासी साहित्य को आप कहाँ पाते हैं?

आदिवासी साहित्य मूल रूप से आरंभ से ही मौखिक साहित्य रहा है जिसकी एक लंबी परंपरा रही है जोकि आज भी विद्यमान है। अभी तो हम फ़िलहाल मौखिक से ऊपर उठने की कोशिश कर रहे हैं, मौखिक साहित्य अभी भी हमारे समाज में बहुत प्रबल है। हर एक साहित्य का विकास मौखिक साहित्य के रूप में ही हुआ है चाहे वे अंग्रेजी साहित्य हो या फिर कोई भी भारतीय भाषा का साहित्य। अधिकांश बड़े-बड़े साहित्यकारों का बेसिक मौखिक साहित्य रहा है। अभी हम लोग धीरे-धीरे मौखिक से लिखित साहित्य की ओर बढ़ रहे है किंतु मौखिक साहित्य ही अब भी हममें प्रेरणास्रोत का काम करेगा। आदिवासी साहित्य कहने का मतलब ये नहीं है कि अगर कोई आदिवासी साहित्यकार अंग्रेजी भाषा में लिख रहा है और उसका दर्शन अलग है तो हम उसे आदिवासी साहित्य नहीं कह सकते। सिर्फ़ 'आदिवासी' शब्द लिख देने से कोई भी साहित्य आदिवासी साहित्य नहीं कहा जा सकता, जब तक की उसमें आदिवासी समाज का दर्शन समाहित न हो तथा जब तक उसमें आदिवासियत न झलके तब तक कोई भी साहित्य आदिवासी नहीं कहा जा सकता है, ऐसा हम मानते हैं।

प्र. मुंडारी समाज के इतिहास के बारे में कहा जाता रहा है कि इनका संबंध सिंधु घाटी सभ्यता के मोहनजोदड़ो से जुड़ता है, अपितु यहाँ तक कहा जाता है कि ये लोग ही उस सभ्यता के जनक थे, वे उनकी ही सभ्यता थी। इस संबंध में आपका क्या विचार है?

इसके बारे में हार्ड एंड फ़ास्ट कोई प्रूफ तो अभी प्राप्त नहीं हो सका है और हम चीज़ों को क्रिटिकली देखते हैं इसलिए अभी इस पर कुछ कहना जल्दबाजी होगा। किंतु बहुत सारे लोगों का यह मानना अवश्य है कि वो जो सभ्यता थी उसे यहाँ के आदिवासी-मूलनिवासियों ने बसाया था और अब तो ये भी प्रूव हो चुका है कि आर्यन सभ्यता के लोग बाहर से ही आये थे। मोहनजोदड़ो सभ्यता के लोग कौन थे? इस संबंध में बहुत सारे लोग अपनी-अपनी तरह से व्याख्या करते हैं। किंतु इतना तो तय है कि बहुत सारी जगहों पर जिनमें उत्तराखंड व यू.पी. के कई स्थान हैं जहाँ इसके साक्ष्य मिलते हैं, जिसे हम चाहकर भी अनदेखा नहीं कर सकते हैं। दरअसल इस विषय पर बहुत अधिक काम किये जाने की आवश्यकता है।

प्र. भारतीय समाज की तथाकथित मुख्यधारा आदिवासियों के प्रति किस तरह का दृष्टिकोण रखती है?

देखिये इसमें तो हम अपना उदाहरण देना चाहेंगे, जिसका सबसे प्रबल उदाहरण 'रंगभेद' है, यह बोला जाता है कि सिर्फ अंग्रेज लोग ही रंगभेद करते हैं। हम तो भारतीयों को भी करते देखे हैं। आदिवासी थोड़े ज्यादा काले होते हैं अन्य की अपेक्षा में। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अगर आर्य गोरे थे तो उनके बड़े-बड़े देवता काले या साँवले कैसे हो गये? यहाँ मानसिकता पर भी प्रश्न उठता है, लोगों की मानसिकता में काले रंग वाले व्यक्ति को हीन और गोरे रंग

को श्रेष्ठ माना जाने लगा जोकि बेहद दुःखद है। संस्कृत साहित्य में भी असुरों को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ हमारे संदर्भ में साहित्य में किये जाने वाले विवरण भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जैसा साहित्य में विवरण होता है लोगों की मानसिकता भी वैसी ही बनती जाती है। हमारा जितना हो सका उतना मज़ाक बनाया गया। एक तरह से थर्ड क्लास सिटीजन्स के रूप में हमें देखा गया और अभी भी देखा जा रहा है। अगर हम जमीन नहीं देते हैं तो बोलते है ये पिछड़े हुए लोग हैं, देश के लिए किसी को तो कुर्बान होना पड़ेगा तो किसी को में आदिवासी की ही क्यों कुर्बानी हो बाकी लोग क्यों नहीं? और अगर हम कुर्बानी दे रहे है तो उसके बदले में हमें क्या मिल रहा है ये भी एक बड़ा प्रश्न है? इस प्रकार तरह-तरह से आदिवासियों को हीन नज़रिए से देखा गया है। एक उदाहरण और दूँगा की अगर किसी सरकारी दफ़्तर में कोई आदिवासी जाता है और उसे बोल दिया जाता है की यहाँ मत आना तो वो व्यक्ति कभी भी वहाँ अपने स्वाभिमान के कारण वापस नहीं जाता, वहीं दूसरे समाज के व्यक्ति को मना कर दिया जाये तो वह बार-बार बोलेगा प्लीज़ सर कर दीजिए-कर दीजिए नहीं होगा तो मक्खन लगाने लगेगा, किंतु आदिवासी व्यक्ति अत्यंत स्वभिमानी होने के कारण कभी ऐसा नहीं करेगा। आज जिस समाज को सभ्य माना जाता है उनकी सभ्यता रेलवे लाइन और अन्य जगहों पर देखने को मिल जायेगी। अगर बोला जाता है लाइन लगाओं तो सभी चूहे-बिल्ली की तरह एक-दूसरे पर टूट पड़ते हैं। इसके उल्टा आप कभी आदिवासी गाँवों में जाइए अगर आपका कोई समान घर के बाहर भी छूटा हुआ है तो वो आपको वहीं बाहर मिलेगा कोई चोरी नहीं करता यहाँ तक की वहाँ के अधिकांश घरों के गेट पर आपको ताले तक नहीं मिलेगें। ये सब चीज़ों को देखने की आवश्यकता है कि विकास केवल और केवल भौतिकता, उपभोक्तावाद नहीं है अपितु मानसिक और व्यवहारिक भी है। तथाकथित मुख्यधारा के समाज में आप देख सकते हैं आये दिन दहेज और बलात्कार के अनगिनत मामले सामने आते हैं, क्या यही सभ्य होने ही निशानी है। आदिवासी समाज में औरतों ने जितना सँभाला है अन्य किसी समाज में औरतों को उतनी वरीयता नहीं है जितनी आदिवासी समाज में है। जब तक आप आदिवासी से सीखेगें नहीं तब तक आदिवासी मुख्यधारा को असभ्य ही लगेंगे।

प्र. आदिवासी समाज में व्याप्त विस्थापन, नक्सल, धर्मांतरण आदि जैसी समस्याओं को आप किस तरह से देखते हैं? आपके अनुसार इनके समाधान क्या हो सकते हैं?

देखिए, एक बात तो तय है ही तकनीकि रूप में हम लोग दूसरों से पिछड़े हुए हैं। जिसके पास तकनीक है वह अपना दमखम तो दिखाता ही है नैतिकता का वहाँ कोई प्रश्न नहीं रह जाता है। हम तुमको मार सकते हैं तो हम तुम मारेंगे। हमको लगता है आदिवासी इसी के चक्कर में पिस गया है। अगर औद्योगिकीकरण की बात करें तो आदिवासी आज केवल एक प्रोडक्ट की तरह हो गया है, जिसको जो जब चाहे इस्तेमाल कर सकता है। आदिवासी की जमीन के नीचे खनिज है तो ये लोग बोलेंगे बेवकूफ लोग इतना पैसा के ऊपर बैठा हुआ है, इसका मोल ही समझ नहीं रहा, हटाओं इन लोगों को। फिर कोई धर्मांतरण के लिए आएगा चाहे हिंदू हो या क्रिश्चियन, बोलेगा देखो इन लोगों को कोई समझ ही नहीं है सभ्यता की, हम लोग इन्हें सभ्य करेगें। आदिवासियों का दर्शन, उनकी लोककथाएँ प्रकृति प्रदत्त समस्त चीज़ों को समान दृष्टिकोण से देखती हैं। अब जहाँ तक नक्सल समस्या की बात है तो इसके दो-तीन लेयर हैं, एक तो आदिवासियों को देखा जाए तो वह बीहड़-जंगल में है। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी डेमोक्रेसी वहाँ पहुँची नहीं है। हिंदी फिल्म 'न्यूटन' इसका बेहद सटीक उदाहरण है, आदिवासी अपने अंदर का रोष कहाँ व्यक्त करेगा? आप चाह रहे हैं वो अपना

सारा काम काज छोड़ कर जंगल से निकल कर जंतर-मंतर पर जा कर धरना देगा। आज तक ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गयी जिससे सरकार उन तक पहुँचे और आप चाह रहे हैं वो सरकार तक आयें। सरकार का उद्देश्य ये होना चाहिए की वो जनता तक जाए न की जनता आपके चक्कर काटे। जब सारे डेमोक्रेटिक तरीके विफल हो जाते हैं तब ही आदमी क्रांति के लिए अग्रसर होता है। आदिवासियों को अपने पैर पर खड़ा होने की, अपने विचारों को खुद से व्यक्त करने के लिए जो स्पेस चाहिए वो अब तक नहीं मिला है जिसका फ़ायदा सब कोई उठा रहे हैं। जब तक ये स्पेस मिलेगा नहीं तब तक आदिवासियों की अपनी बातें बाहर आएगी नहीं, इसके लिए व्यापक रूप से चीज़ों को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। अगर हम 'माओइज्म' को आदिवासियों का आंदोलन माने तो कितने टॉप लीडर कमांडर आदिवासी हैं? बताइयेगा हमको न के बराबर हैं। उसी तरह पुलिस के कितने टॉप पुलिस रैंक के कर्मी आदिवासी हैं? वहाँ भी न के बराबर हैं। जो मारा जा रहा है और जो मर रहा है, कौन मर रहा है? आदिवासी मर रहा है। सबसे ज्यादा निर्दोष ग्रामीण आदिवासी मरते हैं, किसी को कोई लेना देना नहीं है इन सब चीज़ों से। तो कहीं न कहीं हमें लगता है कि जो ऊपर बैठे हुए लोग हैं चाहे वे किसी भी पार्टी भी के क्यों न हो उनको केवल अपना फ़ायदा निकालना है। अभी हाल ही में 'पत्थरगढ़ी आंदोलन' चर्चा का विषय रहा है। अगर सरकार बोलती है कि नक्सली अगर बंदूक छोड़ेंगे तभी हम बात करेगें तो यहाँ मैं ये प्रश्न उठाना चाहूँगा कि 'पत्थरगढ़ी आंदोलन' में कितने लोगों ने बंदूक उठाई थी? अगर बंदूक नहीं उठायी गयी थी तो क्या सरकार ने उनसे बात करने की कोशिश की, नहीं की। तो आप ढकोसला ही क्यों करते हो बंदूक छोड़ दीजिए तब बात करेगें। ये बात नक्सली अच्छे से समझते हैं कि अगर वे बंदूक छोड़ भी दें तो ये बात तो करेगें नहीं, तो इन सब चीज़ों को व्यापक स्तर पर समझने की जरूरत है हम लोगों को। जहाँ तक समाधान की बात है तो आदिवासियों को अपने हिसाब से चीज़ों को देखना पड़ेगा। आज जो रिजर्वेशन पा कर आगे बढ़ रहा है उसके मूल में आदिवासियत खत्म होती जा रही है, ये एक बड़ी समस्या है। अभी आदिवासियों के बिहाफ़ पर कोई और बोल रहा है, आदिवासियों का विकास कैसा हो ये कोई और बता रहा है? तो ये सब चीज़ों पर आदिवासियों का विकास कैसा और क्या हो आदिवासी खुद तय करेगें, न कि कोई और बताएगा जब तक ये चीज़ नहीं होगी तब तक मैं कोई समाधान नहीं देखता हूँ।

प्र. वर्तमान भारतीय विकास का आर्थिक ढाँचा आदिवासियों के लिए कहाँ तक उपयोगी हो पाया है?

यह तो आदिवासियों के लिए कब्रगाह जैसा है, शायद यही बात जयपाल सिंह मुंडा जी ने भी कही थी। नेहरू जी कहा करते थे भारत विकास का मंदिर है, विकास का मंदिर है तो मेरे पिता श्री राम दयाल जी ने कहा कि ये कैसा मंदिर है जहाँ हमें भगवान तो मिला ही नहीं, प्रसाद तक हमको नहीं मिला। इतने डैम बने, फैक्ट्रियाँ खुली सारी आदिवासी जमीन पर खुली, आदिवासी गये कहाँ? आदिवासियों को क्या मिला? आप खुद के विकास के लिए कर रहे हैं जिसे राष्ट्र विकास का नाम दे देते हैं, क्या हम राष्ट्र में नहीं आते? इतना सब होने पर भी अगर हमें भारतीय की तरह ट्रीट नहीं किया जाता। अब विद्रोह नहीं करेगें तो क्या करेगें? इन सब चीज़ों पर मुख्यधारा को विचार करने की आवश्यकता है। जो कि मुझे इतना सरल नहीं लगता क्योंकि वो लोग आदिवासियों को एक सतही तौर पर देखते हैं, उनके अंदर जा कर, उनके बीच रहकर उनकी समस्याओं को समझना होगा। आप दिल्ली में ए. सी. कमरों में बैठ कर योजनाएँ बना रहे हैं ये कहाँ तक उचित है? मैं समझता हूँ समस्याओं

को ज़मीनी स्तर पर देखे जाने की आवश्यकता है।

प्र. भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है हम जानना चाहेंगे कि इस भारतीय लोकतंत्र में आदिवासियों की सहभागिता एवं नेतृत्व कहाँ तक उभर पाया है?

सबसे पहले तो हमें ये जानना जरूरी है कि जो ट्राइबल डेमोक्रेसी है और जो मेनस्ट्रीम की डेमोक्रेसी है, इसमें अंतर है। ट्राइबल डेमोक्रेसी कभी वोट-बाट के चक्कर में नहीं पड़ती। देखा जाये तो वोट का मतलब क्या है तीन या चार दिन पहले नेता आयेगा दम भर नोट और शराब बँटेगा ये बँटेगा, वो बँटेगा और बदले में वोट लेकर चला जायेगा। ये चीज़ और ये समस्या हर जगह, हर चुनाव में है। गाँव की जो डेमोक्रेसी हमारे यहाँ रही है उस में जब तक पाँच पंचों या मुखिया की जब तक सहमति नहीं हो जाती है तब तक चीज़े आगे नहीं बढ़ती हैं। ये चीज़ केवल आदिवासी समाज में नहीं थी, अपितु महात्मा गाँधी भी इस चीज़ में विश्वास करते थे। अब बात आती है कि मेनस्ट्रीम की डेमोक्रेसी को किस तरह ढाला जाए कि वो आदिवासी डेमोक्रेसी की तरह हो जाए। इसके लिए बहुत सारे नियम-कानून हैं। अधिकांशतः हमारे नेता केवल कास्ट सर्टिविकेट के नाम पर आदिवासी होते हैं। वे कितना काम आदिवासियों की भलाई के लिए काम करते हैं? आदिवासी गाँवों में आदिवासी शासन होना आवश्यक है।

प्र. भारत में वैश्वीकरण का आदिवासियों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है?

मुख्यतौर पर मुझे लगता है कि उनकी भाषा एवं संस्कृति बेहद बुरी तरह से प्रभावित हुई है। ये सब पहले से चलता हुआ आ रहा था लेकिन वैश्वीकरण के कारण ये और अधिक ताकत के साथ उभरा है। आज आदिवासियों को खुद पर शक होने लगा है कि हम जो जी रहे हैं, हम जो खा रहे हैं, हम जो बोल रहे हैं क्या ये सही है? इन सब चीज़ों के लिए आदिवासियों का बहुत मज़ाक भी उड़ाया जाता है। जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ तक ने आदिवासी जीवन शैली की सरहाना है। वहीं वैश्वीकरण इस चीज़ पर ध्यान नहीं देता है, वैश्वीकरण उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद व भौतिकता मात्र है। आदिवासी दर्शन ठीक इसके विपरीत है। हालाँकि वैश्वीकरण ने आदिवासियों को अपनी बात आमजन तक पहुँचने का मार्ग अवश्य सुलभ करवाया है, जिसकों हम नजरअंदाज नहीं कर सकते हैं। एक तरफ ये ध्यान भटकाने का भी जरिया बनता जा रहा है तो वहीं दूसरी ओर एक ताकत भी बन रहा है। हमें इस पर केंद्रित रहना है कि ये किस तरह से हमारी ताकत बने।

प्र. भारत में अनेक आदिवासी समुदाय निवास करते हैं इनमें जल, जंगल व जमीन के लिए संघर्षरत आदिवासी व घुमंतू जीवन जीने वाले आदिवासियों के जीवन तथा समस्याओं में आप क्या अंतर देखते हैं?

अंतर तो होगा ही लेकिन अंतर उतना नहीं होगा। जो सेटल्ड आदिवासी हैं एक जगह बैठ कर खेती कर रहे हैं तो ऐसा नहीं है कि जो एक जगह बैठ गए हैं उनका पर्यावरण से लेन-देन बंद हो गया है, वह खेत और गाँव तक ही सीमित नहीं रहा है। वनों, जंगलों, नदियों, पठारों आदि से उसका संबंध हमेशा से बना रहा है और आगे भी बना रहेगा और जो घुमंतू हैं उनका भी लेनदेन चल ही रहा है। यहाँ तक कि अनेक वैज्ञानिक तो ये तक मानते हैं कि खेती की डिस्कवरी होना मानव जाति के लिए सबसे ज्यादा खतराक चीज़ थी। उसी से चीज़ें बँटती गई और आज हम इस स्थिति में पहुँचे हैं। अगर घुमंतू जीवन देखा जाये तो वह सबसे सस्टेनेबल लाइफ़ है। जो प्रकृति दे रहा है आपको आप उसी ले रहे हैं, उसका शोषण नहीं कर रहे हैं। आप पंजाब में जाइये और देखिए हरित क्रांति के बाद क्या हुआ भले ही लोग

खेती कर रहे हैं मगर जमीन तो पूरा बर्बाद हो चुकी रासायनिक खेती से, आज आप देखिए सब चीज़ें जितने भी कीटनाशक हुए फिर खादें यूज़ करना हुआ मतलब ये सब चीज़ बढ़ती ही जा रही है। आदिवासी खेती भी करता है तो कमर्शिलाइज खेती नहीं करता है, वो हर चीज़ को बराबरी में लेकर चलता है। प्रकृति से उतना ही लेता है जितने की आवश्यकता है।

प्र. 'पत्थरगड़ी आंदोलन' अभी हाल ही में बेहद चर्चा का विषय रहा है, इस पत्थरगढ़ी आंदोलन का इतिहास क्या रहा है तथा मुंडा समाज में इसकी क्या उपयोगिता है?

अगर शाब्दिक अर्थ में देखे तो 'पत्थरगड़ी' का अर्थ है पत्थर को गाड़ना, जिसको तथाकथित सभ्य लोग शिलालेख बोलते हैं। जिसे अशोक भी करता था सब कोई करता था। तो पत्थरगड़ी हम लोगों के लिए उस शिलालेख की तरह ही है, चीजों को याद रखने के लिए। सिर्फ़ हम लोगों में ही नहीं मेघालय में खासी लोग भी ये करते हैं। अभी भी कोई मरता है तो उसकी याद में पत्थर लगाया जाता है। ये परंपरा अपने आप में एक बृहद इतिहास समेटें हुए हैं। हमारे आदिवासी समाज में आरंभ से ही वाचिक परंपरा रही है, अगर लिखित रूप का अवलोकन करना हो तो ये पत्थरगढ़ी उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण है। अभी पत्थरगढ़ी के लोगों का कहना है कि जो वादा अंग्रेजी सरकार ने हमसे किया था वो वर्तमान सरकारें निभा नहीं रही हैं, जिसका कि जिक्र संविधान तक में है। और जहाँ तक उसकी भाषा का प्रश्न है तो आप गाँव वालों से ऑक्सफ़ोर्ड की इंगलिश बोलने की उम्मीद नहीं कर सकते हो। अगर वो बोल रहा है कि 'मेरे गाँव में किसी बाहरी को आने की इजाजत नहीं है' तो हमें देखना होगा ये बात वो किस संदर्भ एवं किस भाव में कह रहा है। सीधा-सीधा किसी भी बात का विरोध कर देना ये कहाँ तक उचित है। हमें उनके दिल में झाँककर देखना होगा उनका दिल उतना ही साफ़ है। इसमें मुझे लगता है टी.वी. वालों का भी दोष है जो समस्याओं व चीज़ों को ठीक से प्रजेंट नहीं कर रहे हैं।

प्र. क्या वर्तमान समय में भारतीय मीडिया आदिवासियों के साथ न्याय कर पा रहा है? एक ऐसे समय में जबकि उसके लिए गोदी मीडिया, बाजारू मीडिया, बिकाऊ मीडिया, पूँजीवादी मीडिया आदि शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा है?

मीडिया तो न्याय नहीं ही कर रहा है किंतु मैं यहाँ भारतीय सिनेमा को भी इसके लिए कम दोषी नहीं मानता हूँ, जितनी ख़राब तरह से हम लोगों को प्रजेंट किया जा सकता है वैसा किया जाता रहा है और आज भी किया जा रहा है, कुछेक मूवी को छोड़ कर जिसमें आप 'न्यूटन' मूवी का नाम ले सकते हैं अन्यथा तो 'बाहुबली' जैसी फिल्मों तक में हमें जिस तरह से दिखाया गया है आप स्वयं देख सकते हैं। जितनी भी अभद्र चीज़े हैं, न समझने वाली चीज़े, कपड़े आदि नहीं पहनना, जिंगा-लाला-हू करना आदि, गलत तरह से हमें प्रजेंट किया जाता रहा है। इस तरह की मूवी दिखा कर मेनस्ट्रीम में तो गलत संदेश जाता ही है, हमें भी काफ़ी बुरा लगता है। और जहाँ तक मीडिया का प्रश्न है तो दुर्भाग्यवश मीडिया भी बजारू हो चुका है। उसको पेपर बेचनें के लिए सिर्फ़ मसाला चाहिए, आजकल खबर कम गॉशिप्स ज्यादा बचा जाता है। मीडिया वाला पत्थरगढ़ी जाता है और बच्चे को बोलता है तुम उस पत्थर के सामने गुस्से में तीर-धनुष लेकर खड़े हो जाओ और फिर फोटों खीचतें हैं। मतलब जबरदस्ती का एग्रेसन दिखाने की कोशिश की जाती है। उनकी हैडलाइन देखिए 'भारत के बीच में ही एक और देश बनाया जा रहा है' ये सब गलत खबर दिखा कर वे सिर्फ और सिर्फ अपनी टी.आर.पी. बढ़ाना चाहते हैं और कुछ नहीं। मुझे शर्म आती है कि अपने फ़ायदे के लिए ये लोग निर्दोष आदिवासियों के कंधे पर बंदूक रख रहे हैं जोकि बेहद ही दुर्भाग्यपूर्ण हैं।

प्र. आदिवासियों के नाम पर राज्य और केंद्र सरकारों की जो योजनाएँ बनती हैं, उनका लाभ आदिवासियों को कितना और किस हद तक मिल पाता है?

सबसे पहले तो ये जो योजनाएँ हैं वो टॉप टू बॉटम होती हैं। ये अधिकांश योजनाएँ दिल्ली के ए.सी. रूम में बैठ कर उन लोगों द्वारा बनाई जाती हैं जिनकों आदिवासियों की ज़मीनी हकीकत का कोई अंदाजा नहीं है। आदिवासियों को सिर्फ एक गरीब आदमी की ही तरह देखा जाता है। आदिवासियों के जीवन के और पहलू भी हैं, जिनको नजरअंदाज कर दिया जाता है। अगर कोई योजना अच्छी बनती भी है तो ठीक से क्रियान्वित नहीं हो पाती है। सब यही समझते हैं कि आदिवासियों को सिर्फ पैसा ही चाहिए, घूमफिर कर चीज़ें सिर्फ पैसे पर ही टिक जाती हैं। आदिवासियों की और भी समस्याएँ और जरूरतें हैं, जिस पर मैं समझता हूँ ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। संविधान के अंतर्गत पाँचवी अनुसूची का ठीक से अनुपालन नहीं हो पा रहा है, आदिवासियों को निरंतर अपनी मातृभूमि से विस्थापित होना पड़ रहा, ओपरेशन ग्रीनहंट, सलवा-जुडूम, पेसा कानून, वन अधिनियम आदि जैसी अनेकों समस्याओं पर कोई भी ध्यान नहीं देना चाह रहा है। अगर वास्तविक रूप में आप आदिवासियों के लिए योजनाएँ बनाना चाहते हैं तो आपको उनकी जरूरतों, आवश्यकताओं और समस्याओं को ज़मीनी स्तर पर समझना होगा।

प्र. तथाकथित मुख्यधारा से आप अब किस तरह की अपेक्षाएँ रखते हैं, आपकी दृष्टि में किस तरह के दृष्टिकोण को अपनाएँ जाने की आवश्यकता है?

सबसे पहले तो मुख्यधारा के लोगों को सिर्फ अपने को ही श्रेष्ठ मानने की भावना से निकलना होगा। आज हमें हर चीज़ से सीखने की अवश्यकता है, चाहे वो एक पत्ता या फिर केवल एक चींटी ही क्यों न हो। हमारे देश के समस्त धर्म ग्रंथों का मूल भी यही है कि हम सभी का सम्मान करें, किसी को कमतर कर न आँकें यही विनम्रता है। जब तक तथाकथित मेनस्ट्रीम यह नहीं समझेगा हमें नहीं लगता कि तब तक वे हमारें बारे में जान पाएँगे। मुख्यधारा को आज हमारी संस्कृति और दर्शन से बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है।

प्र. आज इस आर्थिक विकास की अंधी दौड़ में आदिवासियों का भविष्य आप किस रूप में देखतें हैं?

अगर भौतिक रूप से देखा जाये तो आदिवासियों का भविष्य तो खतरे में है ही लेकिन समस्याएँ मुख्यधारा एवं इस पृथ्वी के लिए भी कम नहीं हैं। ये तय है अगर आदिवासी खत्म होता है तो अधिक से अधिक सौ वर्षों में ये दुनिया खत्म हो जाएगी। जिस तरह से चीज़ों को आगे बढ़ाया जा रहा है, प्राकृतिक संसाधनों की लूटपाट की जा रही है उससे आदिवासियों के भविष्य पर तो प्रश्न चिन्ह है ही, पृथ्वी का भी भविष्य खतरे में है। आदिवासियत एवं आदिवासी विचारधारा तथा आदिवासी दर्शन ही विश्व को इन सब समस्याओं से बचा सकता है, इसमें कोई दो राय नहीं है। आज हम इस ग्रह को बर्बाद कर मंगल ग्रह पर जीवन खोज रहे हैं, इसे बर्बाद कर दिया अब मनुष्य मंगल ग्रह पर जाकर उसे भी बर्बाद कर देना चाहता है जोकि बेहद दुर्भाग्यपूर्ण है। जिस पर हम सबकों मिल कर विचार-विमर्श करने की आवश्यकता है।

संपर्क : गुंजल इकिर मुण्डा, द्वारा : अमिता मुण्डा, दीरी ओड़ारू, सरना टोली, हातमा, राँची कॉलेज के पीछे, झारखण्ड, 834008, मो. 7717730054

मनोज कुमार : शोधार्थी (हिंदी), हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मो. 9728424929, manojkumaraarya@gmail.com

नए सौंदर्यशास्त्र की जरूरत नहीं, जरूरत है सौंदर्यशास्त्र की परिधि के विस्तार की

रोज केरकेट्टा से सावित्री बड़ाईक की बातचीत

कथाकार रोज केरकेट्टा हिंदी की समर्थ कथाकार हैं। उनकी कहानियों में हिंदी और देशज शब्दों के साथ झारखंड के आदिवासों गाँवों की बोलियों का सफल प्रयोग हुआ है। वे अपने कथाओं, लेखों, स्मरणों के जरिए लगातार सृजनशीन हैं। रोज केरकेट्टा के दो बहुचर्चित कहानी संग्रह हैं-'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' और 'बिरुवार गमछा'। उनका प्रसिद्ध निबंध संग्रह है 'स्त्री महागाथा की महज एक पंक्ति'। 'आधी दुनिया' की संपादक के तौर पर वे महिला मुद्दों पर निरंतर सक्रिय हैं। झारखंड आंदोलन के समय से ही वे महिला नेतृत्व की पहली पंक्ति में खड़ी हैं और सेवानिवृत्त प्राध्यापक होने के साथ-साथ अपनी मातृभाषा खड़िया भाषा के संवर्द्धन और संरक्षण पर भी उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

प्रश्न : आपने पहली कहानी कब लिखी? यह कहानी कहाँ छपी थीं?

मैं अपनी पहली कहानी 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' को मानती हूँ जो 'आदिवासी' के किसी विशेषांक में छपी थी, शायद 1964-65 में। अब ठीक-ठीक याद नहीं है।

प्रश्न : आपने प्रेमचंद की कहानियों का हिंदी से खड़िया अनुवाद किया है, वे कहानियाँ कौन सी है?

प्रेमचंद की कहानियाँ पूस की रात, मंत्र, मैकू, सवा सेर गेहूँ, मुक्ति मार्ग, कफन आदि हैं। गाँवों में ठगने वाले भगवाधारी संन्यासी, हाथी वाले मंगते अनाज की कटाई के साथ ही गाँवों में पहुँच जाते हैं। ग्रामीण वैद मुफ्त इलाज करते हैं। भौतिक विकास के बावजूद ग्रामीण जीवन का पेटर्न कुछ खास नहीं बदला है।

प्रश्न : हिंदी में लिखते हुए खड़िया भाषी लेखिका को किन समस्याओं से गुजरना पड़ा?

खड़िया भाषी हूँ पर पढ़ाई-लिखाई और सोचने का तरीका खड़िया समुदाय से नहीं मिला। सोचने और देखने की दिशा तो मुझे हिंदी भाषियों और गैर आदिवासी चिंतक, दार्शनिक, विद्वान, राजनीतिज्ञों और लेखकों से मिली। पिता जी, दीदी और छोटा भाई सहायक रहे। मुकदमों से चिंतित पिता Heat of temperament की बातें करते थे। 'जूलियस सीज़र' और 'सत्य हरिश्चन्द्र'

नाटक उनके हृदय से जुड़ा था। जुलियस सीज़र का अंतिम वाक्य 'यू टू ब्रूटस' से अपने जीवन की तुलना करते थे। सत्य हरिश्चन्द्र का माटी खाएँ जानवरा, महा महोच्छव होय' जैसी मौत की कल्पना करते थे। सो मुझे हिंदी लिखने में कोई कठिनाई नहीं हुई। कठिनाई हुई खड़िया में लिखने में। इस समय खड़िया साहित्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। कॉलेजों में पढ़ाई होने के बाद भी आज तक उसका इतिहास (साहित्य का) नहीं लिखा गया है। इससे सिर्फ मुझे नहीं खड़िया भाषियों के लिए मैं खड़िया में अभी भी लिखती हूँ। मेरी कहानी 'भँवर' का तेलुगु में डॉ. रेड्डी ने अनुवाद किया है।

प्रश्न : आपका लेखन, चाहे कविता हो या कहानी किन घटनाओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है?

उत्पीड़क घटनाओं, उत्पीड़ित लोगों के साथ-साथ वे घटनाएँ और साहसिक प्रतिक्रियाएँ मुझे बेहद पसंद हैं। 'भँवर' की छोटी बच्ची पिछले चार पाँच वर्ष पहले मिली। वह पढ़-लिख कर तब अपने लिए 'वर' का चुनाव कर रही थी। कम या ज्यदा जो साहस करते हैं। ऐसे कैरक्टर मुझे आकर्षित करते हैं। ऐसे अवसर आने पर जाति, धर्म, लिंग का बंधन में नहीं मानती। स्वतंत्रता, स्व. निर्णय को जीवन में महत्त्व दिया जाना चाहिए। यह मेरा विश्वास है। परिस्थितियों का निराकरण होना चाहिए न कि उनके आगे समर्पण। कम से कम निराकरण का प्रयास तो अवश्य किया जाना चाहिए।

प्रश्न : आपका लेखन, आपके द्वारा लिखित साहित्य आधुनिक हिंदी साहित्य से कैसे जुड़ता है?

मैं जिन परिस्थितियों, लोगों, जगहों के बारे लिखती हूँ वे हाशिए के लोग हैं। उनके विचारों, कार्यों का आज की भागती जिंदगी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर इस भागती जिंदगी का भागना भी कभी रुकेगा? या यह भागना कब तक और कहाँ तक? उपभोक्ता बने जीवन को संतुष्टि कहीं नहीं। पानी से अब प्यास नहीं बुझती। बंद बोतलों के पेय से प्यास बुझती है। सब जगह पाने की ही चाहत। ऐसे में ये छोटी-छोटी जिंदगियाँ ठंढे जल के कुल्हड़ों की तरह लगती है मुझे। भाषा के स्तर पर भी ग्रामीण प्रतिमान, मुहावरे और कुछ शब्दों की शक्तियाँ ध्यान आकर्षित करती हैं। आज जो कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें मानसिक उथल-पुथल का चित्रण है जिसमें स्वाभाविकता कम, कृत्रिमता अधिक है। ग्रामीण जीवन में जटिलता और वह भी मानसिक जटिलता बहुत कम है। 1985-86 में मैंने 'रिनपास' देखा। उसके बाद प्रोजेक्ट के तहत देखा। Custodial Justice for Women लॉ बन रहा था। इसके लिए मैं वहाँ कई बार गई वहाँ आरंभ में इधर के ग्रामीण आदिवासी रोगी गिने चुने थे। वहाँ डॉ. बक्शी थे। उन्होंने कहा था कि इधर के रोगी और उनका पारिवारिक रिश्ता नहीं टूटता है। ठीक हो जाने के बाद वे उन्हें ले जाते हैं।

लेकिन शहरी निम्न वर्ग से लेकर मध्यम वर्ग रोगी का फर्जी पता देकर भर्ती कराते हैं। चंगे होने पर वे ले नहीं जाते। ले जाने पर ठिकाना नहीं मिलता। या पुनः प्रताड़ित होने पर वे यहीं आ जाते हैं। लेकिन गरीब आदिवासी रोगी ठीक होने के बाद लौट कर नहीं आते, डॉक्टर्स के संपर्क में रहते हैं। मेरी कहानियों के पात्र समाज द्वारा उपेक्षित नहीं हैं। उन्हें समाज का कोई न कोई तबका सहारा देता है।

परन्तु, अब मानसिक आरोग्यशालाओं की रिपोर्ट बदली है। एक दो रोगी यहाँ के हैं जिन्हें परिवार छोड़ गया। तो स्वस्थ मानसिक स्थिति के लिए यहाँ का परिवेश अनुकूल था। अब अनुकूलता में दरार पड़ रही है। दुःखद यह है कि अब परिवेश पर चिंतन भी नहीं है।

मनोविकृति बढ़ रही है जिससे अपराध बढ़ते जा रहे हैं। जीवन शैली बदलने के कारणों, उन पर नियंत्रण के प्रयास कम हो रहे हैं।

मेरी रचनाओं में परिवेश की इन जटिलताओं की ओर संकेत हैं और उनसे निपटने के हौसले भी। भौतिकवादी विकास से समाज की कुछ कमजोरियाँ दूर हुईं पर समाज ही कमजोर हो गया। तब लोग कैसे मजबूत होंगे। आज कस्बे शहर में और शहर नगर में बदल रहे हैं। वहाँ मकान बनते हैं और मकानों का पानी सड़क पर बहाते हैं जहाँ सब चलते हैं। पर्यावरण सुरक्षा के लिए कोई चिंता नहीं रह गई हैं। हिंदी साहित्य शायद सुध ले सकता है।

प्रश्न : आदिवासी लेखकों के सामने की कुछ चुनौतियों का उल्लेख करें।

आदिवासी लेखकों के सामने मुख्यतः दो चुनौतियाँ हैं—एक अपने लोग और इसके अपनी भाषा से इतर भाषा के लोग। इसमें अपनी भाषा के पढ़े-लिखे लोग जितना जानते हैं वे उसे ही सम्पूर्ण मानते हैं। उन्हें उससे ज्यादा जानने की जरूरत नहीं महसूस होती। इसलिए अपनों के बीच विमर्श नहीं हो पाता और विमर्श नहीं होता तो आगे बढ़ने में कठिनाई होती है।

इस मामले में दूसरी भाषा के लोग आगे बढ़ जाते हैं। वे रिसर्च पर गहराई से जाते, प्राप्त सामग्री पर चर्चा करते और फिर चर्चा करते। उनका लिंक टूटता नहीं है और किसी निर्णय पर पहुँचते भी हैं। परन्तु आदिवासी साहित्य को, उसकी पृष्ठभूमि को वे समझने से इनकार करते और अपनी कसौटी से नापते हैं।

प्रश्न : आदिवासी बुद्धिजीवियों में व्यक्तिवाद को किस रूप में देखती हैं।

आदिवासी बुद्धिजीवी उपुर्यक्त परिस्थितियों का मारा होता है। जब उसके (बुद्धिजीवी) विचारों, कृतियों पर बहस या चर्चा नहीं होती तो वह स्वेच्छाचारी और व्यक्तिवादी हो जाता है। वह आगे नहीं बढ़ पाता।

प्रश्न : जल, जंगल, जमीन को बचाने के लिए बड़े सांस्कृतिक आंदोलन की आवश्यकता पुनः है क्या आप इससे सहमत हैं?

जंगल, जमीन और जल की रक्षा के लिए पूरी दुनिया के आदिवासी संघर्ष कर रहे हैं। उन्हें करना पड़ रहा है क्योंकि इन तीनों से वे ही विस्थापित किए जा रहे हैं। और विस्थापन ऐसा कि वे शरणार्थी का दर्जा भी नहीं पाते। न उनके लिए शिविर न झोपड़ी खड़ा करने को भूमि। वे जहाँ-तहाँ, इधर-उधर बिखरे जा रहे हैं। अपनी संस्कृति को छोड़ देना उनकी मजबूरी है। शरणार्थी अपने शिविरों में थोक में रहते हैं जहाँ वे थोड़ी छीना-झपटी के बावजूद अपनों के बीच अपने मन से रहते हैं। आज उस अपनेपन की निहायत जरूरत है। झारखंड को झारखंड ही बनाये रखने के लिए उस अपनेपन को पुनः स्थापित करना है। यह अपनापन अपनी संस्कृति (भाषा, गीत, नृत्य, व्यवहार आदि) में है। तो यह जरूरत सांस्कृतिक आंदोलन की माँग करता है।

प्रश्न : वर्तमान में झारखंड के सामने की कुछ चुनौतियाँ हैं। आपकी राय में कौन सी चुनौतियाँ हैं?

झारखंड एक भौगोलिक क्षेत्र है जहाँ की जलवायु के अनुसार वनस्पति, और झरने पहाड़ हैं। यहाँ के झरने और नदियाँ सदानीरा नहीं हैं। बरसात में उमड़ती और गर्मी में पतली धारा के रूप में बहती हैं। पर आज ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि हर बड़ी नदी स्वर्णरेखा, कोयल (उत्तरी-दक्षिणी), कोनार, काँची, शंख, दामोदर स्वयं पानी के लिए तरस रही हैं। झरनों की बात तो छोड़ ही दें। लेकिन ऐसे वातावरण में पले-बढ़े लोगों की एक विशिष्ट जीवन-शैली बन गई है। उनका जीवन, रहन-सहन, बोली प्रतिक्रियाएँ एक विशिष्ट रूप ग्रहण कर चुकी हैं। वे अन्य इलाकों में जाने पर स्वयं को असुविधाजनक स्थिति में पाते हैं। वे अपनी बोली

और भाव-भंगियाओं में विशिष्ट हैं वे ही झारखंडी हैं। जब वे आपस में मिलते हैं तो उनकी जाति या धर्म नहीं, उनकी भाव-भंगिमाएँ, व्यवहार के तरीके और भाषा यानी उनकी संस्कृति उन्हें झारखंडी होने की विशिष्टता प्रदान करती है।

प्रश्न : झारखंड बुद्धिजीवी परिषद् का सम्मेलन 7 मई 1978 को निर्मल मिंज की अध्यक्षता में हुआ था। उस परिषद् की कार्यकारिणी समिति में आप सदस्य थीं। उसके बारे में बताइए।

7 मई 1978 को झारखंड बुद्धिजीवी परिषद् का गठन बेथेसदा बालिका उच्च विद्यालय में हुआ था। डॉ. निर्मल मिंज उसके अध्यक्ष थे और वीर भारत तलवार उसके सचिव थे। वीर भारत तलवार ने खोरठा, कुरमाली, पंचपरगिनया, नागपुरी, संताली, मुंडारी, हो, कुड़ुख और खड़िया भाषा को एक सूत्र में पिरो कर झारखंड आंदोलन को और मजबूत किया था। शाल-पत्रिका के माध्यम से भाषाओं के चतुर्दिक विकास का प्रयास किया था। यहाँ की भाषाओं की महत्ता स्थापित की। डॉ. मिंज ने अपने कॉलेज में मुंडारी, कुड़ुख और नागपुरी भाषा की पढ़ाई शुरू कर दी थी। उसे बुद्धिजीवी परिषद् के भाषिक-आंदोलन के रूप में विकसित किया और विश्वविद्यालय स्तर पर पढ़ाई शुरू हुई। आज वह झारखंड के कई विश्वविद्यालय में एक विभाग के रूप में कार्यरत है।

दूसरी बात यह हुई कि उन नौ भाषाओं की अपनी-अपनी पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। इन भाषाओं के विद्वानों की पहचान बनी। उनकी कृतियों की पहचान होने लगी। अब संताली-भाषा आठवीं अनुसूची में शामिल है।

इन भाषाओं के साहित्यों पर शोधकार्य जारी है, लेखन और प्रकाशन भी बढ़ा है।

पढ़ाई की व्यवस्था से कई गलतफहमियाँ भी बढ़ीं। अधिकांश छात्र-छात्राओं ने इसे महज नौकरी-प्राप्ति से जोड़ दिया।

इतना अवश्य हुआ कि इन भाषाओं का महत्त्व बढ़ा। ग्रामीण क्षेत्रों में इन भाषाओं यों कहें झारखंड में काम करना है तो इन भाषाओं को जानना आवश्यक हो गया। ग्रामीण बैंक और पुलिस सेवा में भाषाओं की जानकारी का विशेष प्रावधान किया गया। लोगों ने अपने पैसों से किताबें प्रकाशित करना आरंभ किया।

प्रश्न : आप मुख्यतः कथाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। कहानी लेखन की शुरुआत आपने कब से की?

कहानी लेखन कब शुरू किया यह कहना कठिन है। लेकिन दयामनी नामक लड़की ने अपने पिता से पढ़ाई के लिए जैसी जिद की। जमादोहर गाँव का वह स्कूल जिसमें एक शिक्षक तीन कक्षाओं को एक साथ पढ़ाया करते थे। आठ-दस किलोमीटर दूर से बच्चों का पढ़ने आना और शिक्षक का अपने काम के प्रति समर्पण ने मुझे बहुत आकर्षित किया। आज भी वह शिक्षक मेरे जेहन में आदर्श शिक्षक के रूप में मौजूद हैं। नियुक्ति के बाद से वह शिक्षक उस गाँव के होकर रह गए कभी गाँव नहीं छोड़ा। सेवा-निवृत्ति के बाद ही अपने गाँव गए, जहाँ कुछ महीनों के बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।

उनका पढ़ाने का तरीका बच्चों की प्रतिक्रिया, व्यवहार और वहाँ से पढ़कर निकले लोग, ये सब आकर्षण तत्त्व थे। घर में पिता जी शिक्षक, शिक्षा को समर्पित उनका जीवन, समाजसेवा, वे स्वयं लेखक थे। सो अखबार पढ़ना और लिखना उनके सहयोग से हुआ। 'पगहा जोरी-जोरी रे घाटो' मेरी पहली कहानी को शायद रिपोर्ताज कहना ज्यादा अच्छा होगा। गाँवों ने मुझे हमेशा आकर्षित किया। शंख, कोईल आदि नदियाँ मेरे शरीर में नब्ज की तरह हैं। गाँव से हटकर मेरी कोई भी कहानी नहीं है।

प्रश्न : कहानी लेखन के लिए आपने किन लेखकों को पढ़ा? किन कथाकार की रचनाएँ आपको प्रभावित करती हैं।

कहानी लेखन के लिए मैंने कोई तैयारी नहीं की। पिता जी ने आदिवासी क्लब और आदिवासी महिला क्लब बनाया था। लगभग सात सौ पुस्तकें थीं। वहाँ समसामयिक पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं। रूसी क्रांति के बाद का समय था। सो रूसी साहित्यकारों की अनूदित रचनाएँ थीं। सबसे पहले मुझे याद है गोर्की की कहानी 'तीन प्रश्न' जिससे मुझे समय और काम को देखने की नई दृष्टि मिली। मैंने 'माँ' उपन्यास पढ़ा, जो ग्रामीण जीवन का क्रांतिकारी परिवर्तन है। उन दिनों बिहार में रामवृक्ष बेनीपुरी पूरे उफान पर थे। उनकी भाषा की ताकत जैसे काले रंग के लिए जामुनिया रंग कहना, पके रस भरे जामुन को हम जानते हैं बड़ा मनोरंजक और प्रभावित करता था। ''खडंहर बताता है की इमारत कभी बुलन्द थी' जैसे वाक्य इतिहास के सांस्कृतिक पक्ष को जानने की उत्सुकता जगाते थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियाँ और गोरा उपन्यास तथा शरतचंद्र के चरित्रहीन, पथ के दावेदार आदि हाईस्कूल तक में पढ़ ली थी।

साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग और कल्पना जैसी पत्रिकाओं का जमाना था। उनमें यूरोपीय बड़े साहित्यकारों के उपन्यास और कहानियाँ धारावाहिक अनूदित होकर छपते थे। शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' बेहद प्रेक्टिकल उपन्यास था। क्लब निबंधित था तो पत्र-पत्रिकाएँ मुफ्त में आती थीं। 'हरिजन और भूदान यज्ञ से संबंधित पत्रिकाएँ थीं। पिता जी और गंगा विष्णु रोहिला के कारण विनोवा भावे और जयप्रकाश नारायण भी सिमडेगा पहुँचे। मेरी दीदी रोशनी में भी साहित्यिक रूझान था। वह गर्वमेन्ट गर्ल्स स्कूल की फर्स्ट बैच की छात्रा थी। वहीं प्रिंसिपल उमा सहाय थीं जो इंगलैंड से पढ़कर आई थीं। तब स्कूल की चमक और थी। वहाँ विभिन्न आयोजन होते थे। ग्यारहवीं में तब दीदी को 'मेरी कहानी', I choose Freedom, भार्गव डिक्शनरी, राजा निरवंसिया जैसी ढेर पुस्तकें मिली थीं। वीमेंस कॉलेज में भी उसे पुरस्कारों में कई पुस्तकें मिली थीं। पिताजी चतुरसेन शास्त्री के प्रशंसक थे। जय सोमनाथ, गोली, वैशाली की नगरवधू के साथ भववती चरण वर्मा की चित्रलेखा भी उनकी कृपा से पढ़ने को मिली। प्रेमचंद का पूरा सेट था। अश्क, रांगेय राधव, इलाचन्द्र जोशी और यशपाल तथा कई अन्य लेखकों को पढ़ा।

स्थानीय लेखकों में राधाकृष्ण सबसे प्रभावशाली थे। आदिवासी के संपादक और आकाशवाणी के निदेशक होकर उन्होंने यहाँ के ग्रामीण साहित्यकारों को जोड़ा। पिता जी भी जुड़े। उनके अनुज सुशील कुमार लाल से भी जुड़े। तब किसी विशेषांक के कभी पाँच रुपये भी पारिश्रमिक पाकर हम बेहद खुश होते थे। इस तरह पुस्तकें बहुत पढ़ीं लेकिन 'तीन प्रश्न' के साधू, मैडम बप्रिस्ते की त्रासदी के साथ-साथ बेनीपुरी और शिवपूजन सहाय का ग्रामीण परिवेश हमेशा लुभाता रहा। साहित्यिक रचनाओं में एक ओर प्रेमचंद थे तो दूसरी ओर जयशंकर प्रसाद। ध्रुवस्वामिनी के माध्यम से मैं आज तक स्त्री जीवन की स्वतंत्रता का सबसे बड़ा पैरोकार जयशंकर प्रसाद को मानती हूँ। लेकिन परिवेश चुनाव में राधाकृष्ण ही सहायक हो सकते थे। इस तरह प्रभावित बहुतों ने किया पर, मेरी क्षमता उतनी नहीं बढ़ सकी।

प्रश्न : 'बिरुवार गमछा' आपकी महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी को लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?

'बिरुवार गमछा' का गमछा जिसे आज झारखंडी पहचान के रूप में प्रयोग किया जा रहा है, की कई रोचक यादगारें बचपन की हैं। मेरे बचपन के एक काका थे। फागू नाना, रंथू और पूरण मामा थे। मैंने एक वर्ष नानी की बकरियाँ गरमी छुट्टी में चरा दी थी। बदले

में मुझे नानी ने एक छोटा लहंगा बुनवा कर दिया था। दूसरे वर्ष नानी की बकरियाँ सुबह में चरायी और दूसरी बेला कपास खेत में खाद ढोया। तब भी नानी ने मुझे एक गमछा भेंट किया थी। मेरी चचेरी बड़ी दीदी ने एक काका को बरकी और पेछौरी (जाड़ा में ओढ़ा जाने वाला बड़ा चादर) देकर घर से बिदा किया था। बिरुवार गमछा मुझे स्वयं प्रथम पारिश्रमिक के रूप में मिला था। फागू नाना ने मेरे पिता जी को गमछा देकर सम्मनित किया था, जब उनका बेटा मोती बड़ाईक रजिस्ट्रार बने। और यहीं पर वह पेंच है कि एक दक्ष बुनकर के रूप में फागू नाना की पहचान थी वह समाप्त हो जाती है। मोतीराम बड़ाईक एक अफसर के रुप में जाने जाते हैं पर उस परिवार की दक्षता जो उनकी सुपर स्पेशिलिटी थी समाप्त हो जाती है।

दूसरी ओर झारखंड की लड़कियाँ दिल्ली में जाड़े में बिरुवार गमछे में ही लिपटी हुई दिखाई देती हैं जिससे उन्हें पहचान मिलती है। उनकी सेवाओं को नजर अंदाज करते हुए घटिया कमेंट्स के बीच उनकी जिन्दगी गुजर रही होती है। अहमदनगर में जीवन गुजार रहे माझी दा राँची के सिरमटोली के थे। वे प्रेम विवाह की सजा भुगत रहे थे। पर मातृभूमि प्रेम के वशीभूत होकर इधर से गए लोगों की देखभाल करते थे। वे दोनों नहीं रहे और उनका परिवार 'मराठा' परिवार में बदल गया। जिंदगी की ऐसी पेचीदागियों ने मुझे काफी प्रभावित किया।

प्रश्न : प्यारा केरकेट्टा की विरासत को आगे बढ़ा रही है। आप साहित्यकार और संस्कृतिकर्मी होने के नाते क्या कहना चाहेंगी?

प्यारा केरकेट्टा की विरासत को आगे बढ़ाने की इच्छा तो है लेकिन परिस्थितियाँ कितनी अनुकूल होंगी यह कहना थोड़ा कठिन है। हालाँकि प्यारा केरकेट्टा को साहित्यकार के रूप में राँची विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने स्वीकार कर लिया है। प्रो. दिनेश्वर प्रसाद ने उनकी कहानी 'बेरथअ बिहा' को लघु उपन्यासिका कहा है। कुछ और शोध कार्य चल रहे हैं। युद्धरत आम आदमी में उनकी कई कहानियों और कविताओं का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। संभवतः आने वाले दिनों में उनके काम पर और शोध होगा और आदिवासी साहित्य अपना स्थान बना लेगा।

प्रश्न : राँची से 'संवाद' के निरंतर प्रयास से 'आधी दुनिया' नाम की महत्त्वपूर्ण पत्रिका पिछले 25 वर्षों से प्रकाशित हो रही है। 'आधी दुनिया' पत्रिका में आपके संपादन में कई महत्त्वपूर्ण अंक प्रकाशित हुए हैं? इस पत्रिका के संपादक के तौर पर अपने अनुभव साझा करें।

आधी दुनिया का संपादन कार्य मैंने अपने हाथ में लिया तब से विविध विषयों पर अंकों को केन्द्रित की चेष्टा की। पत्रिका वास्तव में महिलाओं में पढ़ने-लिखने की अभिरुचि जगाने की कोशिश है। ग्रामीण स्तर पर बहुत-सी जनकारियाँ नहीं पहुँच पातीं। महिला उत्पीड़न, महिलाओं की सुरक्षा के लिए किए जा रहे प्रयास, कानून, महिलाओं की प्रतिक्रियाएँ शामिल की जाती हैं। इसके अलावे स्वयं महिलाएँ अपने प्रयासों की अभिव्यक्ति दें। नई जानकारियों में स्वास्थ्य, कृषि, उद्यम, उद्योग, महिला एवं बालाधिकार आदि विषय हैं। महिलाओं का न लिखना वैश्विक समस्या है। इस कठिनाई से आधी दुनिया भी ग्रस्त है।

प्रश्न : मैग्नोलिया प्वाइंट लिखने के पीछे आपका उद्देश्य क्या है?

मैग्नोलिया प्वाइन्ट एक प्रेम कहानी है। यहाँ भी प्रेम कोई बंधन नहीं मानता। पर दुनिया तो मानती है। जाति, नस्ल, वर्ग में प्रेम की भावना कहाँ मुक्त हो पाती है? सिद्धान्तों से बँधे लोग बंधनों को तोड़ने की लागतार कोशिश कर रहे हैं। मैग्नोलिया प्वाइन्ट शायद उस रूप

में नहीं पर नेतरहाट विद्यालय से निकल रहे अनेक छात्रों ने प्रेम को बंधन मुक्त किया है। उनके साहस को सलाम किया जाना चाहिए।

प्रश्न : कथा साहित्य और कविता की विधा में कई आदिवासी प्रतिभाएँ निरंतर रचनाशील हैं। क्या आदिवासी कविता और आदिवासी कहानी के मूल्यांकन के लिए नये सौंदर्यबोध/सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता है?

आदिवासी साहित्य के सौंदर्य को समझने और उसे कहने के लिए अलग सौंदर्यशास्त्र की जरूरत नहीं है। जरूरत है सौंदर्यशास्त्र के परिधि के विस्तार की। जैसे युवती का गोरा रंग लेकिन आदिवासी साहित्य में रंग नहीं स्वस्थ पुष्ट देह और श्रम सौंदर्य का मानदंड है। कारी फल से तुलना करते हुए कहा जाता है 'डुरिब बेलोङ बेटी' याने कारी फल की तरह गहरे रंग वाली, पुष्ट देह और श्रम वाली युवती। आदिवासी जीवन का अध्ययन करते हुए आप एकाक्षी, विकलांग युवक-युवती का सम्पूर्ण देह वाले युवक-युवती से प्रेम संबंध पाएँगे। यहाँ देह नहीं भावनाएँ आधार हैं संबंधों के। बेनीपुरी ने ऐसा किया है। लेकिन लोग ज्यादातर पीछा परंपराओं का करते हैं। आदिवासी साहित्य जब अपनी जगह बना लेगा तब संकीर्ण परिधि का घेरा टूटेगा। यदि आदिवासी साहित्यकार स्वयं आक्रान्त होगा तो वह कभी अपनी बात ढंग से नहीं रख पाएगा। यहाँ जरूरत है सशक्त अभिव्यक्ति (विश्वास) की।

प्रश्न : आपके लेखन की जड़े आपके अपने क्षेत्र की माटी से काफी गहराई से जुड़ी हुई है। इस संबंध में आपके विचार क्या हैं?

किसी भी लेखन के लिए Conviction चाहिए है। ऐसा नहीं होगा तो फिर आप क्या लिखेंगी? मुझे अपने पात्रों पर पूरा विश्वास है।

प्रश्न : एक्टिविस्ट, समाजसेवी, आंदोलनकर्ता, साहित्यकार के रूप में आपके व्यक्तित्व का बहुआयामी हिस्सा है। कृपया इस पर प्रकाश डाले।

यह सब संस्कार परिवार से, विशेषकर पिता से मिला। उनका पारिवारिक जीवन उथल पुथल रहा। उनके पिता ने जमीनदारी शासन में बेठ बेगारी झेला। जमीन को लेकर रिश्तेदारी में, अपने दो भाइयों और एक भतीजे को क्रमशः मृत्युदंड, कालापानी, आजीवन कारावास मिला और अंत में सात वर्षों की सजा पर मुक्त करा लिया। मृत भाई के बच्चों को समेटा, पढ़ाया। एक भतीजा शिक्षक भी बना। उन्होंने समाज सेवक रह कर रात्रि पाठशाला में मुस्लिम बच्चों को पढ़ाया। राजनीति में भागीदारी निभायी। अंत में वे शिक्षा को समर्पित हो गए। इस बीच वे पढ़ते रहे और खड़िया भाषा में लिखते रहे। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व को सिर्फ एक बेटा लोरेंग अपने में समेट सका। इसलिए पिता की तरह समाज में वह भी मिसफिट रहा। पिताजी का जीवन कष्टमय रहा। स्नायु संबंधी दुर्बलता के कारण चार वर्षों तक बिस्तर पर रहे। उस समय भी लोगों से उनका संबंध बना रहा। 25 दिसंबर 1970 को प्रातः 3.00 बजे उनकी मृत्यु हुई, जब सब लोग क्रिसमस मना रहे थे। इसका प्रभाव मुझ पर पड़ा।

प्रश्न : आधुनिक औद्योगिकीकरण की आँधी में सिर्फ मनुष्य ही नहीं उखड़ता बल्कि उसका परिवेश और आवास स्थान भी हमेशा के लिए नष्ट हो जाता है, 'फिक्स डिपोजिट' और 'भाग्य' कहानी में आपने इसका मार्मिक प्रसंग रखा है? आप इन कहानियों के बारे क्या कहना चाहेंगी।

औद्योगीकरण का प्रभाव उस क्षेत्र को पूरी तरह बदल देता है जहाँ वह स्थापित किया जाता है। कृषि और उद्योग का एक दूसरे के विपरीत Norm है। कृषि में Mass जुड़ा होता है अपने पूरे वजूद के साथ। सारे लोग अपनी क्रियाशीलता Creativity के साथ जुड़े होते हैं। उद्योग में भी Mass जुड़ता है पर उसकी क्रियाशीलता वहाँ नहीं जोड़ी जाती। कृषकों के त्योहार

और उद्योग से जुड़े लोगों के त्योहार में रस को जो अन्तर्धारा बहती है उसका स्वाद अलग-अलग होता है। औद्योगीकरण में चिंतन केन्द्रीय है, कृषि में बहुआयामी। औद्योगीकरण में स्वामियों की सीढ़ी होती है। उस सीढ़ी में चढ़ना सीखना पड़ता है। कृषि में सीढ़ी ही नहीं होती। उद्योग में मजदूर होते हैं कृषि में सहकर्मी। यहाँ बड़े किसानों को शामिल नहीं किया जा रहा है। छोटे और मध्यम किसान के लिए चैन पाना उसका लक्ष्य होता है। वह जमा-खर्च से दूर रहता है। इस कारण उद्योग में छोटे और बड़े किसान सिर्फ नुकसान उठाते हैं।

मैंने 1958 से पहले एच. ई. सी. का रथ मेला देखा है और एच. ई. सी. बनने के बाद भी देख रही हूँ। उद्योग तब लगाना चाहिए और वहाँ लगना चाहिए जहाँ के लोग माँग करें। एच. ई. सी. के किसान आज स्लम के लोग हैं। 'भाग्य' कहानी में मानसून आधारित कृषि है जहाँ अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ता है। बड़ा किसान भी मजदूरी देने में बेईमानी करता है तब मजदूर किसान टूट जाता है। अभी भी आदिवासी मजदूर किसानों के पास व्यक्तिगत रूप से बेइमानी का विरोध करने की ताकत नहीं दिखाई देती है। जमीन से उखड़ने के बाद मजदूर किसान तितर-बितर हो जाते हैं। यह भाग्य ही हैं कि माना के बच्चे फिर मिल सके। पर आपस का लम्बा अलगाव उनमें एक दूसरे पर भरोसा नहीं जगा पाया। माना की बेटी सभी भाईयों से मिलने के बाद मर गई। उडीसा के हीराकुंड में बाँध बाँधा गया तब बिहार के आदिवासी इसी रूप में वहाँ मजदूरी करने पहुँचे थे।

'फिक्सड डिपोजिट' जैसी घटना आदिवासी क्षेत्र में आम है। जहाँ भी मध्यम श्रेणी के बाँध बँधे हैं, वहाँ जमीन की लूट, मुआवजे की लूट आम बात है। ग्रामीण युवाओं की सरलता समाप्त हो गई है। एक-दूसरे को ठगने, छीनने और अनियंत्रित नशापान की प्रवृत्ति बढ़ी है। दलाल संस्कृति अपना ली गई है। लड़कियों का पलायन नियमित हो गया है। ये लड़कियाँ भी अपने ही गाँवों में असुरक्षित हो गई हैं।

प्रश्न : झारखंड का गठन उसकी सांस्कृतिक विशिष्टता के आधार पर किया गया है। झारखंड की आदिवासी कला के उत्थान और संरक्षण के लिए कौन से आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए?

आदिवासी कलाओं के मर्म को पहचाना जाना चाहिए। तभी हम उनके मूल्यों को पहचान कर उनकी रक्षा करने की सोचेंगे। हमारा सांस्कृतिक जीवन डाँवाडोल हो गया है। पहले जीवन सुरक्षित और निश्चिन्त हो। जीवन को स्थिर करने की सबसे पहले जरुरत है।

प्रश्न : झारखंड आंदोलन के दौरान आपने क्या-क्या लिखा?

झारखंड आंदोलन से मेरे जुड़ने का उद्देश्य ही था कि महिलाएँ भी समाज में बराबरी का स्थान पाएँ। सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, प्रशासनिक बराबरी सिर्फ मौखिक नहीं, नीतिगत और कानूनी हो। इनमें सिर्फ 'पंचायत' में माना गया पर पंचायती राज में महिलाओं की सशक्त भागीदारी कैसे हो, इसके लिए तैयारी नहीं की। मैंने इन सबों पर काम किया और लिखा भी। इसके अतिरिक्त यहाँ की भाषाओं के साहित्यक विकास के लिए भी काम किया। कुछ विचार पुस्तकों में आए, कुछ बिखरे पड़े हैं।

प्रश्न : 'मैना' कहानी को महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नव-सामाजिक विमर्श के तहत एम.ए. हिंदी पाठ्यक्रम (चतुर्थ पाठ्यचर्या-अनिवार्य) के लिए चयनित कर लिया गया है। पाठ्यक्रम में 'मैना' कहानी को रखने पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?

'मैना' कहानी को एम.ए. के पाठ्यक्रम के लिए चुना गया, इससे मुझे बहुत खुशी हुई। लेकिन कहानी के प्रेरणा स्रोत स्टीफन डुंगडुंग की मौत पहले ही हो गई। मैं उनसे यह कहानी

बाँट न सकी। उनके साथ दो और युवकों ने कुसुमबेड़ा और घोड़ी टोला में युवक युवतियों का संगठन बनाया था। तीनों की असामयिक मृत्यु हो गई।

कहानी संग्रह को लेकर अब दक्षिण भारत, दिल्ली वि.वि. के कई शोधार्थी आदिवासी लेखन पर काम कर रहे हैं। इसे उपलब्धि के रूप में देखती हूँ। कई साहित्यकार भी आदिवासी साहित्य के रूप में इसे देख रहे हैं। और मैना! गजब की थी वह! एक बार हम उनके गाँव से गुजर रहे थे। 27 दिसंबर था। उनके खलिहान के निकट एक कुत्ता पहुँचा और मैना उस पर झपट पड़ी और चोंच मारने लगी। हम खलिहान में घुस गए। वह दीदी और मेरे सिर पर झपट पड़ी। हम उनके कुम्बा में घुस गए तब उसने हमें छोड़ा।

प्रश्न : आदिवासी जीवनमूल्य में सामूहिकता, सामुदायिकता, सहजीविता, सह-अस्तित्व, समानता जो सूत्र है क्या इन जीवनमूल्यों से आदिवासी दूर हो रहे हैं। अगर हो रहे हैं तो आपकी राय में इसके कारण क्या हैं?

आदिवासी जीवन मूल्य में सामूहिकता, सामुदायिकता सहजीविता सह-अस्तित्व और समानता के सूत्र ही उनकी ताकत हैं जिसके कारण वे अस्तित्व में हैं। इन्हीं की बदौलत उन्होंने अपना क्षेत्र और अपनी सांस्कृतिक-आर्थिक पहचान बना रखी है। इससे वे दूर नहीं हो रहे हैं। वे दूर किए जा रहे हैं। क्योंकि उनके पास जमीन-जंगल और उसमें विकसित संस्कृति है। वे आज के विकास प्रणाली को अपनी जरूरत के मुताबिक ढालते, पर वैज्ञानिक अपने ज्ञान और उनके संपर्क में रहने वाले पूँजीपतियों के हिसाब से काम करते हैं। जहाँ उन्हें व्यक्तिगत लाभ की चिन्ता है। जन-गण के दुःख, नुकसान और पीड़ा प्रभावित नहीं करते। बहुत हुआ तो मरहम पट्टी करते हैं। पीड़ितों के लिए विकल्प नहीं ढूँढ़ते।

जिन दिनों कवि बिहारी लाल लिख रहे थे तब भी कहीं इसी तरह भीषण गर्मी पड़ रही थी। उस गर्मी से निजात पाने के लिए बाघ, हिरण, मोर, साँप, आदमी सब एक बड़े पेड़ के नीचे इकट्ठे थे। आज वैसा विशाल पेड़ तो क्या झाड़ीदार पेड़ तक नहीं हैं। पेड़ देखना हो तो बोटनिकल गार्डन जाइए। पैसा जिनके पास है, वे ए.सी. और कूलर लगवा रहे हैं। लेकिन आओ हम पेड़ बचाएँ, पेड़ लगाएँ नहीं कह रहे हैं। गाँव का लोहार जरूरत के अनुसार कोयला नहीं बना सकता। उसे पत्थर कोयला खरीदना पड़ेगा। दूसरे वह छिपकर कोयला बनाता है तो संगीन अपराध करता है जिसकी सजा जेल और जुर्माना है। ऐसे में आदिवासी जीवन बचाने के लिए गुलामी में चले जा रहे हैं। पर जिन्हें गुलामी भी नहीं मिल रही वे चोरी, लफंगई और बड़े अपराधियों के सेवक बन रहे हैं। यहाँ जोरदार प्रतिरोध कर रहे हैं वहाँ वे आतंकवादी कहे जा रहे हैं। उराँव, मुंडा, खड़िया, नगेशिया, अहीर के प्रतिरोध ऐसे ही हैं। आदिवासियों के मूल्य और सिद्धांत व्यक्तिवाद में बदल रहे हैं। इसके लिए नए सिरे से विमर्श जरूरी है। शराब की भट्ठियाँ अनवरत चलती हैं। पकड़े जाते हैं वे जो गुलाम चोरी-छुपे बेचने ले जाते हैं। ऐसों के पास जीवन मूल्य रहेगा कहाँ से।

सरकार नीति बनाती है अमीरों के लिए, जहाँ पारिवारिक रिश्ते तक मुनाफे की दृष्टि से देखे जाते हैं। मुनाफे के लिए नशा, पैसा और गरीबी बनाए रखना जरूरी है। इन सब के लिए जीवन मूल्यों का गला घोंटना जरूरी है। आदिवासियों को अपनी कीमत बनाए रखने के लिए बृहद फलक पर सोचना, पढ़ना और विमर्श करना जरूरी है। सोचे, समझे लोगों की संख्या बड़ी होगी तो नेताओं की सोचों का भी शायद परिष्कार कर सकेंगे। आदिवासियों को नीति, रणनीति और संगठित होने की जरूरत है।

प्रश्न : आदिवासियों के सपने देखने की प्रवृत्ति कम नहीं हुई है। इंसान की बेहतरी के

सपने कम नहीं हुए हैं, आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं में जीवन से गहरा लगाव-जुड़ाव दिखाया है। आपने हिंदी और खड़िया भाषा में कविताएँ भी लिखी हैं। अपनी कविताओं के माध्यम से इसे स्पष्ट करना चाहेंगी?

आदिवासी सपने देखने के कारण ही आज तक अस्तित्व में हैं। आप पाश कवि से अवश्य सहमत होंगी। उनका पंजाबी पृष्ठभूमि तो है पर पंजाब के किसानों का है। आज सभी किसानों की स्थिति एक जैसी है। लेकिन हम सपने देखेंगे और उसे पूर्ण करने के लिए ग्रामीण चरित्र हैं जिनमें साहस के साथ संवेदना, सहानुभूति सिर्फ भावनात्मक स्तर पर नहीं हैं, वे उनमें जीते हैं और अवसर मिलते ही उन्हें साकार करते हैं। केराबांझी की हिरामती, गंध की जोसना, महुआ गिरे सगर राति की जोसफा, दया, सब दृढ़ निश्चयी हैं। बिरुवार गमछा की कहानियाँ अपेक्षाकृत अधिक जटिल परिस्थितियों की हैं। वहाँ भी पात्र हारने-हारने की परिस्थिति में भी संघर्ष करते हैं। वे सामाजिक-आर्थिक विघटन के सामने टूटते हुए भी नहीं टूटते हैं।

कविताएँ, कामु (काम), सोरीना (साथ हो) भी किसानों के जीवन पर हैं। रोपणी कठिन काम होने के बावजूद उत्साहवर्धक है। अब के बच्चे पटबीजना, डुंडलू आदि को नहीं जानेंगे। क्योंकि खेत हैं नहीं है ऐसे में लुप्त हो चुके हो या लुप्त हो रहे जन्तु हैं। रोपनी के बाद स्त्रियाँ कहतीं अब हमने बिचड़े माँ की गोद में डाल दिए। हलवाहे कहते सपने माँ को सौंप दिए।

शंकर सिंह सच्ची घटना पर है। थाने और पुलिस पर कभी आम आदमी ने नहीं विश्वास किया। स्त्रियों का उत्पीड़न आम बात हैं। परन्तु बदमाशों, डकैतों से (वे) थानेदार दोस्ताना संबंध रखते और उनसे मात खाते रहते हैं। हो सकता है यह उनका टेक्टिस हो। ठाकुर जी (हाथी) और डोरा (साँप) गाँवों में लोगों के साथ-साथ रहते हैं। वे छेड़े जाने पर ही नुकसान पहुँचाते हैं। ग्रामीण सहजीवन का सम्मान करते और उन्हें नए नाम से संबोधित करते हैं। साथ हों-एक सपना है कि पंछी जब जाड़े में प्रवास करते हैं तब आकाश ढँक जाता। हम भी जब मिलजुल कर कोई काम करें, असंभव संभव हो जाएगा। पन्ना ऐसे शिक्षक है जो बच्चों को इतिहास के बारे में बताते हैं। इतिहास उन क्रांतिकारियों का होता है जिसे तुम जियो या जीना चाहो। पुस्तकों में बद्ध इतिहास तो सिकुड़ा हुआ होता है। जैसा नीम औषधि है जो दुःख दूर कर सुख लाता। जियो तो नीम (बिरसा) की तरह, ताकि तुम्हारा भी इतिहास हो, तुम अनुकरणीय हो सको।

'मचान के नीचे' महाजनी सभ्यता का दृश्य है। मिर्च नगदी फसल है जिसे बनिये का घोड़ा चर गया। अब माँ-पिता जी नाराज होंगे। युवक को सांत्वना देते हुए बुजुर्ग कहता है कि मैं तुम्हारे माँ-बाप को समझा दूँगा। मैं तुम्हारे लिए जतरा के प्रसाधन खरीद दूँगा। जब जवान हो जाओगे तब घोड़े को पीटना अर्थात महाजन का मुकाबला करना। 'मछली केलाघाघ की' कविता छल से बाँध बाँधकर ग्यारह मौजा के लोगों को भूमिहीन कर दिया गया। दिसम्बर 1971 को बंगला देश मुक्ति का जश्न मनाया जा रहा था। 26 दिसम्बर 1971 को बुधराटोली के लोग क्रिसमस का दूसरा दिन और विवाह में सारे लोग दूसरे गाँव गए थे, 4 बजे सुबह ईंट, बालू, सीमेंट गिराया गया। गाँव में 20 स्त्रियाँ और एक पुरुष था जिन्होंने विरोध किया। उन्हें गिरफ्तार कर हजारीबाग जेल भेज दिया गया। लगभग एक महीना जेल में रहने के बाद रिहा किए गए। वे लौटने पर ठंड के कारण बीमार पड़ गईं। बाँध की दीवार भी ऊँची हो गई। किसी को एक पैसा मुआवजा नहीं मिला था। बाद में कुछ रुपये मिले। बेड़ा टोली के चार परिवार पूरब की ओर गए। चार परिवार को दो डिसमिल के हिसाब से 08 डिसमिल वन विभाग की जमीन मिली। बरपानी के सारे लोग गायब हो गए। बाँध बँधा, तब मछली मार

कर लोग जी रहे थे। लेकिन मोटरवोट के चलने से छोटी मछलियाँ भी मारी जा रही हैं। आदमी निहत्था हो गया है।

'दाम गिनोगे' में श्रम की महत्ता पिता बता रहे हैं। श्रम कीमती है वह धन से नहीं खरीदा जा सकता। 'पाण्डुरंग पत्ते' में भी प्रकृति सिखाती है कि पतझड़ अन्त नहीं होता। बल्कि पतझड़ आवश्यक है नवपल्लव के विकसित होने के लिए।

प्रश्न : झारखंड के आदिवासी और कारीगर जनजातियों के बीच के आपसी सौहार्द्र का आपने अपनी कई कहानियों में प्रमुखता से उभारा है। झारखंडी समरसता के बारे में कुछ बताइए।

झारखंडी समरसता को हमने जिया है। आजा के (दादाजी के) मित्र जगन सिंह शंख नदी के किनारे कोरोमियाँ गाँव के थे। उनके पास आजा ने अपनी बैलगाड़ी दी थी। पिता जी उन्हें भाई कहते थे और हम काका। मइटखुपा के कुम्हारों से भाई का रिश्ता रखते। इसलिए उनके बेटों को हम दादा (बड़े भाई) मानते। जब पिताजी ने कोरोमियाँ में स्कूल आरंभ किया तब उनके बच्चे सुरेश, रामलाल, जगेश्वर आदि ने पढ़ाई की। ये मिडिल पास कर सिमडेगा एस.एस. स्कूल आ गए जिसे पिताजी ने शुरू किया था पढ़ने आ गए। छात्रावास में पिता जी के साथ रहे। बी.ए. पास कर शिक्षण प्रशिक्षण लिया और शिक्षक बने। होली में वे घर नहीं जाते थे। दादी (मेरी माँ) से होली खेलते थे। डोंगइत काका का बेटा सुकरा भी सिमडेगा पढ़ने आया था।

नाना के मितान कुम्हार थे। वे गर्मी में पन्द्रह-बीस दिन चाक लेकर नाना के घर खपरा (खप्पर) बनाते। विवाह में मिट्टी का ग्लास बना कर देते। कोनमेंजरा गाँव के ही बुधन तुरी से मितान जोड़ा था। धान बुनी और धान कटनी के समय नया सूप और हर साइज की टोकरी बना कर वे देते थे। पिताजी का एक छात्र महादेव बड़ाईक कोंडरा (गुमला जिला) से सिमडेगा पढ़ने आ गया था। उड़ीसा के प्रेम, पाण्डू, खेस, पुरुषोत्तम भी साथ रहे। राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यकर्त्ता भी वहीं आते रहे। लेकिन समय बदला। नई पीढ़ी में यह सब नहीं रहा। अब लोगों में धर्म, जाति, भाषा को लेकर विद्वेष बढ़ा है। उपभोक्ता संस्कृति को अपनाने के कारण आपस में ही एक दूसरे की टाँग खींच रहे हैं। नतीजा सामने हैं, अधिकाधिक समस्याओं में वे फँस रहे हैं। गुटों में बँटे लोग अपना हित भी नहीं कर पा रहे हैं। किसानों की जमीन और शिल्पकारों का भविष्य खतरे की सीमा पार कर चुकी है। इन्हें अपनी दक्षता का सशक्त प्रदर्शन करना चाहिए। रेल मंत्री लालू प्रसाद यादव ने कुल्हड़ में चाय पिलाने की अच्छी शुरुआत की थी। हम लोगों का ही कमजोर समर्थन रहा। मेरे कहने का अर्थ है कि छोटे-मध्यमवर्गीय किसान और शिल्पियों का एक-दूसरे को सपोर्ट तो होना ही चाहिए। प्रतिरोध का साझा कार्यक्रम भी होना चाहिए। इस सह-मिलन की बेहद जरूरत है। युवाओं और लेखक-लेखिकाओं सहित राजनीतिज्ञ, खिलाड़ी, उद्यमी सबको इसमें शामिल करना होगा। लिखने वालों को इन लोगों से मिलकर सच को सामने लाना होगा। यह काम इतना सरल-सहज नहीं है। यह कार्य व्यक्ति से समर्पण चाहता है।

प्रश्न : आप आधी दुनिया के लिए क्या संदेश देना चाहेंगी।

'आधी दुनिया' के लिए संदेश है कि महिलाएँ इसे अपना मंच समझें और अपनाएँ और इसके माध्यम से अपनी परिधि (लेखन, विचार, ज्ञान, जानकारी) बढ़ाएँ और एक दूसरे से जुड़ें।

प्रश्न : लेखन के अतिरिक्त आपकी अन्य रुचियों के बारे में बताइए।

लेखन के अतिरिक्त मुझे बागवानी और छोटे पशु-पक्षियों को जानने की रुचि है। मेरे यहाँ नीम का पेड़ था जिसमें प्रतिवर्ष दो मैना घोंसला बनाती थीं। हर घोंसले से चार-चार बच्चे

उड़ाए जाने थे। पंडुक, बुलबुल भी होती थी। इधर चार वर्षों से गिलहरियों का झुंड आ गया जो घोंसलों को उजाड़ देता है। कभी-कभी पूरा तैयार घोंसला उजाड़ देते हैं। मेरे बेटे सोनल में यह अभिरुचि है। वह मुंबई के नेचुरल साइंस से जुड़ा है।

प्रश्न : नये उभरते आदिवासी, लेखक-लेखिकाओं से आपकी कैसी अपेक्षाएँ हैं।

नए उभरते आदिवासी लेखक-लेखिकाएँ कुछ आगे बढ़ रही हैं जैसे जसिंता, आप सावित्री, शशि, वंदना, सुषमा असुर, प्रह्लांसिस्का और अन्य। लिखते रहें तो लेखन मँजेगा। आप सब एक-दूसरे के संपर्क में रहें और एक दूसरे की तथा नई पीढ़ी का हौसला बढ़ाते रहें।

संपर्क : रोज केरकेट्टा, बरियातू, राँची, झारखण्ड

सावित्री बड़ाईक, आसरी रेसीडेंसी, 3/सी, ब्लॉक-सी, न्यू गितिल पीड़ि, हटिया स्टेशन रोड, बिरसा चौक, रांची-834003 (झारखंड), मो. : 9006873057

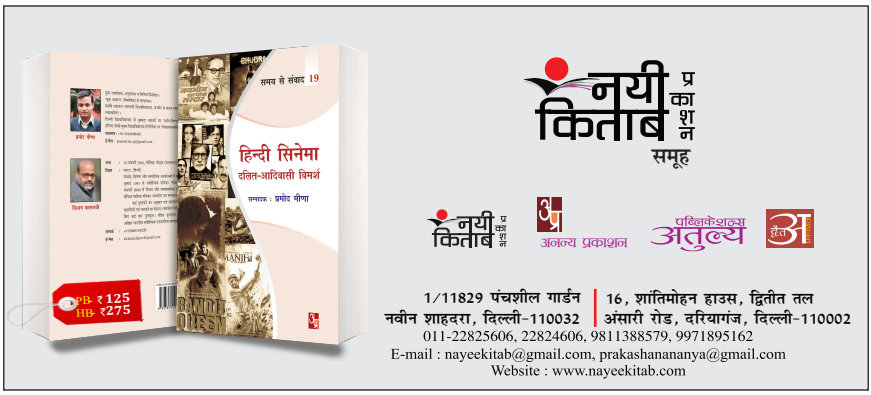

गोंड चित्रकला

प्रस्तुति : दीपा दीक्षित

भारत लोक कलाओं के मामले में एक समृद्ध देश है। यहाँ पर सबसे अधिक लोक कलाओं का जन्म हुआ है। यदि हम गौर करें तो हमें बहुत सी ऐसी कलाएँ देखने को मिलेंगी जिनके बारे में हमारी जानकारी काफी नगण्य है। मध्य भारत की ऐसी ही एक समृद्ध लोक कला है 'गोंड चित्रकला' जिसका जन्म 17वीं सदी के मध्य में हुआ था।

गोंड भारत में सबसे विशाल आदिवासी समाज है जो मूलतः मध्य प्रदेश व उसके आस पास के प्रदेशों में बसा हुआ है। गोंड कला मुख्य रूप से गोंड आदिवासियों से जुड़ी हुई है। गोंड कलाकृतियाँ इस जनजाति के स्वभाव और रहन सहन की खुली किताब है। इसमें आदिवासियों के स्वभाव का अच्छा परिचय मिलता है और उनका प्रकृति के प्रति लगाव साफ झलकता है। यही वजह है कि इस चित्रकला में सबसे ज़्यादा पेड़-पौधे, जंगली जानवर, चाँद, तारे, सूरज, देवी, देवताओं एवं मानव की छाया देखने को मिलती है।

इस चित्रकला में अनेक रंगो का समावेश होता और चित्रों को छोटी-छोटी बिंदियों, धारियों या ज्यामितीय नमूनों से भरा जाता है। ये कलाकृतियाँ हस्त निर्मित कागज या दीवारों पर गेरू, पिसे चावल के लेप, गोबर, लाल या पीली मिट्टी से बनाई जाती थी परंतु बदलते समय के साथ इसमें पोस्टर रंगों का इस्तेमाल किया जाने लगा है।

चित्रों की विषय-वस्तु दैनिक जीवन की घटनाओं, प्राकृतिक प्रतिवेश, ऋतुओं के बदलने, फसल के बोने या काटने या पारिवारिक समारोहों के इर्द-गृर्द घूमती है। ये चित्र विशेष रूप से आँगन, प्रवेश द्वार अथवा घर के प्रमुख स्थानों पर बनाए जाते हैं।

1980 के दशक में इस कला को एक नया आयाम मिला जब भोपाल के कला केंद्र भारत भवन के मुखिया जाने-माने कलाकार जगदीश स्वामीनाथन ने एक गोंड कलाकार जनगढ़ सिंह श्याम को ग्राम पाटनगढ़ से लाकर राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलायी। जनगढ़ सिंह के प्रयोगात्मक काम को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति मिली। अभी हाल ही में आदिवासी गोंड कलाकार भज्जू श्याम को देश के प्रतिष्ठित सम्मान पद्मश्री से भी सम्मानित किया गया।

गोंड कला की बढ़ती माँग ने इस कला को एक नया जीवनदान दिया है। सरकार और अनेक स्वयंसेवी संस्थानों के सहयोग से इस कला को एक नया मुकाम मिला है एवं कलाकारों को अपनी प्रतिभा दिखाने के राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मौके मिले हैं। इस कला को अभी और भी प्रोत्साहन एवं सहयोग की आवश्यकता है ताकि संघर्षों से जूझ रहे कलाकारों को अपनी प्रतिभा निखारने का मौका मिले।

संपर्क : 275/2 टॉम एन्क्लेव, सुल्तानिया इन्फेंट्री लाइन्स, लालघाटी, भोपाल-462030, मध्य प्रदेश, मो. 9910960464

गोंड चित्रकला के नमूने :

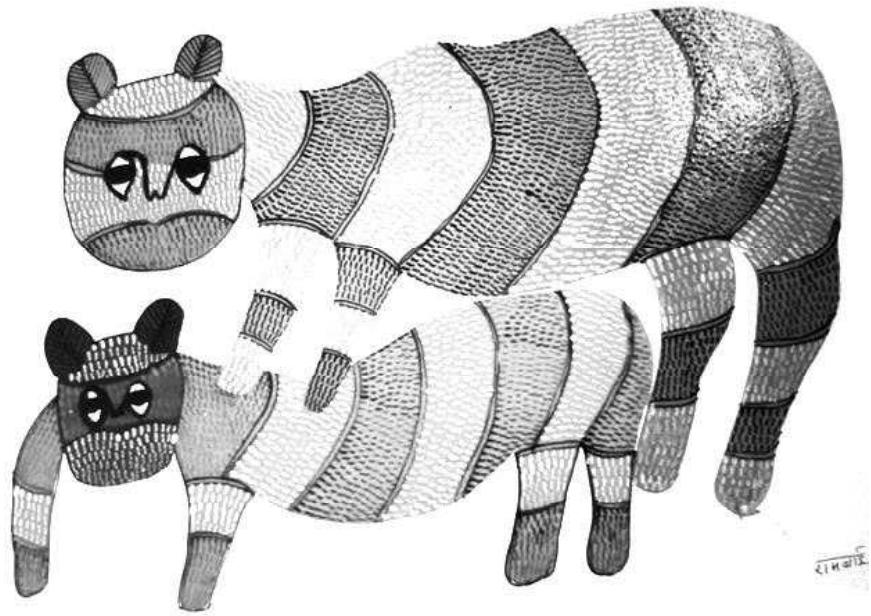

चित्र-1

चित्र-2

चित्र-3

चित्र-4

चित्र-5

चित्र-6

सुमंती ओराँव की ओराँव कला के चित्र

प्रस्तुति : महादेव टोप्पो

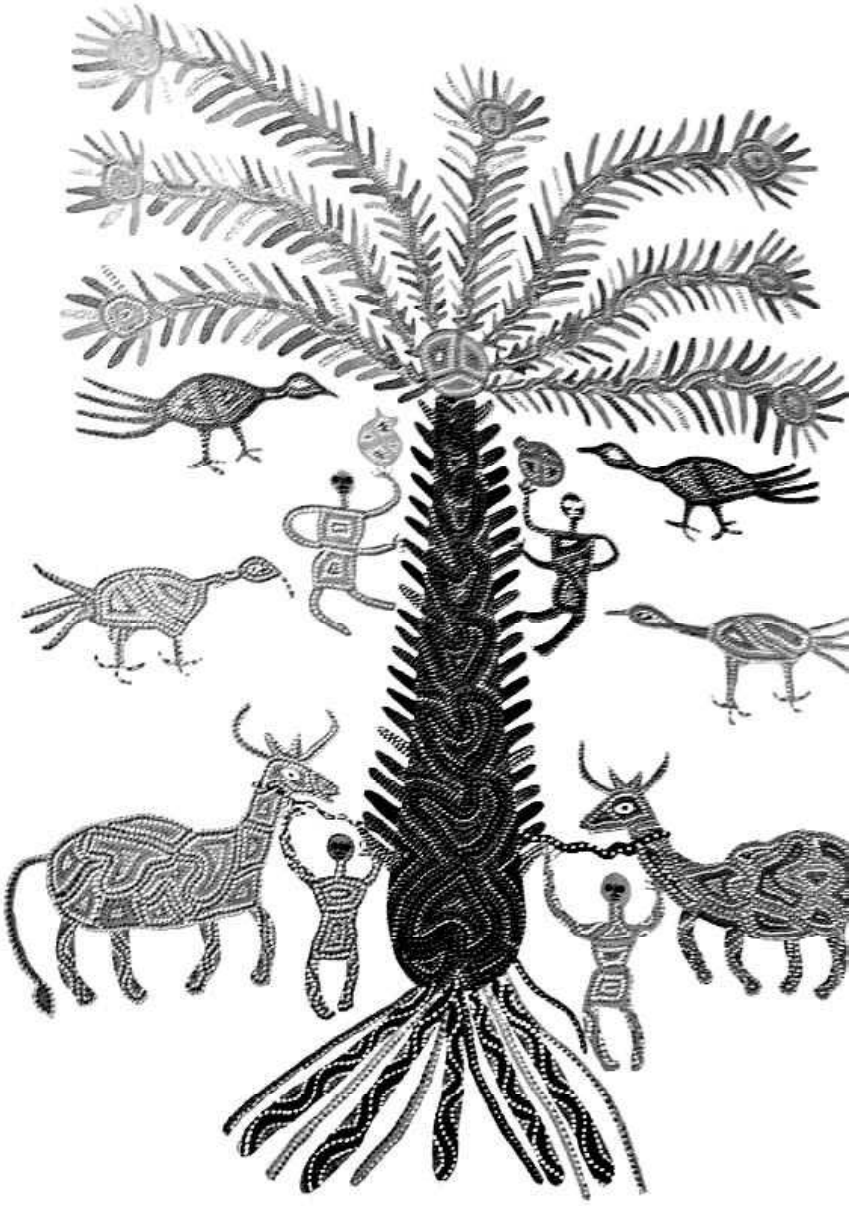

सोहराय और कोहबर जैसी जीवंत लोक चित्रकलाओं का विकास एवं प्रकटीकरण

भारती

जनजातीय समुदाय में चित्रकला का प्रादुर्भाव आदिम युग से माना जाता है। जब आदिमानव गुफाओं में रहता था और भाषा का विकास नहीं हुआ था तब वह अपनी भावनाओं-बातों को शैलचित्रों के माध्यम से प्रस्तुत एवं सम्प्रेषित करता था। वैसे शैलचित्र झारखण्ड में आज भी दामोदर और बराकर नदियों की घाटी में अवस्थित विभिन्न पहाड़ियों की गुफाओं में पाये गये हैं।

हजारीबाग जिला के बड़का गाँव प्रखण्ड में दामोदर नदी की घाटी में अवस्थित सती पहाड़ी की गुफाओं में अनेकों शैलचित्र मिले हैं, जो सिन्धु-घाटी सभ्यता काल के शैलचित्रों के समान दिखते हैं। इन चित्रों को लाल रंग के पत्थरों से गुफाओं के शिलाखंड पर उकेरा गया है। इन चित्रों में अनेक प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान एवं आनुष्ठानिक प्रतीक, सिन्धु घाटी की लिपि के चित्र एवं ज्यामितीय आकृतियाँ आदि उकेरी हैं।

दुनिया में आदिवासी कला की असंख्य शैलियाँ हैं जिन्हें बजाब्ता रेखाचित्र, मूर्तिशिल्प डिजाइन, हस्तशिल्प जैसे पेंटिग स्कूलों के रूप में विकसित किया जा सकता है। उत्तरी आस्ट्रेलिया की हर्मन्सबर्ग चित्रकला शैली ऐसी ही शैली है जिसे 1930 के दशक में जर्मनी के लूथेरियन मिशन वालों ने विकसित किया। यह मूल रूप से यहाँ मैकडोनेल शृंखला की पहाड़ियों के पीछे उत्पन्न हुई थी। इसी तरह दक्षिण आस्ट्रेलिया भी मसग्रेव शृंखला की पहाड़ियों के पास एनाबेला में उत्पन्न हुई एक जनजातीय कला को रॉन ट्रडिंगर ने 1930 के दशक में विकसित किया। दोनों ही तरह की शैलियों में आगे के दिनों में कई ख्यात चित्रकार हुए। आस्ट्रेलिया की जनजातीय कला को उबारने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयास 1971-72 में ज्योफ्रे बाईन ने किया जबलुरित्जा, वार्लपिरी, एमालेटा, एरांडा जैसी जनजातीय आबादियों की मृतप्राय कला-संपदा को उन्होंने दुनिया के सामने उजागर किया। बाईन के प्रयास के टिम लिरूआ जापाल्जारी, मिकनैमि रेटी जापाल्जारी जैसे बड़े जनजातीय कलाकार उभरे। बाईन ने ही भित्ति तकनीक को कागज पर उतारा। इसी समय से आस्ट्रेलिया में जनजातीय कला की शुरुआत मानी जाती है।

हजारीबाग चित्रकला शैली कई मामलों में ऊपर वर्णित जनजातीय चित्रकला शैली से मिलती-जुलती है। पूरी दुनिया में जितने भी प्रकार की जनजातीय कलाएँ हैं, उन सब में आप कई समानताएँ पाएँगे। इन जनजातीय कलाओं में एक प्रकार का नैसर्गिक ओज, एक किस्म की अदृश्य ऊर्जा, पुरातन प्रेरणाओं के प्रति आकर्षण दृष्टिगोचर होती हैं। कला समीक्षक वेरियर एल्विन ने भी लिखा है—''आदिम कला, कला का शुद्धतम और सर्वाधिक विश्वसनीय रूप होता है क्योंकि यह धार्मिक विचारों और दैवीय अनुभूतियों से पैदा होती है, साथ ही यह वैयक्तिकता के भाव से निर्मित होती है।''

जनजातीय कलाओं की मूल विशेषता इनका धार्मिक और सांस्कृतिक पहलू है और यह दुनिया के जितने भी जनजातीय समूह है सबमें सादृश्यमूलक तत्त्व की तरह मौजूद है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें समानता की वजह इनके प्राचीन प्रस्तर युगीन संबंध हैं, आखिर जनजातीय भाषाओं के बीच तो ऐसा प्रस्तर युगीन साम्य हैं ही। प्राचीन कला का प्रमाणिक नमूना, प्रागैतिहासिक प्रस्तर कला में दिखाई पड़ता है और जहाँ ऐसे नमूने हमें जनजातीय लोगों के समकालीन कला-संप्रेषणों में मिल जाते हैं तो बेहिचक हम उन्हें जीवंत-परंपरा के रूप में स्वीकार करते हैं।

चित्रकला का स्रोत और विस्तार बहुआयामी होता है। उसके विविध रूपों में उस क्षेत्र की संस्कृति, धर्म, लोक विश्वास, मिथकीय अवधारणा आदि की झलक मिलती है। झारखंड में बसने वाली विभिन्न जनजातियों की चित्रकला में विविधता के साथ-साथ एकरूपता का भी दर्शन होता है। छोटानागपुर पठार का हजारीबाग क्षेत्र ऐसा ही एक क्षेत्र है जो प्राकृतिक संसाधनों की समृद्धि के साथ-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी अत्यन्त रमणीय है। चारों ओर साल (सखुआ) के घने जंगल, पहाड़ियों की शृंखला, इठलाती पहाड़ी नदियों और कल-कल झरते झरने, पहाड़ियों के गोद में बसे छोटे-छोटे गाँव और आस-पास फैले धान के खेत। इस सुरम्य वातावरण में कला की अनुपस्थिति असम्भव है। इसे सिद्ध करती हुई एक अत्यन्त समृद्धि जनजातीय एवं लोक कला परंपरा अपने सम्पूर्ण सौन्दर्यात्मक पक्षों के साथ यहाँ उपस्थित दिखाई देती है। जिसे 'कोहबर' और 'सोहराय' के नाम से जाना जाता है। हजारीबाग एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों में कई जनजातियाँ जैसे मुंडा, उराँव, संथाल, बिरहोर इत्यादि के साथ-साथ गंझू, प्रजापति, तेली, कुर्मी, महतो जैसी कई सदान जातियाँ रहती हैं। इस जिले में अकूत खनिज सम्पदा के साथ-साथ जनजातीय एवं लोक कला का अक्षुण्ण खजाना भी बिखरा पड़ा है, जिसकी जड़े इस्को के गुफा-चित्रों (जो लगभग 8000 वर्ष ईसा पूर्व की हैं।) तक जाती हैं।

कोहबर तथा सोहराय कला का मूल संबंध प्रजनन तथा अन्न उत्पादन से है। विवाह और कृषि किसी भी समाज के महत्त्वपूर्ण अंग हैं जिसके बिना मानव विकास, समाज व संस्कृति का विकास संभव नहीं है। वर्षा ऋतु के बाद जब शरद ऋतु का आगमन होता है। घर धन धान्य से भरा होता है तब यहाँ के जनजातीय एवं ग्रामीण समाज में त्योहारों एवं विवाहों का मौसम होता है। दीवाली से पहले घरों की मरम्मत की जाती है क्योंकि वर्षा की बौछारों से मिट्टी की दीवारें खराब हो जाती हैं और पिछले वर्ष के रचित अभिकल्प धुल जाते है। अतः पुराने अभिकल्पों पर नई मिट्टी चढ़ा दी जाती है। इसके पश्चात् इस पर अभिकल्पों का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार यह भित्तिचित्रण परंपरा के साथ-साथ एक आवश्यकता भी बनती जाती है। कोहबर यानी खोहबर जिसका शब्दिक अर्थ है—गुफा के विवाहित जोड़े।

कालांतर में खोहबर ही आगे चलकर कोहबर हो गया। 'कोहबर' चित्रों का निर्माण मुख्यतः विवाह के अवसर पर करने की परंपरा है। चित्रण की इस परंपरा को 'कोहबर लिखना' कहकर

सोहराय कला का चित्र

संबोधित किया जाता है। जिसका निर्माण संपूर्ण रूप से महिलाएँ ही करती हैं। यह चित्रकला सदियों से विरासत में पीढ़ी दर पीढ़ी इन्हें प्राप्त होता आ रहा है। ग्रामीण औरतें इस पारंपरिक कला को अनुष्ठान की तरह लेती हैं। विवाह के पश्चात वर और वधू को पहली बार इसी 'कोहबर' कक्ष में ले जाया जाता है। इस कोहबर कक्ष का विशेष धार्मिक एवं प्रतीकात्मक महत्त्व होता है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र समझा जाता है। कोहबर चित्र वैसे तो घरों की बाहरी एवं भीतरी दोनों दीवारों पर बनाए जाते हैं पर घरों के अन्दरूनी भागों में बनाए जाने वाले अभिकल्प सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

कोहबर के चित्रों में रंगों का प्रायः अभाव दिखता है। कहीं-कहीं ही कुछ रंगों का प्रयोग दिखता हे। कोहबर चित्रों में अभिकल्पों का निरूपण कंघी के माध्यम से किया जाता है। सबसे पहले दीवार को काले रंग की मिट्टी से लेप चढ़ाया जाता है। लेप के गीला रहते ही कंघी के दाँतों के माध्यम से विविध ज्यामितिक डिजाइन, माँगलिक चिह्न, फूल-पत्ती आदि बनाये जाते हैं। कंघी के काटने के बाद नीचे के काली मिट्टी का रंग बखूबी उभरता है।

भित्तिचित्रण की इस समृद्ध परंपरा का दूसरा महत्त्वपूर्ण अवसर है—सोहराई या सोहराय। सोहराई छोटानागपुर क्षेत्र का एक अति महत्त्वपूर्ण त्योहार है। यह दीपावली के अगले दिन मनाया जाता है। यह नए धान की कटनी तथा पशु उत्सव के रूप में मनाया जाता है। इस अवसर पर दीवारों को विभिन्न प्रकार के चित्रों एवं अलंकरणों से सजाया जाता है। जिन्हें सोहराय लिखना कहते हैं। सोहराय के दिन इन चित्रों पर चावल के घोल से सफेद चिह्न अंकित किये जाते हैं, जो अन्न, निष्ठा, रक्षा एवं शुचिता का प्रतीक माने जाते हैं। कोहबर के अतिरिक्त

सोहराय चित्र काफी रंगीन होते हैं। ये सारे रंग का अर्थ कलर (मिट्टी रंग) के होते हैं। इन रंगों को इन्हीं क्षेत्र में पाई जाने वाली सफेद मिट्टी, काली मिट्टी, लाल मिट्टी (गेरू), गोबर, फूलों के रस आदि से तैयार किया जाता है।

इस क्षेत्र की भित्ति चित्रण परंपरा में आकृतियों एवं स्वरूप की व्यापक विभिन्नता देखने को मिलती है। एक ही जाति अथवा जनजाति के बीच इस कला की शैली एक गाँव से दूसरे गाँव में, यहाँ तक कि एक घर से दूसरे घर तक में ही बदल जाती है। चूँकि जनजातीय एवं लोक कला सर्वाधिक व्यक्तिगत और पूर्णतः स्वतंत्र होती है। अतः प्रत्येक कलाकार स्वतः-स्फूर्त और मौलिक रूप से अपनी कला को व्यक्त करता है। उनकी कृतियाँ किसी की नकल न होकर पूर्णतः व्यक्तिपरक और विशिष्ट होती हैं। इसी कारण इनकी चित्रकारी में हमें विविधता और मौलिकता दिखती है। सोहराय भित्तिचित्रण कला में, परंपरा में, चित्रित रूपाकारों में मुख्य रूप से जंगली एवं पालतू पशु-पक्षी जैसे- मोर, बत्तख, बाघ, शेर, चीता, हिरन, बंदर, हाथी, गाय, बैल, बकरी, मुर्गा-मुर्गी, चूहे तथा जलीय जीव-जन्तु, मछली, कछुआ, केंकड़ा, मगरमच्छ, साँप एवं अन्य कीड़े-मकौड़े इत्यादि बहुतायात में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वनस्पतियों में कमल एवं विभिन्न प्रकार के स्थानीय वनस्पतियों एवं पेड़-पौधे तथा पुष्पों के अभिकल्प तथा ज्यामितिक आकृतियाँ काफी सुन्दर तरीके से चित्रित की जाती है। चित्रों में एक्स-रे विधि का भी प्रयोग देखने को मिलता है, जिसके अन्तर्गत चित्रों के अन्दरूनी भागों में चित्र बना दिये जाते है, जैसे मछली की बाह्य रेखा बनाकर फिर उसके अन्दर की हड्डियाँ भी दर्शायी जाती है अथवा मोर, मूर्गे एवं हिरण के शरीर के अन्दर छोटा मोर, हिरण अथवा अण्डा बनाया जाता है जो बहुत ही दिलचस्प और मनोरंजक प्रतीत होता है। इस चित्रकला की सबसे खास विशेषता यह है कि इसमें पशु-पक्षी एवं पेड़-पौधे सभी समान भाव से अवतरित होते हैं। कोई भी कम या ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रकृति में सभी का साहचर्य, प्रेमभाव बहुत ही मुखर भाव से प्रस्तुत होता है। कोई भी किसी पर आक्रमण नहीं कर रहा होता है। साँप भी गाय का दूध पी रहा है। शेर और हिरण साथ में बात कर रहे हैं। बकरी और हाथी, लहराते साँप, चिड़ियाँ सभी प्रकृति में प्रेम भाव के उपस्थित हैं। साँप और चिड़िया की गप्प-शप्प वाला चित्र सहज ही ध्यान खींचता है। यह प्रेमभाव और साहचर्य ही इस चित्रकला की एक अन्यतम विशिष्टता है।

'कोहबर' और 'सोहराय' चित्रों में आक्रमकता, युद्ध, शिकार, हत्या आदि की अनुपस्थिति एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसे रेखांकित करने की आवश्कयता है। ध्यातव्य है कि देश के अन्य भागों खास कर मध्यप्रदेश के विध्यांचल पर्वत शृंखलाओं की गुफाओं भीम बैठका, कराबाद (रायसीन जिला), चतुर्भुजनाथ नाला, सिन्धुघाटी सभ्यता के समकालीन शैलचित्रों, कैमूर पहाड़ी के शैलचिलों में शिकार और युद्ध के चित्र बहुतायत में है और सहज ही ध्यान आकर्षित करते हैं। इन चित्रों का इस्को (हजारीबाग) के शैलचित्रों में अभाव है।

दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण रेखांकित करने वाली बात यह है कि हजारों वर्ष पूर्व के दामोदर घाटी के शैलचित्रों में जिन ज्यामितीय आकृतियों को पूर्वजों ने उकेरा था वे सहज रूप से 'कोहबर' और 'सोहराय' चित्रकला का हिस्सा बन गये हैं। यह कैसे संभव हुआ, यह अलग ही शोध का विषय है।

कला आदिकाल की हो, जनजातीय हो अथवा आधुनिक, वह सदैव मानव को सामान्य जीवन से ऊपर उठाती है। हजारीबाग क्षेत्र की कला भी हमारी एक अमूल्य धरोहर है जो सदियों से यहाँ की सभ्यता और संस्कृति का वहन करती आई है पर आज इस कला परंपरा पर कई तरह के खतरे मँडराने लगे हैं। वर्तमान समय में सोहराय और कोहबर चित्रकला को शहर की दीवारों, सरकारी कार्यालयों, हवाई अड्डों, रेलवे परिसर आदि पर बड़े पैमाने पर चित्रित करवाया

कोहबर कला का चित्र

गया है। जिन्हें देखकर सौन्दर्यबोध को आघात सा लगता है। ये दीवारों पर बने व्यावसायिक चित्र उसके मूल नैसर्गिक सौन्दर्य के विद्रूपीकरण का विज्ञापन दिखते हैं। इन चित्रों को देखकर यही लगता है कि यह इस कला परंपरा की जड़ों पर आघात है। वर्तमान समय में नील को घोलकर अथवा होली में प्रयुक्त होने वाले रासायनिक रंगों का प्रयोग भी चित्रों में बड़े पैमाने पर देखने को मिलते हैं, जो इस कला परंपरा के ह्रास की भयावह संभावना की ओर संकेत करता है। इसके अलावा सोहराय भित्तिचित्र जिसमें पशु-पक्षियों का स्थान बड़ा समादृत होता है, हाथी और शेर जंगल के देवता है तो वृक्ष के रूप में चित्रित सिंगबोंगा जंगल के देवता है। आधुनिकता और संस्कृतिकरण की वजह से इस तरह की प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नई आकृतियाँ का प्रयोग की जा रही हैं। जिसके तहत हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र और स्कूली ड्राईंग किताबों के कला आदर्शों पर आधारित गुलाब, गुलदस्ता तथा फलों के चित्र भी प्रयोग किये जा रहे हैं। इस तरह एक अति महत्त्वपूर्ण लोक कला संप्रेषण का क्षरण हमारे सामने होता दिख रहा है। साथ ही सदियों से चले आ रहे इन्हीं मोटिफों यथा पशु-पक्षियों, फूल-पत्तियों के बार-बार प्रयोग से इस कला के संप्रेषण में एक ठहराव सा दृष्टिगोचर होता है।

जैसाकि मधुबनी चित्र शैली या अन्य राज्यों की लोक चित्रकला शैली यथा गोंड, वारली आदि सीमित परिसर से निकल कर तब व्यापकता प्राप्त कर सकीं जब इन्होंने अपने में समय

के साथ बदलाव किया। अंग्रेजी शासन काल में कला मर्मज्ञ डब्ल्यू. जी. आर्चर ने जब मिथिला के गाँवों में घूमते हुए इन भित्ति चित्रों को देखा था तो वे इन चित्रों की विलक्षणता से विस्मित हुए और उन्होंने ही इसे मिथिला पेंटिग का नाम दिया। यह अद्‌भुत लोक चित्रकला दुनिया की निगाहों से बची ही रहती, लेकिन 1968 में पड़े भीषण अकाल की वजह से यह दुनिया के नजरों के सामने आई। स्थानीय होने की वजह से पूर्व केन्द्रीय मंत्री स्वर्गीय ललित नारायण मिश्रा इसे जानते थे। कला प्रेमी स्वर्गीय भास्कर कुलकर्णी, स्वर्गीय उपेन्द्र महारथी और पुपुल जयकर जैसे महानुभावों का इन इलाकों में जाना हुआ। उन्होंने इस इलाकों के जितवारपुर तथा रांटी के लोगों को कागज पर चित्र बनाने को कहा। कोहबर घर की दीवारों पर सूरज, चाँद, बाँस के पेड़, कमल, तोता, कछुआ, मछली इत्यादि जैसे प्रतीक चिह्नों से आगे बढ़ते हुए मिथिला की महिलाएँ रामकथा, कृष्ण लीला, महाभारत जैसे महाकाव्यों एवं महाआख्यनों के चित्र बनाने लगीं। इस तरह गुमनामी के अँधेरे में डूबी मधुबनी चित्रकला जब लोगों के सामने आई तो उसने समूची दुनिया को अपनी मौलिकता एवं अनूठेपन से चौंका दिया।

इसी तरह चित्रकला के संसार में कुछ दशक पहले एक अद्‌भुत घटना घटी। गोंड समुदाय के वंशावलीकार और परधान समुदाय के एक सदस्य जनगढ़ सिंह श्याम को जब महान चित्रकार और चिंतक जगदीश स्वामीनाथन भारत भवन (भोपाल) ले गये और उनके दिशा-निर्देशन में जब उन्होंने चित्रकला की एक अनूठी शैली ईजाद की। परंपरागत रूप से ये परधान राजगोंडों के दरबार में लोक कथाओं को गा कर सुनाते थे, इनमें परधानों की विलक्षण कल्पनाशीलता और ज्ञानरूपों के दर्शन होते थे। जे. स्वामीनाथन के प्रयास से जब जनगढ़ सिंह श्याम ने उसी गायन लोक कथाओं को चित्रकला में रूपान्तरित किया तो इस प्रक्रिया ने चित्रकला की ऐसी विशिष्ट शैली विकसित की जो आज पूरी दुनिया में जनगढ़ कलम के नाम से जानी जा रही है।

आज कोहबर तथा सोहराय कला परंपरा को बचाने की एवं उसे बढ़ावा देने की जरूरत है, जिससे इसे संरक्षण एवं सुरक्षा के साथ-साथ प्रवाह भी प्राप्त हो और सृजन की निरन्तरता भी बनी रहे इसी के तहत राँची शहर में 'डॉ. रामदयाल मुण्डा जनजातीय कल्याण शोध संस्थान' द्वारा विगत दिनों कुछ सार्थक पहल किये गए।

धरती आबा बिरसा मुण्डा के जीवन चरित्र को हजारीबाग के स्थानीय लोक कलाकारों द्वारा सोहराय तथा कोहबर शैली में चित्रित करने का प्रशिक्षण शिविर चलाया गया। चूँकि अब तक कोहबर तथा सोहराय में मानव शरीर को चित्रित नहीं के बराबर किया गया है। इसलिए कलाकारों को पहली बार फ्री-हैण्ड बिरसा भगवान को चित्रित करने में कुछ परेशानी हो रही थी लेकिन पूरे प्रशिक्षण के दौरान उन्हें अपनी सृजनात्मकता दर्शाने का अवसर मिला। 'सोहराय', 'कोहबर' के अलावा जमशेदपुर से सटे घाटशिला अनुमंडल के 'पेटकर' चित्रकला जो कि पटकर चित्रकारों द्वारा किया जाने वाला स्क्रोल पेंटिग अर्थात् लपेट कर रखी जाने वाली पट-चित्रकला है। इस शैली में भगवान बिरसा मुंडा की जीवनी उकेरने की प्राथमिक स्तर का प्रयास है।

ऐसे शिविरों में न केवल झारखंड के महापुरुषों की जीवनियों का आकल्पन बल्कि जनगढ़ सिंह श्याम की तरह आदिवासी दर्शन, मिथक, लोककथा, लोकगीतों, अनुष्ठानों का भी चित्रण प्रारम्भ हों।

ऐसे प्रयास कई स्तरों पर कई बार संचालित हों। प्रारंभ में सहयोग से तत्पश्चात् स्वतः समुदाय की स्वीकार्यता से। तभी 'सोहराय' और 'कोहबर' चित्रकला मधुबनी, गोंड और वारली लोकचित्रकला की तरह सर्वस्वीकार्यता, लोकप्रियता और शास्त्रीयता की डगर पर आगे बढ़ पायेगी।

संपर्क : नारायण एन्क्लेव, ब्लॉक-ए, 2 सी, घरौंदा, हरिहर सिंह रोड, मोरहाबादी, राँची, झारखण्ड, मो. 9472727358

जनगढ़ सिंह श्याम की आदिवासी कलाकृतियाँ

प्रस्तुति : दीपा दीक्षित

जनगढ़ सिंह श्याम मंडला, मध्य प्रदेश के प्रधान-गोंड समाज से थे। उनके हुनर को सबसे पहले जे. स्वामीनाथन ने पहचाना था जो उन्हें भोपाल के भारत भवन ले आए। जनगढ़ ने अपनी चित्रकला में एक अलग अंदाज अपनाया था जो कि आदिवासी एवं समकालीन कला का एक मिश्रण था। उनके चित्रकालाओं में आदिवासी देवी देवता, जानवर और प्रकृति का बेहद ही खूबसूरत चित्रण था, जो कि रंग-बरंगी बिंदियों की रेखाओं के आकार और रूप में हैं। वे गोंड चित्रकला के प्रथम अन्वेषक कहलाए जाते हैं व भारतवर्ष के मशहूर लोक कलाकारों में से एक माने जाते हैं।

बड़ादेव : गोंड आदिवासी बड़ादेव को सब देवो का देव मानते हैं। उन्हें भगवान श्री शम्भू महादेव और परसा पेन के नाम से भी जाना जाता है। बड़ादेव सभी छोटे देवी देवताओं की देखरेख करते हैं। इस चित्र में मिश्रित माध्यम का इस्तेमाल किया गया है व इसे रंग बिरंगी घुमावदार रेखाएँ और बिंदुओं से भरा गया है।

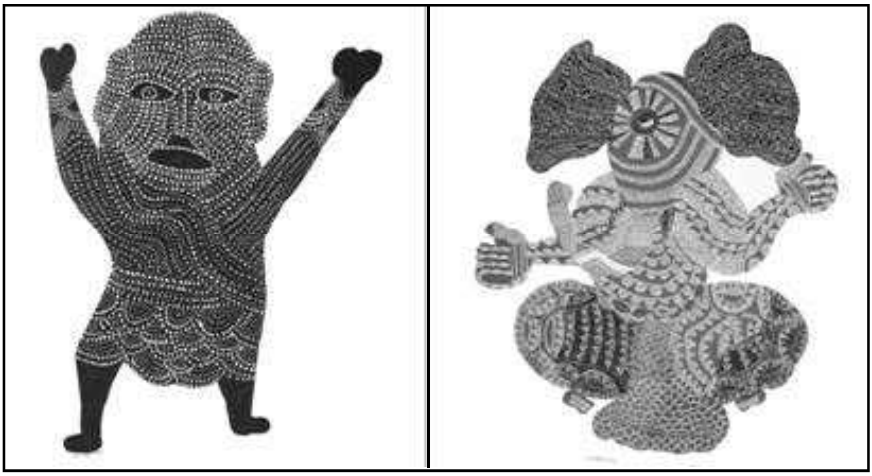

बाएँ : फुलवारी देवी, पेपर पर पोस्टर कलर, दाएँ : गणेश, पेपर पर पोस्टर कलर

बारहसिंगा का यह चित्र रंग बिरंगी जटिल रेखाएँ और बिंदुओं से भरा गया है।

सी.आर. हेम्ब्रम की आदिवासी पेंटिग शैली

प्रस्तुति : महादेव टोप्पो

सी. आर. हेम्ब्रम आदिवासी कलाकार हैं। वे संताल विवाह पर बनाये गये अपने पेंटिंग 'खेरवाल बपला' के द्वारा अखिल भारतीय कला जगत की चर्चा के केंद्र में आये। तब से वे नियमित कला कर्म में लगे हुए हैं। संताल हूल के महानायक दो भाइयों सिद्धू और कान्हू में से किसी एक भाई को एक अंग्रेज चित्रकार ने देखा था। उसी के आधार पर उसने पहली बार किसी एक भाई की पेंटिंग बनाया था। 'जनयुग' के तत्कालीन संपादक के द्वारा हेम्ब्रम जी को वह पेंटिंग मिली थी। उसी पेंटिंग के आधार पर हेम्ब्रम जी ने सिद्धू और कान्हू दोनों भाइयों की पेंटिंग तैयार की। आज समूचे कला जगत में हेम्ब्रम जी द्वारा बनायी गयी सिद्धू और कान्हू की वही पेंटिंग प्रचलित है। (देखें, मुखपृष्ठ का आंतरिक पृष्ठ)

सी. आर. हेम्ब्रम का पेंटिंग माध्यम, एक्रेलिक कलर है, जिसमें मेटेलिक इफेक्ट देकर इसे विविधतापूर्ण अर्थ, रूप व विशिष्टता प्रदान किए गए हैं। (देखें, तस्वीर संख्या 01)। यह कही पर ऐसा लगता है कि किसी पुरानी चीज को जोड़ने के लिए ठोंक-पीट की गई है। कही हल्के दरार, रेखाएँ एवं खरोंचे भी दिखाई देती हैं। पेटिंग में सुराख एवं छेद भी दिखाई देते हैं। ये सभी नारी की आहत भावनाओं, सामाजिक दुर्दशा की द्योतक हैं। कई जगह दरारें जुड़ती हुई भी दिखती हैं, जो नारी के उस शक्ति को रेखांकित करती है। वह गिरकर, हारकर भी फिर से उठती है, सम्हलती और जीवन को बार-बार नये संदर्भों में जीती है। कुल मिलाकर यह सब समाज में नारी की विभिन्न मनःस्थितियों के अतिरिक्त उसकी सामाजिक दशा एवं दुर्दशा के साथ उसके सपनों, आशाओं और आकांक्षाओं को भी दर्शाता है। सी. आर. हेम्ब्रम अभी इसी सीरीज पर काम कर रहे हैं और देशी, विदेशी कलाकारों, कला-समीक्षकों व कला प्रेमियों द्वारा सराहे गए हैं। देश भर में उनकी पेंटिंग सामूहिक एवं एकल प्रदर्शनियों में शामिल की जाती रही हैं।